卐

परमपूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

प्रवचनसार

एवं

परमपूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरि द्वारा विरचित

तत्त्व दीपिका

पर

सप्तदशांगी टीका

टीकाकार :

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, गुरुवर्य श्री मनोहर जी वर्णी

'सहजानन्द महाराज'

प्रकाशक :

खेमचन्द जैन सर्राफ

मंत्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर, मेरठ।

प्रति १०००
सन् १९७६

लागत रु० २०.००

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

१	श्री ला० महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स,	सदर मेरठ
२.	श्रीमती फूलमाला देवी धर्मपत्नी श्री महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स,	"
३	श्रीमती शशिकान्ता जैन धर्मपत्नी श्री धनपाल सिंह जी जैन सर्राफ,	सोनीपत
४	श्री० ला० लालचन्द विजय कुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
५	श्रीमती सुवटी देवी जैन सगावगी,	गिरीडीह
६.	श्रीमती जमना देवी जैन धर्मपत्नी श्री भवरी लाल जैन पाण्ड्या,	झुमरी तिलैया

नवीन स्वीकृत संरक्षक

७	श्रीमती रहती देवी जैन धर्मपत्नी श्री विमलप्रसादजी जैन,	मसूरपुर
८	श्रीमती श्रीमती जैन धर्मपत्नी श्री नेमिचन्दजी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	श्रीमान् शिखरचंद जियालाल जी एडवोकेट	,,
१०	श्रीमान् चिरंजीलाल फूलचंद बैजनाथजी जैन बडजात्या, नई मंडी,	,,
११	श्रीमती पूना बाई धर्मपत्नी स्व० श्री दीपचन्द जी जैन,	गोटेगाँव

गुरुवर्य श्री सहजानन्द वर्णी

प्रकाशकीय

भव्यजन समूह के बड़े सौभाग्य की बात है कि अध्यात्मयोगी पूज्यश्री गुरुवर्य मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज कृत समयसार-सप्तदशांगी टीका के प्रकाशन के अनन्तर उन्ही महाराज श्री द्वारा रचित प्रवचनसार-सप्तदशाङ्गी टीका का यह प्रकाशन हस्तगत हो रहा है।

अब से कुछ अधिक २५०० वर्ष पूर्व चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के दिव्योपदेश से समाज धर्म लाभ पाकर शान्ति का अनुभव करता था। तत्पश्चात् ३०० वर्ष बाद अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के समय द्वादशाङ्ग का पारायण होता रहा। तत्पश्चात् अङ्ग पूर्वोंके परिज्ञान का विच्छेद होने लगा।

उनकी परिपाटी मे दो समर्थ आचार्य हुए— (१) धरषेणाचार्य, (२) गुणधराचार्य। धरषेणाचार्य को अग्रायणीपूर्व के पञ्चम वस्तु अधिकार के चतुर्थ प्राभृत महाकर्म प्रकृति का परिज्ञान था। उन्होने शिष्यो को अध्ययन कराया और शिष्यो ने छक्खंडागम की रचना की।

गुणधराचार्य को ज्ञानप्रवादपूर्व के दशम वस्तु के तीसरे प्राभृत का परिज्ञान था। उन्होंने शिष्यो को अध्ययन कराया। उस परिपाटी मे समयप्राभृत आदि ग्रन्थो की रचना हुई, जिसमें समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थो की रचना पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य ने की।

प्रवचनसार ग्रन्थ की रचना अब से करीब दो हजार वर्ष पूर्व हुई थी। तत्पश्चात् करीब एक हजार वर्ष बाद प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरि द्वारा हुई थी। तत्पश्चात् करीब एक हजार वर्ष बाद सप्तदशाङ्गी टीका अध्यात्मयोगी श्री सहजानन्द जी द्वारा हुई।

प्रवचनसार-सप्तदशाङ्गी टीका मे प्रत्येक गाथा के इन विषयों पर वर्णन है–(१) हिन्दी गाथा पद्य, (२) संस्कृतच्छाया, (३) नामसंज्ञ, (४) धातुसंज्ञ, (५) प्रातिपदिक, (६) मूलधातु, (७) प्राकृतपद विवरण, (८) संस्कृतपद विवरण, (९) निरुक्ति, (१०) समास, (११) गाथान्वय, (१२) गाथार्थ, (१३) गाथातात्पर्य, (१४) टीकार्थ, (१५) प्रसंगविवरण, (१६) तथ्यप्रकाश, (१७) सिद्धान्त, (१८) दृष्टि, (१९) प्रयोग।

सिद्धान्त और दृष्टि इन दो अङ्गों को सुगमतया समझने के लिए भूमिका मे दृष्टिसूची दी है जिसमे २१७ दृष्टियाँ व २६ अन्तर्गत दृष्टियाँ कुल २४३ दृष्टियो के नाम दिये गये हैं और दृष्टिअग मे दृष्टि नाम देकर उसके आगे कोष्ठक में उसका नम्बर दिया गया है जिस नम्बर पर दृष्टिसूची मे वह नाम मिलेगा।

इस सप्तदशाङ्गी टीका से विद्वानों की तत्वजिज्ञासा पूर्ण होगी तथा हिन्दी गाथापद्य अन्वय अर्थ तात्पर्य तथ्यप्रकाश जैसे अङ्गों से सर्वसाधारणजनो को ज्ञानप्रकाश प्राप्त होगा। अत प्रस्तुत टीका सर्वोपयोगी है।

अध्यात्मयोगी गुरुवर्य श्री सहजानन्द जी (मनोहर जी वर्णी) महाराज ने आत्म-विशुद्धि की धुन मे करीब ५०० से अधिक ग्रन्थों की रचना की है। जैन शासन मे जो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, ज्ञानार्णव, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आत्मानुशासन, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, प्रमेयकमल मार्तण्ड, अष्टसहस्री, पञ्चाध्यायी, रत्नकरण्ड, द्रव्यसग्रह, मोक्षशास्त्र आदिक सभी ग्रन्थो पर प्रवचन हैं, लघुजीवस्थानचर्चा, लघुकर्मस्थानचर्चा, सम्यक्त्वलब्धि, कर्मक्षपणदर्पण, गुणस्थानदर्पण, अध्यात्म-सिद्धान्त आदि कई कुञ्जीरूप ग्रन्थ है जिनके अध्ययन से धवला, गोम्मटसार लब्धिसार, समयसार आदि ग्रन्थों मे सुगमतया प्रवेश होता है। सहजानन्दगीता अध्यात्मसहस्री, आत्मसबोधन आदि अनेकों ग्रन्थ शान्तिकारक एवं महत्वपूर्ण है। यह समाज के बडे सौभाग्य की बात है जो ऐसे ज्ञानरत्न प्राप्त हुए है। जो महापुरुष इस साहित्य का अध्ययन करते है वे जानते है कि हमको कैसा अलौकिक ज्ञानलाभ व शान्तिलाभ मिला है। आशा है कि विवेकशील पुरुष इस साहित्य का अध्ययन कर अपना यह दुर्लभ जीवन सफल करें।

— प्रकाशक

दो शब्द

प्रिय पाठक वृन्द!

बड़े ही सौभाग्य का विषय है कि पूज्यपाद श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत 'प्रवचनसार' ग्रन्थराज की श्रीमदमृतचंद्र जी सूरि द्वारा तत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका पर अध्यात्मयोगी पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानंद महाराज द्वारा लिखित सप्तदशांगी टीका आपके सम्मुख प्रस्तुत है। ग्रन्थराज की इस टीका मे पूज्य वर्णी जो ने प्रत्येक विषय को बड़े ही सुगम एवं सुलभ ढग से समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया है।

इस टीका से पूर्व ग्रन्थराज समयसार पर भो पूज्य महाराज श्री ने सप्तदशांगी टीका की रचना की थी जिसका विमोचन दिल्ली विश्वविद्यालय के विवेकानन्द हाल में १८ फरवरी १९७८ शनिवार को भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति महामहिम श्री बा. द. जत्ती महोदय ने किया था। उसी टीका के अनुरूप यह टीका भी है।

सहजानन्द जी महाराज ने लगभग ५४५ ग्रन्थों की रचना की जिनमें से लगभग ३०० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

ग्रन्थराज प्रवचनसार की प्रस्तुत टीका का प्रूफरीडिंग आदरणीय डा० नानक चन्द जी जैन मेरठ शहर ने पूज्य महाराज श्री के स्वर्गारोहण के पश्चात् बड़े ही परिश्रम एव लगन के साथ किया है जिसके लिए श्री सहजानद शास्त्रमाला उनकी परम आभारी है एवं उनसे भविष्य मे भी अपेक्षित सहयोग की आशा रखती है।

मेरी कामना है कि इस सहजानन्द सप्तदशांगी टीका का अध्ययन करके मुमुक्षुजन सदा के लिये जन्म-मरण के संकटों से छूट जावें एवं अपने इस मानव जीवन को अवश्य ही सफल बनावें।

निवेदक—
पवन कुमार जैन ज्वैलर्स
सदर, मेरठ।

आत्मभक्ति

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे।
तेरी भक्तिमें क्षण जायँ सारे ।।टेक।।

ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका इकदम विलय हो।
भ्रांतिका नाश हो, शांतिका वास हो, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ।। १ ।।

सर्व गतियोमे रह गतिसे न्यारे, सर्व भावोंमे रह उनसे न्यारे।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाही विरत, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ।। २ ।।

सिद्धि जिनने भि अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमे सहाई।
मेरे सकटहरण, ज्ञानदर्शनचरण, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ।। ३ ।।

देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्ययके भेदोसे पारे।
नित्य अत अचल, गुप्तज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ।। ४ ।।

आपका आप ही प्रेय तू है, सर्वश्रेयोमे नित श्रेय तू है।
सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ।। ५ ।।

श्री प्रवचनसार की विषयानुक्रमणिका

२—ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन

३-चरणानुयोगसूचिका चूलिका

———

श्री प्रवचनसारकी वर्णानुक्रम गाथासूची

—: o :—

कलशकाव्योंकी वर्णानुक्रम सूची

शुद्धि-अशुद्धि-पत्र

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
कृतशाता	कृतज्ञता	८	१८	करती हुई	करता हुवा	१०१	२६
हुवाते	बताते	११	२६	लक्षणभून	लक्षणभूत	१०८	१५
विशुद्धि	विशुद्ध	२५	१७	सुखका	सुखका	१०८	१६
अबिकार	अविकार	२६	१९	वहकी	देहकी	१२६	२२
प्रन्य	अन्य	२६	२१	मिट	मिट न	१३२	२४
प्वतत्रपना	स्वतत्रपना	२६	२९	गौंच	जोंक	१:२	२४
आर	और	३०	८	छाने	जाने से	१३८	१५
इन्द्रियग्राम	इन्द्रियज्ञान	३५	२६	( )	(२)	१४०	१७
आत्मके	आत्माके	४५	१६	क्षीयमाण	क्षीयमान	१४१	२४
द्वारा		४८	२३	निष्क्रिय	निष्क्रिय	१४१	२४
व्यापकर	व्यापकर	५०	२४	अवम्परूप से	अकम्परूप से	१४१	२५
हुए	हुए	५१	१६	परिणाम		१४२	१८
आदृत	आद्रत	५७	२५	उयपदविवरण	उभयदविवरण	१५१	१३
—	है	६२	२४	मभ्यास	अभ्यास	१५२	१४
होता	होती	६२	२५	ाथा	गाथा	१६१	२९
होता	होती	६२	२६	चद्र	चद्रा	१६४	२६
तिकाल	त्रिकाल	६४	२८	जिसमे	जिसने	१७०	१५
अग	अब	६९	२९	ब्यय	व्यय	१७५	२८
जानना	जानता	७०	१७	अबस्थित	अवस्थित	१९७	२०
पति	अति	७१	१२	होना	होता	२०२	१९
सप्रवेश	सप्रदेश	७१	१८	उसा	उसी	२०५	२८
समत	समस्त	७१	२०	ग्राह	ग्राह्य	२१६	१६
करम्बित		७३		पयार्याथिक	पर्यायार्थिक	२१६	२७
दिकल्प	विकल्प	७३	२२	वि घ	विरोध	२१७	२४
प्रबुद्धि	अबुद्धि	७६	२१	हये	हुवे	२४०	२८
केषली	केवली	७६	२२	बेदात्	छेदात्	२४२	१४
वियोगज	वियोग	७७	१६	है	है	२४८	१५
—	व	७७	१८	धम	धर्म	२५२	१९
हीं		८२	२४	सं	सर्व	२५२	२५
कारकरम्बित		८३	१३	ार्ण	वर्ण	२५३	१२
ज्ञा	व	९७	११	पर्या	पर्याय	२५३	२५
या	था	९७	१८	गगन	गमन	२५६	२३
बाली	बाला	१०१	२६	हो	ही	२५७	२९
				पुप्गल	पुद्गल	२६२	९

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
किसो भी	किसी भी	२७५	२८
वारण	कारण	२७५	१८
जम्प	जस्स	२७७	२
मा	भी	२७७	१६
प्रदो	प्रदेश	२७७	१४
व्यहार	व्यवहार	२८०	२७
यह	वह	२८१	११
पब	अब	२८५	१४
जीबत्व	जीवत्व	२८५	२३
स्दभाव	स्वभाव	२९३	२६
वत्ध	बन्ध	३११	२९
करना	कहना	३१४	१९
तादात्ण्य	तादात्म्य	३३१	१७
क्वो	क्यो	३४७	१३
ओर	और	३४७	१८
—	निमित्तमात्र है, आत्मा उनका कर्ता नही	३४८	३०
कन्मरजेहि	कम्मरजेहि	३५२	३
हालाहल	हलाहल	३५२	१०
नीव्र	तीव्र	३५२	१०
तीव्रानुभाग	तीव्रानुभाग	३५२	१८
है	हूँ	३५९	२३
अतन्पय	अतन्मय	३५९	२९
सहजानन्दाम्	सहजानन्दामृत	३६३	१५
जाता	होता	३६४	२६
परमाध्यस्थ्य	परमाराध्यस्थ	३६६	१३
अशुत्तता	अशुद्धता	३६६	२०
पदाथ	पदार्थ	३६८	२०
स त	सतत्	३७२	६
अवादि	अनादि	३८१	२२
अधमोदर्य	अवमोदर्य	३८२	१७
अत	अब	३८३	१४
जनशरीर	अनकशरीर	३८३	१८
निविकार	निर्विकार	३८३	२३
पयथाजात	अयथाजात	३८८	२६
जानरूपधरत्व	जातरूपधारत्व	३८९	२२
यथाजावरूप	यथाजातरूप	३९२	२५
आलाचनविष	आलोचनविष	३९३	२३
वदसमिदिंदिय	वदसमिदिंदिय	३९४	२
छेदोपस्थापवा	छेदोपस्थापना	३९६	२४
निर्बेश	निर्देश	३९७	२६
प्रगिति	प्रगति	४००	२४
द्रव्याथिक	द्रव्यार्थिक	४०४	१२
नोरब	नीरग	४०४	२५
विकथाये	विकथावो में	४०५	२७
जिसके	जिसके है	४१०	१२
तत्प्रत्ययक	तत्प्रत्यक	४१०	२४
चही	नही	४१३	२२
निर्ग्रन्य	निर्गन्थ	४२१	२४
चित्र	चित्त	४२२	१८
माग	मार्ग	४२२	२४
योग्य	योग्य	४३१	२५
युक्ताहारपनेकी	युक्ताहारपने की	४३१	२८
हिणका	हिंसाका	४३३	१३
अहिंपाये	अहिंसाये	४३३	१८
द्रव्याथिकनय	द्रव्यार्थिकनय	४:८	२३
कर	—	४४१	४
जिसमे	जिसने	४४१	८
पढार्थोंको	पदार्थों को	४४२	२१
परात्मत्मज्ञान	परात्मज्ञान	४४२	२५
सकता	एकता	४४४	१९
सवेदम	सवेदन	४४५	२६
ही रहे	हो रहे	४४६	२२
साय	साथ	४५७	१५
द्वष	द्वेष	४६५	१२
श्र	श्रम	४७१	१८
उपटेश	उपदेश	४७३	९

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
अल्पले	अरूप	४७६	२७	उतृतीय	तृतीय	४६३	२०
दखे	देखे	४७६	११	अम्युत्था	अम्युत्था	४६५	२६
शुन्य	शून्य	४८०	१६	श्रमषा	श्रमणा	४६६	११
विखलाते	दिखलाते	४८४	१५	कारणा	कारण	५०१	१४
छद्मस्य	छद्मस्थ	४८५	१०	बाल	बाला	५०१	१६
जातो	जाती	४८६	२४	होय	होय	५०१	२१
तत्त्बोपासक	तत्त्वोपासक	४८६	२६	अं	अर्थ	५०१	२३
श्रभण	श्रमण	४८६	१०	वह	बह	५०३	१६
अशुभीप	अशुभोप	'४६१	१२	सगति	सगति से	५०५	१४

—·०·—

पूज्यपादश्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतः

प्रवचनसारः

१. ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापनम्

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृततत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः

(मङ्गलाचरणम्)

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ॥ १ ॥
हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ॥ २ ॥
परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम् ।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥ ३ ॥

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य श्रीमत्सहजानन्दकृत सप्तदशाङ्गी टीका

सर्वव्याप्येक इत्यादि— **अर्थ**—सर्वव्यापी एक चित्स्वरूपमय, स्वोपलब्धिसे प्रसिद्ध ज्ञानानंदात्मक उत्कृष्ट आत्माको नमस्कार हो । **भावार्थ**—यहाँ आत्माके सहजस्वरूपको नमस्कार किया गया है, क्योंकि इसी सहज स्वरूपके आश्रयसे मोक्षमार्गमें प्रगति कर मोक्ष प्राप्त किया जाता है एवं स्वरूपके अनुरूप विकास होता, अतः इन्हीं विशेषणों द्वारा सर्वज्ञ वीतराग परमात्माको नमस्कार किया गया है ।

प्रसंगविवरण—प्रवचनसार ग्रन्थराजकी तत्त्वप्रदीपिका टीका करते समय श्री अमृत-

अथ खलु कश्चिदासन्नसंसारपारावारः समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योतिरस्तमितसमस्तैकान्तवादविद्याभिनिवेशः पारमेश्वरीमनेकान्तवादविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्रहतयात्य-

---

चंद्रजी सूरिके द्वारा ज्ञानानन्दप्ररूपक ग्रंथके प्रारम्भमें ज्ञानानन्दात्मक आत्माके उत्कृष्ट सहज स्वरूपको नमस्कार किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) परम आत्मपदार्थ एक चैतन्यस्वरूपमय है। (२) यह एक चैतन्य स्वरूप आत्माके सब गुण पर्यायोंमें व्यापक है। (३) परम आत्मपदार्थ अपने सहज स्वरूपके अनुभवसे सुपरिचित होता है। (४) परम आत्मपदार्थ ज्ञानानन्दात्मक है। (५) परमात्मा ज्ञान द्वारा लोकालोकमें सर्वत्र व्यापक है तो भी वह एक चैतन्यस्वरूपमात्र है, अपने आत्मप्रदेशोंमें ही परिसमाप्त है। (६) परमात्मा आत्मस्वभावके अनुरूप ही पूर्ण विकसित है अतः आत्मस्वभावके परिज्ञानसे ही परमात्माका परिचय होता है। (७) परमात्मा उत्कृष्ट ज्ञानमय और उत्कृष्ट आनन्दमय है।

सिद्धान्त—(१) ज्ञानमुखेन सर्वज्ञेयवर्ती आत्माका परिचय होता है। (२) आत्माके सब गुण पर्यायोंमें व्यापक एक चैतन्यस्वरूप है। (३) स्वरूपकी उपलब्धिसे परमात्मपदार्थकी प्रकृष्ट सिद्धि होती है। (४) परमात्माका स्वरूप परमकाष्ठाप्राप्त ज्ञानानन्द है। (५) आत्माका सहज स्वरूप सहजज्ञानानन्दस्वभाव है।

दृष्टि—(१) सर्वगतनय [१७२]। (२) सामान्यनय [१६७]। (३) पुरुषकारनय [१८३]। (४) शुद्धनिश्चयनय [४६]। (५) परमशुद्धनिश्चयनय [४४-४५]।

प्रयोग—सहज ज्ञानानन्दमय स्वरूपकी दृष्टि करके इस अद्वैतनमस्कारके प्रसादसे शरण्य सहजपरमात्मतत्त्वकी अपनेमें प्रसिद्धि करना।

हेलोल्लुप्त इत्यादि—**अर्थ**—लीलामात्रमें नष्ट किया है महामोहरूपी अन्धकार जिसने ऐसा यह अनेकान्तमय तेज जगत्स्वरूपको प्रकाशित करता हुआ जयवंत होता है। **भावार्थ**—अनेकान्त दृष्टिसे प्रकाश करने वाला ज्ञान यथार्थ वस्तुस्वरूपको जताता है जिससे गहन मोहान्धकार सुगमतया नष्ट हो जाता है।

प्रसंगविवरण—पूर्व मंगलाचरण छन्दमें ज्ञानानन्दात्मक उत्कृष्ट आत्मतत्त्वको नमस्कार किया था। अब अज्ञानान्धकारको दूर कर उस आत्मतत्त्वका परिचय कराने वाले अनेकान्तमय तेजका जयवाद किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) वस्तु अनेकधर्मात्मक है। (२) वस्तुके अनेक धर्मोंका परिज्ञान अनेक दृष्टियोंसे होता है। (३) अनेक दृष्टियोंसे अनेक धर्मोंका परिचय होनेसे वस्तुका बोध

न्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमां भगवत्पंचपरमेष्ठिप्रसादोप-

होता है। (४) स्वतंत्र स्वस्वसत्तामात्र पदार्थोंका परिचय होनेसे मोहान्धकार नष्ट हो जाता है। (५) मोहान्धकार नष्ट होनेपर उत्कृष्ट आत्मतत्त्वमें आदर होता है। सहजपरमात्मतत्त्व की उपासनासे परमकाष्ठाप्राप्त ज्ञान और आनन्द प्रकट होता है।

सिद्धान्त – (१) अनेकान्तमय तेजसे वस्तुका यथार्थ ज्ञान होता है।

दृष्टि—(१) सकलादेशी स्याद्वाद।

प्रयोग—स्याद्वादसे वस्तुनिर्णय करके मोह अज्ञान नष्ट कर स्व सहज ज्ञानानन्दको जयवत करना।

परमानन्द इत्यादि—**अर्थ**– उत्कृष्ट आनन्दरूपी अमृतरसके प्यासे भव्य जीवोंके हित के लिये वस्तुस्वरूपको प्रकट करने वाली प्रवचनसारकी यह वृत्ति अर्थात् टीका की जा रही है। भावार्थ– प्रवचनसारकी यह टीका यथार्थ स्वरूपको प्रकट करने वाली होनेसे भव्य जीवों को परम आनन्द देने वाली है।

प्रसंगविवरण—पूर्व छंदमे अनेकान्तमय तेजका, वस्तुस्वरूपको प्रकाशनेका तथ्य बता कर जयवाद किया था। अब उसी अनेकान्तविधिसे तत्त्वको प्रकट करने वाली प्रवचनसारकी टीका रची जानेका लक्ष्य बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) स्वस्वद्रव्यगुणपर्यायमय वस्तुका परिज्ञान होनेसे पर वस्तुके प्रति आकर्षण नही रहता है। (२) परवस्तुके प्रति आकर्षण नष्ट हो जानेपर आत्मवस्तुकी अभि-मुखता होती है। (३) आत्मतत्त्वके अभिमुख जीवको आत्मत्वके आश्रयसे परम आनन्द प्रकट होता है। (४) परमानन्दसुधारसके प्यासे भव्य जीवोंके हितके लिये यह टीका रची जा रही है।

सिद्धान्त—(१) किसीकी रचनासे अन्य कोई लाभ उठाये तो वहाँ उसके लिये रचना की जानेका व्यवहार होता है।

दृष्टि—१– परसंप्रदानत्व असद्‌भूत व्यवहार (१३२)।

प्रयोग—प्रवचनसार ग्रन्थ व उसकी टीकाका स्वाध्याय अपनेपर तथ्यको घटित करते हुए करना और आत्मीय आनन्दसे तृप्त होनेकी वृत्ति बनाना।

अथ इत्यादि। **अर्थ**—अब निकट है संसारसमुद्रका किनारा जिसका, प्रकट हो गई है सातिशय विवेक ज्योति जिसकी, नष्ट हो गया है समस्त एकान्तवादविद्याका आग्रह जिसके ऐसा कोई महापुरुष (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) परमेश्वर जिनेन्द्रदेवकी अनेकान्तवादविद्याको

जन्यां परमार्थसत्यां मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसरान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनः प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते—

प्राप्त करके समस्त पक्षपरिग्रहसे मुक्त हो जानेसे अत्यन्त मध्यस्थ होकर सर्व पुरुषार्थोंमे सारपना होनेसे आत्माके लिये अत्यन्त उत्कृष्ट हिततम, भगवान पञ्च परमेष्ठीके प्रसादसे उपजन्य परमार्थसत्य अविनाशी मोक्षलक्ष्मीको उपादेयरूपसे निश्चित करता हुआ प्रवर्तमान तीर्थके नायक श्री महावीर स्वामी पूर्वक भगवंत पंच परमेष्ठियोको प्रणमन वन्दनसे होने वाले नमस्कारके द्वारा विनय करके सर्व उद्यमसे मोक्षमार्गको प्राप्त होता हुआ प्रतिज्ञा करता है।

भावार्थ—श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव वर्तमानधर्मतीर्थनायक महावीर भगवानको प्रणाम कर शेष समस्त तीर्थंकर व पञ्च परमेष्ठियोको प्रणाम कर सर्व उद्यमसे अपना लक्ष्य प्रकट करेंगे।

तथ्यप्रकाश—(१) जिसका संसारसागरसे पार होना निकट है वही मोक्षमार्गको प्राप्त होता है। (२) जिसके सातिशय विवेक ज्योति प्रकट हुई है वही अनेकान्तवादकी विद्या को प्राप्त कर सकता है। (३) जिसके किसी भी एकान्तवादका आग्रह नही रहा वही पक्ष परिग्रह दूर कर निष्पक्ष हो सकता है। (४) मोक्षलक्ष्मी ही आत्माको हितरूप है। (५) समस्त पुरुषार्थोंमें सार मोक्षोद्यम है।

सिद्धान्त—(१) मोक्षलक्ष्मी पञ्च परमेष्ठीके प्रसादसे उपजन्य है। (२) पञ्च परमेष्ठीका प्रणमन वन्दनसे होने वाले नमस्कारसे विनय किया जाता है।

दृष्टि—आश्रये आश्रयी उपचारक व्यवहार [१५१]।

प्रयोग—विवेकज्योति प्रकट करके एकान्तवादहठ छोडकर पञ्च परमेष्ठीकी उपासना से आत्माभिमुखताकी पात्रताके वातावरणमे समतासंपादनका पौरुष करना।

अब गाथासूत्रोंका अवतार होता है—**[एषः]** यह मैं **[सुरासुरमनुष्येन्द्रवंदितं]** सुरेन्द्रो, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रोंसे वन्दित तथा **[धौतघातिकर्ममलं]** जिन्होने घातिकर्ममलको धो डाला है, ऐसे **[तीर्थं]** तीर्थरूप और **[धर्मस्य कर्तारं]** धर्मके कर्ता **[वर्धमानं]** श्री वर्द्धमान स्वामीको **[प्रणमामि]** नमस्कार करता हूँ। **[पुनः]** और **[विशुद्धसद्भावान्]** विशुद्ध सत्तावाले **[ससर्वसिद्धान्]** सर्व सिद्धभगवन्तों सहित **[शेषान् तीर्थंकरान्]** शेष तीर्थंकरोको **[च]** और **[ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान्]** ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार युक्त **[श्रमणान्]** श्रमणोंको नमस्कार करता हूं। **[तान् तान् सर्वान्]** उन उन सबको **[च]** तथा **[मानुषेक्षेत्रे वर्तमानान्]** मनुष्य क्षेत्रमे विद्यमान **[अर्हतः]** अरहन्तोंको **[समकं समकं]** साथ ही साथ याने समुदायरूपसे और **[प्रत्येकं एव प्रत्येकं]** प्रत्येक प्रत्येकको याने व्यक्तिगत **[वन्दे]**

अथ सूत्रावतार—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥२॥
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेदि सव्वेसिं ॥ ४ ॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥५॥

यह मैं इन्द्रो द्वारा, वंदित रिपुघातिकर्ममलव्यपगत ।
तीर्थमय धर्मकर्ता, वर्द्धमान देवको प्रणमूं ॥ १ ॥
शेष तीर्थेश व सकल, विशुद्धसद्भावमय सुसिद्धोंको ।
दर्शन ज्ञान चरित तप, वीर्याचारेश श्रमणोंको ॥ २ ॥

नामसंज्ञ—एत सुरासुरमणुसिंदवंदिद, धोदघाइकम्ममल वड्ढमाण, तित्थ, धम्म, कत्तार, सेस, पुण तित्थयर ससव्वसिद्ध विसुद्धसब्भाव, समण, य णाणदसणचरित्ततववीरियायार, त, त, सव्व,

---

वन्दना करता हूं । [इति] इस प्रकार [अर्हद्भ्यः] अर्हंतोको [सिद्धेभ्यः] सिद्धोको [तथा गणधरेभ्यः] आचार्योंको [अध्यापकवर्गेभ्यः] उपाध्यायवर्गको [च] और [सर्वेभ्यः साधुभ्यः] सर्व साधुओंको [नमः कृत्वा] नमस्कार करके [तेषां] उनके [विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रम] विशुद्ध दर्शनज्ञानप्रधान आश्रमको [समासाद्य] प्राप्त करके [साम्यं उपसपद्ये] मैं समभावको प्राप्त करता हूं [यतः] जिससे [निर्वाणसंप्राप्तिः] निर्वाणकी प्राप्ति होती है ।

टीकार्थ—यह स्वसंवेदनप्रत्यक्षदर्शनज्ञानसामान्यात्मक मैं प्रवर्तमान तीर्थनायकताके कारण प्रथम ही सुरेन्द्रो, असुरेन्द्रो और नरेन्द्रोके द्वारा वन्दित होनेसे तीन लोकके एक मात्र गुरु घातिकर्ममलके धो डालनेसे जगतपर अनुग्रह करनेमे समर्थ अनतशक्तिरूप परमेश्वरतासे युक्त तीर्थताके कारण योगियोको तारनेमे समर्थ, धर्मके कर्ता होनेसे शुद्ध स्वरूपपरिणतिके विधाता परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य, सुगृहीतनाम श्रीवर्द्धमानदेवको

उन उन सबको युगपत्, अथवा प्रत्येक एकशः प्रणाम् ।
मानुष क्षेत्रमें सुस्थित, बन्दूं अरहत देवोंको ॥ ३ ॥
अरहंतों सिद्धोंको, प्रणमन करके तथा गणेशोंको ।
उपाध्याय वर्गोंको, तथा सकल साधुवृन्दोंको ॥४॥
उनके विशुद्ध दर्शन, ज्ञान प्रधानी चिदाश्रम हि पाकर ।
साम्य श्रामण्य पाऊं, जिससे शिवलब्धि होती है ॥ ५ ॥

एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दित धौतघातिकर्ममलम् । प्रणमामि वर्धमान तीर्थ धर्मस्य कर्तारम् ॥ १ ॥
शेषान् पुनस्तीर्थकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान् । श्रमणाश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ॥ २ ॥
तांस्तान् सर्वान् समक समक प्रत्येकमेव प्रत्येकम् । वन्दे च वर्तमानानर्हतो मानुषे क्षेत्रे ॥ ३ ॥
कृत्वार्हद्भ्यः सिद्धेभ्यस्तथा नमो गणधरेभ्य । अध्यापकवर्गेभ्य साधुभ्यश्चेति सर्वेभ्य. ॥ ४ ॥
तेषां विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रम समासाद्य उपसपद्ये साम्य यतो निर्वाणसप्राप्ति ॥ ५ ॥

एष स्वसंवेदनप्रत्यक्षदर्शनज्ञानसामान्यात्माहं सुरासुरमनुष्येन्द्रवंदितत्वात्त्रिलोकैकगुरु, **धौतघातिकर्ममलत्वाज्जगदनुग्रहसमर्थानन्तशक्तिपारमैश्वर्यं,** योगिना तीर्थत्वात्तारणसमर्थ, धर्म-**कर्तृत्वाच्छुद्धस्वरूपवृत्तिविधातारं,** प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारकमहादेवा-

---

समगं, समग, पत्तेग, एव, पत्तेग, य, वट्टत, अरहत, माणुस, खेत्त, अरहत, सिद्ध, तह, णमो, गणहर, अ-**ज्झावयवग्ग**, साहु, च, इदि, सव्व, त, विसुद्धदसणणाणपहाणासम, सम्म, जत्तो, णिव्वाणसपत्ति । **धातु-**

प्रणाम करता हू । तत्पश्चात् इन्ही पचपरमेष्ठियोको, उस उस व्यक्तिमे (पर्यायमे) व्याप्त होने **वाले सभीको, वर्तमानमे इस** क्षेत्रमें उत्पन्न तीर्थंकरोका अभाव होनेसे और महाविदेहक्षेत्रमें **उनका सद्भाव होनेसे** मनुष्यक्षेत्रमे प्रवर्तमान तीर्थनायकोके साथ वर्तमानकालको गोचर करके, **युगपद् युगपद् अर्थात्** समुदायरूपसे और प्रत्येक प्रत्येकको अर्थात् व्यक्तिगत रूपसे मोक्षलक्ष्मीके **स्वयवर समान परम** निर्ग्रन्थताकी दीक्षाके उत्सवके उचित मगलाचरणभूत कृतिकर्मशास्त्रोप-**दिष्ट** वन्दनोच्चारके द्वारा आराधता हू । अब इस प्रकार अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय **तथा सर्व साधुओंको प्रणाम और** वन्दनोच्चारसे प्रवर्तमान द्वैतके द्वारा, भाव्यभावक भावसे **उत्पन्न अत्यन्त गाढ** इतरेतर मिलनके कारण समस्त स्वपरका विभाग विलीन हो जानेसे **प्रवृत्त है अद्वैत जिसमे ऐसा नमस्कार करके,** उन्ही अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु-**ओंके** विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधान होनेसे सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभाव वाले आत्मतत्त्वका श्रद्धान ज्ञान **लक्षण वाले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके** सम्पादक आश्रमको प्राप्त करके सम्यग्दर्शनज्ञान-**सम्पन्न होकर,** कषायकरण विद्यमान होनेसे जीवको पुण्यबन्धकी प्राप्तिके कारणभूत क्रमापतित **भी सराग चारित्रको दूर उल्लघन करके, समस्त** कषायक्लेशरूपी कलंकसे भिन्न होनेसे निर्वा-**णप्राप्तिके कारणभूत** वीतरागचारित्र नामक साम्यको प्राप्त करता हूं । सम्यग्दर्शन, सम्य-

धिदेवपरमेश्वरपरमपूज्यसुगृहीतनामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि ॥१॥ तदनु विशुद्धसद्भावत्वादुपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् शेषानतीततीर्थनायकान् सर्वान् सिद्धांश्च, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात्संभावितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ॥ २ ॥ तदन्वेतानेव पंचपरमेष्ठिनस्तत्तद्वयक्तिव्यापिनः सर्वानेव सांप्रतमेतत्क्षेत्रसंभवतीर्थकरासंभवान्महाविदेहभूमिसंभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्रप्रवर्तिभिस्तीर्थनायकैः सह वर्तमानकालं गोचरीकृत्य युगपद्युगपत्प्रत्येकं प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मीस्वयंबरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षणोचितमंगलाचारभूतकृतिकर्मशास्त्रोपदिष्टवंदनाभिधानेन संभावयामि ॥३॥

मंत्र—वद स्तुतौ तृतीयगणी, प नम नम्रीभावे प्रथमगणी, सम् आ सीय प्राप्त्यर्थे, उव स पय गतौ । **प्रातिपदिक**—एतत्, सुरासुरमनुष्येन्द्रवंदित, धौतघातिकर्ममल, वर्द्धमान, तीर्थ, धर्म, कर्तृ, शेष, पुन , तीर्थङ्कर, ससर्वसिद्ध, विशुद्धसद्भाव, श्रमण, च, ज्ञानदर्शनचरित्रतपोवीर्याचार, तत्, सर्व, समक, समक, प्रत्येक, एव, प्रत्येक, च, वर्तमान, अर्हत्, मानुष, क्षेत्र, अर्हत्, सिद्ध, तथा, नमः, गणधर, अध्यापकवर्ग, साधु, च, इति, सर्व, तत्, विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रम, साम्य, यत , निर्वाणसम्प्राप्ति । **उभयपदविवरण**—एस एष-प्रथमा एकवचन । सुरासुरमणुसिदवंदिद सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं-द्वितीया एकवचन । धोदघाइकम्ममलं धौतघातिकर्ममल-द्वि० ए० । पणमामि प्रणमामि-वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एकवचन । वड्ढमाणं वर्द्धमान, तित्थं तीर्थं-द्वि० ए० । धम्मस्स धर्मस्य-षष्ठी ए० । कत्तारं कर्तारं-द्वि० ए० । सेसे शेषान्, तित्थयरे तीर्थंकरान्, ससव्वसिद्धे ससर्वसिद्धान्, विसुद्धसब्भावे विशुद्धसद्भावान्-द्वितीया बहुवचन । समणे श्रमणान्, णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ज्ञानदर्शनचरित्रतपोवीर्याचारान् ते ते, तान् तान्, सव्वे सर्वान्-द्वि० बहु० । समगं समगं, समक समक-अव्यय । पत्तेगं प्रत्येकं-द्वि० एक० । वंदामि वन्दामि-वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० +

ग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी ऐक्यस्वरूप एकाग्रताको मैं प्राप्त हुआ हूं, यह इस प्रतिज्ञाका अर्थ है । इस प्रकार यह (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव) साक्षात् मोक्षमार्गको प्राप्त हुआ ।

तात्पर्य—आराध्यकी आराधना कर परम अभेद आराधनाका प्रतिज्ञापन हुआ है ।

प्रसंगविवरण—आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार गाथाग्रंथकी रचना करने वाले हैं सो उससे पहिले सर्वप्रथम तीर्थनायक महावीर भगवानको प्रणाम करके फिर समस्त आराध्य देव गुरुवोंको प्रणाम करके ग्रंथरचनाके प्रयोजनभूत समताभावकी प्रतिपन्नताकी भावना कर रहे हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) आराध्यके आराधकको स्वयं अपना आत्मा स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्य है सो अपने आपको देखता हुआ कह रहा है कि यह मैं वर्द्धमान देवको प्रणाम करता हूं । (२) वर्द्धमान प्रभुकी त्रिलोकगुरुताका सर्वजनविदित प्रमाण यह है कि प्रभु तीन लोकोंके इन्द्रों द्वारा वंदित हैं । (३) घातिया कर्मोंके दूर होनेसे वर्द्धमान प्रभुमें संसारी प्राणियोंका अनुग्रह करनेमें समर्थ अनंत शक्तिका पारमैश्वर्य प्रकट हुआ है । (४) चौबीसवें तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामीका तीर्थ इस समय वर्त रहा है इस कारण ये योगियोंके तीर्थ हैं, धर्मकर्ता हैं

अथैवमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां प्रणतिवन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलविलीननिखिलस्वपरविभागतया प्रवृत्ताद्वैतं नमस्कारं कृत्वा ।४। तेषामेवार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानत्वेन सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसपादकमाश्रमं समासाद्य सम्यग्दर्शनज्ञानसंपन्नो भूत्वा, जीवत्कषायकणतया पुण्यबन्धसंप्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिकलङ्कविविक्ततया निर्वाणसंप्राप्तिहेतुभूतं वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसंपद्ये । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्यं गतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थः । एवं तावदयं साक्षान्मोक्षमार्गं संप्रतिपन्नः ॥५॥

य च, इदि इति, तह तथा, जत्तो यतः–अव्यय । वट्टं ते वर्तमानान्, अरहते अर्हत –द्वि० एक० । माणुसे मानुषे, खेत्ते क्षेत्रे–सप्तमी ए० । किच्चा कृत्वा–असमाप्तिकी क्रिया । अरहंताण अर्हद्भ्य', सिद्धाणां सिद्धेभ्यः, गणहराणं गणधरेभ्य', अज्झावयग्गाणं अध्यापकवर्गेभ्य', साहूण साधुभ्यः, सव्वेसिं सर्वेभ्यः–चतुर्थी बहु० । णमो नमः–अव्यय । तेसिं तेषां–षष्ठी बहु० । विसुद्धदसणणाणरहाणासम विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रम–द्वि० एक० । समासेज्ज समासाद्य.–असमाप्तिकी क्रिया । उपसपयामि उपसंपद्ये–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० । सम्म साम्य–द्वि० एक० । णिव्वाणसपत्ती निर्वाणसप्राप्ति –प्रथमा एक० । **निरुक्तिसमास** – क्रियते इति कर्म, तीर्थं करोतीति तीर्थंकर' तान्, सर्वे च सिद्धाश्चेति सर्वसिद्धाः तैः महिताः ससर्वसिद्धा तान्, विशुद्धः सद्भावः येषां ते विशुद्धसद्भावास्तान्, ज्ञान च दर्शन च चारित्रं च तपश्च वीर्य च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याणि तेषां आचारः येषां ते तान्, एक एकं प्रति इति प्रत्येक ॥ १-५ ॥

और इसी कारण कृतज्ञाताप्रकाशनमें प्रथम ही इनको प्रणाम किया गया है । (५) वर्द्धमान देवको प्रणाम करनेके अनंतर ही तुरंत सर्व परमेष्ठियोको प्रणाम किया गया है । (६) सभी आराध्य समान है, अतः सबको एक साथ ही प्रणाम करनेकी उमंग हुई है, फिर भी प्रत्येककी वंदना साथ है । (७) प्रत्येक आराध्यकी वन्दनाके भाव बिना समुदायकी वंदनाका प्रसंग नही आ पाता । (८) यद्यपि इस कालमें यहाँ तीर्थंकर नही है तो भी आराधक अत्यन्त भक्तिके बलसे ढाई द्वीपमें विदेहक्षेत्रमें प्रवर्तमान तीर्थनायकोंके साथ वर्तमानकाल जोड़ता हुआ समक्षीकृत आराध्योंको प्रणाम करता है । (९) आराध्य परमेष्ठियोंको प्रणाम वन्दनाके शब्दों द्वारा द्वैतनमस्कार होता है । (१०) आराध्यके स्वरूपको आराधनाके बलसे स्वपरविभाग विलीन हो जानेपर स्वरूपाराधनमे अद्वैतनमस्कार होता है । यहाँ आत्मा ही आराध्य है व आत्मा ही आराधक है । (११) सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्न होकर आगे बढ़नेका पौरुष होनेपर भी कषायकण की जीवितताके समय विशिष्ट पुण्यबन्धकी प्राप्तिका कारणभूत सरागचारित्र आ पड़ता ही है तो भी ज्ञानी उसका उल्लंघन कर निर्वाणप्राप्तिका कारणभूत वीतरागचारित्रनामक समताभावको प्राप्त करता है । (१२) ग्रंथकर्ताने इसी साम्यभावकी भावना की है ।

अथायमेव वीतरागसरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्वं विवेचयति—

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

नृसुरासुरेन्द्रवैभव-पूर्वक निर्वाण प्राप्त होता है।
दर्शनज्ञानप्रधानी चारित सेये हि जीवोंको ॥ ६ ॥

संपद्यते निर्वाणं देवासुरमनुजराजविभवैः । जीवस्य चरित्राद्दर्शनज्ञानप्रधानात् ॥ ६ ॥

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः । तत एव च सरागाद्देवासुरमनु-

नामसंज्ञ—णिव्वाण, देवासुरमणुयरायविहव, जीव, चरित्त, दंसणणाणप्पहाण। **धातुसंज्ञ**—स पज्ज गतौ प्रथमगणी, निर वा वायुसचरणयो। **प्रातिपदिक**—निर्वाण, देवासुरमनुजराजविभव, जीव, चारित्र, दर्शनज्ञानप्रधान। **मूलधातु**—स पद गतौ दिवादि, निस् वा गतिगन्धनयो अदादि। **पदविवरण**—सपज्जदि सपद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। णिव्वाणं निर्वाण–प्र० ए०। देवासुरमणुयरायविहवेहि देवा-

सिद्धान्त—(१) अद्वैतनमस्कारमे ध्याता ध्येयका विकल्प न रहकर मात्र आत्मस्वरूप का आदर है।

दृष्टि— १– अविकल्पनय, ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय (१६२, १७६)।

प्रयोग—समतापुञ्ज आराध्य परमेष्ठियोंकी द्वैत आराधनासे आगे बढ़कर स्वरूपरुचि-मात्र अद्वैत आराधनामे अविकार स्वरूपका अनुभव करना ॥ १–५ ॥

अब ये ही (कुन्दकुन्दाचार्यदेव) वीतरागचारित्रकी इष्टफल रूपसे और सरागचारित्र की अनिष्टफल रूपसे उपादेयता व हेयताका विवेचन करते है—[**जीवस्य**] जीवको [**दर्शन-ज्ञानप्रधानात्**] दर्शनज्ञानप्रधान [**चारित्रात्**] चारित्रसे [**देवासुरमनुजराजविभवैः**] देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्रके वैभवोके साथ [**निर्वाणं**] निर्वाण [**संपद्यते**] प्राप्त होता है।

तात्पर्य—दर्शनज्ञानप्रधान चारित्रसे अनेक वैभवोंसे गुजरकर निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

टीकार्थ—दर्शनज्ञानप्रधान वीतराग चारित्रसे, मोक्ष प्राप्त होता है, और दर्शनज्ञान-प्रधान सरागचारित्रसे देवेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्रके वैभवक्लेशरूप बंधकी प्राप्ति होती है। इसलिये मुमुक्षुओंको इष्ट फल वाला होनेसे वीतरागचारित्र उपादेय है, और अनिष्ट फल वाला होनेसे सरागचारित्र हेय है।

प्रसंगविवरण—पूर्व गाथामें बताया था कि मैं समताको प्राप्त होता हूं, जिससे कि निर्वाणकी प्राप्ति होती है। अब इस गाथामें निर्वाणप्राप्तिका साधन बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) शुद्धचित्स्वरूपमे रमना चारित्र है। (२) भावसंसारमें डूबे हुए

जराजविभवक्लेशरूपो बन्धः । अतो मुमुक्षुरोष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सराग-चारित्रं हेयम् ॥६॥

सुरमनुजराजविभवं –तृतीया बहु० । जीवस्स जीवस्य–ष० ए० । चारित्तादो चारित्रात्–पचमी ए० । दसण-णाणप्पहाणादो दर्शनज्ञानप्रधानात्–प० ए० । **निरुक्ति**—नि शेषेण वान निर्वाण, दीव्यति देव . सुरनि सुर , मनो जात मनुज , विशेषेण भवन विभव , जीवति जीव , चरण चारित्र । **समास**–देवाश्च असुराश्च मनुजाश्च देवासुरमनुजा तेषा राजानः देवा०, तेषा विभवा तै , दर्शनज्ञाने प्रधाने यत्र तत् तस्मात् ॥६॥

प्राणीका उद्धार कर निर्विकार शुद्ध चैतन्यमे धारण करने वाला चारित्र है, अतः चारित्र धर्म है । (३) मोह और क्षोभका शामक होनेसे चारित्र शम है । (४) राग द्वेष परिणतिसे निवृत्ति करने वाला होनेसे चारित्र साम्यभाव है । (५) शुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यक्त्वका विनाशक दर्शनमोह मोह कहलाता है । (६) निर्विकार निश्चल ज्ञानवृत्तिरूप चारित्रका विनाशक चारित्रमोह क्षोभ कहलाता है । (७) जिसके सम्यग्दर्शन ज्ञान हुआ है उसीके चारित्र होता है । (८) जिस साधुके कषायकरण जीवित है उसका चारित्र सरागचारित्र है । (९) जिस साधुके रागका अभाव हो गया उसका चारित्र वीतरागचारित्र है । (१०) वीतरागचारित्रसे मोक्ष होता है । (११) सरागचारित्रसे देवेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्रके वैभवक्लेशरूप बध होता है । (१२) सरागचारित्रसे होने वाले बन्धका कारण रागांश है, चारित्रांश बन्धका कारण नही । (१३) सरागचारित्रसे देवेन्द्रादि वैभव प्राप्त होते, फिर भी वह ज्ञानी निर्ग्रन्थ पुरुष हो जाता है । (१४) सम्यक्त्वमे मरण करने वाला असुरोमे व असुरेन्द्रोमे उत्पन्न नही होता, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव निदान बंधसे सम्यक्त्वकी विराधना करके असुरोमे उत्पन्न होता है । (१५) निश्चयसे वीतरागचारित्र उपादेय है व सरागचारित्र हेय है ।

सिद्धान्त—(१) वीतरागचारित्रसे मोक्ष होता है ।

दृष्टि— १– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४अ, २४ब] ।

प्रयोग—सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्न होकर ज्ञाता द्रष्टा रहनेका पौरुष करना और प्रारभमें वहाँ आने वाले सरागचारित्रके विकल्पकी उपेक्षा कर वीतरागचारित्रमय होनेका ध्यान बनाना ॥६॥

अब चारित्रका स्वरूप व्यक्त करते हैं—[**चारित्रं**] चारित्र [**खलु**] वास्तवमें [**धर्मः**] धर्म है । [**यः धर्मः**] जो धर्म है [**तत् साम्यम्**] वह साम्य है, [**इति निर्दिष्टम्**] ऐसा कहा गया है । [**साम्यं हि**] साम्य [**मोहक्षोभविहीनः**] मोहक्षोभरहित [**आत्मनः परिणामः**] आत्माका परिणाम है ।

अथ चारित्रस्वरूपं विभावयति—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्र धर्म धर्म भि, साम्य बताया व साम्य भी क्या है ।
मोह क्षोभसे विरहित, अविकृत परिणाम आत्माका ॥७॥

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यस्तत्साम्यमिति निदिष्टम् । मोहक्षोभविहीनः परिणाम आत्मनो हि साम्यम् ॥७॥

स्वरूपे चरणं चारित्रं । स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः । तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः । शुद्ध-चैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम् । साम्यं तु दर्शनचारित्रमोह-नीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ॥७॥

नामसंज्ञ—चारित्त, खलु, धम्म, ज, त, सम, इत्ति णिद्दिट्ठ, मोहक्खोहविहीण, परिणाम, अप्प, हु, सम । **धातुसंज्ञ**—णि दिस प्रेक्षणे । **प्रातिपदिक**—चारित्त, खलु, धर्म, यत्, तत्, साम्य इति निर्दिष्ट, मोह-क्षोभविहीन, परिणाम, आत्मन्, खलु, साम्य । **मूलधातु**—निर् दिश देशने । **पदविवरण**—चारित्त चारित्र–प्र० ए० । खलु खलु–अव्यय । धम्मो धर्म –प्र० एक० । जो सो य सः समो समः–प्र० एक० । इत्ति इति–अव्यय । णिद्दिट्ठो निर्दिष्ट –प्र० एक० कृदन्त क्रिया । मोहक्खोहविहीणो मोहक्षोभविहीनः परिणामो परि-णाम समो सम –प्र० ए० । अप्पणो आत्मन.–षष्ठी एक० । **निरुक्तिसमास**—चरण चारित्र, मोहक्षोभश्च मोहक्षोभौ ताभ्या विहीनः मोहक्षोभविहीन ॥ ७ ॥

तात्पर्य—सहजात्मस्वरूपमे रमना सम्यक्चारित्र है, यही धर्म है ।

टीकार्थ—स्वरूपमे चरण करना (रमना) चारित्र है । स्वसमयमे प्रवृत्ति करना (अपने स्वभावमे प्रवृत्ति करना) ऐसा इसका अर्थ है । वही वस्तुका स्वभाव होनेसे धर्म है । शुद्ध चैतन्यका प्रकाश करना ऐसा इसका अर्थ है । वही यथावस्थित आत्मगुण होनेसे साम्य है । और साम्य दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीयके उदयसे उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभके अभावके कारण जीवका अत्यन्त निर्विकार परिणाम है ।

प्रसंगविवरण—पूर्व गाथामे बताया था कि निर्वाणकी प्राप्ति चारित्रसे होती है । अब उसी चारित्रका स्वरूप इस गाथामे बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) चारित्रके फलको बताकर उत्थानिकामे कहा है कि अब चारित्रके स्वरूपको विशेष रूपसे हुवाते है इसमें अपना भाव व उद्यम बताया गया है । (२) अपने आ-त्मस्वरूपमे रमण चारित्र है । (३) अपने आत्मस्वरूपमें रमण स्वसमयवृत्ति है । (४) अपने आत्मस्वरूपमें रमण धर्मधारण है । (५) अपने आत्मस्वरूपमें रमणके मायने शुद्ध चैतन्यका प्रकाशन है । (६) अपने आत्मस्वरूपमे रमण साम्यभाव है । (७) अपने आत्मस्वरूपमे रमण

अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥

द्रव्य जिस भावसे परि-णमता उस काल तन्मयी होता ।
इससे ही धर्मपरिणत आत्माको धर्म ही मानो ॥ ८ ॥

परिणमति येन द्रव्यं तत्काल तन्मयमिति प्रज्ञप्तम् । तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः ॥ ८ ॥

यत्खलु द्रव्य यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन् काले किलौष्ण्यपरिणता-यःपिण्डवत्तन्मय भवति । ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चा-रित्रत्वम् ॥ ८ ॥

नामसंज्ञ— ज, दव्व, तत्काल, तम्मय, इति पण्णत्त, त, धम्मपरिणद, आदा, धम्म, मुणेयव्व । **धातु-संज्ञ**—परि णम प्रह्वत्वे शब्दे च, प ण्णना अवबोधने, मुण ज्ञाने । **प्रातिपदिक**- यत्, द्रव्य, तत्काल, तन्मय, इति, प्रज्ञप्त, तत्, धर्मपरिणत, आत्मन्, धर्म मन्तव्य । **मूलधातु**—परि-णम प्रह्वत्वे, द्रु गतौ भ्वादि, प्र ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने चुरादि, मन ज्ञाने दिवादि । **उभयपदविवरण**—परिणमदि परिणमति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । जेण येन–तृ० ए० । दव्व द्रव्य–प्र० ए० । तक्कालं तत्काल–अव्यय । तम्मय तन्मय–प्र० ए० । इत्ति इति–अव्यय । पण्णत्त प्रज्ञप्तम्–प्र० ए० कृदन्त क्रिया । तम्हा तस्मात्–प० ए० । धम्मपरिणदो धर्मपरिणत–प्र० ए० । आदा धम्मो मुणेयव्वो आत्मा धर्मः मन्तव्यः–प्र० ए० । **निरुक्ति**– द्रवति गुणपर्यायान् गच्छति इति द्रव्य । अतति सतत जानाति इति आत्मा । **समास**— धर्मेण परिणत इति धर्मपरिणतः ॥ ८ ॥

जीवका निर्विकार परिणाम है । (८) चारित्र धर्म है, सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है ।

सिद्धान्त—(१) चारित्र आत्माका निर्विकार शुद्ध चैतन्यप्रकाश है ।

दृष्टि— १– शुद्धनिश्चयनय (४६) ।

प्रयोग—अपने अविकार सहज स्वरूपमे आत्मभावनाके दृढ़ भावसे शुद्ध ज्ञानमात्र बर्तना ॥७॥

अब आत्माके चारित्रपनेका निश्चय करते है—[**द्रव्य**] द्रव्य जिस समय [**येन**] जिस भाव रूपसे [**परिणमति**] परिणमता है [**तत्कालं**] उस समय [**तन्मयं**] उस मय है [**इति**] ऐसा [**प्रज्ञप्तं**] जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा गया है, [**तस्मात्**] इसलिये [**धर्मपरिणतः आत्मा**] धर्मपरिणत आत्माको [**धर्मः मन्तव्यः**] धर्म समझना चाहिये ।

तात्पर्य—मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेरूप धर्मसे परिणत आत्मा स्वयं धर्म है, स्वयं चारित्र है ।

टीकार्थ—वास्तवमे जो द्रव्य जिस समय जिस भावरूपसे परिणमन करता है, वह

अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति--

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ।। ९ ।।

जब परिणामस्वभावी, जीव शुभ अशुभ शुद्ध भावसे यह ।
परिणमता तब होता, जीव हि शुभ अशुभ शुद्ध तथा ।।९।।

जीव परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभ । शुद्धेन तथा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभाव. ।। ९ ।।

यदाऽयमात्मा शुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति तदा जपातापिच्छरागपरिणत-

---

नामसंज्ञ– जीव जदा सुह असुह वा सुद्ध तदा हि परिणामसब्भाव । **धातुसंज्ञ**– हव सत्ताया, परि णम

द्रव्य उस समय उष्णता रूपसे परिणमित लोहेके गोलेकी भाँति उस मय है; इसलिये यह आत्मा धर्मरूप परिणमित होनेसे धर्म ही है । इस प्रकार आत्माका चारित्रपना सिद्ध हुआ ।

प्रसंगविवरण— अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि निश्चयतः चरित्र ही धर्म है । अब इसीके सम्बन्धमे इस गाथामे कहा गया है कि चारित्र धर्मसे परिणत आत्मा ही स्वयं धर्म है ।

तथ्यप्रकाश—(१) चारित्रभावसे परिणमा आत्मा स्वय चारित्रमय है । (२) आत्मा और चारित्र अलग अलग नही है । (३) जिस कालमे जो द्रव्य जिसरूप परिणमता है उस कालमे वह द्रव्य उस मय है । (४) उदाहरणमें स्पष्ट है कि उष्णतासे परिणत लोहगोला उष्णतामय है ।

सिद्धान्त—(१) अशुद्धपर्यायके कालमे द्रव्य अशुद्धपर्यायमय है । (२) शुद्धपर्याय-परिणत आत्मा शुद्धपर्यायमय है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय [४७] । २– शुद्धनिश्चयनय [४६] ।

प्रयोग—मैं अपने आप केवल रह कर किस रूप हो सकता हूं ऐसे चिन्तनसे मात्र ज्ञाता द्रष्टा रूप मनन करके पर्यायध्यान छोड़कर पर्यायकी स्रोतभूमि सहजसिद्ध चिन्मात्र अपनेको अनुभवनेका पौरुष करना ।।८।।

अब जीवका शुभपना, अशुभपना और शुद्धपना निश्चित करते है—[**परिणामस्वभावः**] परिणामस्वभाव [**जीवः**] जीव [**यदा**] जब [**शुभेन वा अशुभेन**] शुभ या अशुभ भावरूपसे [**परिणमति**] परिणमता है [**शुभः अशुभः**] तब शुभ या अशुभ ही होता है, [**शुद्धेन**] और जब शुद्धभावरूपसे परिणमता है [**तदा शुद्धः हि भवति**] तब शुद्ध स्वयं ही होता है ।

स्फटिकवत् परिणामस्वभावः सन् शुभोऽशुभश्च भवति । यदा पुनः शुद्धेनारागभावेन परिण-

प्रह्वत्वे । **प्रातिपदिक**—जीव, यदा, शुभ, अशुभ, वा, शुद्ध, तदा, हि, परिणामस्वभाव । **मूलधातु**—परि णम प्रह्वत्वे, भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—जीवो जीव –प्रथमा एकवचन । परिणमदि परिणमति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जदा यदा तदा वा हि–अव्यय । सुहेण शुभेन असुहेण अशुभेन

तात्पर्य—शुभ अशुभ शुद्ध परिणमनके समय जीव शुभ अशुभ तथा शुद्ध ही है ।

टीकार्थ—जब यह आत्मा शुभ या अशुभ रागभावसे परिणमता है तब जपा कुसुम या तमाल पुष्पके लाल या काले रंगरूप परिणमित स्फटिककी भाँति, परिणामस्वभाव यह जीव शुभ या अशुभ होता है और जब वह शुद्ध अरागभावसे परिणमित होता है तब शुद्ध अरागपरिणत (रंगरहित) स्फटिककी भाँति, परिणामस्वभाव होनेसे शुद्ध होता है याने उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध है । इस प्रकार जीवका शुभत्व अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध हुआ ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि जो द्रव्य जिस कालमें जिस रूपसे परिणमता है वह द्रव्य उस कालमे उस मय होता है । अब आत्माके विषयमे उसीका स्पष्टीकरण इस गाथामे किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जीव परिणमता है इस कथनसे स्पष्ट है कि जीव नित्य है, किन्तु अपरिणामी कूटस्थ नित्य नही है । (२) जीव परिणमता है इस कथनसे स्पष्ट है कि जीव पूर्वपर्यायको छोड़कर नवीन पर्यायमे आता रहता है । (३) जीव परिणमता है इस कथनसे स्पष्ट है कि जीव जिस पर्यायरूप परिणमता है उस समय वह उस पर्यायमय है । (४) जीव जब शुभभावसे परिणमता है तब जीव शुभ है । (५) जब जीव अशुभभावसे परिणमता है तब वह अशुभ है । (६) जब जीव शुद्धभावसे परिणमता है तब जीव शुद्ध है । (७) जब जीव शुभ, अशुभ या शुद्धभावसे परिणमता है तब यह जीव स्वय शुभ, अशुभ या शुद्ध है, अन्य किसीने शुभ, अशुभ या शुद्ध नही किया । (८) जीवका शुभ अशुभ होना कर्मदशाका निमित्त पाकर होता है, क्योंकि शुभ अशुभ भाव जीवका स्वभावानुरूप परिणमन नही है । (९) जीवका शुद्ध परिणमन होना उपाधिके अभावमे अर्थात् जीवकी केवलतामे हुई स्थिति है, क्योंकि शुद्धभाव जीवका स्वभावानुरूप परिणमन है । (१०) लाल पीला उपाधिके सान्निध्यमे ही स्फटिकमणि लाल पीला रूप परिणमता है ऐसे ही उपाधिकर्मदशाके सान्निध्यमे जीव शुभ अशुभ भावरूप परिणमता है । (११) लाल पीला उपाधिके न रहनेपर (दूर होनेपर) स्फटिक मणि स्वभावानुरूप स्वच्छ परिणमता है, ऐसे ही कर्मउपाधिके न रहने पर जीव स्वभावानुरूप शुद्ध स्वच्छ ज्ञानादिरूप परिणमता है । (१२) प्रथम, द्वितीय, तृतीय गुणस्थानोमे उत्तरोत्तर घटता हुआ अशुभोपयोग है । (१३) चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ गुणस्थानमें

मति तदा शुद्धारागपरिणतस्फटिकवत्परिणामस्वभावः सन् शुद्धो भवतीति सिद्धं जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वम् ॥ ९ ॥

सुद्धेण शुद्धेन–तृतीया एक० । सुहो शुभ असुहो अशुभः सुद्धो शुद्ध –प्रथमा एक० । हवदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । परिणामसब्भावो परिणामस्वभाव –प्रथमा एक० । **निरुक्ति**—जीवति इति जीव, शोभते इति शुभ, शुद्ध्यति इति शुद्ध. । **समास**—परिणाम स्वभाव यस्य स परिणामस्वभाव ॥ ९ ॥

उत्तरोत्तर स्वच्छताके लिये बढता हुआ शुभोपयोग है । (१४) सप्तम गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक स्वच्छता व स्थिरतामे बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग है । (१५) केवली भगवानके शुद्धोपयोगका फल आत्मोत्थ ज्ञान व आनन्दका परिपूर्ण परिणाम है ।

सिद्धान्त—(१) परिणामस्वभाव द्रव्य परिणमता रहता है । (२) कर्मोपाधिके सान्निध्यमे जीव शुभ अशुभभावरूप परिणमता है । (३) उपाधिके अभावमे जीव शुद्ध भावमय होता है ।

दृष्टि—१– उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२५) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । ३– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ अ) ।

प्रयोग—शुभ अशुभ भावोको औपाधिक व क्षोभमय जानकर उनसे उपेक्षा करके सहजसिद्ध सहजशुद्ध सहजबुद्ध एकस्वभाव चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वकी ओर उपयोग रखनेका पौरुष करना ॥ ९ ॥

अब परिणामको वस्तुके स्वभावरूपसे निश्चित करते है—[**इह**] इस लोकमे [**परिणामं विना**] परिणामके बिना [**अर्थः नास्ति**] पदार्थ नही है, [**अर्थं विना**] पदार्थके बिना [**परिणामः**] परिणाम नही है, [**अर्थः**] वास्तवमे पदार्थ [**द्रव्यगुणपर्ययस्थः**] द्रव्य गुण पर्याय मे रहने वाला और [**अस्तित्वनिर्वृत्तः**] उत्पादव्ययध्रौव्यमय अस्तित्वसे बना हुआ है ।

तात्पर्य—द्रव्य गुण पर्यायात्मक पदार्थ सत् है ।

टीकार्थ—वास्तवमे परिणामके बिना वस्तु सत्ताको धारण नही करती, क्योंकि वस्तु की द्रव्यादिके द्वारा परिणामसे भिन्न उपलब्धि नही है । परिणामरहित वस्तु गधेके सींगके समान है तथा परिणामरहित वस्तुको दिखाई देने वाले गोरस दूध, दही वगैरहके परिणामोंके साथ विरोध आता है । वस्तुके बिना परिणाम भी अस्तित्वको धारण नही करता, क्योंकि स्वाश्रयभूत वस्तुके अभावमें निराश्रय परिणामको शून्यताका प्रसङ्ग आता है । वस्तु तो ऊर्ध्वसामान्यस्वरूप द्रव्यमे, सहभावी विशेषस्वरूप गुणोमें तथा क्रमभावी विशेषस्वरूप पर्यायोंमें अवस्थित उत्पादव्ययध्रौव्यमय अस्तित्वसे बनी हुई है; इसलिये वस्तु परिणामस्वभाव वाली ही है ।

अथ परिणामं वस्तुस्वभावेन निश्चिनोति—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥ १० ॥

परिणमन बिना वस्तु न, परिणति भी है नही बिना वस्तू ।
द्रव्यगुणपर्ययस्थित, वस्तू अस्तित्वसे निर्मित ॥ १० ॥

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह परिणामः । द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्तः ॥ १० ॥

न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालम्बते । वस्तुनो द्रव्यादिभिः परिणामात् पृथगुपलम्भाभावान्नि:परिणामस्य खरशृङ्गकल्पत्वाद् दृश्यमानगोरसादिपरिणामविरोधाच्च ।

नामसंज्ञ—ण विणा, परिणाम, अत्थ, इह, दव्वगुणपज्जयत्थ, अत्थ, अत्थित्तणिव्वत्त । **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां प्रथमगणी । **प्रातिपदिक**—न, विना, परिणाम, अर्थ, इह, द्रव्यगुणपर्ययस्थ, अर्थ, अस्तित्वनिर्वृत्त । **मूलधातु**—अस् भुवि अदादि । **उभयपदविवरण**—ण न विणा विना इह–अव्यय । अत्थि अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । परिणाम–द्वितीया एकवचन । अत्थो अर्थ–प्रथमा एक० । अत्थं अर्थ–द्वितीया एक० । परिणामो परिणामः दव्वगुणपज्जयत्थो द्रव्यगुणपर्ययस्थः अत्थो अर्थः अत्थित्तणिव्वत्तो

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जीव जब शुभ, अशुभ व शुद्ध भावसे परिणमता है तब वह शुभ, अशुभ व शुद्ध है । अब इस गाथामें उसीकी पुष्टिके लिये सामान्य नियम द्वारा कहा गया है कि परिणाम तो (परिणमन तो) वस्तुके स्वभावसे होता ही रहता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) पर्याय न हो तो वस्तु ही कुछ नही है । (२) ध्रुव वस्तु न हो तो पर्याय कैसे व कहाँ हो ? (३) पदार्थको अभेददृष्टिसे ध्रुव देखनेपर त्रैकालिक अखण्ड द्रव्य कहा जाता है । (४) पदार्थको भेददृष्टि रखकर ध्रुव अंश देखनेपर गुण विदित होते है । (५) पदार्थका अभेद परिणमन देखनेपर एक समयमे एक अखड अवक्तव्य पर्याय विदित होता है । (६) पदार्थका भेददृष्टिसे परिणमन देखनेपर एक ही समयमें अनेक पर्याय (प्रत्येक गुणके पर्याय) विदित होते है । (७) द्रव्य गुण पर्यायमें स्थित अर्थ सत् है । (८) वस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वस्तुसे भिन्न उपलब्ध नही हैं । (९) शुद्धात्मोपलब्धि रूप शुद्ध परिणमनके बिना शुद्ध जीवपदार्थ नहीं है । (१०) शुद्ध जीवपदार्थके बिना शुद्धात्मोपलब्धिरूप शुद्ध परिणमन नही है । (११) यह परमात्मपदार्थ आत्मस्वरूप द्रव्य व सहज ज्ञानादि गुण व केवलज्ञान आदि पर्यायोमे अवस्थित सत् है । (१२) वस्तु द्रव्यगुणपर्यायमय है । (१३) वस्तुको अभेद, अन्वय, व्यतिरेक, प्रदेश आदि अनेक दृष्टियोसे परखनेपर अखड द्रव्य, अखण्ड पर्याय, अनेक गुण व अनेक पर्यायें ज्ञात होती है, पर ये भिन्न सत् नही, इनके प्रदेश भिन्न नही । (१४) त्रैका-

अन्तरेण वस्तु परिणामोऽपि न सत्तामालम्बते। स्वाश्रयभूतस्य वस्तुनोऽभावे निराश्रयस्य परिणामस्य शून्यत्वप्रसङ्गात्। वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निर्वर्तितं निर्वृत्तिमच्च, अतः परिणामस्वभावमेव ॥१०॥

अस्तित्वनिर्वृत्तः- प्र० ए०। **निरुक्ति**—अर्यते निश्चीयते इति अर्थः। **समास**—द्रव्यं च गुण च पर्यायश्चेति द्रव्यगुणपर्यया: तेषु तिष्ठति इति द्रव्यगुणपर्ययस्थ, अस्तित्वेन निर्वृत्तः इति अस्तित्वनिर्वृत्तः ॥ १०॥

लिक ऊर्ध्वप्रवाहरूप सामान्य द्रव्य है। (१५) त्रैकालिक साथ साथ रहने वाले विशेष गुण हैं। (१६) क्रमशः होने वाले विशेष पर्यायें है। (१७) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त पदार्थ सत् है। (१८) अभेदरूप द्रव्य व भेदरूप गुण ध्रौव्यांशरूप है। (१९) अभेद पर्याय व भेदरूप पर्याय उत्पादव्ययरूप हैं। (२०) आत्माको एकान्ततः कूटस्थ नित्य ध्रुव माननेपर आत्माको मोक्ष मार्गकी आवश्यकता ही क्या? (२१) आत्माको क्षणक्षयी माननेपर आत्माको मोक्षमार्ग की आवश्यकता ही क्या? (२२) आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है, अतः अज्ञानपरिणामसे हट कर ज्ञानपरिणाममें आकर आत्मीय आनन्द पानेके लिये मोक्षमार्गकी व मोक्षमार्गमें प्रगतिकी आवश्यकता होती है।

सिद्धान्त—(१) वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है। (२) पदार्थ परिणामस्वभाव होनेसे निरन्तर परिणमता रहता है। (३) प्रत्येक वस्तु अनाद्यनन्त है।

दृष्टि— (१) उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय [२५]। (२) द्रव्यत्वदृष्टि [२०६]। (३) ऊर्ध्वसामान्यनय [१९९]।

प्रयोग—अशुभपरिणामसे हटकर शुभपरिणामसे गुजरकर द्रव्य गुणपर्यायके भेदसे परे द्रव्यगुणपर्यायसमवस्थित अपने अंतस्तत्त्वको अभेद अनुभवनेके लिये परमविश्राम करना ॥१०॥

अब चारित्र परिणामके साथ संपर्क और संभव वाले शुद्ध और शुभ परिणामका ग्रहण तथा त्यागके लिये उनका फल विचारते हैं—**[धर्मेण परिणतात्मा]** धर्मसे परिणत स्वरूप वाला **[आत्मा]** आत्मा **[यदि]** यदि **[शुद्धसंप्रयोगयुतः]** शुद्ध उपयोगमें युक्त है तो **[निर्वाणसुखं]** मोक्षसुखको **[प्राप्नोति]** प्राप्त करता है **[शुभोपयुक्तः वा]** और शुभोपयोग वाला है तो **[स्वर्गसुखं]** स्वर्गके सुखको प्राप्त करता है।

तात्पर्य—धर्मसे परिणत आत्मा साक्षात् या परम्परया निर्वाणसुखको प्राप्त होता है।

टीकार्थ—जब यह आत्मा धर्मपरिणत स्वभाव वाला होता हुआ शुद्धोपयोगपरिणतिको धारण करता है तब विरोधी शक्तिसे रहितपना होनेके कारण अपना कार्य करनेके लिये समर्थ चारित्र वाला होनेसे साक्षात् मोक्षको प्राप्त करता है, परन्तु जब वह धर्मपरिणत स्वभाव वाला

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कसम्भववतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥

धर्मपरिणतस्वभावी, है यदि शुद्धोपयोगयुत आत्मा।
निर्वाणानन्द लहे, शुभोपयोगी लहे सुरसुख ॥ ११ ॥

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः। प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥११॥

यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति। यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोग-

नामसंज्ञ—धम्म परिणदप्प अप्प जदि सुद्धसपओगजुद णिव्वाणसुह सुहोवजुत्त व सग्गसुह। **धातुसंज्ञ**—प आव प्राप्तौ तृतीयगणी। **प्रातिपदिक**—धर्म परिणतात्मन् आत्मन् यदि शुद्धसप्रयोगयुत निर्वाणसुख शुभोपयुक्त स्वर्गसुख। **मूलधातु**—प्र आप्लृ व्याप्तौ स्वादि। **निरुक्ति**—धरति इति धर्मः, नि शेषेण

होकर भी शुभोपयोग परिणतिके साथ युक्त होता है तब विरोधी शक्तिसे सहितपना होनेसे स्वकार्य करनेमे असमर्थ और कथंचित् विरुद्ध कार्य करने वाले चारित्रसे युक्त जीव, जैसे अग्निसे गर्म किया हुआ घी किसी मनुष्यपर डाल दिया जावे तो वह उसकी जलनसे दुःखी होता है, उसी प्रकार वह स्वर्गसुखके बन्धको प्राप्त होता है, इस कारण शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे आत्मरमणरूप चारित्रप्राप्तिके प्रयोजनसे वस्तुका व वस्तुके परिणामस्वभावका वर्णन किया था। अब इस गाथामे चारित्रमार्गके सम्पर्कमे आये हुए आत्माको शुभ परिणामके भी त्यागके लिये व शुद्ध परिणामके पानेके लिये शुद्धोपयोग व शुभोपयोगके फलकी आलोचना की है।

तथ्यप्रकाश—(१) गाथाकी उत्थानिकामे "आलोचयति" क्रिया देकर शुद्धोपयोग व शुभोपयोगके फलकी आलोचना की है। (२) गुण व दोषको यथावत् दिखानेका नाम आलोचना है। (३) आत्माका स्वभाव आत्मस्वभावरूप धर्मसे परिणत होना है। (४) यथायोग्य घातिकर्मप्रकृति विपाकके अभावमें आत्मा मोक्षमार्गमें लगता है। (५) साक्षात् मोक्षमार्ग मोहक्षयज शुद्धोपयोग है। (६) यथाशक्ति धर्ममार्गमे चलते हुए भी आत्मा शुभोपयोग परिणतिसे संगति करता है तो वह स्वर्गादि सुखोंका बन्धन पाता है। (७) शुभोपयोगका फल भोगनेके पश्चात् यह ज्ञानी परमसमाधिसामग्रीके सद्भावमे शुभोपयोगातीत शुद्धोपयोगसे साक्षात् मोक्ष पाता है। (८) अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगसे गुजरकर मात्र शुद्धोपयोगसे मोक्ष होता है। (९) अशुभोपयोग अत्यंत हेय है, शुभोपयोग हेय है, शुद्धोपयोग अत्यन्त उपादेय है।

परिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति । अतः शुद्धोपयोग उपादेय. शुभोपयोगो हेयः ॥ ११ ॥

वान गमन निर्वाणं । **समास**—परिणतश्चासो आत्मा चेति परिणतात्मा, शुद्धश्चासौ सप्रयोग इति शुद्धसप्रयोग', तेन युत , निर्वाणस्य सुख निर्वाणसुख, शुभेन उपयुक्त शुभोपयुक्त', स्वर्गस्य सुख स्वर्गसुख । **उभयपदविवरण**—धम्मेण धर्मेण—तृतीया एक० । परिणदप्पा परिणतात्मा अप्पा आत्मा सुद्धसपओगजुदो शुद्धसप्रयोगयुत सुहोवजुत्तो शुभोपयुक्त—प्रथमा एक० । पावदि प्राप्नोति—वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । णिव्वाणसुह निर्वाणसुख सग्गसुह स्वर्गसुख—द्वितीया एकवचन ॥ ११ ॥

सिद्धान्त—(१) शुद्धोपयोगका फल स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिका लाभ है । (२) शुभोपयोगका फल काल्पनिक सुखका बन्धन है ।

दृष्टि— १– शुद्धनिश्चयनय (४६) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—अविकारस्वभाव सहज चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति रुचि अनुभूतिके मार्गसे प्रवर्त कर शुद्धोपयोगवृत्तिके लाभके लिये आत्मविश्राम करना ॥ ११ ॥

अब चारित्रपरिणामके साथ सम्पर्कका अभाव होनेसे अत्यन्त हेयभूत अशुभ परिणामका फल विचारते है—**[अशुभोदयेन]** अशुभ उदयसे **[आत्मा]** आत्मा **[कुनरः]** कुमनुष्य **[तिर्यग्]** तिर्यंच **[नैरयिकः]** और नारकी **[भूत्वा]** होकर **[दुःखसहस्रैः]** हजारों दुःखोंसे **[सदा अभिद्रुतः]** सदा पीड़ित हुआ **[अत्यंतं भ्रमति]** संसारमें अत्यन्त भ्रमण करता है ।

तात्पर्य—अशुभ परिणामके फलमे पापके उदयसे जीव दुर्गतियोमे दुःखी होता हुआ भ्रमण करता है ।

टीकार्थ— जब यह आत्मा किंचित् मात्र भी धर्मपरिणतिको प्राप्त न करता हुआ अशुभोपयोग परिणतिका अवलम्बन करता है, तब यह कुमनुष्य, तिर्यंच और नारकीके रूपमे परिभ्रमण करता हुआ, तद्रूप हजारो दुःखोंके बन्धनका अनुभव करता है, इसलिये चारित्रके लेशमात्रका भी अभाव होनेसे यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे चारित्रपरिणाम सम्पर्क वाले शुद्ध परिणामके ग्रहणके लिये और चारित्रपरिणामसंभव वाले शुभ परिणामके त्यागके लिये उन दोनों परिणामोंके फलकी आलोचना की थी । अब इस गाथामें अत्यंत हेय अशुभोपयोगके फलकी आलोचना की गई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जिसके रंच भी धर्म परिणति नही और अशुभोपयोगका परिणमन है वे खोटे मनुष्य, तिर्यंच व नारकोंमें भ्रमण कर महान् दुःख भोगते हैं । (२) जहाँ

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति—

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चंतं ॥१२॥

अशुभोदयसे आत्मा, कुनर व तिर्यंच नारकी होकर।
पीडित भ्रमता अशुभो-पयोग अत्यन्त हेय अतः ॥१२॥

अशुभोदयेनात्मा कुनरस्तिर्यग्भूत्वा नैरयिकः। दुःखसहस्रैः सदा अभिद्रुतो भ्रमत्यत्यन्तम् ॥ १२ ॥

यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणतिमालम्बते तदा कुमनुष्यतिर्यङ्नारकभ्रमणरूपं दुःखसहस्रबन्धमनुभवति। ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति ॥ १२ ॥

एवमयमपास्तसमस्तशुभाशुभोपयोगवृत्तिः शुद्धोपयोगाधिकारमारभते।

नामसंज्ञ—असुहोदय, अत्त, कुणर, तिरिय णेरइय, दुक्खसहस्स, सदा, अभिधुद, अच्चत। **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां प्रथमगणी, भम भ्रमणे प्रथमगणी। **प्रातिपदिक**—अशुभोदय, आत्मन्, कुनर, तिरश्च्, नैरयिक, दुःखसहस्र, सदा, अभिद्रुतः, अत्यन्त। **मूलधातु**—भू सत्तायां, भ्रमु चलने भ्वादि, भ्रमु अनवस्थाने दिवादि। **उभयपदविवरण**—असुहोदयेण अशुभोदयेन–तृ० एक०। आदा आत्मा कुणरो कुनर तिरियो तिर्यक् णेरइयो नैरयिकः अभिधुदो अभिद्रुत–प्रथमा एक०। दुक्खसहस्सेहिं दुःखसहस्रैः–तृ० बहु०। भवीय भूत्वा–असमाप्तिकी क्रिया। भमदि भ्रमति भ्राम्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। अच्चत अत्यतं–अव्यय। **निरुक्ति**—नरति नृणाति इति वा नरः, उत्कर्षेण अयनं उदयः। **समास**—अशुभस्य उदयः अशुभोदयः, दुःखानां सहस्राणि दुःखसहस्राणि तैः ॥१२॥

चारित्रका रंच भी अंश नहीं वहाँ अशुभोपयोग होता है। (३) अशुभोपयोगमें पंच इन्द्रियोंकी अभिलाषासे सम्बंधित तीव्र संक्लेश होता है या विषयोंके बाधकोंपर द्वेष जगता है। (४) अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है, इसका तो रंच भी संपर्क न होना चाहिये। (५) जहाँ चारित्रका कुछ संपर्क है वहाँ चारित्रके साधकों व साधनोंसे अनुराग है वह शुभोपयोग है। (६) परतत्त्वोंके प्रति अनुराग होना बंधन है सो यह शुभोपयोग हेय है। (७) निःप्रत्ययनीक शक्ति विकसित न होनेकी स्थितिमें ज्ञानीके शुभोपयोग आता है उससे उपेक्षा कर ज्ञानी अविकारस्वभाव सहज चैतन्यस्वरूपको आत्मरूप अनुभवनेकी धुन रखता है। (८) जहाँ समस्त शुभ अशुभ उपयोगकी वृत्ति दूर हो गई वहाँ ही शुद्धोपयोगकी वृत्तिपर अधिकार बनता है।

सिद्धान्त—(१) अशुभोपयोगका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावोंमें अशुभ प्रकृतियोंका बन्ध होता है। (२) अशुभ अघाती प्रकृतियोंके उदयका निमित्त पाकर आहारवर्गणावोंमें खोटी शरीररचना होती है। (३) घातिया प्रकृतियोंके उदयका व असातावेदनीयके उदयका निमित्त पाकर जीवमें सहस्रों दुःखोंकी वेदना होती है।

तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

अतिशय आत्मसमुद्भव अतीतविषयी अनन्त व अनुपम ।
अव्यय आनन्द मिले, प्रसिद्ध शुद्धोपयोगको ॥ १३ ॥

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तम् । अव्युच्छिन्नं च सुखं शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥ १३ ॥

आसंसाराऽपूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्षत्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं विष-

नामसंज्ञ—अइसय आदसमुत्थ विसयातीद अणोवम अणंत अव्वुच्छिण्ण च सुह सुद्धुवओगप्पसिद्ध । **धातुसंज्ञ**—अ वि उत् च्छिद छेदने तृतीयगणी, प सिज्झ निष्पत्तौ । **प्रातिपदिक**—अतिशय आत्मसमुत्थ विषयातीत अनौपम्य अनन्त अव्युच्छिन्न च सुख शुद्धोपयोगप्रसिद्ध । **मूलधातु**—अ वि उत् छिदिर् द्वैधीकरणे रुधादि, प्र षिध गत्या भ्वादि, षिधु सराद्धौ दिवादि । **उभयपदविवरण**—अइसय अतिशयं आदसमु-

दृष्टि— १, २, ३– निमित्तदृष्टि (५३ अ) ।

प्रयोग—अशुभोपयोगको दूर कर अविकारस्वभाव ओघ कारणसमयसारके अभिमुख होना ॥ १२ ॥

इस प्रकार पूज्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्य समस्त शुभाशुभोपयोग वृत्तिको जिनने ऐसे होते हुए शुद्धोपयोगवृत्तिको आत्मरूप करते हुए शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ करते हैं । उसमें पहले शुद्धोपयोगके फलका आत्माके प्रोत्साहनके लिये अभिस्तवन करते हैं—[**शुद्धोपयोगप्रसिद्धानां**] शुद्धोपयोगमे निष्पन्न हुए आत्माओंका अर्थात् अरहंत और सिद्धोंका [**सुखं**] सुख [**अतिशय**] अतिशय [**आत्मसमुत्थं**] आत्मोत्पन्न [**विषयातीतं**] विषयातीत [**अनौपम्यं**] अनुपम [**अनन्तं**] अनन्त व अविनाशी [**अव्युच्छिन्नं च**] और अटूट है ।

तात्पर्य—शुद्धोपयोगके फलमें यह आत्मा आत्मीय अनन्त आनन्द प्राप्त करता है ।

टीकार्थ—अनादि संसारसे अपूर्व परम अद्भुत आह्लादरूप होनेसे, आत्माका ही आश्रय लेकर प्रवर्तमान होनेसे, पराश्रयसे निरपेक्ष होनेसे, अत्यन्त विलक्षण होनेसे समस्त आगामी कालमे कभी भी नाशको प्राप्त न होनेसे, और निरन्तर प्रवर्तमान होनेसे शुद्धोपयोगनिष्पन्न हुए आत्माओंके अतिशयवान, आत्मसमुत्पन्न, अतीन्द्रिय, अनुपम अनन्त व अटूट सुख अर्थात् आनन्द होता है, इस कारण वह सुख सर्वथा वांछनीय है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें चारित्रपरिणामका सम्पर्क असंभव होनेसे अत्यंत हेय अशुभपरिणामसे हटना बताया गया था अब अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगसे गुजरकर

यातीतमनौपम्यमनन्तमव्युच्छिन्नं च शुद्धोपयोगनिष्पन्नानां सुखमतस्तत्सर्वथा प्रार्थनीयम् ॥१३॥

त्थ आत्मसमुत्थ बिसयातीद विषयातीत अणोवम अनौपम्य अणंत अनन्त अव्युच्छिण्ण अव्युच्छिन्न सुह सुखं–प्र० एक० । सुद्धपओगप्पसिद्धाण शुद्धोपयोगप्रसिद्धाना–षष्ठी बहु० । **निरुक्ति**–शुध्यति इति शुद्ध, उपयोजन उपयोग, प्रकर्षेण सिद्ध्यति इति प्रसिद्धा तेषा । **समास**—न औपम्य यस्य इति अनौपम्य, शुद्धश्चासौ उपयोग शुद्धोपयोग तेन प्रसिद्धाः तेषा ॥ १३ ॥

उस उपलभ्य शुद्धोपयोगके फलको इस गाथामे बताया गया है जिससे कि शुद्धोपयोग वृत्ति होनेके लिये विवेकीको प्रोत्साहन मिले ।

तथ्यप्रकाश—(१) परिपूर्ण शुद्धोपयोग हो जानेसे आत्मा अरहत व सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करते हैं अर्थात् प्रभु हो जाते है । (२) शुद्धोपयोगका फल प्रभु हो जाना है । (३) प्रभु का आनन्द अपूर्व है, यह आनन्द प्रभु होनेसे पहिले कभी प्राप्त हो ही नही सकता । (४) प्रभु का आनन्द अत्यन्त निराकुलतामय होनेसे परम अद्भुत आह्लादरूप है । (५) प्रभुका आनन्द अपने आप केवल अविकार शुद्ध आत्माके आश्रयसे ही होता है । (६) प्रभुका आनन्द स्वाधीन है क्योकि वह आनन्द किसी भी परपदार्थके, स्पर्शरसादि विषयके व सकल्पविकल्पके आश्रयकी अपेक्षाको कभी भी रचमात्र नही करता । (७) प्रभुके आनन्दका उदाहरण संसारमे कही मिल ही नही सकता, क्योकि जो प्रभु नही उनके सुखसे अत्यन्त विलक्षण है प्रभुका आनन्द । (८) प्रभुका आनन्द कभी भी नष्ट न होगा, क्योकि प्रभुका आनन्द स्वाभाविक है । (९) प्रभुका आनन्द निरतर ही बना रहता है, किसी भी समय कमी या बाधा नही आती, क्योकि वहां बाधक कुछ भी उपाधि नही है । (१०) वीतराग व सर्वज्ञ होनेसे प्रभुका आनन्द अपरिमित है, अनन्त है । (११) परम सहज आनन्द शुद्धोपयोगसे ही प्राप्त होता । (१२) शुद्धोपयोग ही सर्वथा उपादेय है ।

सिद्धान्त— (१) अविकारस्वभाव सहजसिद्ध चैतन्यस्वरूपकी अभेद आराधनासे आत्मीय परम सहज आनन्द प्रकट होता है ।

दृष्टि— (१) शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय, शुद्धनिश्चयनय [२४ ब, ४६] ।

प्रयोग—सांसारिक सुखोको सर्वथा असार जानकर उनसे हटकर परम सहज आनन्द के धाम निज सहज ज्ञानस्वभावकी आराधना करना ॥ १३ ॥

अब शुद्धोपयोगपरिणत आत्माका स्वरूप कहते है:—[**सुविदितपदार्थसूत्रः**] पदार्थोंको और सूत्रोंको जिन्होंने भली भांति जान लिया है, [**संयमतपःसंयुतः**] जो संयम और तपसे युक्त है, [**विगतरागः**] रागरहित हैं [**समसुखदुःखः**] सुख-दुःख जिनको समान हैं, [**श्रमणः**] ऐसा श्रमण [**शुद्धोपयोगः इति भणितः**] शुद्धोपयोगी है ऐसा कहा गया है ।

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

यह अर्थ सूत्र ज्ञाता, संयम तप युक्त रागसे विरहित।
सुख दुखमें समहि श्रमण, होता शुद्धोपयोगी है ॥१४॥

सुविदितपदार्थसूत्रः संयमतपःसंयुतो विगतरागः। श्रमणः समसुखदुःखो भणितः शुद्धोपयोग इति ॥ १४ ॥

सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानविधानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्रः,

---

नामसंज्ञ—सुविदिदपयत्थसुत्त संजमतवसंजुद विगदराग समण समसुहदुक्ख भणिद सुद्धुवओग त्ति। **धातुसंज्ञ**—सु विद ज्ञाने प्रथमगणी, भण कथने प्रथमगणी। **प्रातिपदिक**—सुविदितपदार्थसूत्र संयमतपःसंयुत विगतराग श्रमण समसुखदुःख भणित शुद्धोपयोग इति। **मूलधातु**—विद्लृ ज्ञाने, भण शब्दार्थे।

तात्पर्य—ज्ञानी, संयमी, विराग, सुख दुःखमें समान श्रमणात्मा शुद्धोपयोग है।

टीकार्थ—सूत्रोंके अर्थके ज्ञानबलसे स्वद्रव्य और परद्रव्यके विभागके परिज्ञानमें श्रद्धान और आचरणमे समर्थपना होनेसे पदार्थोंको और उनके वाचक सूत्रोंको जिन्होने भलीभांति जान लिया है, समस्त छह जीवनिकायके हननके विकल्पसे और पचेन्द्रिय सम्बंधी अभिलाषा के विकल्पसे आत्माको हटा करके आत्माके शुद्ध स्वरूपमें संयमन करनेसे और स्वरूपविश्रान्त निस्तरंग चैतन्यप्रतपन होनेसे जो संयम और तपसे युक्त है, सकल मोहनीयके विपाकसे विवेक की भावनाकी स्वच्छतासे निर्विकार आत्मस्वरूपको प्रगट किया होनेसे जो वीतराग हैं और परमकलाके अवलोकनके कारण साता वेदनीय तथा असाता वेदनीयके विपाकसे उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखजनित परिणामोकी विषमता अनुभव नहीं होनेसे जो समसुखदुःख हैं, ऐसे श्रमण "शुद्धोपयोग" ऐसा कहे जाते है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि शुद्धोपयोग जिनके प्रसिद्ध हो गया है उन उत्तम आत्मावोको स्वाधीन अविनाशी आत्मोत्पन्न परम आनन्द प्राप्त होता है। अब इस गाथामे निरूपित किया है कि शुद्धोपयोगपरिणत आत्माका स्वरूप कैसा होता है।

तथ्यप्रकाश—(१) निरूपित सूत्रार्थके ज्ञानके बलसे आत्मा स्वद्रव्य व परद्रव्यका विभाग जाननेमे समर्थ होता है। (२) स्वद्रव्य व परद्रव्यको अलग अलग स्वतंत्र स्वतंत्र सद्रूप जानने वाला आत्मा स्वपरविभागका श्रद्धान करता है। (३) स्वद्रव्यका यथार्थ श्रद्धान होते ही आत्मा सम्यग्ज्ञानी होता है। (४) स्वद्रव्यका यथार्थ श्रद्धानी ज्ञानीका स्वभावके अनुरूप

सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पंचेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्धस्वरूपे संयमनात् स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च सयमतपःसंयुतः, सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः, परमकलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयविपाकनिर्वर्तितसुखदु.खजनितपरिणामवैषम्यत्वात्समसुखदु.खः श्रमणः शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते ।। १४ ।।

शब्दपदविवरण—सुविदिदपयत्थसुत्तो सुविदितपदार्थसूत्र सजमतवसजुदो सयमतप.सयुत विगदरागो विगतराग. समणो श्रमण. समसुहदुक्ख समसुखदु.ख· सुद्धवओगो शुद्धोपयोग.–प्र० एक० भणिदो भणित –प्र० ए० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—सूत्रयति इति सूत्र , रज्यते इति राग , श्राम्यति इति श्रमण । **समास**—सुविदिते पदार्थसूत्रे येन स., सयमः तप चेति सयमतपसी ताभ्या सयुत , समे सुख.दुखे यस्य स , शुद्धश्चासौ उपयोग शुद्धोपयोग ।।१४।।

उपयोग होने लगता है । (५) स्वभावके अनुरूप उपयोग रखनेकी धुन वाला आत्मा अपनेको प्राणासंयम व इन्द्रियासंयमसे हटाकर शुद्धात्मसंवेदनके बलसे निज शुद्धस्वरूपमे संयत होता है । (६) जब आत्मा शुद्ध स्वरूपमें संयत होता है तब स्वरूपमे स्थिरताके कारण विकल्परहित होता हुआ चैतन्यस्वरूपमे प्रतापवंत होता है । (७) अविकार आत्मस्वभावके अभिमुख होकर अपना प्रताप पाने वाला अविकार शुद्धात्मत्वकी भावनाके बलसे आत्मा रागद्वेषादि विकारोसे रहित हो जाता है । (८) मोक्षमार्गमें प्रगतिशील अन्तरात्मा अपने अविकार चित्स्वरूपके संचेतनके स्वादमे तृप्त होता हुआ सुख-दुःखादि स्थितियोमे समान निरपेक्ष हो जाता है । (९) समताका साधन उपाधि और विकारसे भिन्न अपनेको मात्र चैतन्यस्वरूपमय निरखना है । (१०) अविकार सहजसिद्ध आत्मस्वरूपका सचेतन वह परम कला है जिसके प्रसादसे परम समता उपलब्ध होती है । (११) सुख दुःखमें समान विगतराग शुद्धात्मत्वमे उपयुक्त श्रमण स्वयं शुद्धोपयोग है ।

सिद्धान्त—(१) स्वपरविवेकबलसे स्वको एकत्वविभक्त निरखकर मात्र आत्मस्वभावमें उपयुक्त होकर आत्मा सिद्धि पाता है ।

दृष्टि— १– ज्ञाननय (१९४) ।

प्रयोग— शुद्धोपयोगके लाभके लिये ज्ञानसंयमी विराग सुख दुःखमें समान होना आवश्यक है ।।१४।।

अब शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके अनन्तर होने वाले शुद्ध आत्मस्वभावके लाभकी प्रशंसा करते हैं—[यः] जो [उपयोगविशुद्धः] उपयोगविशुद्ध अर्थात् शुद्धोपयोगी है [आत्मा] वह आत्मा [विगतावरणान्तरायमोहरजाः] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहरूप रजसे

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरभाविविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति—

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥१५॥

उपयोगशुद्ध आत्मा, विगतावरणान्तरायमोह स्वयं ।
ज्ञेयभूत सकलार्थों - के पूरे पारको पाता ॥ १५ ॥

उपयोगविशुद्धो यो विगतावरणान्तरायमोहरजाः । भूतः स्वयमेवात्मा याति पारं ज्ञेयभूतानाम् ॥ १५ ॥

यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु प्रतिपदमुद्भिद्यमानविशिष्टविशुद्धिशक्तिरुद्ग्रन्थितासंसारबद्धदृढतरमोहग्रंथितयात्यन्तनिर्विकारचैत-

नामसंज्ञ—उवओगविसुद्ध ज विगदावरणतरायमोहरअ भूद सय एव अप्प पर णेयभूय । **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां, जा गतौ । **प्रातिपदिक** – उपयोगविशुद्ध, यत्, विगतावरणान्तरायमोहरजस्, भूद, स्वय, एव, आत्मन्, पार, ज्ञेय, भूत । **मूलधातु**– भू सत्तायां, या प्रापणे । **उभयपदविवरण**—उवओगविसुद्धो उपयोगविशुद्धः जो य विगदावरणंतरायमोहरओ विगतावरणान्तरायमोहरजा –प्रथमा ए० । भूदो भूत.–प्र० एक०

रहित [**स्वयमेव भूतः**] स्वयमेव होता हुआ [**ज्ञेयभूतानां**] ज्ञेयभूत पदार्थोंके [**पारं याति**] पार को प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—शुद्धोपयोगके फलमें आत्मा निर्मल और सर्वज्ञ हो जाता है ।

टीकार्थ—जो चैतन्य परिणामस्वरूप उपयोगके द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तता है, वह आत्मा पद-पदपर अर्थात् प्रत्येक पर्यायमे जिसके विशिष्ट विशुद्धि शक्ति प्रगट होती जाती है, ऐसा होता हुआ अनादि संसारसे बंधी हुई दृढतर मोहग्रन्थि छूट जानेसे अत्यन्त निर्विकार चैतन्य वाला और समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तरायके नष्ट हो जानेसे निर्विघ्न विकसित आत्मशक्तिवान स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयताको प्राप्त पदार्थोंके अन्तको पा लेता है । यहाँ यह लक्ष्यभूत आत्मा ज्ञानस्वभाव है, और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है; इसलिये समस्त ज्ञेयोंके भीतर रहने वाला ज्ञान जिसका स्वभाव है ऐसे आत्माको आत्मा शुद्धोपयोगके प्रसादसे ही प्राप्त करता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुद्धोपयोगके स्वरूपके विषयमें कहा गया था । अब इस गाथामें शुद्धोपयोगके लाभ और अनन्तर होने वाले शुद्ध आत्मस्वभावका अभिनन्दन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) इस गाथाकी उत्थानिकामें 'अभिनन्दति' क्रियासे यह ध्वनित हुआ है कि आचार्यदेव विशुद्धात्मस्वभावके प्रति ही पूर्ण अनुराग होनेसे उसको इस उल्लाससे कहते हैं कि उसका अभिनन्दन हो रहा है, अपनेमें सर्व प्रदेशोंमें आह्लादित हो रहे है । (२)

न्यो निरस्तसमस्तज्ञानदर्शनावरणान्तरायतया निःप्रतिधविजृम्भितात्मशक्तिश्च स्वयमेव भूतो ज्ञेयत्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति । इह किलात्मा ज्ञानस्वभावो ज्ञानं तु ज्ञेयमात्रं ततः समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति ।। १५ ।।

कृदन्त क्रिया । सय स्वय एव–अव्यय । आदा आत्मा–प्र० एक० । जादि याति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । परं पार–द्वितीया एक० । णेयभूदाण ज्ञेयभूताना–षष्ठी बहु० । **निरुक्ति**—विशेषेण शुध्यति इति विशुद्ध ज्ञातु योग्य ज्ञेय । **समास**—उपयोगेन विशुद्ध उपयोगविशुद्ध विगत आवरण अन्तराय मोहरज. यस्येति विगतावरणान्तरायमोहरजा ।। १५ ।।

जिसको शुद्धोपयोगके स्वरूपकी खबर है और शुद्धोपयोगके फलकी रुचि है वही भव्य पुरुष शुद्धोपयोगके लाभके अनन्तर प्रकट हुए निर्मल आत्मस्वभावका अभिनन्दन कर सकता है । (३) निर्मोह शुद्धात्मत्वका परिणमन शुद्धोपयोग है । (४) मोहका निःशेषतया विनाश पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान रूप शुद्धोपयोगसे हो जाता है । (५) शेष घातिया कर्मोंका नि.शेषतया विनाश एकत्ववितर्क अवीचार नामक शुक्लध्यान रूप शुद्धोपयोगसे हो जाता है । (६) शुद्धोपयोगसे निःशेष घातिया कर्मोंका क्षय होनेपर केवलज्ञान होता है । (७) शुद्धोपयोगसे सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है । (८) शुद्धोपयोगसे ही शुद्धात्मस्वभावका लाभ होता है, अतः शुद्धात्मस्वभावलाभ शुद्धोपयोगका फल है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धोपयोगमे निःशेषतया घातिया कर्मोंका क्षय होता है । (२) शुद्धोपयोगसे शुद्धात्मस्वभावका लाभ होता है ।

दृष्टि— १– निमित्तदृष्टि (५३ अ) । २– उपादानदृष्टि (४६ ब) ।

प्रयोग—शुद्धोपयोगके फलस्वरूप शुद्धात्मस्वभावलाभके लिये अविकार सहज चैतन्यस्वरूपमे आत्मत्वका अनुभव बनाये रहना ।। १५ ।।

अब शुद्धोपयोगसे होने वाले शुद्धात्मस्वभावका लाभ अन्य कारकोसे निरपेक्षपना (स्वतंत्र) होनेसे अत्यन्त आत्माधीन है याने लेश मात्र स्वाधीन नही है यह प्रगट करते है—**[तथा]** इस प्रकार **[सः आत्मा]** वह आत्मा **[लब्धस्वभावः]** स्वभावको प्राप्त **[सर्वज्ञः]** सर्वज्ञ **[सर्वलोकपतिमहितः]** और सर्व लोकके अधिपतियोसे पूजित **[स्वयमेव भूतः]** स्वयमेव हुआ होनेसे **[स्वयंभूः भवति]** स्वयंभू है **[इति निर्दिष्टः]** ऐसा जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा गया है ।

तात्पर्य—स्वभावको प्राप्त सर्वज्ञ देव स्वय प्रभु होनेसे स्वयभू है ।

टीकार्थ—शुद्ध उपयोगकी भावनाके प्रभावसे समस्त घातिकर्मोंके नष्ट होनेसे प्राप्त किया है शुद्ध अनन्त शक्तिवान चैतन्यस्वभावको जिसने ऐसा यह विशुद्ध आत्मा—(१) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञायक स्वभावके कारण स्वतन्त्रपना होनेसे ग्रहण किया है कर्तृत्वके अधिकार

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य कारकान्तरनिरपेक्षतयाऽत्यन्तमात्मायत्तत्वं द्योतयति—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

शुद्ध चिद्भावदर्शी सर्वज्ञ समस्त लोकपतिपूजित।
हुआ स्वयं यह आत्मा, अतः स्वयंभू कहा इसको ॥१६॥

तथा स लब्धस्वभाव. सर्वज्ञ: सर्वलोकपतिमहित । भूत स्वयमेवात्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्ट ॥१६॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वाधिकारः, शुद्धा-

नामसंज्ञ— तह त लद्धसहाव सव्वण्हु सव्वलोगपदिसहिदो भूद सय अत्त सयभु त्ति णिद्दिट्ठ । **धातुसंज्ञ**— भव सत्ताया, मह पूजाया । **प्रातिपदिक**—तथा तत् लब्धस्वभाव सर्वज्ञ सर्वलोकपतिमहित भूत स्वयं

को जिसने ऐसा । (२) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही प्राप्यपना होनेसे याने स्वय ही प्राप्त होनेसे कर्मत्वका अनुभव करता हुआ । (३) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावसे स्वयं ही साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधन होनेसे करणपनाको धारण करता हुआ । (४) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होनेसे अर्थात् निजपरिणमन स्वयं को ही देनेमे आता होनेसे सम्प्रदानपनेको धारण करता हुआ । (५) शुद्ध अनन्तशक्तिमय ज्ञानरूपमे परिणमित होनेके समय पूर्वमे प्रवर्तमान विकलज्ञानस्वभावका नाश होनेपर भी सहज ज्ञानस्वभावसे स्वय ही ध्रुवताका अवलम्बन करनेसे अपादानपनेको धारण करता हुआ और (६) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे अधिकरणपनेको आत्मसात् करता हुआ स्वयमेव छह कारकरूप होनेसे अथवा उत्पत्ति अपेक्षा से द्रव्य-भावभेदसे भिन्न घातिकर्मोंको दूर करके स्वयमेव आविर्भूत होनेसे 'स्वयंभू' कहलाता है । अतः निश्चयसे परके साथ आत्माका कारकताका सम्बन्ध नही है जिससे कि शुद्धात्मस्वभावलाभके लिये सामग्री खोजनेकी व्यग्रतासे परतंत्र होना पड़े, फिर क्यों शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके लिये बाह्य साधन ढूढ़नेकी व्यग्रतासे जीव व्यर्थ ही परतंत्र हुए जा रहे है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुद्धोपयोगके लाभके अनन्तर इस शुद्धात्मस्वभावलाभका अभिनन्दन किया गया था । अब इस गाथामें उसी शुद्धोपयोगजन्य शुद्धात्मस्वभावलाभकी पूर्ण निरपेक्षता व आत्माधीनताका वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शुद्धात्मस्वभावलाभ अर्थात् परमात्मत्वविकासको अन्य नही कर

नन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमन-स्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् संप्रदानत्वं दधानः, शुद्धानतशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञान-स्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्बनादपादानत्वमुपाददानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञान-विपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः, स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोप-जायमानः, उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयंभू-रिति निर्दिश्यते । अतो न निश्चयतः परेण सहात्मन. कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्व-भावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते ।। १६ ।।

एव आत्मन् स्वयभु इति निदिष्ट । **मूलधातु**—भू सत्ताया, मह पूजाया । **उभयपदविवरण**—तह तथा एव सयं स्वयं त्ति इति–अव्यय । सो स.–प्र० एक० । लद्धसहावो लब्धस्वभाव सव्वण्हू सर्वज्ञ सव्वलोगपदि-महिदो सर्वलोकपतिमहित आदा आत्मा सयभू स्वयभु–प्र० एक० । भूदो भूतः–प्र० ए० कृदन्त क्रिया । हवदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । णिद्दिट्ठो निर्दिष्ट –प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—सर्वं जानाति इति सर्वज्ञ., स्वय भवति इति स्वयभु । **समास**—लब्ध स्वभाव येन स लब्ध-स्वभाव , सर्वलोकाना पतय. सर्वलोकपतय तैः महित ।। १६ ।।

जाता, किन्तु यही आत्मा शुद्ध अनन्तशक्तिमान ज्ञायकस्वभावी होनेके कारण स्वतन्त्रतया करता है । (२) शुद्धात्मस्वभावलाभ किसी अन्यका काम नही है, किन्तु स्वयं ही शुद्ध अनंत ज्ञानादिरूप परिणमनेके कारण इसी आत्माका काम है । (३) शुद्धात्मस्वभावलाभ किसी अन्य साधनासे नहीं बनता है, किन्तु शुद्ध अनत ज्ञानादिरूप परिणत होनेके स्वभावके कारण परम साधनरूप स्वयंसे हो बनता है । (४) शुद्धात्मस्वभावलाभ किसी दूसरेके लिये नही होता है, किन्तु शुद्धात्मस्वभावका फल परमसहजानंद स्वयं ही आत्मा पाता है, अतः वह लाभ स्वय के लिये होता है । (५) शुद्धात्मस्वभावलाभ किसी दूसरेके लिये नही दिया जाता है, किंतु वह शुद्धात्मस्वभावलाभ स्वयके लिये ही देनेमे आता होनेसे स्वयंके लिये हो दिया जाता है । (६) शुद्धात्मस्वभावलाभ किसी अन्यसे नही निकलता है, किन्तु ध्रुव सहज चैतन्यस्वभावमय इसी आत्मासे प्रकट होता है । (७) शुद्धात्मस्वभाव किसी अन्यमें नही होता, किन्तु शुद्धात्म-स्वभावकी प्रकटताके परिणमनका आधार स्वयं ही यह आत्मा है, इसी स्वयं आत्मामें शुद्धा-त्मस्वभावलाभ होता । (८) शुद्धात्मस्वभावलाभ सजातीय विजातीय समस्त द्रव्यान्तरोंसे अत्यन्त निरपेक्ष है । (९) शुद्धात्मस्वभावलाभ स्वयं ही स्वयंमें स्वयंसे स्वयंके लिये स्वयंके द्वारा होता है, अत यह लाभ अत्यन्त स्वाधीन है । (१०) अपने वास्तविक लाभके लिये अन्य सामग्री ढूंढ़नेसे लाभ हो ही नही सकता । (११) शुद्धात्मस्वभावके लाभके लिये अन्य सामग्री

अथ स्वायम्भुवस्यास्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्यात्यन्तमनपायित्वं कथंचिदुत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तत्वं चालोचयति--

भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि ।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥१७॥

भंगरहित है संभव, संभववर्जित विनाश होकर भी ।
शुद्धके ध्रौव्य संभव, व्ययका समवाय रहता है ॥१७॥

भङ्गविहीनश्च भव. सम्भवपरिवर्जितो विनाशो हि । विद्यते तस्यैव पुन. स्थितिसम्भवनाशसमवाय. ॥१७॥

अस्य खल्वात्मनः शुद्धोपयोगप्रसादात् शुद्धात्मस्वभावेन यो भवः स पुनस्तेन रूपेण प्रलयाभावाद्भंगविहीनः । यस्त्वशुद्धात्मस्वभावेन विनाश. स पुनरुत्पादाभावात्संभवपरिवर्जितः ।

नामसंज्ञ—भगविहीण य भव सभवपरिवज्जिव विणास हि त एव पुणो ठिदिसभवणाससमवाय । **धातुसंज्ञ**- वज्ज वर्जने, विज्ज सत्ताया । **प्रातिपदिक**—भङ्गविहीन च भव सभवपरिवर्जित विनाश हि तत् एव पुनर् स्थितिसभवनाशसमवाय । **मूलधातु**—विद सत्ताया दिवादि, वृजी वर्जने । **उभयपदविवरण**—भगविहीणो भगविहीन. भवो भव समवपरिवज्जिदो सम्भवपरिवर्जित विणासो विनाश· णिदिसंभवणा-ससमवाओ स्थितिसम्भवनाशसमवाय.-प्रथमा एक० । य च हि एव पुणो पुनः-अव्यय । तस्स तस्य-षष्ठी

ढूंढने वाला परतन्त्र है । १२— परतन्त्र जीव शुद्धोपयोगको प्राप्त नही कर सकते, फिर शुद्धो-पयोगका फल परतन्त्रको मिलना कैसे संभव हो सकता है ?

सिद्धान्त—१— परमात्मत्वविकास सहज चैतन्यस्वभावकी अभेदोपासनासे प्रकट होता है ।

दृष्टि— १— शुद्धनिश्चयनय, शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, ज्ञाननय [४६, २४ब, १६४] ।

प्रयोग—सहजपरमात्मतत्त्वके सहजानन्दमय स्वभावरूप विकासके लिये चिन्मात्र सहज परमात्मतत्त्वकी ज्ञप्ति, दृष्टि, प्रतीति, रुचि व आराधना करना ॥१६॥

अब इस स्वयंभूके शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके अत्यन्त अविनाशीपना और कथंचित् अर्थात् कोई प्रकारसे उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तताका विचार करते है—[**भंगविहीनः च भवः**] शुद्धात्मस्वभावको प्राप्त आत्माके विनाशरहित उत्पाद है, और [**संभवपरिवर्जितः विनाशः हि**] उत्पादरहित विनाश है [**तस्य एव पुनः**] उसके ही फिर [**स्थितिसंभवनाशसमवायः विद्यते**] ध्रौव्य, उत्पाद और विनाशका समवाय अर्थात् एकत्रित समूह विद्यमान है ।

तात्पर्य—शुद्धात्माके शुद्धत्व नष्ट नहीं होता, अशुद्धत्व आ नही सकता, आत्मत्व सदैव है ।

अतोऽस्य सिद्धत्वेनानपायित्वम् । एवमपि स्थितिसंभवनाशसमवायोऽस्य न विप्रतिषिध्यते, भङ्ग-रहितोत्पादेन संभववर्जितविनाशेन तद्द्वयाधारभूतद्रव्येण च समवेतत्वात् ।।१७।।

एक० । विज्जदि विद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । निरुक्ति–भजन भङ्ग., भवन भव, विनशन विनाश । समास– भगेन विहीन भगविहीन', सम्भवेन परिवर्जित' सम्भवपरिवर्जित, स्थिति सम्भव. नाश. चेति स्थितिसम्भवनाशा तेषा समवाय स्थितिसम्भवनाशसमवाय' ।। १७ ।।

टीकार्थ—वास्तवमे इस शुद्धात्मस्वभावको प्राप्त आत्माके शुद्धोपयोगके प्रसादसे शुद्धात्मस्वभावरूपसे जो उत्पाद है, वह पुन. उस रूपसे प्रलयका अभाव होनेसे विनाशरहित है; और जो उत्पाद है, वह पुनः उस रूपसे प्रलयका अभाव होनेसे विनाशरहित है और जो अशुद्धात्मस्वभाव रूपसे विनाश है वह पुनः उत्पत्तिका अभाव होनेसे उत्पादरहित है । इस कारण उस आत्माके सिद्धरूपसे अविनाशीपन है । ऐसा होनेपर भी उस आत्माके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका समवाय अर्थात् एकत्र होना विरोधको प्राप्त नही होता, क्योंकि वह विनाशरहित उत्पादके साथ, उत्पादरहित विनाशके साथ और उन दोनोके आधारभूत द्रव्यके साथ समवेत है अर्थात् तन्मयतासे युक्त एकमेक है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व गाथामे शुद्धात्मस्वभावके लाभको स्वायम्भुव सिद्ध किया था । अब इस गाथामे "स्वायम्भुव शुद्धात्मलाभका कभी भी विनाश न होगा" इस समर्थनके साथ साथ उसकी कथचित् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकताका भी विचार किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शुद्धात्मस्वभाव शुद्धोपयोगके प्रसादसे प्रकट होता है । (२) अशुद्धात्मभावका अभाव भी शुद्धोपयोगके प्रसादसे हुआ है । (३) शुद्धात्मस्वभावके प्रकट होने पर उसका कभी भी प्रलय नही होगा । (४) अशुद्धात्मभावका अभाव होनेपर अशुद्धात्मभाव की कभी भी संभवता नही होगी । (५) अशुद्धात्मभावका प्रलय होना व शुद्धात्मस्वभावका आविर्भाव होना यही सिद्धपना है । (६) सिद्धपना सदैव कायम रहेगा । (७) इस परमात्म-द्रव्यका सिद्धपर्यायरूपसे उत्पाद हुआ है, संसारपर्यायरूपसे विनाश हुआ है व ऐसे उत्पादव्यय के आधारभूत स्वद्रव्यत्वसे ध्रौव्य रहता है ।

सिद्धान्त—(१) प्रभु अशुद्धात्मभावसे हटकर शुद्धात्मस्वभावविकासरूप हुए हैं । (२) प्रभु सदा अविनाशी है ।

दृष्टि—१– सादिनित्यपर्यायार्थिकनय [३६] । २– उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२२] ।

प्रयोग—अशुद्धात्मभावके विनाशके लिये व शुद्धात्मस्वभावके विकासके लिये शुद्धोप-योगके बीजरूप आत्मस्वभावाराधना करना ।। १७ ।।

अथोत्पादादित्रयं सर्वद्रव्यसाधारणत्वेन शुद्धात्मनोऽप्यवश्यंभावीति विभावयति—

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥१८॥

संभव व्यय दोनों भी, रहते है सकल अर्थ सार्थोंमें ।
पर्यायविवक्षासे, वे ही सद्भूत निश्चयसे ॥ १८ ॥

उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य । पर्यायेण तु केनाप्यर्थः खलु भवति सद्भूत ॥ १८॥

यथाहि जात्यजाम्बूनदस्याङ्गदपर्यायेणोत्पत्तिर्दृष्टा । पूर्वव्यवस्थितांगुलीयकादिपर्यायेण च विनाशः । पीततादिपर्यायेण तूभयत्राप्युत्पत्तिविनाशावनासादयतः ध्रुवत्वम् । एवमखिल-

---

नामसंज्ञ—उप्पाद य विणास सव्व अट्ठजाद पज्जाय दु क वि अट्ठ खलु सब्भूद । **धातुसंज्ञ**—विज्ज सत्तायां । **प्रातिपदिक**—उत्पाद च विनाश सर्व अर्थजात पर्याय किम् अपि अर्थ खलु सद्भूत । **मूलधातु**—विद सत्तायां, भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—उप्पादो उत्पादः विणासो विनाशः—प्रथमा एकवचन । विज्जदि विद्यते होदि भवति—वर्तमान अन्य पुरुष एक० क्रिया । सव्वस्स सर्वस्य अट्ठजादस्स अर्थजातस्य—

अब उत्पाद आदि तीनो (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) सर्व द्रव्यके साधारण है, इसलिये शुद्ध आत्मा केवली भगवान और सिद्ध भगवानके भी अवश्यम्भावी है, यह विशेष रूपसे हुवाते है, व्यक्त करते है—[**सर्वस्य**] सर्व [**अर्थजातस्य**] सर्वपदार्थका [**उत्पादः**] किसी पर्याय से उत्पाद [**विनाशः च**] और किसी पर्यायसे विनाश [**विद्यते**] होता है; [**केन अपि पर्यायेण तु**] और किसी पर्यायसे [**अर्थः**] पदार्थ [**खलु सद्भूतः भवति**] वास्तवमे ध्रुव है ।

तात्पर्य—प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है ।

टीकार्थ—जैसे कि उत्तम स्वर्णकी बाजूबन्दरूप पर्यायसे उत्पत्ति दिखाई देती है, पूर्व अवस्थारूपसे वर्तने वाली अंगूठी इत्यादिक पर्यायसे विनाश देखा जाता है, और पीलापन इत्यादि पर्यायसे दोनोमे याने बाजूबन्द और अगूठीमे उत्पत्ति विनाशको प्राप्त न होनेसे ध्रौव्यत्व दिखाई देता है । इस प्रकार सर्व द्रव्योंके किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश और किसी पर्यायसे ध्रौव्य होता है, ऐसा जानना चाहिये । इस कारण शुद्ध आत्माके भी द्रव्यका लक्षणभूत उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप अस्तित्व अवयश्म्भावी है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुद्धात्मस्वभावलाभकी अविनाशिता व कथंचित् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता बताई गई थी । अब इस गाथामें "उत्पादादित्रय सर्वद्रव्योमे पाया जाता है सो शुद्धात्माके भी अवश्य होते हैं" यह वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१— सभी द्रव्योमें अपेक्षावोंसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक साथ रहते हैं । २— जैसे— पुद्गलपिण्डका स्वर्णरूपसे उत्पाद, स्वर्णमिट्टी रूपसे नाश व पुद्गलपिण्डरूपसे

द्रव्याणां केनचित्पर्यायेणोत्पादः केनचिद्विनाशः केनचिद्ध्रौव्यमित्यवबोद्धव्यम् । अतः शुद्धात्मनोऽप्युत्पादादित्रयरूपं द्रव्यलक्षणभूतमस्तित्वमवश्यंभावि ॥ १८ ॥

षष्ठी ए० । पज्जायेण पर्यायेन केण केन–तृतीया एक० । अट्ठो अर्थ. सब्भूदो सद्भूत –प्रथमा एकवचन । य च दु तु खलु–अव्यय । **निरुक्ति**– परि अयतं गच्छति पर्यायः, अर्यते इति अर्थः । **समास**—अर्थाना जात. समूहः अर्थजात तस्य ॥ १८ ॥

ध्रौव्य है । ३– जैसे—संसारी जीवका मनुष्यपर्यायरूपसे उत्पाद देवपर्यायरूपसे विनाश व जीवद्रव्यरूपसे ध्रौव्य है । ४– परमात्माका सिद्धपर्यायरूपसे उत्पाद संसारपर्यायरूपसे विनाश व शुद्धात्मद्रव्यरूपसे ध्रौव्य है । ७– परमात्माका नवीन केवल ज्ञानादि पर्यायरूपसे उत्पाद, पूर्व केवलज्ञानादि पर्यायरूपसे विनाश व शुद्धात्मद्रव्यरूपसे ध्रौव्य रहता है । ८– अगुरुलघु गुणोके निमित्तसे होने वाली षड्गुण हानि वृद्धिरूप परिणमनके कारण परमात्माके प्रतिसमय उत्पाद व्यय ध्रौव्य बर्तता है । ९– परमात्मद्रव्यके ध्रौव्य रहते हुए भी सम स्वाभाविक पर्यायोंके रूपसे उत्पादव्यय होता रहता है ।

सिद्धान्त—१– प्रत्येक सत् उत्पादव्ययध्रौव्य त्रिलक्षणसत्तामय है । २– परमात्मद्रव्य सम स्वाभाविक पर्यायोके रूपसे परिणमते रहते है ।

दृष्टि—१– उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२५] । २– उपाधिनिरपेक्ष नित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय [३६] ।

प्रयोग—सहजानन्दमय सम स्वाभाविक पर्यायोके रूपसे परिणमते रहनेके लिये टकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्व अनुभवना ॥ १८ ॥

अब शुद्धोपयोगके प्रभावसे स्वयंभू हो चुके इस शुद्ध आत्माके इन्द्रियोके बिना ज्ञान और आनन्द कैसे होता है ? इस संदेहको दूर करते हैं:—[**प्रक्षीणघातिकर्मा**] जिसके घातिकर्म नष्ट हो चुके हैं, [**अतीन्द्रियः जातः**] जो अतीन्द्रिय है, [**अनन्तवरवीर्यः**] अनन्त उत्तम वीर्य वाला, और [**अधिकतेजाः**] जिसके केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप तेज अधिक अर्थात् अनन्त है [**सः**] वह स्वयंभू आत्मा [**ज्ञानं सौख्यं च**] ज्ञान और सुखरूप [**परिणमति**] परिणमता रहता है ।

तात्पर्य—स्वयंभू परमात्माके अनन्त ज्ञान व अनन्त आनन्द निरन्तर रहता है ।

टीकार्थ—शुद्धोपयोगके सामर्थ्यसे घातिकर्म क्षयको प्राप्त हुए है जिसके, क्षायोपशमिक ज्ञानदर्शनके साथ संपर्क रहित होनेसे जो अतीन्द्रिय हो गया है, समस्त अन्तरायका क्षय होने से जिसके अनन्त उत्तम वीर्य है, समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका प्रलय हो जानेसे अधिक (अनंत) है केवलज्ञान और केवलदर्शन नामक तेज जिसके, ऐसा यह स्वयंभू आत्मा

अथास्यात्मनः शुद्धोपयोगानुभावात्स्वयंभुवो भूतस्य कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति सन्देहमुदस्यति--

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो ।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥१६॥

प्रक्षीणघातिकर्मा, अनन्तवर वीर्य अधिक तेजस्वी ।
हुआ अतीन्द्रिय इससे, हो ज्ञानानन्द परिणमता ॥१६॥

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजा । जातोऽतीन्द्रिय. स ज्ञान सौख्यं च परिणमति ॥ १६ ॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, क्षायोपशमिकज्ञानदर्शनासंपृक्तत्वादतीन्द्रियो भूतः सन्निखिलान्तरायक्षयादनन्तवरवीर्यः कृत्स्नज्ञानदर्शनावरणप्रलयादधिककेवलज्ञानदर्शनाभिधानतेजा. समस्तमोहनीयाभावादत्यंतनिर्विकारशुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमासादयन्

नामसंज्ञ--पक्खीणघादिकम्म अणतवरवीरिअ अहियतेज जाद अदिंदिअ त णाण सोक्ख च । **धातुसंज्ञ**--खिव क्षये, जा प्रादुर्भावे, परि णम प्रह्वत्वे । **प्रातिपदिक**--प्रक्षीणघातिकर्मन् अनन्तवरवीर्य अधिकतेजस् जात । अतीन्द्रिय तत् ज्ञान सौख्य च **मूलधातु**--क्षि क्षये, जनि प्रादुर्भावे, परि णम प्रह्वत्वे । **उभयपदविवरण**--पक्खीणघादिकम्मो प्रक्षीणघातिकर्मा अणतवरवीरिओ अनन्तवरवीर्यः अहियतेजो अधिकतेजाः--प्र० ए० । जादो जात --प्र० एक० कृदन्त क्रिया । अदिंदिओ अतीन्द्रिय. सो स --प्रथमा एक० । णाणं ज्ञानं

समस्त मोहनीयके अभावके कारण अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्यस्वभाव वाले आत्माका अनुभव करता हुआ स्वयमेव स्वपरप्रकाशकतारूप ज्ञान और अनाकुलतारूप सुख होकर परिणमित होता है । इस प्रकार आत्माका ज्ञान और आनन्द स्वभाव ही है । और स्वभावके अनपेक्षपना होनेसे इन्द्रियोके बिना भी आत्माके ज्ञान और आनन्द होता है ।

प्रसंगविवरण--अनन्तरपूर्व गाथामें कहा गया था कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य सर्व द्रव्यमें होते है सो शुद्धात्माके अर्थात् परमात्माके भी ये तीनो होते हैं । अब इस गाथामें शुद्धोपयोगके प्रतापसे स्वयंभू हुए शुद्धात्माके इन्द्रियोके बिना ज्ञान आनन्द कैसे हो सकता है इस सन्देहको खत्म कर दिया है ।

तथ्यप्रकाश--(१) यह आत्मद्रव्य अविकारस्वभाव सहज ज्ञानदर्शनात्मक चैतन्यस्वरूप है । (२) अनादि कर्मोपाधिबन्धनके निमित्तसे इस जीवका ज्ञान और आनन्द आच्छादित हो गया है । (३) जिसका ज्ञान और आनन्द आच्छादित है वह शरीरधारी ही है । (४) शरीरबन्धन भी कर्मोपाधिके निमित्तसे चला आ रहा है । (५) शरीरबद्ध जीव कर्मोपाधिक्षयोपशमके अनुसार इन्द्रियोके आश्रयसे कुछ अल्प ज्ञान व अन्य सुखरूप परिणमता है । (६) यह जीव वस्तुस्वरूपके परिज्ञानसे वैसी दृष्टिका अभ्यास करता हुआ कभी अविकार-

स्वयमेव स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्य च भूत्वा परिणमते । एवमात्मनो ज्ञानानन्दौ स्वभाव एव । स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ संभवतः ॥१६॥

सोक्ख सौख्य–प्र० ए० । परिणमदि परिणमति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**–क्रियते इति कर्म । **समास**–प्रक्षीणानि घातिकर्माणि यस्य स प्रक्षीणघातिकर्मा, अनन्त वरवीर्यं यस्य स अनतवरवीर्य, अधिक तेज यत्र स. अधिकतेजा:, इन्द्रिय अतिक्रान्त: अतीन्द्रिय ॥ १६ ॥

स्वभाव निज सहज ज्ञानदर्शनात्मक आत्मस्वरूपका अनुभव कर लेता है । (७) अविकार सहजचित्स्वभावका अनुभव कर लेने वाले ज्ञानी आत्माकी धुन स्वरूपरमणकी हो जाती है । (८) स्वरूपरमणकी धुन वाला ज्ञानी एतदर्थ सर्व परिग्रहका व आत्मस्वभावका प्रसंग छोड़ देता है । (९) निर्ग्रन्थ दिगम्बर श्रमणके निर्विकल्पसमाधि अर्थात् शुद्धोपयोगके प्रतापसे कर्मप्रकृतियोंका क्षय हो जाता है । (१०) समस्त घातिया कर्मोंका क्षय हो चुकते ही आत्मा केवलज्ञानी हो जाता है । (११) केवलज्ञान केवल आत्माके द्वारा ही जानता है, इन्द्रियो द्वारा नही । (१२) आत्माको ज्ञानरूप व आनन्दरूप परिणमनेमे इन्द्रियादिक पर निमित्तोकी अपेक्षा नहीं होती है । (१३) ज्ञानका स्वरूप स्वपरप्रकाशकता है और आनन्दका स्वरूप निराकुलता है । (१४) उपाधिरहित ज्ञान और आनन्द परिपूर्ण और अनन्त होता है, क्योकि स्वभावको परकी अपेक्षा नही होती । (१५) केवलज्ञानी परमात्मा परिपूर्ण ज्ञानरूप व परिपूर्ण आनदमय होकर स्वय ही परिणमते रहते हैं । (१६) स्वयंभु परमात्मामें इन्द्रियोके बिना ही असीम ज्ञान और असीम आनन्द बर्तता रहता है । (१७) स्वभावपरिणमनमें परकी अपेक्षा रचमात्र भी नही होती ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धोपयोगके सामर्थ्यसे घातिया कर्मोंका निःशेष क्षय होता है । (२) घातिया कर्मोंका क्षय होनेसे अनन्त ज्ञान दर्शन आनन्द व शक्तिमय परिणमन होता है ।

दृष्टि––१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४ ब] । २– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४अ] ।

प्रयोग—शाश्वत सहज परिपूर्ण ज्ञानानन्दके लाभके लिये अविकार ज्ञानानन्दस्वभाव अन्तस्तत्त्वका ज्ञान बनाये रहनेका सहज पौरुष करना ॥१९॥

अब अतीन्द्रियताके कारण ही शुद्ध आत्माके शारीरिक सुख दुःख नही है यह व्यक्त करते है—[**केवलज्ञानिनः**] केवलज्ञानीके [**देहगतं**] शरीरसम्बन्धी [**सौख्यं**] सुख [**वा पुनः दुःखं**] व दुःख [**नास्ति**] नही है, [**यस्मात्**] क्योंकि [**अतीन्द्रियत्वं जातं**] अतीन्द्रियता उत्पन्न हुई है [**तस्मात् तु तत् ज्ञेयम्**] इसलिये प्रभुका ज्ञान व आनन्द अतीन्द्रिय ही जानना चाहिये ।

अथातीन्द्रियत्वादेव शुद्धात्मनः शारीरं सुखं दुःखं नास्तीति विभावयति—

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ २० ॥

केवलज्ञानी प्रभुके, हुआ अतीन्द्रियपना है इस कारण ।
शारीरिक सुख अथवा, दुख भी नहिं केवली प्रभुके ॥२०॥

सौख्य वा पुनर्दुःख केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम् । यस्मादतीन्द्रियत्व जात तस्मात्तु तज्ज्ञेयम् ॥ २० ॥

यत एव शुद्धात्मनो जातवेदस इव कालायसगोलोत्कूलितपुद्गलाशेषविलासकल्पो नास्तीन्द्रियग्रामस्तत एव घोरघनघाताभिघातपरंपरास्थानीयं शरीरगतं सुखदुःखं न स्यात् ॥२०॥

नामसंज्ञ—सोक्ख वा पुण दुक्ख केवलणाणि ण देहगद ज अदिंदियत्त जाद त दु त णेय । **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां, जा प्रादुर्भावे । **प्रातिपदिक**—सौख्य वा पुनर् दुःख केवलज्ञानिन् न देहगत यत् अतीन्द्रियत्व जात तत् तु ज्ञेय । **मूलधातु**—अस भुवि, जनि प्रादुर्भावे । **उभयपदविवरण**—सोक्खं सौख्य दुक्खं दुःखं देहगद देहगत–प्रथमा एकवचन । केवलणाणिस्स केवलज्ञानिन–षष्ठी एक० । जम्हा यस्मात् तम्हा तस्मात्–पचमी एक० । वा ण न दु तु–अव्यय । अत्थि अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । तं तत्–प्रथमा एक० । णेय ज्ञेय–प्र० ए० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—दिह्यते इति देहः । **समास**—देहे गतं देहगतं ॥२०॥

तात्पर्य—अतीन्द्रियपना होनेसे प्रभुके सुख और दुःख नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय ही अनन्त ज्ञान व आनन्द है ।

टीकार्थ—जैसे अग्निको लोहेके गोलेके तप्त पुद्गलोका समस्त विलास नहीं है उसी प्रकार शुद्ध आत्माके अर्थात् केवलज्ञानी भगवानके इन्द्रियसमूह नही है; इस कारण जैसे अग्नि को घनके घोर आघातोकी परम्परा नही है, इसी प्रकार शुद्ध आत्माके शरीर सम्बन्धी सुख दुःख नहीं है ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि परमात्मा इन्द्रियोंके बिना ही अनन्तशक्ति अनन्त परिपूर्ण ज्ञानानन्दको अनुभवता है । अब इस गाथामें बताया गया है कि अतीन्द्रिय होनेसे परमात्माके शारीरिक सुख दुःख नही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) परमात्माका ज्ञान और आनन्द स्वाभाविक है, अतीन्द्रिय है, परिपूर्ण है । (२) जैसे लोहेके सम्बन्धका अभाव होनेसे अग्निका घनघातसे पिटना नही होता ऐसे ही इन्द्रियग्राम न होनेसे भगवानके शारीरिक सुख दुःखरूप आपदा नही रहती । (३) सिद्ध भगवानके तो शरीर नही है वहां तो शारीरिक सुख दुःखका व इन्द्रियज ज्ञान आनन्द का संदेह भी किसीको नही हो सकता । (४) अरहंत भगवानके शरीरका सम्बन्ध तो है, किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शन न होनेसे प्रभु अतीन्द्रिय हैं, ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंका

अथ ज्ञानस्वरूपप्रपञ्चं च क्रमप्रवृत्तप्रबन्धद्वयेनाभिदधाति । तत्र केवलिनोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति विभावयति—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया ।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

ज्ञानपरिणत प्रभूके, सब प्रत्यक्ष हैं द्रव्यपर्यायें ।
सो वे अवग्रहादिक-पूर्वक नहिं जानते क्रमसे ॥२१॥

परिणममानस्य खलु ज्ञानं प्रत्यक्षा: सर्वद्रव्यपर्याया: । स नैव तान् विजानात्यवग्रहपूर्वाभि: क्रियाभि: ॥२१॥

यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकप्रक्रमेण केवली विजानाति, स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय तदु-

नामसंज्ञ—परिणमन्त खलु पच्चक्ख सव्वदव्वपज्जाय त ण एव उग्गहपुव्वा किरिया । **धातुसंज्ञ**—वि जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—परिणममान खलु ज्ञान प्रत्यक्ष सर्वद्रव्यपर्याय त न एव त अवग्रहपूर्वा क्रिया । **मूलधातु**—वि ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—परिणमदो परिणममानस्य–षष्ठी एक० । परिणमान अन्तर्गत क्रियाविशेषण । खलु न एव–अव्यय । पच्चक्खा प्रत्यक्षा –प्रथमा बहु० । सव्वदव्वपज्जा-

क्षय होनेसे अनन्त ज्ञान दर्शन आनन्द शक्ति वाले है उनका शरीरसे कुछ प्रयोजन नही है । अतः शारीरिक सुख दुःख नही । (५) अरहंत भगवानके घातिया कर्मका अभाव होनेसे अनत आनन्द है वहाँ क्षुधादि दुःख नही है । (६) अरहंत भगवानके परमौदारिक देहमे सूक्ष्म सरस सुगंध नोकर्म वर्गणाओका सम्बन्ध (नोकर्माहार) होता रहता है, अतः सहजानन्तानन्दमय भगवानके कवलाहारादि सुखका क्षोभ नही । (७) भगवानके अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान और अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द है ।

सिद्धान्त—(१) प्रभुके आत्मीय अनन्त ज्ञान व आनन्द है । (२) प्रभुका ज्ञान व आनन्द स्वाभाविक है ।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय [४६] । २– स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायदृष्टि [२१२] ।

प्रयोग—भगवानके स्वाधीन ज्ञान आनन्दके स्वरूपको निरखकर अपने उपलब्ध ज्ञान व सुखको भी इन्द्रियनिमित्तक होनेपर भी आत्मासे ही हुआ निरखना ॥२०॥

अब ज्ञानके स्वरूपका विस्तार और सुखके स्वरूपका विस्तार क्रमश. प्रवर्तमान दो स्थलोंके द्वारा कहते है । इनमेसे पहले अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमित होनेसे केवली भगवान के सब प्रत्यक्ष है यह प्रगट करते है—**[खलु]** वास्तवमे **[ज्ञानं परिणममानस्य]** ज्ञानरूपसे अर्थात् केवलज्ञानरूपसे परिणमित होते हुए केवली भगवानके **[सर्वद्रव्यपर्यायाः]** सब द्रव्यपर्यायें **[प्रत्यक्षाः]** प्रत्यक्ष हैं **[सः]** वह **[तान्]** उन्हे **[अवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः]** अवग्रहादि

परि प्रविशत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति ॥ २१ ॥

या सर्वद्रव्यपर्याया –प्रथमा बहु० । सो सः–प्र० एक० । ते तान्–द्वितीया बहु० । विजाणादि विजानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । उग्गहपुव्वाहि किरियाहिं अवग्रहपूर्वाभि क्रियाभि–तृतीया बहु० । **निरुक्ति**—जानाति इति वा जानाति अनेन इति ज्ञानं, क्रियते या सा क्रिया । **समास**–द्रव्याणि च पर्यायाः द्रव्यपर्यायाः सर्वे च ते सर्वद्रव्यपर्याया, अवग्रह. पूर्व यासां ताः अवग्रहपूर्वा ॥ २१ ॥

क्रियाओंसे [**नैव विजानाति**] नही जानता ।

तात्पर्य—केवलीके ज्ञानमे सर्व सत् प्रत्यक्ष ज्ञेय है, वहाँ परोक्षविधि वाला ज्ञान होता ही नही है ।

टीकार्थ—केवली भगवान इन्द्रियोंका आलम्बन कर अवग्रह-ईहा-अवाय पूर्वक क्रमसे नही जानता, किन्तु स्वयमेव समस्त आवरणके क्षयके क्षणमें ही अनादि अनन्त अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभावको ही कारणरूपसे उपादान करके उसके ऊपर प्रवेश करने वाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमते है, इस कारण उनके समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका ग्रहण होनेसे प्रत्यक्ष ज्ञानके आलम्बनभूत समस्त द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही है ।

प्रसंगविवरण—अनतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अतीन्द्रियपना होनेसे शुद्धात्मा के शारीरिक सुख दुःख नही है । अब इस गाथामें बताया गया है कि अतीन्द्रिय ज्ञानपरिणत होनेसे शुद्धात्माके ज्ञानमे सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते है ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रभुके ज्ञानमे सर्व ज्ञात होनेका कारण इन्द्रियोका आलम्बन न लेकर स्वय सहज जानना है । (२) प्रभुका ज्ञान केवल अनादि अनन्त अहेतुक निज सहज ज्ञानस्वभावरूप आत्मा उपादान कारणका व्यक्तरूप है । (३) सहजज्ञानस्वभावपर केवलज्ञानोपयोगका प्रवेश होकर शुद्धात्माके अनंतकाल तक निरन्तर केवलज्ञान नामक स्वभावगुणव्यञ्जन पर्याय होता ही रहता है । (४) शुद्धात्माके परिपूर्ण स्वच्छ केवलज्ञानमे समस्त पदार्थ प्रमेयत्वगुणमय होनेसे एक ही साथ प्रतिबिम्बित (प्रतिभासित) होते है । (५) शुद्धात्माके निरुपाधि केवलज्ञानमे अपनी सहज कलाके कारण आत्मप्रदेशोंमे सर्वज्ञेयाकारचित्रित होनेसे सर्वद्रव्यपर्याय प्रत्यक्ष ही ज्ञात होते हैं । (६) केवलज्ञान होनेका बीज अविकार स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् शुद्धोपयोग है । (७) पदार्थोंकी एक साथ जानकारी न होकर क्रमसे कुछ जानकारी होनेका कारण ज्ञानकी क्षायोपशमिकता थी वह कमजोरी भगवानके नही रही । (८) ज्ञानावरण कर्मके निःशेष क्षय हो जानेके निमित्तसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानकी कला बेरोकटोक सर्वज्ञतामे विलास करती है ।

अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥ २२ ॥

कुछ भी परोक्ष नहिं है, समन्त सर्वाक्ष गुणसमृद्धोंके ।
ज्ञायक अतीन्द्रियोंके, स्वयं सहज ज्ञानशीलोंके ॥२२॥

नास्ति परोक्षं किंचिदपि समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य । अक्षातीतस्य सदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ॥२२॥

अस्य खलु भगवतः समस्तावरणक्षयक्षण एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधान-हेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षाणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः सम-

---

नामसंज्ञ—ण परोक्ख किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्ध अक्खातीत सदा सय एव हि णाण जाद । **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां । **प्रातिपदिक**—न परोक्ष किंचित् अपि समन्तत सर्वाक्षगुणसमृद्ध अक्षातीत सदा स्वयं एव हि ज्ञानजात । **मूलधातु**—अस भुवि अक्ष् व्याप्तौ ऋद्ध वृद्धौ । **उभयपदविवरण**—ण न किंचि

सिद्धान्त—(१) केवलज्ञान सहजज्ञानस्वरूप उपादानकारण से ही प्रकट होता है । (२) शुद्धात्मा सर्व पदार्थोंको जानता है । (३) केवलज्ञान समस्त ज्ञानावरणके क्षयसे प्रकट होता है ।

दृष्टि—१- शुद्धनिश्चयनय [४६] । २- स्वाभाविक उपचरित स्वभावव्यवहार [१०५] । ३- निमित्तदृष्टि, उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [५३अ, २४अ] ।

प्रयोग—अपने आपको सहज विकसित रखनेके लिये सहज ज्ञानस्वभावमें आत्मत्वका उपयोग करना ॥२१॥

अब अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणतपना होनेसे ही भगवानके कुछ भी परोक्ष नहीं है, ऐसा अभिप्राय व्यक्त करते हैं—[**सदा अक्षातीतस्य**] सदा इन्द्रियातीत [**समन्ततः सर्वाक्षगुण-समृद्धस्य**] सर्व ओरसे अर्थात् सर्व आत्मप्रदेशोंसे सर्व इन्द्रियगुणोंसे समृद्ध [**स्वयमेव हि ज्ञान-जातस्य**] स्वयमेव ज्ञानरूप हुए उन केवली भगवानके [**किंचित् अपि**] कुछ भी [**परोक्षं नास्ति**] परोक्ष नहीं है ।

तात्पर्य—इन्द्रियातीत स्वयं ज्ञानरूप हुए केवली प्रभुके कुछ भी परोक्ष नहीं है ।

टीकार्थ—समस्त आवरणके क्षयके क्षणमें ही सांसारिक ज्ञानकी निष्पत्ति करनेमें बलाधानके हेतुभूत, अपने-अपने निश्चित विषयोंको ग्रहण करने वाली इन्द्रियोंसे अतीत, स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्दके ज्ञानरूप सर्व इन्द्रियगुणोंके द्वारा सर्व ओरसे समरस रूपसे समृद्ध और जो स्वयमेव समस्त रूपसे स्वपरके प्रकाश करनेमें समर्थ अविनाशी लोकोत्तर ज्ञानरूप हुए ऐसे केवली भगवानके समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका अक्रमिक ग्रहण होनेसे कुछ भी

रसतया समन्ततः सर्वैरेवेन्द्रियगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्वपरप्रकाशनक्षमानश्वर-लोकोत्तरज्ञानजातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात् ॥ २२ ॥

किंचित् वि अपि समत समन्तत सदा सयं स्वय एव हि–अव्यय । अत्थि अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । परोक्ख परोक्ष–प्रथमा एक० । सव्वक्खगुणसमिद्धस्स सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य अक्खातीदस्स अक्षातीतस्य णाणजादस्स ज्ञानजातस्य–षष्ठी एक० । निरुक्ति—अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति इति अक्षः, आर्धत् इति ऋद्ध । समास—सर्वे अक्षा सर्वाक्षास्तेषां गुणा सर्वाक्षगुणा. तै. समृद्ध तस्य, अक्षं अतिक्रान्तः अक्षातीत. तस्य ॥ २२ ॥

परोक्ष ही नही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि केवली भगवानके अतीन्द्रिय ज्ञान होनेसे सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं । अब इस गाथामे बताया गया है कि केवली भगवानके अतीन्द्रियज्ञान होनेसे ही कुछ भी परोक्ष नहीं है ।

तथ्यप्रकाश—(१) क्रमसे कुछ कुछ पदार्थोंका कुछ कुछ जानना अर्थात् परोक्ष ज्ञान इन्द्रियोके आश्रयके कारण होता है, किन्तु इन्द्रियोसे अतीत भगवानके अतीन्द्रिय ज्ञानमें कुछ भी परोक्ष नही होता । (२) ज्ञानका कार्य जानना है, जाननेकी स्वय कोई सीमा नहीं होती, ज्ञप्ति सीमाके निमित्त और संबंधकोंका केवली प्रभुके अभाव है, अतः केवलीके ज्ञानमें सब स्पष्ट प्रत्यक्ष है । (३) प्रभुका ज्ञान त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको स्पष्ट जाननेसे तथा अविनश्वर होनेसे लोकोत्तर है ।

सिद्धान्त—(१) ज्ञानावरणादि उपाधिरहित केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है ।

दृष्टि—१- उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४अ] ।

प्रयोग—सहजज्ञानस्वभावके अनुरूप विकास पानेके लिये सहज ज्ञानस्वभावकी अभेद आराधना करना ॥ २२ ॥

अब आत्माके ज्ञानप्रमाणपनेको और ज्ञानके सर्वगतपनेको उद्योतते हैं— **[आत्मा]** आत्मा **[ज्ञानप्रमाणं]** ज्ञान प्रमाण है **[ज्ञानं]** ज्ञान **[ज्ञेयप्रमाणं]** ज्ञेय प्रमाण **[उद्दिष्टं]** कहा गया है **[ज्ञेयं लोकालोकं]** ज्ञेय लोकालोक है **[तस्मात्]** इसलिये **[ज्ञानं तु]** ज्ञान **[सर्वगतं]** सर्वगत याने सर्व व्यापक है ।

तात्पर्य—ज्ञान अथवा आत्मा ज्ञानरूपसे समस्त लोकालोकमें व्यापक है ।

टीकार्थ—'समगुणपर्यायं द्रव्यं' इस वचनके अनुसार आत्मा ज्ञानसे हीनाधिकतारहित रूपसे परिणमित है, इसलिये ज्ञानप्रमाण है, और ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ होनेसे, दाह्यनिष्ठ-दहनकी

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वं ज्ञानस्य सर्वगतत्वं चोद्योतयति—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण हि, ज्ञेयप्रमाण है ज्ञान बतलाया ।
लोकालोक ज्ञेय है, ज्ञान हुआ सर्वगत इससे ॥ २३ ॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण ज्ञान ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम् । ज्ञेय लोकालोक तस्माज्ज्ञान तु सर्वगतम् । २३ ॥

आत्मा हि 'समगुणपर्यायं द्रव्यम्' इति वचनात् ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वरहितत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाणः, ज्ञानं तु ज्ञेयनिष्ठत्वाद्दाह्यनिष्ठदहनवत्तत्परिमाणं, ज्ञेयं तु लोकालोकविभागविभक्तानन्तपर्यायमालिकालीढस्वरूपसूचिता विच्छेदोपदर्शितध्रौव्या षड्द्रव्यी सर्वमिति यावत् । ततो निःशेषावरणक्षयक्षण एव लोकालोकविभागविभक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैवाप्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वाद् ज्ञान सर्वगतम् ॥२३॥

नामसंज्ञ—अत्त णाणपमाण णाण णेयप्पमाण उद्दिट्ठ णेय लोयालोय, त, णाण, तु, सव्वगय । **धातुसंज्ञ**—उत् दिस प्रेक्षणे, ञा अवबोधने । **प्रातिपदिक**—आत्मन् ज्ञानप्रमाण ज्ञान ज्ञेयप्रमाण उद्दिष्ट ज्ञेय लोकालोक त ज्ञान तु सर्वगत । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, उत् दिश अतिसर्जने । **उभयपदविवरण**—आदा आत्मा–प्रथमा ए० । णाणपमाण ज्ञानप्रमाण णाण ज्ञान णेयप्पमाण ज्ञेयप्रमाण–प्र० ए० । उद्दिट्ठ उद्दिष्ट–प्र० एक० कृदन्त क्रिया । णेय ज्ञेय–प्र० एक० कृदन्त क्रिया । लोयालोय लोकालोक णाण ज्ञान सव्वगय सर्वगत–प्रथमा एक० । तम्हा तस्मात्–पचमी एक० । **निरुक्ति**—ज्ञातु योग्य ज्ञेय, लोक्यते द्रव्याणि यत्र स लोक । **समास**—लोकश्च अलोकश्च लोकालोकौ तयो समाहार लोकालोक, सर्वस्मिन् गत सर्वगतम् ॥२३॥

भाँति ज्ञेयप्रमाण है । ज्ञेय लोक और अलोकके विभागसे विभक्त अनन्त पर्यायमालासे आलिंगित स्वरूपसे सूचित (ज्ञात), विनाश होते रहनेपर भी दिखाया है ध्रौव्य जिसने ऐसा षट्द्रव्य समूह, यही तो सब कहलाता है । इसलिये निःशेष आवरणके क्षयके समय ही लोक और अलोकके विभागसे विभक्त समस्त वस्तुओके आकारोके पारको प्राप्त करके उसी प्रकार अच्युत रूपसे व्यवस्थितपना होनेसे ज्ञान सर्वगत है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि अतीन्द्रिय ज्ञान होनेसे भगवानके कुछ भी परोक्ष नही है । अब इस गाथामे बताया गया है कि ज्ञान सर्वगत है और आत्मा ज्ञानप्रमाण है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य अपने गुणपर्याय बराबर है अर्थात् द्रव्य गुणपर्यायोसे अभिन्न है । (२) आत्मा ज्ञानस्वरूप है सो आत्मा ज्ञानप्रमाण है । (३) ज्ञान ज्ञेयाकारके जाननस्वरूप ही तो है सो ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है जैसे कि अग्नि जल रही चीजके बराबर है । (४) ज्ञेय

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वानभ्युपगमे द्वौ पक्षावुपन्यस्य दूषयति—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥ (जुगलं)

ज्ञानप्रमाण हि आत्मा, जो नहिं माने उसके यह आत्मा ।
अधिक ज्ञानसे होगा, या होगा हीन क्या मानो ॥ २४ ॥
यदि हीन कहोगे तो, ज्ञान अचेतन हुआ न कुछ जाने ।
यदि अधिक कहोगे तो, ज्ञान बिना जानना कैसे ॥२४॥

ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्येह तस्य स आत्मा । हीनो वा अधिको वा ज्ञानाद्भवति ध्रुवमेव ॥ २४ ॥
हीनो यदि स आत्मा तत् ज्ञानमचेतनं न जानाति । अधिको वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथं जानाति ॥२५॥

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते, तदात्मनोऽतिरिच्यमानं ज्ञानं स्वाश्रय-

नामसंज्ञ—णाणप्पमाण अत्त ण ज इह त त अत्त हीण वा अहिअ वा णाण धुव एव हीण जदि त अत्त त णाण अचेदण ण अहिअ वा णाण विणा कह । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां, जाण अवबोधने, ण्णा अव-

समस्त लोकालोक है अर्थात् ज्ञेय समस्त सत् है, छहो प्रकारके सब द्रव्य है । (५) ज्ञानका स्वभाव जो भी सत् हो सबको जाननेका है । (६) जहाँ समस्त ज्ञानावरणका क्षय हो चुका वहाँ ज्ञान पूर्ण विकसित हो जाता है । (७) ज्ञानका पूर्ण विकास हुए बाद ज्ञान सदैव पूर्ण विकसित रहेगा ।

अब आत्माका ज्ञानप्रमाणपना न माननेमे दो पक्षोको उपस्थित करके दोष बतलाते है—[**इह**] इस जगतमे [**यस्य**] जिसके मतमे [**आत्मा**] आत्मा [**ज्ञानप्रमाणं**] ज्ञानप्रमाण [**न भवति**] नही होता है [**तस्य**] उसके मतमे [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**ध्रुवम् एव**] निश्चित ही [**ज्ञानात् हीनः वा**] ज्ञानसे हीन [**अधिकः वा भवति**] अथवा अधिक होना चाहिये । [**यदि**] यदि [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**हीनः**] ज्ञानसे हीन हो [**तत्**] तो वह [**ज्ञानं**] ज्ञान [**अचेतनं**] अचेतन हुआ [**न जानाति**] कुछ नही जानेगा, [**ज्ञानात् अधिकः वा**] और यदि आत्मा ज्ञानसे अधिक हो तो यह आत्मा [**ज्ञानेन विना**] ज्ञानके बिना [**कथं जानाति**] कैसे जानेगा ?

तात्पर्य—आत्मा ज्ञानप्रमाण है ज्ञानसे हीन या अधिक नही है ।

टीकार्थ—यदि यह आत्मा ज्ञानसे हीन माना जाता है, तो आत्मासे आगे बढ़ जाने

भूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पतामापन्नं न जानाति । यदि पुनर्ज्ञानादधिक इति पक्षः कक्षीक्रियते तदावश्यं ज्ञानादतिरिक्तत्वात् पृथग्भूतो भवन् घटपटादिस्थानीयतामापन्नो ज्ञानमन्तरेण न जानाति । ततो ज्ञानप्रमाण एवायमात्माभ्युपगन्तव्यः ।।२४-२५।।

बोधने । **प्रातिपदिक**—ज्ञानप्रमाण आत्मन् न यत् इह तत् तत् आत्मन् हीन वा अधिक वा ज्ञान ध्रुव एव हीन यदि तत् आत्मन् तत् ज्ञान अचेतन न अधिक वा ज्ञान विना कथ । **मूलधातु**—भू सत्तायां, ज्ञा अवबोधने, चिती सज्ञाने । **उभयपदविवरण**—णाणप्पमाण ज्ञानप्रमाणं–प्र० ए० । ण न इह वा जदि यदि कह कथ विणा विना–अव्यय । जस्स यस्य तस्स तस्य–षष्ठी एक० । सो स –प्र० एक० । हीणो हीन अहिओ अधिक –प्र० ए० । णाणादो ज्ञानात्–पचमी ए० । हवदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । धुव ध्रुव–अव्यय । तण्णाण अचेतन तद्ज्ञान अचेतनं–प्र० एक० । जाणादि जानाति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । णाणेण ज्ञानेन–तृतीया एक० । जाणादि जानाति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ।।२४-२५।।

वाला ज्ञान अपने आश्रयभूत चेतन द्रव्यका सम्बन्ध न रहनेसे रूपादि गुणकी समानताको प्राप्त अचेतन होता हुआ नही जानेगा; और यदि यह आत्मा ज्ञानसे अधिक है ऐसा पक्ष रखा जाता है तो अवश्य ही (आत्मा) ज्ञानसे आगे बढ जानेसे ज्ञानसे पृथक् होता हुआ घटपटादि जैसी वस्तुसे सदृशताको प्राप्त हुआ ज्ञानके बिना नही जानेगा । इसलिये यह आत्मा ज्ञानप्रमाण ही जानना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे युक्तिपूर्वक बताया गया था कि ज्ञान सर्वगत है । अब इस गाथामे आत्माको ज्ञानप्रमाण न माननेपर क्या दोष होते है उनका वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रदेशापेक्षया आत्मा ससारावस्थामे देहप्रमाण विस्तारमे है । (२) प्रदेशापेक्षतया आत्मा मोक्षावस्थामे चरमदेह प्रमाण है । (३) गुणपेक्षया आत्मा सर्वत्र ज्ञानप्रमाण है । (४) परमात्माका ज्ञान सर्व ज्ञेयप्रमाण है । (५) प्रदेशापेक्षया आत्मा कभी बटबीज प्रमाण है । (६) आत्मा कादाचित्क समुद्घात अवस्थाके सिवाय कभी भी देहसे अधिक नही है । (७) गुणापेक्षया यदि आत्मा ज्ञानप्रमाणसे छोटा है तो आत्मासे बाहरका ज्ञान चेतन आत्माका आधार न पाने वाला अचेतन हुआ कुछ जान न सकेगा । (८) आत्मा यदि ज्ञानप्रमाणसे अधिक है तो ज्ञानसे बाहरका आत्मा ज्ञानशून्य होनेसे कुछ न जान सकेगा ।

सिद्धान्त—(१) परमात्मा सर्वज्ञेयाकाराक्रान्त है । (२) आत्मा ज्ञान द्वारा सर्व ज्ञेयोमें गत है ।

दृष्टि— १– अशून्यनय (१७४) । २– सर्वगत नय (१७१) ।

प्रयोग—ज्ञानका स्वतंत्र विलास होने देनेके लिये अपनेको सहज ज्ञानमात्र अनुभवना ।।२४-२५।।

अथात्मनोऽपि ज्ञानवत् सर्वगतत्वं न्यायायातमभिनन्दति—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ॥२६॥

सर्वगत जिनवृषभ है, क्योंकि सकल अर्थ ज्ञानमें गत है।
जिन ज्ञानमय है अतः, वे सर्व विषय कहे उसके ॥२६॥

सर्वगतो जिनवृषभः सर्वेऽपि च तद्गता जगत्यर्थाः। ज्ञानमयत्वाच्च जिनो विषयत्वात्तस्य ते भणिताः ॥२६॥

ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तं तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद्भगवानपि सर्वगत एव। एवं सर्वगतज्ञानविषयत्वा-

नामसंज्ञ—सव्वगअ जिणवसह सव्व वि य तग्गय जगद अट्ठ णाणमय जिण विसय त त भणिद। **धातुसंज्ञ**—भण कथने। **प्रातिपदिक**—सर्वगत जिनवृषभ सर्व अपि च जगत् अर्थ ज्ञानमयत्व जिन विषयत्व तत् भणित। **मूलधातु**—भण शब्दार्थ.। **उभयपदविवरण**—सव्वगओ जिणवसहो सर्वगत. जिनवृषभः—

अब ज्ञानकी भाँति आत्माका भी सर्वगतपना न्यायसे प्राप्त हुआ, यह बतलाते है—[**जिनवृषभः**] जिनवर [**सर्वगतः**] सर्वगत है [**च**] और [**जगति**] जगतके [**सर्वे अपि अर्थाः**] सर्व ही पदार्थ [**तद्गताः**] जिनवरगत है; [**जिनः ज्ञानमयत्वात्**] जिन ज्ञानमय है अतः [**च**] और [**ते**] वे याने सब पदार्थ [**विषयत्वात्**] ज्ञानके विषय हैं इस कारण सब पदार्थ [**तस्य**] जिनवरके विषय [**भणिताः**] कहे गये हैं।

तात्पर्य—ज्ञानकी व्यापकता होनेसे ज्ञानमय आत्माको भी व्यापक कहा गया है।

टीकार्थ—ज्ञान त्रिकालके सर्वद्रव्य-पर्यायरूप प्रवर्तमान समस्त ज्ञेयाकारोको आक्रमता हुआ अर्थात् जानता हुआ सर्वगत कहा गया है; और ऐसे सर्वगत ज्ञानके विषय होनेसे सर्वगत ज्ञानसे अभिन्न उन भगवानके वे विषय हैं, ऐसा शास्त्रमे कहा होनेसे सर्व पदार्थ भगवानगत ही हैं अर्थात् भगवानमे प्राप्त है। वहाँ निश्चयनयसे अनाकुलतालक्षण सुखके संवेदनका अधिष्ठानपनेसे सहित आत्माके बराबर ही ज्ञान स्वतत्त्वको छोड़े बिना समस्त ज्ञेयाकारोके निकट गये बिना, भगवान सर्व पदार्थोंको जानते हुए भी व्यवहारनयसे भगवान सर्वगत है ऐसा कहा जाता है तथा नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारोंको आत्मस्थ देखकर सर्व पदार्थ आत्मगत हैं ऐसा उपचार किया जाता है, परन्तु परमार्थतः उनका एक दूसरेमें गमन नही होता, क्योकि सर्व द्रव्योंकी स्वरूपनिष्ठता है। यही क्रम ज्ञानमें भी निश्चित किया जाना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथाद्वयमें युक्तिपूर्वक आत्माके ज्ञानप्रमाण होनेका समर्थन किया गया था। अब इस गाथामें ज्ञान द्वारा आत्माके सर्वव्यापकपनेका कथन किया गया है।

त्सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति । तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते । तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात् । अथ क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः ॥ २६ ॥

प्रथमा एक० । सव्वे तग्गया अट्ठा सर्वे तद्गताः अर्थाः–प्र० बहु० । जगदि जगति–सप्तमी एक० । णाणमयादो ज्ञानमयत्वात्–प० ए० । जिणो जिन –प्र० ए० । विसयादो विषयत्वात्–प० ए० । तस्स तस्य–षष्ठी एक० । ते ते–प्र० बहु० । भणिदा भणिता –प्र० बहु० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**– सर्वेषु गत सर्वगत अर्यन्ते इति अर्थाः, ज्ञानेन निर्वृतम् ज्ञानमय तस्मात् । **समास**– जिनेषु वृषभ श्रेष्ठ जिनश्चासौ वृषभश्चेति वा जिनवृषभ , तस्मिन् गता तद्गता ॥२६॥

तथ्यप्रकाश—(१) त्रिलोकत्रिकालवर्ती सर्व पदार्थोंमे पहुचा हुआ ज्ञान सर्वगत है । (२) सर्वगतज्ञानमय भगवान भी सर्वगत है । (३) सर्व पदार्थ ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होनेसे सर्वज्ञेय ज्ञानगत होते है । (४) निश्चयसे आत्मा बाहर किसी भी ज्ञेयमे नही पहुचकर अपने ही प्रदेशोमे ज्ञानस्वभावसे सर्वविषयक ज्ञान करता है । (५) सर्व ज्ञेय जान लिये जानेके कारण भगवानको व्यवहारनयसे सर्वगत कहा गया है । (६) निश्चयसे सर्व ज्ञेय पदार्थ अपने अपने प्रदेशोमे ही रहते है । (७) जाननरूप निश्चयतः ज्ञानके विषयभूत ज्ञेयाकार आत्मस्थ है । (८) व्यवहारनयसे सर्वज्ञेयोको आत्मगत कहा गया है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा ज्ञानमुखेन सर्वज्ञेयवर्ती है । (२) सर्व ज्ञेय पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे ही रहते है ।

दृष्टि— १– सर्वगतनय (१७१) । २– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय (२८) ।

प्रयोग—सर्व ज्ञेयोके जाननेके स्वभाव वाले ज्ञानगुणसे अभिन्न अपने आत्माको अपने स्वरूपमे निष्ठ निरखना ॥ २६ ॥

अब आत्मा और ज्ञानके एकत्व व अन्यत्वका चिन्तन करते है— [**ज्ञानं आत्मा**] ज्ञान आत्मा है [**इति मतं**] ऐसा जिनेन्द्रदेवका मत है । [**आत्मानं विना**] आत्माके बिना [**ज्ञानं न वर्तते**] अन्य किसी भी द्रव्यमे ज्ञान नही होता, [**तस्मात्**] इस कारण [**ज्ञानं आत्मा**] ज्ञान आत्मा है, [**आत्मा**] और आत्मा [**ज्ञानं वा**] ज्ञान है [**अन्यत् वा**] अथवा अन्य है याने सुखादि गुणरूप है ।

तात्पर्य—ज्ञान तो आत्मा है ही, किंतु आत्मा ज्ञानरूप भी है तथा दर्शन आनद आदि

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति—

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ।।२७।।

कहा ज्ञान आत्मा है, क्योंकि न है ज्ञान बिना आत्माके ।
इससे ज्ञान है आत्मा, आत्मा ज्ञान व अन्य भी है ।।२७।।

ज्ञानमात्मेति मत वर्तते ज्ञान विना नात्मानम् । तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञान वा अन्यद्वा ।। २७ ।।

यत: शेषसमस्तचेतनाचेतनवस्तुसमवायसम्बन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनतस्वभावसिद्धसमवायसंबन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् त विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात् । आत्मा त्वनंतधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्य-

नामसंज्ञ—णाण अप्प त्ति मद णाण विणा ण अप्प त णाण अप्प अण्ण । **धातुसंज्ञ**—मन्न अवबोधने, वत्त वर्तने । **प्रातिपदिक**—ज्ञान आत्मन् इति मत ज्ञान विना न आत्मन् त णाण अप्प णाण अण्ण । **मूलधातु** वृतु वर्तने, ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—णाण ज्ञान—प्र० ए० । अप्पा आत्मा—प्र० ए० । त्ति

रूप भी है ।

टीकार्थ—चूंकि शेष समस्त चेतन तथा अचेतन वस्तुओके साथ समवायसम्बन्ध न होनेसे तथा अनादि अनंत स्वभावसिद्ध समवायसम्बंधमय एक आत्माका अति निकटतया (अभिन्न प्रदेशरूपसे) अवलम्बन करके प्रवर्तमान होनेसे आत्मके बिना ज्ञान अपना अस्तित्व नही रख सकता, इसलिये ज्ञान आत्मा ही है । परन्तु आत्मा अनत धर्मोंका आधार होनेसे ज्ञानधर्मके द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्मके द्वारा अन्य भी है । और फिर यहाँ अनेकान्त बलवान है । यदि एकान्तसे ज्ञान आत्मा है यह माना जाय तो ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जानेसे ज्ञानका अभाव हो जायेगा, और ऐसा होनेसे आत्माके अचेतनता आ जायेगी अथवा विशेष गुणका अभाव होनेसे आत्माका अभाव हो जायेगा । यदि सर्वथा आत्मा ज्ञान है यह माना जाय तो निराश्रयताके कारण ज्ञानका अभाव हो जायेगा अथवा आत्माकी शेष पर्यायोका अभाव हो जायेगा, और उनके साथ ही अविनाभावी सम्बन्ध वाले आत्माका भी अभाव हो जायेगा ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे ज्ञानमुखेन आत्माको सर्वगत बताया गया था । अब आत्मा और ज्ञानके एकत्व व अन्यत्वका इस गाथामे वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मपदार्थके बिना ज्ञान अपना स्वरूप नही पाता, अत: ज्ञान आत्मा ही है । (२) आत्मा अनंतधर्मात्मक है, उन अनंत धर्मोंमे एक ज्ञान भी धर्म है । (३) आत्मा अनंत धर्मोंका आश्रय होनेसे जैसे ज्ञान आत्मा है वैसे ही दर्शन सुख आदि भी आत्मा

दपि स्यात् । किं चानेकान्तोऽत्र बलवान् । एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात् । सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात् ॥२७॥

इति ण न व वा–अव्यय । अप्पाण आत्मान–द्वि० ए० । तम्हा तस्मात्–प० ए० । णाण ज्ञान अप्पा आत्मा अप्पा आत्मा णाण ज्ञान अण्ण अन्यद्–प्र० एक० । **निरुक्ति**– अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा, जानाति इति ज्ञायते अनेन इति वा ज्ञप्तिमात्र वा ज्ञानम् ॥२७॥

ही है । (४) ज्ञानगुणसे ही सर्व व्यवस्था होती है अत. अनतधर्ममय होनेपर भी ज्ञानकी मुख्यतासे आत्माको ज्ञानमय कहा जाता है । (५) अभेददृष्टिसे सर्व परिणमन ज्ञानपरिणमन रूपसे घटित हो जाते है । (६) भेददृष्टिसे सर्व परिणमन भिन्न-भिन्न गुणोके परिणमनरूपसे विदित होते है । (७) यदि सर्वथा ज्ञानको ही आत्मा कहा जाय तो आत्मा ज्ञान गुणमात्र ही रहा, फिर आत्मामे आनद आदि गुण नही रह सकते । (८) यदि आत्मामे ज्ञानगुण ही मानकर आनंद वीर्य आदि धर्मोंका अभाव माना जाय तो उन सब गुणोका अभाव होनेसे आत्माका भी अभाव हो जायगा । (९) अन्य गुणोका अभाव होनेसे प्रसक्त आत्माका अभाव होनेसे आधारके अभावमे आधेयभूत ज्ञानगुणका भी अभाव हो जायगा । (१०) आत्मा व्यापक है, ज्ञान व्याप्य है, अतः ज्ञान आत्मा है, आत्मा ज्ञान है अन्य भी है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा शाश्वत ज्ञानस्वभावमे नियत है । (२) आत्मा दर्शन ज्ञान आदि अनंत गुण वाला है ।

दृष्टि—१– नियतिनय (१७७) । २– पर्यायनय (भेदनय) (१५३) ।

प्रयोग—ज्ञान दर्शन आदि गुणोसे आत्माका परिचय कर ज्ञान द्वारा ज्ञानमात्र अपने को अनुभवना ॥२७॥

अब ज्ञान और ज्ञेयके परस्पर गमनका निषेध करते है अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय एक दूसरेमे प्रवेश नही करते ऐसा कहते है—[**ज्ञानी**] आत्मा [**ज्ञानस्वभावः**] ज्ञानस्वभाव है [**अर्थाः हि**] और पदार्थ [**ज्ञानिनः**] आत्माके [**ज्ञेयात्मकाः**] ज्ञेयस्वरूप है वे [**रूपाणि इव चक्षुषोः**] चक्षुवोंमें रूपकी तरह [**अन्योन्येषु**] एक दूसरेमे [**न एव वर्तन्ते**] नही वर्तते ।

तात्पर्य—परमार्थतः न ज्ञानमे ज्ञेय जाता है और न ज्ञेयमें ज्ञान जाता है ।

टीकार्थ—आत्मा और पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथक्त्वके कारण एक दूसरेमे नही वर्तते है, परन्तु उनके मात्र नेत्र और रूपी पदार्थकी भाँति ज्ञानज्ञेयस्वभाव सम्बन्धसे होने वाली एक दूसरेमें प्रवृत्ति मात्र कहा जा सकता है । जैसे नेत्र और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना ही ज्ञेयाकारोको ग्रहण और समर्पण करनेके स्वभाव वाले हैं, उसी प्रकार

अथ ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमनं प्रतिहन्ति—

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावी, ज्ञानीके ज्ञेयरूप अर्थ रहें ।
चक्षुमें रूपकी ज्यों, वे नहिं अन्योन्यमें रहते ॥२८॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः । रूपाणीव चक्षुषोः नैवान्योन्येषु वर्तन्ते ॥ २८ ॥

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति किंतु तेषां ज्ञानज्ञेयस्वभावसंबन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति चक्षूरूपवत् । यथा हि चक्षूंषि तद्विषयभूतरूपिद्रव्याणि च परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चान्योन्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणः ॥२८॥

नामसंज्ञ—णाणि णाणसहाव अट्ठ णेयप्पग हि णाणि रूव व चक्खु ण एव अण्णोण्ण । **धातुसंज्ञ**—वत्त वर्तने । **प्रातिपदिक**—ज्ञानिन् ज्ञानस्वभाव अर्थ ज्ञेयात्मक हि ज्ञानिन् रूप इव चक्षुष् न एव अन्योन्य । **मूलधातु**—वृतु वर्तने । **उभयपदविवरण**—णाणी ज्ञानी णाणसहावो ज्ञानस्वभावः–प्र० ए० । अट्ठा अर्थाः णेयप्पगा ज्ञेयात्मकाः–प्रथमा बहु० । णाणिस्स ज्ञानिनः–षष्ठी एक० । रूवाणि रूपानि–प्रथमा बहु० । व इव ण न एव हि–अव्यय । चक्खूण–षष्ठी बहु०, चक्षुषोः–षष्ठी द्विवचन । अण्णोण्णेसु अन्योन्येषु–सप्तमी बहु० । वट्टंति वर्तन्ते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । **निरुक्ति**—ज्ञातु योग्यः ज्ञेयः, रूप्यते इति रूप, चष्टे इति चक्षुः । **समास**—ज्ञानं स्वभावः यस्य स ज्ञानस्वभावः ॥२८॥

आत्मा और पदार्थ एक दूसरेमे प्रविष्ट हुए बिना ही समस्त ज्ञेयाकारोके ग्रहण और समर्पण करनेके स्वभाव वाले हैं ।

प्रसंगविवरण—अनतरपूर्व गाथामे आत्मा और ज्ञानका एकमात्र व अन्यपना बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि ज्ञानी ज्ञेयोंको अपनी स्वभावकलासे जान लेता है, लेकिन न ज्ञानी ज्ञेयके प्रदेशोंमे जाता है, न ज्ञेय ज्ञानीके याने आत्माके प्रदेशोंमें जाता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्योसे भिन्न है । (२) आत्माका स्वभाव ही ऐसा है कि जो ज्ञेय हो उसके विषयमें आत्मा जान लेता है । (३) जो सत् है वही ज्ञेय होता है, असत् ज्ञेय हो ही नही सकता सो यह सत्का स्वभाव है कि वह ज्ञेय हो जाता है । (४) आत्मा और सब सत् पदार्थोमे ज्ञान ज्ञेय होनेरूप ही सम्बन्ध समझमे आया । (५) आत्मा व पदार्थोंका ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध होनेपर भी वे एक दूसरेके प्रदेशोमे प्रवेश नही करते । (६) चक्षु चक्षुकी जगह ही रहता, दृश्य पदार्थ अपनी ही जगह रहते, फिर भी चक्षु द्वारा पदार्थ दिख जाते हैं, इस उदाहरण द्वारा ज्ञाता व ज्ञेयमें अन्योन्यप्रवेशका अभाव बिल्कुल स्पष्ट है ।

सिद्धान्त—(१) प्रत्येक द्रव्य आत्मद्रव्यसे भिन्न ही है । (२) प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने

अथार्थेष्ववृत्तस्यापि ज्ञानिनस्तद्वृत्तिसाधकं शक्तिवैचित्र्यमुद्योतयति—

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥

नहिं मग्न अमग्न नहीं, ज्ञानी ज्ञेयोमें रूप चक्षूवत्।
इन्द्रियातीत वह तो, जाने देखे समस्तोंको ॥२९॥

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षुः। जानाति पश्यति नियतमक्षातीतो जगदशेषम् ॥ २९ ॥

यथाहि चक्षू रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशदप्रविष्टं परिच्छेद्यमाकारमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्टं जानाति पश्यति च, एवमात्माप्यक्षातीतत्वात्प्राप्यकारिताविचारगोचरदूरतामवाप्तो

नामसंज्ञ—ण पविट्ठ ण आविट्ठ णाणि णेय रूव इव चक्खु णियद अक्खातीद जग असेस। **धातुसंज्ञ**—विस प्रवेशने, जाण अवबोधने, पास दर्शने। **प्रातिपदिक**—न प्रविष्ट न अविष्ट ज्ञानिन् ज्ञेय रूप इव चक्षुष् नियत अक्षातीत जगत् अशेष। **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, दृशिर् दर्शने। **उभयपदविवरण**—ण न

ही प्रदेशोमे अपने ही स्वरूपसे परिणमते रहते है।

दृष्टि—१–परद्रव्यादिग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२९)। २–अगुरुलघुत्वदृष्टि (२०७)।

प्रयोग—अपनेको परसे अत्यंत पृथक् और अपने स्वरूपमात्र अनुभवना चाहिये ॥२८॥

ज्ञानी पदार्थोंमे प्रवृत्त नही होता, तथापि जिससे उसका अन्य पदार्थोमे प्रवृत्त होना सिद्ध होता है उस शक्तिवैचित्र्यको उद्योत करते हैं—[**चक्षुः रूपं इव**] जैसे चक्षु रूपको ज्ञेयोमे अप्रविष्ट रहकर तथा अप्रविष्ट न रहकर जानती, देखती है उसी प्रकार [**ज्ञानी**] आत्मा [**अक्षातीतः**] इन्द्रियातीत होता हुआ [**अशेषं जगत्**] समस्त लोकालोकको [**ज्ञेयेषु**] ज्ञेयोमे [**न प्रविष्टः**] अप्रविष्ट रहकर [**न अविष्टः**] तथा अप्रविष्ट न रहकर [**नियतं**] निरन्तर [**जानाति पश्यति**] जानता देखता है।

तात्पर्य—आत्मा ज्ञानापेक्षया ज्ञेयोमे प्रविष्ट होकर व प्रदेशापेक्षया ज्ञेयोमे अप्रविष्ट होकर जानता देखता है।

टीकार्थ—जिस प्रकार चक्षु रूपी द्रव्योको स्वप्रदेशो द्वारा द्वारा स्पर्श न करता हुआ अप्रविष्ट रहकर तथा ज्ञेयाकारोको आत्मसात् करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर जानता देखता है; उसी प्रकार आत्मा भी इन्द्रियातीतपनाके कारण छू कर जानने देखनेके विचारविषयसे भी दूर हुआ ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओको स्वप्रदेशोंसे स्पर्श न करता हुआ प्रविष्ट न रहकर तथा शक्तिवैचित्र्यके कारण वस्तुमे वर्तते समस्त ज्ञेयाकारोको मानो मूलमें से ही उखाड़कर भक्षण करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर जानता देखता है। इस प्रकार इस विचित्र शक्ति वाले आत्माके पदार्थोंमे अप्रवेशकी तरह प्रवेश भी सिद्ध होता है।

ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरसपृशन्न प्रविष्टः शक्तिवैचित्र्यवशतो वस्तुवर्तिनः समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कवलयन्न चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च । एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ।। २९ ।।

इव–अव्यय । पविट्ठो प्रविष्ट अविट्ठो अविष्ट–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । णाणी ज्ञानी–प्र० एक० । णेयेसु ज्ञेयेषु–सप्तमी बहु० । रूव रूप–द्वि० ए० । चक्खू चक्षु–प्र० ए० । जाणदि जानाति पस्सदि पश्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । णियदं नियतं–अव्यय क्रियाविशेषण । अक्खातीदा अक्षातीतः–प्र० ए० । जगद् जगत् असेस अशेष–द्वि० एक० । **निरुक्ति**– प्रकर्षेण विष्ट प्रविष्ट , न विष्ट. अविष्टः । **समास**– अक्ष अतिक्रान्त अक्षातीत ।। २९ ।।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी व ज्ञेयका परस्पर प्रवेश नही है । अब इस गाथामे बताया गया है कि ज्ञानी अर्थोमे अप्रविष्ट होकर भी प्रविष्ट हुआ पदार्थोंको जानता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) बहिर्ज्ञेयाकार तो ज्ञेयपदार्थोंमे ही है, ज्ञातासे बाहर ही है । (२) अन्तर्ज्ञेयाकार ज्ञाताकी ज्ञेयोके विषयमें जाननेरूप खुदकी परिणति है । (३) ज्ञाता अन्तर्ज्ञेयाकारोमे प्रविष्ट है, अन्तर्ज्ञेयाकार ज्ञातामें प्रविष्ट है । (४) बहिर्ज्ञेयाकार ज्ञातामे प्रविष्ट नहीं, ज्ञाता बहिर्ज्ञेयाकारोंमे प्रविष्ट नही । (५) ज्ञानकी स्वाभाविक कला ही है ऐसी कि ज्ञानमें ज्ञेयों को झलकना पडता ही है । (६) ज्ञेय पदार्थका अस्तित्व उसी पदार्थमे है । (७) ज्ञेयपदार्थविषयक झलक ज्ञातामें है । (८) समक्ष स्थित पदार्थके अनुरूप प्रतिबिम्ब दर्पणमें है, समक्ष स्थित पदार्थ पदार्थमें ही है । (९) दर्पणकी प्रकृति ही ऐसी है कि दर्पणमे समक्षस्थित पदार्थों को झलकना ही पडता है ।

सिद्धान्त—(१) ज्ञाता अपने आपके प्रदेशोंमे ही रहकर अपने आपके परिणामको ही जानता है । (२) ज्ञाता ज्ञानमुखेन ज्ञेयपदार्थोंमे प्रविष्ट हुआ उन्हे जानता है ।

दृष्टि— १– शुद्धनिश्चयनय [४६] । २– सर्वगतनय [१७१], पराधिकरणत्व असद्भूत व्यवहार [१३४] ।

प्रयोग—बहिर्ज्ञेयाकारसे पृथक् अन्तर्ज्ञेयाकारपरिणत अपनेको निरखकर अन्तर्ज्ञेयाकार परिणमनके स्रोतभूत सहज चैतन्यस्वभावको आत्मरूप अनुभवना ।। २९ ।।

अब इस प्रकार ज्ञान पदार्थोंमें प्रवृत्त होता है, यह संभावित करते हैं—[**यथा**] जैसे [**इह**] इस जगतमें [**दुग्धाध्युषितं**] दूधके मध्य पडा हुआ [**इन्द्रनीलं रत्नं**] इन्द्रनील रत्न [**स्वभासा**] अपनी प्रभाके द्वारा [**तदपि दुग्धं**] उस दूधको [**अभिभूय**] व्यापकर [**वर्तते**] वर्तता है, [**तथा**] उसी प्रकार [**ज्ञानं**] ज्ञान अर्थात् ज्ञातृद्रव्य [**अर्थेषु**] पदार्थोंमें व्याप्त होकर

अथैवं ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति संभावयति—

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए ।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

ज्यों नील रत्न पयमें, बसा स्वकान्तिसे व्यापकर पयको ।
वर्तता ज्ञान त्यों ही, अर्थोंमें व्यापकर रहता ॥ ३० ॥

रत्नमिहेन्द्रनील दुग्धाध्युषितं यथा स्वभासा । अभिभूय तदपि दुग्ध वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु ॥ ३० ॥

यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमान दृष्ट, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते ॥३०॥

नामसंज्ञ—रयण इह इदणील दुद्धज्झसिय जहा सभासा त पि दुद्ध तह णाण अत्थ । **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां वत्त वर्णने । **प्रातिपदिक**—रत्न इह इन्द्रनील दुग्धाध्युषित यथा स्वभास् तत् दुग्ध तथा ज्ञान अर्थ । **मूलधातु**—भू सत्तायां, वृतु वर्तने । **उभयपदविवरण**—रयण रत्न इदणील इन्द्रनील दुद्धज्झसिय दुग्धाध्युषितं-प्रथमा एक० । जहा यथा पि अपि तह तथा-अव्यय । सभासाए स्वभासा-तृतीया एक० । वट्टदि वर्तते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । णाणं ज्ञान-प्र० एक० । अत्थेसु अर्थेषु-सप्तमी बहु० । **निरुक्ति**—दुह्यते यत् दुग्ध । **समास**- दुग्धे अध्युषितं दुग्धाध्युषित, स्वस्य भा स्वभा तेन स्वभासा ॥३०॥

वर्तता है ।

तात्पर्य—आत्मा ज्ञानप्रभा द्वारा समस्त विश्वको प्रकाशित करता है, अतः ज्ञान सर्वव्यापक कहा जाता है ।

टीकार्थ—जैसे दूधमें पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपने प्रभासमूहसे दूधको व्यापकर वर्तता हुआ देखा गया है, उसी प्रकार सवेदन अर्थात् ज्ञान भी आत्मासे अभिन्न होनेसे कर्तां-अंशसे आत्मताको प्राप्त होता हुआ ज्ञानपनेको प्राप्त करण-अंशके द्वारा कारणभूत पदार्थोंके कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंको व्यापकर वर्तता है, अतः कार्यमें कारणका उपचार करके यह कहना प्रतिषिद्ध नहीं होता कि ज्ञान पदार्थोंको व्यापकर वर्तता है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञान पदार्थोंमें प्रविष्ट न होकर पदार्थोंमें प्रविष्ट जैसा होता हुआ पदार्थोंको जानता है । अब इस गाथामे बताया गया है कि ज्ञान किस प्रकार अर्थोंमें वर्तता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) बहिर्ज्ञेय तो बाहर स्थित याने भिन्न सत्ता वाले सभी पदार्थ हैं । (२) बहिर्ज्ञेय कारणोंके (विषयोंके) कार्यभूत अन्तर्ज्ञेय भी उपचारसे अर्थ कहलाते हैं । (४)

अथैवमर्था ज्ञाने वर्तन्त इति संभावयति--

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥ ३१ ॥

वे अर्थ ज्ञानमें नहिं, हों तो नहिं ज्ञान सर्वगत होगा।
ज्ञान सर्वगत है तो, क्यों न हुए अर्थ ज्ञानस्थित ॥३१॥

यदि ते न सन्त्यर्था ज्ञाने ज्ञान न भवति सर्वगतम्। सर्वगतं वा ज्ञान कथं न ज्ञानस्थिता अर्थाः ॥ ३१ ॥

यदि खलु निखिलात्मीयज्ञेयाकारसमर्पणद्वारेणावतीर्णाः सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्येत। अभ्युपगम्येत वा सर्वगतम्। तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्दभूमि-

---

नामसंज्ञ—जदि त ण अट्ठ णाण सव्वगय कह णाणट्ठिय। **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां, हो सत्तायां। **प्रातिपदिक**—यदि तत् न अर्थ ज्ञान सर्वगत कथं ज्ञानस्थित। **मूलधातु**—अस भुवि, भू सत्तायां। **उभय-**

अन्तर्ज्ञेयभूत अर्थोंमे ज्ञान वर्तता है यह कथन निर्दोष है। (५) अन्तर्ज्ञेयाकार बहिर्ज्ञेयाकारोंके ही अनुरूप है, अतः बहिर्ज्ञेयोमे ज्ञान जाता है यह कथन उपचारसे युक्त है। (६) अनन्त ज्ञेयों से भरे हुए विश्वमे रहता हुआ यह भगवान आत्मा अपनी ज्ञानप्रभासे समस्त ज्ञेयोंको प्रकाशित करता है। (७) दूधसे भरे हुए भगोनेमे पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न भी तो अपनी प्रभासे समस्त दूधको नील वर्ण कर देता है। (८) निश्चयसे इन्द्रनील रत्न अपने आपको ही नील वर्ण किये हुए है। (९) निश्चयसे आत्मा अथवा ज्ञान अपने आपको ही ज्ञेयरूप किये हुए है। (१०) उपचारसे इन्द्रनील रत्न और उसकी प्रभा पात्रस्थ समस्त दूधमें व्यापक है। (११) उपचारसे आत्मा और उसका ज्ञान लोकालोकवर्ती समस्त ज्ञेयोंमे व्यापक है।

सिद्धान्त-- १- आत्मा अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है। २- आत्मा ज्ञानमुखेन समस्त ज्ञेयोमे है।

दृष्टि--१- स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय [२८]। २- सर्वगतनय [१७१]।

प्रयोग--सर्वज्ञेयाकारानुरूप अंतर्ज्ञेयाकारपरिणत आत्माको निरखकर सर्वज्ञानस्वभाव वाले स्रोतभूत अन्तस्तत्त्वकी आराधना करना ॥३०॥

अब इस प्रकार पदार्थ ज्ञानमें वर्तते हैं यह संभावित करते हैं (कहते हैं)—**[यदि]** यदि **[ते अर्थाः]** वे पदार्थ **[ज्ञाने न संति]** ज्ञानमें नही है तो **[ज्ञानं]** ज्ञान **[सर्वगतं]** सर्वगत **[न भवति]** नही हो सकता, **[वा]** और यदि **[ज्ञानं सर्वगतं]** ज्ञान सर्वगत है तो **[अर्थाः]** पदार्थ **[ज्ञानस्थिताः]** ज्ञानस्थित **[कथं न]** कैसे नहीं हैं अर्थात् अवश्य हैं।

तात्पर्य—ज्ञान सबको जाननेसे सर्वगत कहलाता है तो पदार्थ ज्ञानस्थित सिद्ध हो

कावतीर्णप्रतिबिम्बस्थानीयस्वीयस्वीयसंवेद्याकारकारणानि परम्परया प्रतिबिम्बस्थानीयसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते ॥ ३१ ॥

पदविवरण—जदि यदि ण न कहं कथं–अव्यय । ते ते अट्ठा अर्था –प्रथमा बहु० । णाणे ज्ञाने–सप्तमी एक० । णाण ज्ञान सव्वगय सर्वगतं–प्र० ए० । णाणट्ठिया ज्ञानस्थिता अट्ठा अर्था –प्रथमा बहु० । **निरुक्ति**—अर्यन्ते निश्चीयन्ते इति अर्थाः । **समास**–सर्वेषु गत सर्वगत, ज्ञाने स्थिताः इति ज्ञानस्थिता ॥३१॥

जाते है ।

टीकार्थ—यदि समस्त स्वज्ञेयाकारोके समर्पण द्वारा अवतरित होते हुए समस्त पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नही माना जा सकता । और यदि वह ज्ञान सर्वगत माना जाय तो फिर (पदार्थ) साक्षात् ज्ञानदर्पण भूमिकामे अवतरित प्रतिबिम्बकी भाँति अपने-अपने ज्ञेयाकारोंके कारणभूत और परम्परासे प्रतिबिम्बके समान ज्ञेयाकारोके कारणभूत ये सब पदार्थ कैसे ज्ञानस्थायी निश्चित नही होते अर्थात् अवश्य ही ज्ञानस्थित निश्चित होते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि ज्ञान अर्थोंमे (पदार्थोंमे) रहता है । अब इस गाथामें बताया गया है कि अर्थ (पदार्थ) ज्ञानमे रहते है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानमे होने वाला अन्तर्ज्ञेयाकार ज्ञानकी ही अवस्था है । (२) दर्पणमे होने वाला प्रतिबिम्ब दर्पणकी ही अवस्था है । (३) दर्पणमे प्रतिबिम्ब समक्षस्थित पदार्थके सान्निध्यका निमित्त पाकर होता है । (४) ज्ञानमे होने वाला ज्ञेयाकार पदार्थोंके ज्ञेयाकारका निमित्त पाकर होता है । (५) दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब कार्यमे समक्षस्थित बालकादिक कारणका उपचार करके कहा जाता है कि बालकादिक दर्पणमे है । (६) अन्तर्ज्ञेयाकार कार्यमे बहिर्ज्ञेयाकार कारणका उपचार करके कहा जाता है कि ज्ञानमे बाह्य पदार्थ अथवा बहिर्ज्ञेयाकार है । (७) ज्ञेय पदार्थोंने अपना आकार ज्ञानको समर्पित कर दिया है । (८) समक्षस्थित बालकादिकोने अपना आकार दर्पणको समर्पित कर दिया है । (९) ज्ञेय पदार्थोंका निमित्त पाकर ज्ञानने स्वयं अपनेमे अपना ज्ञेयाकार बनाया है । (१०) समक्षस्थित बालकादिकोका सान्निध्य पाकर दर्पणने स्वयं अपनेमे प्रतिबिम्ब बनाया है ।

सिद्धान्त—(१) वास्तवमें ज्ञान अपने आपको ही जानता है । (२) व्यवहारतः ज्ञान बाह्य पदार्थोंका ज्ञाता है ।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय, अपूर्ण शुद्धनिश्चयनय [४६, ४६ब] । २– स्वाभाविक उपचरित स्वभावव्यवहार, अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार [१०५, १०५अ] ।

अथैवं ज्ञानिनोऽर्थैः सहान्योन्यवृत्तिमत्त्वेऽपि परग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावेन सर्वं पश्यतोऽध्यवस्यतश्चात्यन्तविविक्तत्वं भावयति—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं॥ ३२॥

नहिं गहता नहिं तजता, परिणमता है न केवली परको।
वह तो सर्व तरफसे, जाने देखे अशेषोंको॥ ३२॥

गृह्णाति नैव न मुचति न परं परिणमति केवली भगवान्। पश्यति समन्ततः स जानाति सर्वं निरवशेषम्॥३२॥

अयं खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानस्वरूपेण विपरिणम्य निष्कम्पोन्मज्जज्ज्योतिर्जात्यमणिकल्पो भूत्वाऽवतिष्ठमानः समन्ततः

नामसंज्ञ—ण एव ण पर केवलि भगवत समतदो त सव्व निरवसेस। **धातुसंज्ञ**—गिण्ह ग्रहणे, मुच त्यागे, परि णम प्रह्वत्वे, पास दर्शने, जाण अवबोधने। **प्रातिपदिक**—न एव न पर केवलिन् भगवन् सम-

प्रयोग—ज्ञान और ज्ञेयका ऐसा ही स्वभाव है कि ज्ञानमें ज्ञेयोंको झलकना ही पड़ता है, फिर भी आनन्द ज्ञेयके झलकनेके कारण नहीं, किन्तु ज्ञानकी अविकारताके कारण है ऐसा जानकर ज्ञेयके प्रति रंच भी आकर्षित न होना, अविकार सहज ज्ञानस्वभावकी ही आराधना करना ॥३१॥

अब इस प्रकार आत्माका पदार्थोंके साथ एक दूसरेमें वर्तना होनेपर भी परका ग्रहण त्यागरूप परिणमनका अभाव होनेसे अर्थात् पररूप परिणमित हुए बिना सबको देखते जानते हुये आत्माका अत्यन्त विविक्तपना दुवाते हैं, भाते है, कहते है—[**केवली भगवान्**] केवली भगवान [**परं**] परको [**न एव गृह्णाति**] न तो ग्रहण करता [**न मुंचति**] और न छोड़ता [**न परिणमति**] तथा न परिणमित होता [**सः**] वह तो [**निरवशेषं सर्वं**] निरवशेष रूपसे सबको [**समन्ततः**] सर्व ओरसे अर्थात् आत्मप्रदेशोंसे [**पश्यति जानाति**] देखता जानता है।

तात्पर्य—प्रभु सबको मात्र देखता जानता है, न किसी परको ग्रहण करता, न किसी परको छोड़ता और न किसी परपदार्थरूप परिणमन करता।

टीकार्थ—वास्तवमें यह आत्मा स्वभावसे ही परद्रव्यके ग्रहण-त्यागका तथा परद्रव्य रूपसे परिणमन होनेका अभाव होनेसे स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानस्वरूपसे परिणत होकर निष्कम्प उभरने वाली ज्योति वाला उत्तम मणि जैसा होकर रहता हुआ, सर्व ओरसे याने सर्व आत्मप्रदेशोंसे दर्शनज्ञानशक्ति स्फुरित है जिसके ऐसा होता हुआ, निःशेष रूपसे समस्त ही आत्मा को आत्मासे आत्मामें संचेतता है, जानता है, अनुभव करता है। अथवा एक साथ ही सर्व

स्फुरितदर्शनज्ञानशक्तिः, समस्तमेव निःशेषतयात्मानमात्मनात्मनि संचेतयते । अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षणलक्षणक्रियाविरामः प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्ततोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव ॥३२॥

न्ततः तत् सर्व निरवशेष । मूलधातु—मुच्लृ मोक्षणे, ग्रह उपादाने, परि णम प्रह्वत्वे, दृशिर् प्रेक्षणे, ज्ञा अवबोधने । उभयपदविवरण—गेण्हदि गृह्णाति मुचदि मुचति परिणमदि परिणमति पेच्छदि पश्यति जाणदि जानाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । ण न एव—अव्यय । पर सव्व सर्वं निरवसेसं निरवशेष—द्वि० एक० । समंतदो समततः—अव्यय । निरुक्ति—केवल अस्य अस्ति इति केवली ॥३२॥

पदार्थोंके समूहका साक्षात्कार करनेसे ज्ञप्तिपरिवर्तनका अभाव होनेसे ग्रहण त्यागरूप क्रिया विरामको प्राप्त हुई है जिसके ऐसा होता हुआ, पहलेसे ही समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणतपना होनेसे फिर अन्य आकारान्तररूपसे नही परिणमित होता हुआ सर्व प्रकारसे अशेष विश्वको मात्र देखता जानता है, इस प्रकार आत्माका पदार्थोंसे अत्यन्त भिन्नपना है ही ।

प्रसंगविवरण—अनतरपूर्व गाथामे बताया गया था कि अर्थ ज्ञानमे वर्तते है । अब इस गाथामे बताया गया है कि ज्ञानीका अर्थोंके साथ अन्योन्यवृत्तिमानपना होनेपर भी सर्वको देखते जानते हुए समस्त परपदार्थोंसे ज्ञानी अत्यन्त निराला रहता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञाताका पदार्थोंके साथ व्यवहारसे ग्राह्यग्राहक सम्बन्ध है । (२) ज्ञाताका पदार्थोंके साथ सम्पर्कादि नही है । (३) वस्तुतः परमात्मा व सभी आत्मा किसी भी परद्रव्यको ग्रहण नही कर सकता, अतः आत्मा परद्रव्योसे भिन्न ही है । (४) जब किसी परपदार्थका ग्रहण ही नही तो परमात्मा व सभी आत्मा किसी परपदार्थको छोडता है यह कहना भी बेकार है, अतः आत्मा परद्रव्योसे भिन्न ही है । (५) परमात्मा व सभी आत्मा परपदार्थोंके विषयमें जानकारीभर रखता है, किंतु किसी भी परद्रव्यरूप परिणम नही सकता, अतः आत्मा परद्रव्योसे भिन्न ही है । (६) परमात्मा सर्व आत्मप्रदेशोसे अपनेको ही अनुभवते हैं, अतः प्रत्येक आत्मा सर्व परपदार्थोंसे भिन्न ही है । (८) परमात्मा सभी पदार्थोंको युगपत् जानते हैं, उन्हे कुछ भी जानना शेष नही रहता सो ज्ञप्तिपरिवर्तन न होनेके कारण अन्य आकाररूप भी न परिणमता हुआ समस्त परपदार्थोंसे यह अत्यन्त भिन्न ही है । (९) केवली भगवान व प्रत्येक आत्मा समस्त परपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है । (१०) प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वभावके कारण अपने ही प्रदेशोमे अपने ही द्वारा जानन विकल्परूपसे परिणमते रहते है । (११) समस्त ज्ञेय पदार्थ अपने चतुष्टयमे रहते हुए अपने-अपने परिणमनसे परिणमते रहते हैं ।

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकांक्षाक्षोभं क्षपयति—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुवकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥३३॥

जो हि जानता श्रुतसे, आत्माको है स्वभावसे ज्ञायक।
लोक प्रदीपक ऋषिगण, उसको श्रुतकेवली कहते ॥३३॥

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन। तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः ॥ ३३ ॥

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मना-

---

नामसंज्ञ—ज हि सुद अप्प जाणग त सुयकेवलि रिसि लोयप्पदीवयर। **धातुसंज्ञ**—वि जाण अवबोधने, भण कथने। **प्रातिपदिक**—यत् हि श्रुत आत्मन् ज्ञायक स्वभाव तत् श्रुतकेवलिन् ऋषि लोकप्रदीपक। **मूलधातु**—वि ज्ञा अवबोधने, भण शब्दार्थे। **उभयपदविवरण**—जो य–प्रथमा एक०। हि–अव्यय।

सिद्धान्त—(१) प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् होनेके कारण अपनेमें ही अपने रूपसे परिणमते रहते हैं, जानते रहते हैं। (२) प्रत्येक आत्मा समस्त परद्रव्यो रूपसे सत् न होनेसे सर्व परसे अत्यन्त भिन्न है।

दृष्टि—१– स्वद्रव्यादिग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२८]। २– परद्रव्यादिग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२९]।

प्रयोग—पदार्थोंको जानना, अपना स्वभाव निरखकर किसी परके प्रति संबंध न मानना आकर्षण न करना व सर्व परपदार्थोंसे निराला स्वयंको सहजात्मस्वरूप निरखना ॥३२॥

अब केवलज्ञानीका और श्रुतज्ञानीका अविशेषरूप दिखनेके द्वारा विशेष आकांक्षाके क्षोभको नष्ट करते हैं—[यः हि] जो वास्तवमें [श्रुतेन] श्रुतज्ञानके द्वारा [स्वभावेन ज्ञायकं] स्वभावसे ज्ञायकस्वभाव [आत्मानं] आत्माको [विजानाति] जानता है [तं] उसे [लोकप्रदीपकराः] लोकके प्रकाशक [ऋषयः] ऋषिगण [श्रुतकेवलिनं भणन्ति] श्रुतकेवली कहते हैं।

तात्पर्य—केवली व श्रुतकेवलीकी मूल महिमा अनाद्यनंत अहेतुक सहज चैतन्यस्वरूपमय केवल अपने आपको अपने आपमें अनुभवनेमें है।

टीकार्थ—जैसे भगवान युगपत् परिणमित समस्त चैतन्यविशेषयुक्त केवलज्ञानके द्वारा अनाद्यनंत अहेतुक असाधारण स्वसंवेद्यमान चैतन्यसामान्य महिमा वाले तथा चेतक स्वभावसे एकत्व होनेसे केवल शुद्ध, अखंड आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभवनेके कारण केवली हैं, उसी

त्मनि संचेतनात् केवली, तथायं जनोऽपि क्रमपरिणममाणकतिपयचैतन्यविशेषशालिना श्रुतज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंवेद्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् श्रुतकेवली । अलं विशेषाकांक्षाक्षोभेण, स्वरूपनिश्चलैरेवावस्थीयते ॥३३॥

सुदेण श्रुतेन–तृतीया एक० । विजाणदि विजानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । अप्पाणं आत्मानं जाणगं ज्ञायकं–द्वि० एक० । सहावेण स्वभावेन–तृतीया ए० । तं सुयकेवलिं श्रुतकेवलिनं–द्वितीया एक० । इसिणो ऋषिणो लोयप्पदीवयरा लोकप्रदीपकराः–प्रथमा बहु० । भणंति भणन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । **निरुक्ति**—श्रूयते यत् श्रुतं, जानातीति ज्ञायकः । **समास**—स्वस्य भावः स्वभावः तेन, लोकस्य प्रदीपं कुर्वन्ति इति लोकप्रदीपकराः ॥ ३३ ॥

प्रकार यह पुरुष भी क्रमशः परिणमित होते हुए कितने ही चैतन्यविशेषोंसे युक्त श्रुतज्ञानके द्वारा, अनाद्यनंत अहेतुक असाधारण स्वसंवेद्यमान चैतन्यसामान्य महिमा वाले तथा चेतक स्वभावके द्वारा एकत्व होनेसे केवल शुद्ध अखण्ड आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभवनेके कारण श्रुतकेवली है । अतः विशेष आकांक्षाका क्षोभ व्यर्थ है, अब तो हम स्वरूपनिश्चल हुए ही रहते है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें प्रभुकी समस्त परद्रव्योंसे अत्यन्त विविक्तता दिखाई थी । अब इस गाथामें केवलज्ञानी व श्रुतज्ञानीमें मूल रीतिकी समानता दिखाकर विशेष आकांक्षाके क्षोभको समाप्त किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) निरावरण होनेसे पूर्ण विकसित केवलज्ञानके द्वारा केवली भगवानको वस्तुतः आत्माका परिज्ञान होता है । (२) ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे एकदेश विकसित स्वसंवेदनरूप भावश्रुतके द्वारा छद्मस्थ ज्ञानीको आत्माका परिज्ञान होता है । (३) जैसे केवलज्ञान प्रमाण है, ऐसे ही केवलज्ञान प्रणीत पदार्थ प्रकाशक श्रुतज्ञान भी परोक्ष प्रमाण है । (४) जिसमें एक साथ समस्त चैतन्यविशेष विकसित है ऐसे केवलज्ञानके द्वारा केवल अर्थात् शुद्ध आत्माको जाननेसे प्रभु केवली कहलाते है । (५) जिसमें क्रमसे चैतन्यविशेष विकसित होते रहते है, ऐसे केवल ज्ञानके द्वारा केवल आत्माको जाननेसे अन्तरात्मा श्रुतज्ञानी अथवा श्रुतकेवली है । (६) केवलज्ञानी भी अपनेको जानता, श्रुतज्ञानी भी अपनेको जानता, फिर अधिक अर्थात् परपदार्थोंके जाननेकी इच्छाका क्षोभ करना बिल्कुल बेकार है । (७) विवेकी जन अधिक जाननेकी इच्छाका क्षोभ न करके स्वरूपमें ही निश्चल रहनेका पुरुषार्थ करते है । (८) स्वसंवेदनज्ञानरूप भावश्रुतज्ञान केवलज्ञानोत्पत्तिका बीज है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा सर्वत्र अपने आपको ही अनुभवता है । (२) परमात्मा केवल-

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

पुद्गलमय वचनोंसे, जो जिन उपदेश उसे सूत्र कहा।
ज्ञान है ज्ञप्ति उसकी, उसको ही सूत्र ज्ञान कहा ॥३४॥

सूत्रं जिनोपदिष्टं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनैः। तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानं सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ॥ ३४ ॥

श्रुतं हि तावत्सूत्रम्। तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म। तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुतं तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव। एवं सति सूत्रस्य ज्ञप्तिः

नामसंज्ञ—सुत्त जिणोवदिट्ठ पोग्गलदव्वप्पग वयण तजाणणा हि णाण सुत्त य भणिया। **धातुसंज्ञ**- भण कथने, उव दिस प्रेक्षणे दाने च। **प्रातिपदिक**— सूत्र जिनोपदिष्ट पुद्गलद्रव्यात्मक वचन

ज्ञानके द्वारा अपनेको अनुभवते है। (३) अन्तरात्मा श्रुतज्ञानके द्वारा अपनेको अनुभवते है। (४) बहिरात्मा दर्शनमोहमिश्रित ज्ञानके द्वारा विकारपर्यायरूपमे अपनेको अनुभवते है।

दृष्टि—१- उपादानदृष्टि [४६ब]। २- शुद्धनिश्चयनय [४६]। ३- अपूर्ण शुद्ध निश्चयनय [४६ब]। ४- अशुद्ध निश्चयनय [४७]।

प्रयोग—परपदार्थको तो मैं अनुभवता ही नही तब बाहरमें कुछ जानने व प्रवृत्तिकी इच्छा छोडकर अपनेको निरपेक्ष सहजसिद्ध चैतन्यस्वभावमात्र निरखना ॥ ३३ ॥

अब ज्ञानके श्रुत-उपाधिकृत भेदको दूर करते है—[**पुद्गलद्रव्यात्मकैः वचनैः**] पुद्गल द्रव्यात्मक वचनोके द्वारा [**जिनोपदिष्टं**] जिनेन्द्र भगवानके द्वारा उपदिष्ट [**सूत्रं**] सूत्र है [**तज्ज्ञप्तिः हि**] उसकी जानकारी [**ज्ञानं**] ज्ञान है [**च**] और वही [**सूत्रस्य ज्ञप्तिः**] सूत्रकी ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) [**भणिता**] कही गयी है।

तात्पर्य— ज्ञानका स्वरूप मात्र जानना ही है।

टीकार्थ—पहले तो श्रुत ही सूत्र है, और वह सूत्र भगवान अर्हंत-सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट, स्यात्कारचिन्हयुक्त, पौद्गलिक शब्दब्रह्म है। उसकी ज्ञप्ति याने जानकारी सो ज्ञान है। सूत्र तो ज्ञानका कारण होनेसे ज्ञानके रूपसे उपचरित किया जाता है ऐसा होनेपर सूत्रकी ज्ञप्ति सो श्रुतज्ञान है यह फलित होता है। अब सूत्र तो उपाधि होनेसे आदृत नही किया जाता, तब ज्ञप्ति ही शेष रह जाती है, और वह ज्ञप्ति केवली और श्रुतकेवलीके आत्माके संचेतनमें समान ही है। इस प्रकार ज्ञानमे श्रुत-उपाधिकृत भेद नही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि जब आत्मा अपनेको ही

श्रुतज्ञानमित्यायाति । अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते ज्ञप्तिरेवावशिष्यते । सा च केवलिनःश्रुत-केवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः ॥३४॥

तज्ज्ञप्ति हि ज्ञान सूत्र च ज्ञप्ति भणिता । **मूलधातु**—भण शब्दार्थे, उप दिश अतिसर्जने । **उभयपदविवरण**—सुत्त सूत्र जिणोवदिट्ठ जिनोपदिष्ट–प्रथमा एक० । पोग्गलदव्वप्पगेहिं पुद्गलद्रव्यात्मकैः वयणेहि वचनैः–तृतीया बहु० । तंजाणणा तज्ज्ञप्ति –प्रथमा एक० । णाण ज्ञान–प्र० एक० । सुत्तस्स सूत्रस्य–षष्ठी एक० । य च हि–अव्यय । जाणणा ज्ञप्ति.–प्र० ए० । भणिया भणिता–प्र० ए० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—सूत्र्यते इति सूत्रम्, जयति कर्मारातीन् इति जिन । **समास**—जिनेन उपदिष्ट इति जिनोपदिष्ट, पुद्गल-द्रव्य आत्मा येषा ते पुद्गलद्रव्यात्मका तै, तस्य ज्ञप्ति तज्ज्ञप्तिः ॥ ३४ ॥

जानता है तब बाह्यपदार्थके जाननेकी आकांक्षाका क्षोभ करना व्यर्थ है । अब इस गाथामे ज्ञानमें से श्रुतकी उपाधि भी दूर करके ज्ञानकी विशुद्धताका ग्रहण कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश— १–शब्दरूप द्रव्यश्रुतको व्यवहारसे ज्ञान कहा है । २– अर्थपरिच्छेदन रूप भावश्रुतको निश्चयसे ज्ञान कहा गया है । ३–पुद्गलद्रव्यात्मक दिव्यध्वनिके वचनो द्वारा जिनेन्द्रभगवानके हुए उपदेशको द्रव्यश्रुत कहते हैं । ४–द्रव्यश्रुतके आधारसे भव्य जीवोको जो अर्थविज्ञान होता है वह भावश्रुत है । ५–द्रव्यश्रुतके आधारसे भी जो ज्ञान हुआ है वह ज्ञान तो आत्माका है, द्रव्यश्रुत तो वहाँ उपाधिरूपमात्र है । ६–सूत्रकी जानकारी ऐसा कहनेपर भी जानकारी परिणति सूत्रकी नही है, किंतु आत्माकी है ७–भावश्रुतमे मात्र ज्ञान ही देखा जाय, सूत्र उपाधिको न गिना जाय तो वहाँ मात्र "ज्ञप्ति" ही शेष है, प्रवर्तमान है ८–ज्ञप्ति तो केवली और श्रुतज्ञानीके आत्माके संचेतनरूप निश्चयवृत्तिकी पद्धतिमें समान ही है । ९–ज्ञान-स्वरूपमे श्रुत-उपाधिकृत भेद नही है ।

सिद्धान्त— १– वास्तवमे ज्ञान तो अखण्ड एक प्रतिभासस्वरूप है । २– उपयोगतः निरुपाधि ज्ञान परिपूर्ण विकसित केवलज्ञान ज्ञान है । ३– उपयोगतः सोपाधि ज्ञान मतिज्ञानादिक ज्ञान है ।

दृष्टि— १–शुद्धनय [१६८] । २–शुद्धनिश्चयनय [४६] । ३–अशुद्धनय [१६७] ।

प्रयोग—साधन आधार आदि न देखकर ज्ञानमे मात्र ज्ञानस्वरूप निहारना ॥३४॥

अब आत्मा और ज्ञानका कर्तृत्व-करणत्वकृत भेद हटाते है—**[यः जानाति]** जो जानता है **[सः ज्ञान]** सो ज्ञान है **[ज्ञानेन]** ज्ञानके द्वारा **[आत्मा]** आत्मा **[ज्ञायकः भवति]** ज्ञायक है **[न]** ऐसा नही है; **[स्वयं]** ज्ञायक स्वयं ही **[ज्ञानं परिणमते]** ज्ञानरूप परिणमित होता है **[सर्वे अर्थाः]** और सर्व पदार्थ **[ज्ञानस्थिताः]** ज्ञानस्थित है ।

तात्पर्य—ज्ञानस्वरूप ज्ञायक स्वय ही स्वयंके द्वारा जानता है, यहाँ कर्ता व करण

अथात्मज्ञानयोः कर्तृकरणताकृतं भेदमपनुदति —

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ ३५ ॥

जो जाने सो ज्ञान हि, ज्ञानसे बनता न आत्मा ज्ञायक ।
स्वयं ज्ञानमय होता, ज्ञानस्थित सर्व अर्थ वहां ॥ ३५ ॥

यो जानाति स ज्ञान न भवति ज्ञानेन ज्ञायक आत्मा । ज्ञान परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिताः सर्वे ॥ ३५ ॥

अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतंत्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत् । न तु यथा पृथग्वर्तिना दात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा ज्ञानेन ज्ञायको भवत्यात्मा । तथा सत्युभयोरचेतनत्वमचेतनयोः संयोगेऽपि न परिच्छित्तिनिष्पत्तिः । पृथक्त्ववर्तिनोरपि परिच्छेदा-

---

नामसंज्ञ—ज त णाण ण णाण जाणग अत्त णाण सय णाणट्ठिय सव्व । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, हव सत्तायां, परि णम प्रह्वत्वे । **प्रातिपदिक**—यत् तत् ज्ञान न ज्ञायक आत्मन् स्वय अर्थ ज्ञानस्थित सर्व । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां, परि णम प्रह्वत्वे । **उभयपदविवरण**— जो य. सो स. जाणगो ज्ञायकः

भिन्न नही है ।

टीकार्थ—अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्वकी शक्तिरूप पारमैश्वर्यसे युक्त होनेसे जो स्वयमेव जानता है याने ज्ञायक है, वही ज्ञान है जैसे कि साधकतम उष्णत्वशक्ति जिसमे अन्तर्लीन है ऐसी स्वतंत्र अग्निके दहनक्रियाकी प्रसिद्धि होनेसे उष्णता कही जाती है । परन्तु, जैसे पृथग्वर्ती दांतलीसे देवदत्त काटने वाला कहलाता है उसी प्रकार पृथग्वर्ती ज्ञानसे आत्मा जानने वाला याने ज्ञायक है ऐसा नही है । यदि ऐसा हो तो दोनोके अचेतनता आ जायेगी और दो अचेतनोंका संयोग होनेपर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नही होगी । आत्मा और ज्ञानके पृथग्वर्ती होनेपर भी यदि आत्माके ज्ञप्ति होना माना जाये तो परज्ञानके द्वारा परको ज्ञप्ति हो जायेगी और इस प्रकार राख इत्यादिके भी ज्ञप्तिकी निष्पत्ति निरंकुश हो जायेगी । और क्या, कि अपनेसे अभिन्न समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणत ज्ञान उसरूप स्वयं परिणमित होने वाले, कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोके कारणभूत समस्त पदार्थ ज्ञानवर्ती ही कथंचित् होते है । सो अब ज्ञाता और ज्ञानके विभागकी क्लिष्ट कल्पनासे क्या प्रयोजन है ?

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे आत्ममननके प्रयोजनमे ज्ञानकी श्रुत उपाधिको दूर किया था । अब इस गाथामें आत्मा और ज्ञानमें कर्तृकरणपनेका भेद दूर कराया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा कर्ता है, ज्ञान करण है ऐसा व्यवहार होनेपर भी आत्मा

भ्युपगमे परपरिच्छेदेन परस्य परिच्छित्तिर्भूतिप्रभृतीनां च परिच्छित्तिप्रसूतिरनङ्कुशा स्यात् । किंच—स्वतोऽव्यतिरिक्तसमस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतं ज्ञानं स्वयं परिणममानस्य कार्यभूतसमस्तज्ञेयाकारकारणीभूताः सर्वेऽर्था ज्ञानवर्तिन एव कथंचिद्भवन्ति, किं ज्ञातृज्ञानविभागक्लेशकल्पनया ।। ३५ ।।

णाण ज्ञान–प्र० ए० । आदा आत्मा–प्रथमा एक० । णाणेण ज्ञानेन–तृतीया एक० । णाणं ज्ञानं–अव्यय परिणमते क्रियाका विशेषण । परिणमदि परिणमति जाणदि जानाति हवदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । ण न सयं स्वयं–अव्यय । अट्ठा अर्था. णाणट्ठिया ज्ञानस्थिता. सव्वे सर्वे–प्रथमा बहु० । **निरुक्ति**—अर्यन्ते निश्चीयन्ते इति अर्था । **समास**—ज्ञाने स्थिता. ज्ञानस्थिता ।।३५।।

और ज्ञान भिन्न-भिन्न नही है । (२) भिन्न ज्ञानके द्वारा आत्मा ज्ञानी नही होता । (३) आत्मामे भिन्न ज्ञानका समवाय माननेपर उसका आत्मामे ही क्यो समवाय होता है इसका कोई उत्तर नही हो सकता । (४) ज्ञानके समवायसे पहिले आत्मा ज्ञानी है या जड़ है दोनो ही विचार निराधार है । (५) यदि भिन्न ज्ञानसे आत्मा ज्ञानी माना जाय तो भिन्न ज्ञानसे घट पट आदि भी ज्ञानी बन जावेंगे । (६) आत्मा ही उपादानरूपसे ज्ञानरूप परिणमता है । (७) आत्मा ज्ञानमय है, उसका परिचय करानेके लिये लक्षण प्रयोजनादिभेदसे भेद करके समझाया जाता है । (८) यही आत्माकी परमेश्वरता है कि अभिन्न कर्ताकिरण शक्तिसे यह स्वयं जानता है ।

सिद्धान्त—(१) ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने द्वारा अपने आपको जानता है ।

दृष्टि—१– कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार [७३] ।

प्रयोग– अपनेको अपने द्वारा अपने आपमे ज्ञप्तिपरिणत निरखनेके द्वारसे अभेदोपासना करते हुए अभिन्नकारक प्रक्रियासे उत्तीर्ण होकर ज्ञानमात्र अनुभवनेका पौरुष करना ।।३५।।

अब ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है, यह व्यक्त करते है—[तस्मात्] इस कारण [**जीवः ज्ञानं**] जीव ज्ञान है [**ज्ञेयं**] और ज्ञेय [**त्रिधा समाख्यातं**] भूत भावी वर्तमान पर्यायसे तीन प्रकारमे प्रसिद्ध त्रैकालिक [**द्रव्यं**] द्रव्य है [**पुनः द्रव्यं इति**] वह ज्ञेयभूत द्रव्य अर्थात् [**आत्मा**] आत्मा याने स्व [**परः च**] और पर [**परिणामसम्बद्धः**] परिणामसयुत है ।

तात्पर्य—ज्ञान तो स्व आत्मा है और ज्ञेय स्व आत्मा, पर आत्मा व समस्त अचेतन पदार्थ ये सब है, सभी द्रव्य ज्ञान या ज्ञेय या उभय रूपसे निरन्तर परिणमते रहते है ।

टीकार्थ—चूंकि ज्ञानरूपसे स्वय परिणमित होकर स्वतंत्रतया ही जानता है इसलिये जीव ही ज्ञान है, क्योकि अन्य द्रव्य ज्ञानरूप परिणमित होने तथा जाननेमे असमर्थ है । और ज्ञेय, वर्त चुकी, वर्त रही और वर्तने वाली विचित्र पर्यायोके प्रकारसे त्रिविध कालकोटिको

अथ किं ज्ञानं किं ज्ञेयमिति व्यनक्ति—

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

जीव ज्ञान है इससे, त्रिकालगत द्रव्य ज्ञेय बतलाये ।
परिणामबद्ध आत्मा, तथा इतर द्रव्य यों मानो ॥३६॥

तस्माज्ज्ञानं जीवो ज्ञेयं द्रव्यं त्रिधा समाख्यातम् । द्रव्यमिति पुनरात्मा परश्च परिणामसंबद्धः ॥ ३६ ॥

यतः परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणम्य स्वतंत्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानमन्यद्रव्याणां तथा परिणन्तुं परिच्छेत्तुं चाशक्तेः । ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणविचित्रपर्यायपरम्पराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं, तत्तु ज्ञेयतामापद्यमानं द्वेधात्मपरविकल्पात् । इष्यते हि स्वपरपरिच्छेदकत्वादवबोधस्य बोध्यस्यैवंविधं द्वैविध्यम् । ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथं नामात्मपरिच्छेदकत्वम् । का हि नाम क्रिया कीदृशश्च विरोधः ? क्रिया

नामसंज्ञ—त णाण जीव णेय दव्व तिहा समक्खाद ति पुणो आदा पर च परिणामसम्बद्ध । **धातुसंज्ञ**—ञा अवबोधने, स बध बन्धने । **प्रातिपदिक**—तत् ज्ञान जीव ज्ञेय द्रव्य त्रिधा समाख्यात इति पुनस् आत्मन् पर च परिणामसम्बद्ध । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—तम्हा तस्मात्–पचमी ए० ।

स्पर्श करता हुआ होनेसे अनादि अनन्त द्रव्य है । यह ज्ञेयको प्राप्त स्व और पर ऐसे दो भेद से दो प्रकारका है । ज्ञान स्वपरज्ञायक है, इसलिये ज्ञेयकी ऐसी द्विविधता मानी जाती है । **प्रश्न—**अपनेमे क्रियाके हो सकनेका विरोध होनेसे आत्माके स्वज्ञायकता कैसे घटित होती है ? **उत्तर—**कौनसी क्रिया है, और किस प्रकारका विरोध है ? जो यहाँ प्रश्नमे विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप होगी या ज्ञप्तिरूप होगी । उत्पत्तिरूप क्रिया 'कोई स्वयं अपनेमें से उत्पन्न नही हो सकता' इस आगम कथनसे विरुद्ध ही है, परन्तु ज्ञप्तिरूप क्रिया का प्रकाशन क्रियासे ही प्रत्यवस्थितपना होनेसे ज्ञप्तिक्रियामे विरोध नही आ सकता । जैसे कि प्रकाश्यताको प्राप्त परको प्रकाशित करते हुए प्रकाशक दीपको स्व प्रकाश्यको प्रकाशित करनेके सम्बन्धमे अन्य प्रकाशककी आवश्यकता नही होती, क्योंकि उसके स्वयमेव प्रकाशन क्रियाकी प्राप्ति है; इसी प्रकार ज्ञेयपनेको प्राप्त परको जानते हुए ज्ञायक आत्माको स्वज्ञेयके जाननेके सम्बन्धमे अन्य ज्ञायककी आवश्यकता नही होती, क्योंकि स्वयमेव ज्ञान क्रियाकी वहाँ प्राप्ति है । **प्रश्न—** आत्माके द्रव्यज्ञानरूपता और सब द्रव्योंके आत्मज्ञेयरूपता, कैसे बन जाती है ? **उत्तर—**परिणाम वाले होनेसे आत्माके द्रव्यज्ञानरूपपना और द्रव्योंके आत्मज्ञेयरूपपना सही है । चूंकि आत्मा और द्रव्य परिणामोंसे संबद्ध हैं, इस कारण आत्माके

ह्यत्र विरोधिनी समुत्पत्तिरूपा वा ज्ञप्तिरूपा वा । उत्पत्तिरूपा हि तावन्नैकं स्वस्मात्प्रजायत इत्यागमाद्विरुद्धैव । ज्ञप्तिरूपायास्तु प्रकाशनक्रिययैव प्रत्यवस्थितत्वान्न तत्र विप्रतिषेधस्यावतारः । यथा हि प्रकाशकस्य प्रदीपस्य परं प्रकाश्यतामापन्नं प्रकाशयतः स्वस्मिन् प्रकाश्ये न प्रकाशकान्तरं मृग्यं, स्वयमेव प्रकाशनक्रियायाः समुपलम्भात् । तथा परिच्छेदकस्यात्मनः पर परिच्छेद्यतामापन्न परिच्छिन्दतः स्वस्मिन् परिच्छेद्ये न परिच्छेदकान्तर मृग्य, स्वयमेव परिच्छेदनक्रियायाः समुपलम्भात् । ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेयरूपत्वं च ? परिणामसबन्धत्वात् । यतः खलु आत्मा द्रव्याणि च परिणामैः सह सबध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणा तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रतपति ।। ३६ ।।

णाण ज्ञान दव्व द्रव्य–प्रथमा एक० । जीवो जीव. आदा आत्मा–प्रथमा एक० । णेयं ज्ञेय–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । तिहा त्रिधा पुणो पुन ति इति च–अव्यय । समक्खाद समाख्यातम्–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । परं पर परिणामसंबद्ध परिणामसबद्ध –प्र० ए० । **निरुक्ति**—ज्ञातु योग्य ज्ञेय, प्राणैः जीवति इति जीवः, द्रवति पर्यायान् गच्छति इति द्रव्य । **समास**—परिणामेन सम्बद्ध परिणामसम्बद्ध ।। ३६ ।।

द्रव्यविषयक ज्ञानसे और द्रव्योके ज्ञानका अवलम्बन लेकर ज्ञेयाकाररूपसे परिणति अबाधित होती हुई प्रतापवंत वर्तती है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे आत्मा और ज्ञानमें कर्तृकरणताकृत भेद दूर किया गया था । अब इस गाथामे ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है यह व्यक्त किया गया है ।

तथ्यप्रकाश— १– जानने वाला कोई एक आत्मा ज्ञान है तो स्वयं यह स्व आत्मा तथा शेष सब आत्मा, और समस्त पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य व असंख्यातकाल द्रव्य ये सब ज्ञेय है । २– चूँकि आत्मा ही उपादानरूपसे ज्ञानरूप परिणमता है और पदार्थोंका जानता है अतः आत्मा ही ज्ञान है । ३–समस्त ज्ञेय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं । ४– ज्ञान स्वयं अपने आपको भी जानता है । ५– यदि ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाय तो वह दूसरा ज्ञान भी तीसरे ज्ञानके द्वारा जाना जायगा तीसरा भी चौथेसे यो अनवस्था होनेसे अनिश्चित ज्ञान कुछ भी न जान सकेगा । ६–ज्ञप्ति क्रिया ज्ञप्तिमें से उत्पन्न नही होती, वह आत्मद्रव्यसे उत्पन्न होती । ७– ज्ञप्तिक्रिया जाननस्वरूप है अतः उससे स्व पर दोनोका ज्ञान होता है । ८–पर्यायमे से पर्याय उत्पन्न नही होता, पर्याय द्रव्यमे से उत्पन्न होता, किन्तु पर्याय तो कार्यस्वरूप ही है उसके कार्यमें परापेक्षता नही । ९–प्रकाश पर्याय दीपकसे उत्पन्न होता है, किन्तु प्रकाशपर्याय स्व परको प्रकाशित करनेमे किसी परकी अपेक्षा नही करता । १०– जानन पर्याय आत्मामे से उत्पन्न होता है, किन्तु जाननपर्याय स्व परको जाननेमे किसी परकी अपेक्षा नही करता है । ११–पर्यायकी उत्पत्ति स्वपरप्रत्ययक है, किन्तु

अथातिवाहितानागतानामपि द्रव्यपर्यायाणां तादात्विकवत् पृथक्त्वेन ज्ञाने वृत्तिमुद्योतयति—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥

द्रव्यजातियोंके सब, वर्तमान अवर्तमान पर्यायें।
वे वर्तमानकी ज्यों, विशेषसे ज्ञानमें वर्ते ॥३७॥

तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायास्तासाम्। वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ॥ ३७ ॥

सर्वासामेव हि द्रव्यजातीनां त्रिसमयावच्छिन्नात्मलाभभूमिकत्वेन क्रमप्रतपत्स्वरूपसंपद: सद्भूतासद्भूततामायान्तो ये यावन्तः पर्यायास्ते तावन्तस्तात्कालिका इवात्यन्तसंकरेणाप्य-

---

नामसंज्ञ—तक्कालिग इव सव्व सदसब्भूद हि पज्जय ता णाण विसेसदो दव्वजादि। **धातुसंज्ञ**—वत्त वर्तने। **प्रातिपदिक**—तात्कालिक इव सव सदसद्भूत हि पर्याय ता तत् ज्ञान विशेषतः द्रव्यजाति।

उत्पन्न पर्याय अपने कार्यमे निरपेक्ष है। १२– सभी पदार्थ प्रमेयत्व गुणस्वभावसे ज्ञानमे ज्ञेय होते है। १३–ज्ञाता आत्मा ज्ञानगुण स्वभावसे सत् विषयक ज्ञान करता रहता है। १४– सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्वभावानुरूप प्रतापवंत प्रवर्ता करते है।

सिद्धान्त—१– आत्माके द्वारा ज्ञेय आत्मा है। २–आत्माके द्वारा ज्ञेय सर्व सत् है।

दृष्टि—१– कारककारकिभेदक सद्भूत व्यवहारनय [७३]। २– स्वाभाविक उपचरित स्वभावव्यवहार [१०५]।

प्रयोग—स्वयं सहज जो ज्ञेय हो सो होओ, अपनेको तो सहज ज्ञानस्वभावमात्र अनुभवना ॥३६॥

अब द्रव्योंकी अतीत और अनागत पर्यायें भी तात्कालिक पर्यायोकी भांति पृथक् रूप से ज्ञानमे होनेको उद्योतित करते हैं याने दिखाते है—[**तासाम् द्रव्यजातीनाम्**] उन जीवादि द्रव्यजातियोकी [**ते सर्वे**] वे समस्त [**सदसद्भूताः हि**] विद्यमान और अविद्यमान [**पर्यायाः**] पर्यायें [**तात्कालिकाः इव**] वर्तमान पर्यायोकी तरह [**विशेषतः**] विशिष्टता पूर्वक अर्थात् अपने अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपसे [**ज्ञाने वर्तन्ते**] ज्ञानमे वर्तती है।

तात्पर्य—केवलज्ञान समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको युगपत् जानता है।

टीकार्थ—वास्तवमें समस्त ही द्रव्यजातियोंके पर्यायोकी उत्पत्तिकी मर्यादा तीनों कालोमें आत्मलाभकी भूमिकासे युक्तपना होनेके कारण क्रमपूर्वक तपती हुई स्वरूपसम्पदा वाली, विद्यमानता और अविद्यमानताको प्राप्त जो जितनी पर्यायें है, वे सब तात्कालिक अर्थात् वर्तमानकालीन पर्यायोंकी भांति अत्यंत मिश्रित होनेपर भी निश्चित हैं सब पर्यायोंके

वधारितविशेषलक्षणा एकक्षण एवावबोधसौधस्थितिमवतरन्ति । न खल्वेतदयुक्तं–**दृष्टाविरोधात्** । दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालम्बितस्तदाकारः । किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः । यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुप-

मूलधातु–वृतु वर्तने । **उभयपदविवरण**–तक्कालिगा तत्कालिकाः सव्वे सर्वे सदसब्भूदा सदसद्भूता पज्जया पर्याया–प्र० बहु० । तासि तासाम्–षष्ठी बहु० । ते–प्र० बहु० । णाणे ज्ञाने–सप्तमी एक० । विसेसदो विशेषत–अव्यय पंचम्यर्थे । दव्वजादीण द्रव्यजातीनां–षष्ठी बहु० । **निरुक्ति**–परि अयन्ते इति

विशिष्टलक्षण जिनके ऐसी वे एक क्षणमे ही ज्ञानमंदिरमे स्थितिको प्राप्त होती है । वास्तवमे यह अयुक्त नही है; क्योकि १– उसका दृष्टके साथ अविरोध है । जगत्में वर्तमान वस्तुकी तरह भूत और भविष्यत् वस्तुका चितवन करते हुए छद्मस्थके भी ज्ञाननिष्ठ ज्ञेयाकार देखा जाता है । २– और क्योंकि ज्ञान चित्रपटके समान है सो जैसे चित्रपटमे अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओके प्रतिभास्य आकार साक्षात् एक क्षणमे ही भासित होते है, इसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें भी अतीत अनागत और वर्तमान पर्यायोके ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षणमे ही भासित होते है । (३) और क्या कि सर्व ज्ञेयाकारोकी वर्तमानता अविरुद्ध है । जैसे चित्रपटमे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओके आलेख्याकार वर्तमान ही है, इसी प्रकार ज्ञानमे अतीत और अनागत पर्यायोके ज्ञेयाकार वर्तमान ही है ।

प्रसंगविवरण––अनन्तरपूर्व गाथामे ज्ञान और ज्ञेयका निर्देशन किया गया था । अब इस गाथामें यह बताया गया है कि प्रभुके ज्ञानमे वर्तमान पर्यायोंकी तरह भूत भविष्यकी पर्यायें भी रहती है ।

तथ्यप्रकाश––(१) चित्रपटमें भूत, वर्तमान, भविष्यके महापुरुषोके चित्र लिखित हो तो दिखनेमे तो सब वर्तमान जैसे हैं । (२) प्रभुके ज्ञानमे भूत, वर्तमान, भविष्यकी सब पर्यायें प्रतिभासित है तो जाननेमें तो सब वर्तमानकी तरह उसी समयमे है । (३) छद्मस्थ पुरुष भी जब भूत भविष्यकी पर्यायोंका मनमे चिन्तन कर रहा हो तब उन भूत भविष्य पर्यायोका प्रतिभास तो वर्तमानकी तरह उसी समयमें है । (४) केवलज्ञानी समस्त परद्रव्य पर्यायोको जाननमात्ररूपसे जानते हैं, तन्मय होकर नही । (५) केवलज्ञानी तो केवलज्ञानादि गुणोंके आधारभूत अपनी परिपूर्ण विकसित पर्यायको ही स्वसंवेदनाकारसे तन्मय हो जानते है । (६) साधक पुरुष भी अपने निश्चयरत्नत्रयपर्यायको ही तन्मय होकर जानते है, अन्य द्रव्य गुण पर्यायोंको जाननमात्ररूपसे जानते है । (७) आत्माकी ज्ञानशक्ति ऐसी ही अद्भुत है कि जिससे निरावरण ज्ञानी आत्मा सर्व त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोको जानता ही है ।

स्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि । किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकत्वाविरोधात् । यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्तमाना एव भवन्ति ॥ ३७ ॥

पर्याया । समास–तस्य काल तत्काल तत्र भवा. तात्कालिका., द्रव्याणा जातयः द्रव्यजातयः तासां ॥३७॥

(८) ज्ञेय पदार्थोंकी प्रमेयत्वशक्ति ऐसी है कि जिससे त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ निरावरण ज्ञानमे ज्ञेय होते ही हैं ।

सिद्धान्त—(१) निरावरण ज्ञानी आत्मामे त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं । (२) परमात्मा अपने परिपूर्ण विकसित पर्यायको ही तन्मय होकर जानते हैं ।

दृष्टि—१– अशून्यनय [१७४] । २– शुद्धनिश्चयनय [४६] ।

प्रयोग—जिसमे ज्ञेय प्रतिभासित हैं ऐसे निज विकासको ही तन्मयतासे जानता हूं ऐसा निश्चय करके बाह्य पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध न मानकर निर्विकल्प होनेका सुगम सहज पौरुष करना ॥ ३७ ॥

अब अविद्यमान पर्यायोको कथंचित् विद्यमानता धारण कराते हैं (बतलाते हैं)— [ये पर्यायाः] जो पर्यायें [हि] वास्तवमें [संजाताः न एव] उत्पन्न नही हुये हैं, तथा [ये] जो पर्यायें [खलु] वास्तवमें [भूत्वा नष्टाः] उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं, [ते] वे [असद्भूताः पर्यायाः] अविद्यमान पर्यायें [ज्ञानप्रत्यक्षाः भवन्ति] ज्ञानमें प्रत्यक्ष होते है ।

तात्पर्य—अतीत और अनागत पर्यायें प्रभुके ज्ञानमें स्पष्ट प्रत्यक्ष होते है ।

टीकार्थ—जो पर्याये अभी तक भी उत्पन्न नही हुये और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं वे पर्यायें वास्तवमे अविद्यमान होनेपर भी ज्ञानके प्रति नियत होनेसे ज्ञानप्रत्यक्षताको अनुभवते पाषाण स्तम्भमें उत्कीर्ण, भूत और भावी देवोकी भांति अपने स्वरूपको अकम्पतया ज्ञानको अर्पित करते हुये विद्यमान ही हैं ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि प्रभुके ज्ञानमें भूत भविष्यकी पर्यायें भी वर्तमानपर्यायकी तरह ज्ञेय हैं । अब इस गाथामें असद्भूत पर्यायोंको प्रभुज्ञानमें सद्भूत बना दिया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– अतीत व भविष्यत् पर्यायें असद्भूत कहलाते हैं, क्योंकि वे वर्तमानमें अभी नही हैं । २– असद्भूत पर्यायें भी भगवानके वर्तमान ज्ञानमें विषयभूत हैं, अतः

अथासद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति—

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥ ३८ ॥

जो उत्पन्न हुये नहिं, जो होकर नष्ट हो गये वे सब ।
असद्भूत पर्यायें, ज्ञान मांहि प्रत्यक्ष है ये ।। ३८ ।।

ये नैव हि संजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्यायाः । ते भवन्ति असद्भूता पर्याया. ज्ञानप्रत्यक्षाः ।। ३८ ।।

ये खलु नाद्यापि संभूतिमनुभवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्भूता अपि परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेववदप्रकम्पार्पितस्वरूपाः सद्भूता एव भवन्ति ।। ३८ ।।

नामसंज्ञ—ज ण एव सजाय ज खलु णट्ठ पज्जाय त असब्भूद पज्जाय णाणपच्चक्ख । **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां, हो सत्तायां, नस्स नाशे, जा प्रादुर्भावे । **प्रातिपदिक**—यत् न एव सजात खलु नष्ट पर्याय तत् असद्भूत पर्याय ज्ञानप्रत्यक्ष । **मूलधातु**—जनि प्रादुर्भावे, णश अदर्शने दिवादि, भू सत्तायां । **उभयपदविवरण** - जे ये सजाया संजाताः णट्ठा नष्टाः पज्जाया पर्याया. असब्भूदा असद्भूता णाणपच्चक्खा ज्ञानप्रत्यक्षाः-प्रथमा बहु० । ण न एव हि खलु-अव्यय । भवीय भूत्वा-असमाप्तिकी क्रिया अव्यय । होंति भवन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । **निरुक्ति**—अक्षं आत्मान प्रतीत्य उत्पद्यमाना प्रत्यक्षा । **समास**-ज्ञाने प्रत्यक्षाः ज्ञानप्रत्यक्षाः, न सद्भूताः असद्भूता. ।।३८।।

असद्भूत पर्यायें भी भगवानके ज्ञानमें सद्भूत हैं । ३–भगवानके ज्ञानमे जैसे वर्तमान पर्यायें प्रत्यक्ष हैं, ऐसे ही भगवानके ज्ञानमें अतीत व भावी पर्याये भी प्रत्यक्ष है । ४–शिलामें उकेरी गई भूत वर्तमान भविष्यत् तीर्थंकरोंकी प्रतिमायें शिलामें तो वे सब वर्तमान ही है । ५– प्रभुके ज्ञानमें प्रतिबिम्बित भूत वर्तमान भविष्यत् पर्यायें प्रभुके ज्ञानमे तो वर्तमान ही है । त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ परमात्माके ज्ञानमें एक साथ ही प्रतिबिम्बित है व अग्नि जल जैसे परस्परविरुद्ध पदार्थ भी एक ही साथ एक ही ज्ञानमें आत्माके उन्हो प्रदेशोंमे रह रहे है यही परमात्माका पारमैश्वर्य है ।

सिद्धान्त—(१) भगवानके पारमैश्वर्यमय ज्ञानमे भूत, भविष्य, वर्तमान सभी अर्थोंका एक साथ प्रातिभास्यत्वरूप आक्रमण होता है ।

दृष्टि— १– अशून्यनय [१७४] ।

प्रयोग—ज्ञानके सहज स्वच्छ विलासके अनुभवके लिये अविकार सहज ज्ञानस्वभावकी आत्मरूपमें उपासना करना ।। ३८ ।।

अब अविद्यमान पर्यायोकी इसी ज्ञानप्रत्यक्षताको दृढ़ करते है— [यदि वा] यदि

अथैतदेवासद्भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति--

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥३९॥

यदि अजात प्रलयित प-र्यायें प्रत्यक्ष ज्ञानमें नहिं हों ।
तो वह ज्ञान दिव्य है, कौन प्ररूपण करे ऐसा ॥३९॥

यदि प्रत्यक्षोऽजात पर्याय. प्रलयितश्च ज्ञानस्य । न भवति वा तत् ज्ञानं दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥३९॥

यदि खल्वसभावितभावं सभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिघविजृम्भिताखण्डितप्रताप-प्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्याक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात् । अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेतदुपपन्नम् ॥ ३९ ॥

नामसंज्ञ--जदि पच्चक्ख अजाय पज्जाय पलइय णाण दिव्व क जदि च ण वा ति हि यदि च न वा इति हि । **धातुसंज्ञ**—जा प्रादुर्भावे, हव सत्तायां, प रूव घटनायां । **प्रातिपदिक**—यत् न एव हि अजात पर्याय प्रलयित ज्ञान ज्ञान दिव्य इति हि किम् । **मूलधातु**—जनी प्रादुर्भावे, भू सत्तायां, प्र रूप रूपक्रियायां । **उभयपदविवरण**—जदि यदि च ण न वा ति इति हि–अव्यय । पच्चक्खं प्रत्यक्षः अजाय अजातः पज्जायं पर्याय पलइय प्रलयित –प्रथमा एक० । णाणस्स ज्ञानस्य–षष्ठी ए० । णाणं ज्ञानं–द्वि० ए० । दिव्वं दिव्यं–प्र० एक० । के के–प्र० बहु० । परूविंति प्ररूपयन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । **निरुक्ति**– न जात अजातः । **समास**—अक्ष प्रति इति प्रत्यक्षम् ॥ ३९ ॥

[अजातः पर्यायः] अनुत्पन्न पर्याय **[च]** और **[प्रलयितः]** नष्ट पर्याय **[ज्ञानस्य]** केवलज्ञानके **[प्रत्यक्षः न भवति]** प्रत्यक्ष न हो तो **[तत् ज्ञानं]** उस ज्ञानको **[दिव्यं इति हि]** दिव्य है ऐसा **[के प्ररूपयंति]** कौन प्ररूपण कर सकते हैं ?

तात्पर्य—दिव्य केवलज्ञानमें भूत भविष्यत् पर्यायें भी स्पष्ट ज्ञात हैं ।

टीकार्थ—जिसने अस्तित्वका अनुभव नहीं किया, और जिसने अस्तित्वका अनुभव कर लिया है ऐसे अनुत्पन्न और नष्ट पर्याय समूहको यदि ज्ञान अपनी निर्विघ्न विकसित, अखंडित प्रतापयुक्त प्रभुशक्तिके द्वारा बलात् अत्यन्त आक्रमित करे याने जाने तथा वे पर्यायें अपने स्वरूपसर्वस्वको अक्रमसे अर्पित करें अर्थात् एक ही साथ ज्ञानमें ज्ञात हों, इस प्रकार यदि उन्हें अपने प्रति नियत न करे अर्थात् प्रत्यक्ष न जाने, तो उस ज्ञानकी दिव्यता किस प्रकार हो ? इस कारण पराकाष्ठाको प्राप्त ज्ञानके लिये यह सब ठीक बनता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया था कि प्रभुज्ञानमें असद्भूत पर्यायें भी सद्भूत हो जाते हैं । अब इस गाथामें असद्भूत पर्यायोंकी ज्ञानप्रत्यक्षताको दृढ़ किया है ।

अथेन्द्रियज्ञानस्यैव प्रलीनमनुत्पन्नं च ज्ञातुमशक्यमिति वितर्कयति—

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥४२॥

इन्द्रियनियमित अर्थों, को ईहापूर्व जानते है जो ।
उनके जाननमें नहिं, परोक्षके अर्थ आ सकते ॥४०॥

अथमक्षनिपतितमीहापूर्वैर्ये विजानन्ति । तेषा परोक्षभूत ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम् ॥ ४० ॥

ये खलु विषयविषयिसन्निपातलक्षणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षमधिगम्य क्रमोपजायमानेनेहादि-

---

नामसंज्ञ—अत्थ अक्खणिवदिद ईहापुव्व ज त परोक्खभूद असक्क ति पण्णत्त । **धातुसंज्ञ**—णि पड पतने, वि जाण अवबोधने, णा अवबोधने । **प्रातिपदिक**—अर्थ अक्षनिपतित ईहापूर्व यत् तत् परोक्षभूत

तथ्यप्रकाश— (१) केवलज्ञानकी यह दिव्यता है, अलौकिकता है कि वह वर्तमानपर्याय की तरह अतीत अनागत पर्यायोको भी बिना क्रमके, बिना इन्द्रिय मनके, बिना व्यवधानके साक्षात् प्रत्यक्ष करता है । (२) यदि परिपूर्ण विकसित ज्ञान त्रिलोकत्रिकालवर्ती सब पदार्थों को एक साथ स्पष्ट न जाने तो वह ज्ञान ही नही । (३) केवली भगवान परद्रव्यपर्यायोको जाननमात्र रूपसे जानता है । (४) केवली भगवान तन्मयतासे तो सहजानदमय निज शुद्धात्मा मे स्वपर्यायको जानता है । (५) ज्ञानी जन परद्रव्य गुण पर्यायका परिज्ञान जाननमात्ररूपसे करता है । (६) ज्ञानी जन तन्मयतासे तो केवल स्वमे सवेदन पर्यायको जानता है ।

सिद्धान्त—(१) प्रभु अन्तर्ज्ञेयाकारपरिणत अपने आपको जाननेसे आत्मज्ञ है । (२) प्रभु त्रिलोकत्रिकालगत सर्वद्रव्य पर्यायोको जाननेसे सर्वज्ञ है ।

दृष्टि—१- शुद्धनिश्चयनय [४६] । २- स्वाभाविक उपचरित स्वभावव्यवहार [१०५] ।

प्रयोग—ज्ञानकी सहज विकसित कलाको अनुभवनेके लिये ज्ञानके सहज स्वभावको आत्मस्वरूपमे अनुभवना ॥ ३९ ॥

अब नष्ट और अनुत्पन्नको जानना अशक्य इन्द्रियज्ञानके ही है, यह वितर्कित करते हैं अर्थात् युक्तिपूर्वक निश्चित करते है—[ये] जो [अक्षनिपतितं] इन्द्रियगोचर [अर्थं] पदार्थ को [ईहापूर्वैः] ईहादिक द्वारा [विजानन्ति] जानते हैं, [तेषां] उनके लिये [परोक्षभूतं] परोक्षभूत पदार्थको [ज्ञातुं] जानना [अशक्यं] अशक्य है [इति प्रज्ञप्तं] ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है ।

तात्पर्य—इन्द्रियज्ञान ही भूत भविष्यत् पर्यायोंको नही जान सकता ।

कप्रक्रमेण परिच्छिन्दन्ति, ते किलातिवाहितस्वास्तित्वकालमनुपस्थितस्वास्तित्वकालं वा यथोदितलक्षणस्य ग्राह्यग्राहकसंबन्धस्यासंभवतः परिच्छेत्तुं न शक्नुवन्ति ॥ ४० ॥

अशक्य इति प्रज्ञप्त । **मूलधातु**— नि पत पतने, वि ज्ञा अवबोधने, प्र ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च । **उभयपदविवरण**—अत्थ अर्थं अक्खणिवदिद अक्षनिपतित–द्वितीया एक० । ईहापुव्वेहि ईहापूर्वें–तृतीया बहु० । जे ये–प्र० बहु० । विजाणति विजानन्ति–वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन । तेसिं तेषा–षष्ठी बहु० । परोक्खभूदं परोक्षभूत–द्वि० एक० । णादु ज्ञातु–अव्यय कृदन्त हेत्वर्थे । असक्कं अशक्यं–प्रथमा एकवचन । ति इति–अव्यय । पण्णत्त प्रज्ञप्त–प्र० एक० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—ईहनं ईहा, न शक्य अशक्य । **समास**—ईहा पूर्वं येषा ते तैं ॥ ४० ॥

टीकार्थ—विषय और विषयीका लक्षण है जिसका ऐसे इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षको प्राप्त करके, जो क्रमसे उत्पन्न ईहादिकके प्रक्रमसे जानते है वे जिनका अस्तित्व बीत गया है, तथा जिनका अस्तित्व काल उपस्थित नही हुआ है उन्हे नही जान सकते, क्योंकि अतीत-अनागत पदार्थ और इन्द्रियके विषयविषयिसन्निपात लक्षण वाले ग्राह्यग्राहकसम्बन्धकी असंभवता है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे बताया गया था कि प्रभु ज्ञानमें अतीत अनागत रूप सद्भूत पर्यायें भी प्रत्यक्ष है । अब इस गाथामे बताया गया है कि इन्द्रियज्ञान ही अतीत अनागतको जाननेके लिये अशक्त है ।

तथ्यप्रकाश—(१) इन्द्रियज्ञान अतीत, अनागत, अमूर्त, सूक्ष्म व दूरवर्ती पदार्थोंको नही जान सकता, क्योंकि इन्द्रियोका उन पदार्थोंके साथ सम्बन्ध व समक्षपना नही हो सकता । (२) इन्द्रियां मूर्तको व मूर्तमे भी स्थूलको व स्थूलमे भी सन्निधिस्थको व उन्हे भी क्रमसे विषय कर पाती है, अत. इन्द्रियज्ञानसे सर्वज्ञ होना असंभव है । (३) रागादिविकल्परहित स्वसंवेदनज्ञान ही सर्वज्ञताकी निष्पत्तिका कारण है । (४) जो पुरुष इन्द्रियसुखोंमे, इन्द्रियसुखसाधनीभूत इन्द्रियज्ञानमे, नाना मनोरथ विकल्परूप मानसिक ज्ञानमे आसक्ति करते हैं वे सर्वज्ञपद प्राप्त नही कर सकते । (५) इन्द्रियजज्ञान हीन ज्ञान है और हेय है ।

सिद्धान्त—(१) इन्द्रियज ज्ञान औपाधिक व विकृत ज्ञान है ।

दृष्टि—१– विभावगुणव्यञ्जनपर्यायदृष्टि [२१३] ।

प्रयोग—इन्द्रियसुखको व इन्द्रियसुखसाधनीभूत इन्द्रियज्ञानको सकलङ्क, हीन व हेय जानकर उससे उपेक्षा कर निष्कलङ्क, उच्च व उपादेय अतीन्द्रिय आनंद व अतीन्द्रिय ज्ञानकी निष्पत्तिके लिये अतीन्द्रिय सहजानंदमय सहजज्ञानस्वभावकी आराधना करना ॥ ४० ॥

अग अतीन्द्रिय ज्ञानके लिये जो जो कहा जाता है वह वह संभव है, यह भले प्रकार

अथातीन्द्रियज्ञानस्य तु यद्यदुच्यते तत्तत्संभवतीति संभावयति—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥४१॥

कायिक अकाय मूर्तिक, अमूर्त सत् भावि नष्ट पर्यायें।
सबको हि जानता जो, ज्ञान अतीन्द्रिय कहा उसको ॥४१॥

अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम्। प्रलयं गतं च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितम् ॥ ४१ ॥

इन्द्रियज्ञानं नाम उपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन् अंतरङ्गस्वरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्तते। प्रवर्तमानं च सप्रदेशमेवाध्यवस्यति स्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम्। मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिबन्धनसद्भावान्नामूर्तम्। वर्तमानमेव परिच्छि-

---

नामसंज्ञ—अपदेस सपदेस मुत्त अमुत्त च पज्जय अजाद पलय गय त णाण अदिदिय भणिय। **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, भण कथने। **प्रातिपदिक**—अप्रदेश सप्रदेश मूर्त अमूर्त च पर्यय अजात प्रलय गत

हुवाते हैं, स्पष्ट करते हे—**[अप्रदेश]** जो ज्ञान अप्रदेशको **[सप्रदेश]** सप्रदेशको **[मूर्तं]** मूर्तको **[अमूर्तं च]** और अमूर्तको तथा **[अजातं]** अनुत्पन्न पर्यायको **[च]** और **[प्रलयंगतं]** नष्ट **[पर्यायं]** पर्यायको **[जानाति]** जानता है **[तत् ज्ञानं]** वह ज्ञान **[अतीन्द्रियं]** अतीन्द्रिय **[भणितम्]** कहा गया है।

तात्पर्य—अतीन्द्रिय केवलज्ञान एकप्रदेशी बहुप्रदेशी मूर्तिक अमूर्त भूत भविष्यत् सबको जानता है।

टीकार्थ—इन्द्रियज्ञान उपदेश, अन्तःकरण और इन्द्रिय इत्यादिको भिन्न व बाह्य कारणतासे और लब्धि, संस्कार इत्यादिको अन्तरङ्ग स्वरूप-कारणतासे ग्रहण करके प्रवृत्त होता है; और वह प्रवृत्त होता हुआ सप्रदेशको ही जानता है, स्थूलको जानने वाला होनेसे अप्रदेशको नही जानता, वह मूर्तको ही जानता है, मूर्तिक विषयके साथ उसका सम्बन्ध होनेसे वह अमूर्तको नही जानता, वह वर्तमानको ही जानता है, विषय-विषयीके सन्निपातका सद्भाव होनेसे वह प्रवर्तित हो चुकने वालेको और भविष्यमे प्रवृत्त होने वालेको नही जानता। परन्तु जो अनावरण अनिन्द्रिय ज्ञान है, उसके अपने अप्रदेश, सप्रदेश, मूर्त और अमूर्त (सर्व पदार्थ) तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्यायसमूह, ज्ञेयताका अतिक्रमण न करनेसे यह सब ज्ञेय ही है, जैसे प्रज्वलित अग्निके अनेक प्रकारका ईंधन, दाह्यताका अतिक्रमण न करनेसे दाह्य ही है।

प्रसङ्गविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे इन्द्रियजज्ञानकी हीनताका चित्रण किया गया था। अब इस गाथामे अतीन्द्रिय ज्ञानकी उदात्तताका वर्णन किया गया है।

नत्ति विषयविषयिसन्निपातसद्भावान्न तु वृत्तं वत्स्यंच्च । यत्तु पुनरनावरणममनिन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गितं दाह्यं दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ॥४१॥

तत् ज्ञान अतीन्द्रिय भणित । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, भण शब्दार्थः । **उभयपदविवरण**—अपदेस अप्रदेशं सपदेस सप्रदेशं मुत्त मूर्तं अमुत्त अमूर्तं पज्जय पर्यायं अजादं अजातं पलयं प्रलयं गयं गतं–द्वितीया एक० । जाणदि जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । तं तत् णाणं ज्ञानं अदिदियं अतीन्द्रियं–प्र० एक० । भणिय भणित–प्र० एक० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—प्रकर्षेण लयनं प्रलयः तं । **समास**—न प्रदेशः यत्र स अप्रदेश अबहुप्रदेश इत्यर्थः, इन्द्रिय अतिक्रान्तम् अतीन्द्रिय ॥ ४१ ॥

तथ्यप्रकाश—(१) इन्द्रियज्ञान उपदेश, मन, इन्द्रियोंको कारणरूप इत्यादि बाह्य अर्थका आश्रय पाकर होता है अतः वह पराधीन है । (२) इन्द्रियज्ञान तत्तदिन्द्रियज्ञानावरण का क्षयोपशम, सस्कार आदिको कारणरूपसे उपादान करके प्रवृत्त होता है अतः वह प्रतिसीमित है । (३) इन्द्रियज्ञान अति स्थूलका ग्रहण करने वाला है, अतः अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को ही जान सकता है, अप्रदेशको नही । (४) इन्द्रियज्ञान मूर्त पदार्थको ही विषय करके जान सकता है, अतः वह मूर्तको ही जान सकता है अमूर्तको नहीं । (५) इन्द्रियज्ञान विषय विषयी की समक्षतामे ही जान सकता है, अतः वह वर्तमानको ही जान सकता है । (६) अतीन्द्रियज्ञान किसी भी परपदार्थके कारण बिना ही होता है अतः वह स्वाधीन है । (७) अतीन्द्रिय ज्ञान क्षायिक, निरावरण होनेसे वह पूर्ण विकसित ज्ञान है । (८) अतीन्द्रिय ज्ञान सर्वका परिच्छेदक होनेसे वह स्थूलको भी जानता, सूक्ष्मको भी जानता, सप्रदेशको भी जानता, अप्रदेशको भी जानता । (९) अतीन्द्रियज्ञान सर्व सत्का जानने वाला होनेसे वह मूर्त पदार्थको भी जानता अमूर्तको भी जानता । (१०) अतीन्द्रिय ज्ञान समंत प्रदेशोंसे जानता, इसके लिये सर्व भूत वर्तमान भविष्य ज्ञेयताका उल्लंघन न करनेसे समक्ष है, अतः वह ज्ञान भूत भविष्य वर्तमान सबको जानता है । (११) अतीन्द्रिय ज्ञान निष्कलंक, परमोत्कृष्ट व उपादेय है ।

सिद्धान्त—(१) परमात्मा निरावरण अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा स्वाधीनतया सर्व ज्ञेयोंको जानता रहता है ।

दृष्टि—१– स्वभावनय (१७९) ।

प्रयोग—स्वाभाविक ज्ञानपरिणमनके अविनाभावी सहज आनंदकी उपलब्धिके लिये सहज ज्ञानस्वभावको आत्मरूपसे उपासित करना ॥४१॥

अब ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप क्रिया ज्ञानमे से नही होती यह श्रद्धान करते हैं, ऐसी श्रद्धा व्यक्त करते हैं—[ज्ञाता] ज्ञाता [यदि]

अथ ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानान्न भवतीति श्रद्दधाति—

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥ ४२ ॥

ज्ञेयार्थो रूप यदि, जो परिणम जाय कोइ ज्ञाता ।
उसका ज्ञान न क्षायिक, कर्मक्षपक जिन कहें ऐसा ॥४२॥

परिणमति ज्ञेयमर्थं ज्ञाता यदि नव क्षायिक तस्य । ज्ञानमिति त जिनेन्द्रा क्षपयन्त कर्मैवोक्तवन्त ॥ ४२ ॥

परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षक्षयप्रवृत्तस्वाभा-

नामसंज्ञ—णेय अट्ठ णादार जदि ण एव खाइग त णाण ति त जिणिंद खवयत कम्म एव उत्त । **धातुसंज्ञ**—परि णम प्रह्वत्वे, वच्च व्यक्तायां वाचि । **प्रातिपदिक**—ज्ञेय अर्थ ज्ञातृ यदि न एव क्षायिक तत् ज्ञान इति तत् जिनेन्द्र क्षपयत् कर्म एव उक्तवत् । **मूलधातु**—परि णम प्रह्वत्वे, वच परिभाषणे । **उभयपद-विवरण**—णेय ज्ञेय अट्ठं अर्थं–द्वितीया एक० । परिणमदि परिणमति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । णादा ज्ञाता–प्र० एक० । जदि यदि ण न एव ति इति–अव्यय । खाइग क्षायिकं–प्रथमा एकवचन । तस्स तस्य–

यदि [**ज्ञेयं अर्थं**] ज्ञेय पदार्थरूप [**परिणमति**] परिणमित होता है तो [**तस्य**] उसके [**क्षायिक ज्ञानं**] क्षायिक ज्ञान [**न एव इति**] होता ही नही; इस प्रकार [**जिनेन्द्राः**] जिनेन्द्रदेवोने [**तं**] उसे [**कर्म एव**] कर्मको ही [**क्षपयन्तं**] अनुभव करने वाला [**उक्तवन्तः**] कहा है ।

तात्पर्य—ज्ञेय पदार्थरूप परिणमने वाले जीवको क्षायिक ज्ञान नही होता, वह तो बन्ध करने भोगने वाला होता है ।

टीकार्थ—यदि ज्ञाता ज्ञेय पदार्थरूप परिणमित होता हो, तो उसे सकल कर्मकक्षके क्षयसे प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपनका कारणभूत क्षायिक ज्ञान नही है अथवा उसे ज्ञान ही नही है; क्योकि व्यक्तिशः प्रति पदार्थ पदार्थकी परिणतिके द्वारसे मृगतृष्णामे जलसमूहकी कल्पना करनेकी भावना वाला वह आत्मा अत्यन्त दुःसह कर्मभारको ही भोगता हुआ है ऐसा जिनेन्द्रदेवोके द्वारा कहा गया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि अतीन्द्रिय ज्ञानके सारे ही सब प्रकारके पदार्थ ज्ञेय है । अब इस गाथामे कहा गया है कि ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया ज्ञान से नही होती ।

तथ्यप्रकाश—(१) बन्धका कारण राग द्वेष मोह है, ज्ञान नही । (२) यह लाल है यह हरा है इत्यादि विकल्परूपसे ज्ञेयार्थके अनुरूप परिणमन है तो वह क्षायिक ज्ञान नहीं है । (३) ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया तीन रूपोमें परखी जाती है— १– दर्शनमोहसंबंधित, २– दर्शनमोहरहितचारित्रमोहसम्बन्धित, ३– वीतराग क्षायोपशमिक ज्ञान सम्बन्धित । (४)

विकपरिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य । यतः प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभा- रसंभावनाकरणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जानः स जिनेन्द्रैरुद्गीतः ॥४२॥

षष्ठी एक० । णाण ज्ञानं–प्र० एक० । जिणिंदा जिनेन्द्रा–प्र० बहु० । खवयत क्षपयत कम्म कर्म–द्वि० ए० । उत्ता उक्तवन्त –प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—ज्ञातु योग्य ज्ञेय, अर्यते इति अर्थः, जानाति इति ज्ञाता, क्षये भव क्षायिक । **समास**—जिनानां इन्द्रा जिनेन्द्रा. ॥४२॥

आत्मरूपसे अङ्गीकृत ज्ञेयाकारके अनुरूप इष्टानिष्टादिविकल्पभावपरिणति दर्शनमोहसम्बन्धित ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया है । (५) आत्मरूपसे अंगीकृत न होनेपर भी ज्ञेयाकारके अनुरूप हर्ष विषादादि विकल्पभाव परिणति दर्शनमोहरहितचारित्रमोहसंबधित ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया है । (६) वीतरागछद्मस्थ श्रमणोके क्षायोपशमिक ज्ञानमे ज्ञानावरणदेशघातिस्पर्द्धक-विपाकवश होने वाली अस्थिरता वीतराग क्षायोपशमिक ज्ञानसम्बन्धित ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया है । (७) ज्ञेयार्थ परिणमन कर्मका अनुभवन है ज्ञानका नही । (८) यदि ज्ञान प्रत्येक अर्थरूप परिणाम कर जाया करे तो सर्व पदार्थका परिज्ञान सम्भव ही नही हो सकता । (९) बाह्य ज्ञेय पदार्थोके चिन्तनके समयमे रागादिविकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञान नही होनेसे वह चिन्तनरूप ज्ञान परमार्थतः ज्ञान ही नही है । (१०) निर्विकार सहज आनंदमय वर्तते हुए सहज जानन होना परमार्थत ज्ञान है । (११) ज्ञेय पदार्थोको अपनाना ज्ञानका स्वरूप नही । (१२) ज्ञेय पदार्थोमे रुकना ज्ञानका स्वरूप नही । (१३) ज्ञेयके सम्मुख उपयोगवृत्ति होना ज्ञानका स्वरूप नही । (१४) जैसे ज्ञेय है उस प्रकार जाननमात्र उपयोगवृत्ति होना ज्ञानका स्वभाव है ।

सिद्धान्त—(१) ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानदौर्बल्यजन्य परिणति है । (२) अनेक ज्ञेयाकारोसे करम्बित होनेपर भी ज्ञानमात्र जाननस्वरूप एक है ।

दृष्टि—१– विभावगुणव्यञ्जनपर्यायदृष्टि [२१३] । २– ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय [१७५] ।

प्रयोग—ज्ञेयके अनुरूप हर्षादि विकल्प न बनाकर सहज विश्राममे रहकर जो सहज जानन हो सो ही होओ ऐसा परमविश्रामका पौरुष करना ॥ ४२ ॥

यदि ऐसा है तो फिर ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी ज्ञेयार्थपरि-णमनस्वरूप क्रिया और उसका फल किस कारणसे उत्पन्न होता है, यह विवेचन करते है— [**उदयगताः कर्मांशाः**] उदयप्राप्त कर्मांश [**नियत्या**] नियमसे [**जिनवरवृषभैः**] जिनवर वृषभोके द्वारा [**भणिताः**] कहे गये है । [**तेषु**] उन कर्मांशोके होनेपर, [**विमूढः रक्तः दुष्टः वा**] जीव मोही, रागी अथवा द्वेषी होता हुआ [**बन्धं अनुभवति**] बन्धका अनुभव करता है ।

अथ कुतस्तर्हि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया तत्फलं च भवतीति विवेचयति —

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया ।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणु भवदि ॥ ४३ ॥

संसारी जीवोंके, उदयागत कर्म हैं कहे जिनने ।
उनमें मोही रागी, द्वेषी हो बन्ध अनुभवते ॥४३॥

उदयगता कर्मांशा जिनवरवृषभैः नियत्या भणिता । तेषु विमूढो रक्तो दुष्टो वा बन्धमनुभवति ॥ ४३ ॥

संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगताः पुद्गलकर्मांशाः सन्त्येव । अथ स सत्सु तेषु

नामसंज्ञ—उदयगद कम्मस जिणवरवसह णियदि भणिय त विमूढ रत्त दुट्ठ वा बध । **धातुसंज्ञ**—अनु भव सत्तायां, मुज्झ मूर्च्छायां, रज्ज रागे, दुस वैकृत्ये अप्रीतौ च । **प्रातिपदिक**—उदयगत कर्मांश जिनवरवृषभ नियति भणित तत् विमूढ रक्त दुष्ट वा बन्ध । **मूलधातु**—अनु भू सत्तायां, मुह वैचित्ये, रज रागे भ्वादि दिवादि, द्विष अप्रीतौ अदादि, वा दुष वैकृत्ये दिवादि । **उभयपदविवरण**—उदयगदा उदयगता कम्मसा कर्मांशा –प्रथमा बहु० । जिणवरसहेहिं जिनवरवृषभैः –तृतीया बहु० । णियदिणा नियत्या–

तात्पर्य—कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीव मोही रागी द्वेषी होता है व आगामी कर्मबन्ध भी करता है ।

टीकार्थ—संसारी जीवके नियमसे उदयगत पुद्गल कर्मांश होते ही है । और वह ससारी जीव उन उदयगत कर्मांशोके उदित होनेपर सचेतन करता हुआ मोह राग द्वेषमे परिणतपना होनेसे ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रियाके साथ युक्त होता है, और इसीलिये क्रियाके फलभूत बन्धको अनुभवता है । इस कारण यह सिद्ध हुआ कि मोहके उदयसे ही क्रिया और क्रियाफल होता है, ज्ञानसे नही ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि यदि ज्ञाता ज्ञेयार्थरूप परिणमता है याने यदि ज्ञाताके ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षण क्रिया है तो उसके स्वाभाविक ज्ञान है ही नही । अब इस गाथामे बताया गया है वह ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षण क्रिया क्यो होती है ?

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञेय पदार्थोके परिणमनके अनुरूप अपना परिणमन करना ज्ञेयार्थ परिणमन है । (२) अज्ञानियोका अन्तर्ज्ञेयार्थ मोहकलुषित आश्रयभूतनोकर्मानुरूप ज्ञेयाकार है । (३) जीव मोहपरिणत होनेसे ज्ञेयार्थपरिणमनक्रियाके साथ युक्त होता है । (४) ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया ज्ञानके कारण नही होती है । (५) ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया मोहभावके कारण होती है । (६) मोहभाव मोहकर्मके उदयका निमित्त पाकर होता है । (७) कर्मोंके उदयसे कर्मोंका बन्ध नही है । (८) कर्मोदयज देहादिकी क्रियावोसे भी कर्मोंका बन्ध नही है । (९) ज्ञेयार्थपरिणमनक्रियाके निमित्तसे कर्मोंका बन्ध है । (१०) मोहनीय कर्मका उदय

सचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते । तत एव च क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति । अतो मोहोदयात् क्रियाक्रियाफले न तु ज्ञानात् ॥४३॥

तृ० ए० । भणिदा भणिताः–प्र० बहु० कृदन्त क्रिया । तेसु तेषु–स० बहु० । विमूढो विमूढ. रत्तो रक्त दुट्ठो दुष्ट –प्रथमा एकवचन । बंध बन्ध–द्वि० एक० । अणुभवदि अनुभवति–वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति–जयतीति जिन', बधन बधः । समास–उदय गता उदयगता, जिनेषु वरा. तेषु वृषभा तैः ॥४३॥

रूप परिणमन उन्ही मोहनीय कर्म प्रकृतियोंमें होता है । (११) मोहप्रकृतिके उदयमे विकृत प्रकृतिमुद्रा उपयोगमें प्रतिफलित होती है । (१२) संसारी जीव उस प्रतिफलित प्रकृतिमुद्राको अपनी वर्तमान योग्यतानुसार आत्मसात् करता है । (१३) प्रकृतिमुद्राको आत्मसात् करते ही ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया हो जाती है । (१४) वीतराग छद्मस्थोंका ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप ज्ञेयार्थ-परिणमन पूर्वभूत ज्ञानकी अस्थिरताके सस्कारवश होता है । (१५) रागद्वेष मोहभाव नैमित्तिक हैं, प्रकृतिविपाकके प्रतिफलन हैं, आकुलतामय हैं, पराश्रयज हैं, अतः हेय है ।

सिद्धान्त—(१) उदयगत कर्मांशोमे मोही रागी द्वेषी जीव बन्धको अनुभवता है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४] ।

प्रयोग—बंधका कारण कर्मोदय नही, देहादि क्रिया नही, किन्तु मोह राग द्वेष भाव है ऐसा जानकर नैमित्तिक विकार भावोंसे उपयोग हटाकर अविकारस्वभावी स्वकीय अन्तस्तत्त्वमे उपयोग लगाना व रखना ॥४३॥

अब केवली भगवानके क्रिया भी क्रियाफलको अर्थात् बन्धको उत्पन्न नही करती यह उपदेश करते हैं—**[तेषाम् अर्हतां]** उन अरहन्त भगवन्तोंके **[काले]** उस समय **[स्थाननिषद्याविहाराः]** खड़े रहना, बैठना, विहार होना **[धर्मोपदेशः च]** और धर्मोपदेश होना **[स्त्रीणां मायाचारः इव]** स्त्रियोके मायाचारकी तरह **[नियतयः]** प्राकृतिक ही याने प्रयत्न बिना ही होता है ।

तात्पर्य—अरहंत प्रभुकी विहार उपदेश आदि क्रिया रागपूर्वक नही, किन्तु प्राकृतिक होती है ।

टीकार्थ—वास्तवमे जैसे स्त्रियोंके, प्रयत्नके बिना भी, उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे स्वभावभूत ही मायाके ढक्कनसे ढका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है, उसी प्रकार केवली भगवानके, प्रयत्नके बिना ही उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे खड़े रहना, बैठना, विहार होना और धर्मदेशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते हैं । और यह सब बादलके दृष्टांत से अविरुद्ध है । जैसे बादलके आकाररूप परिणमित पुद्गलोका चलना, ठहरना, गरजना और पानी बरसना ये सब पुरुषप्रयत्नके बिना भी देखे जाते है, उसी प्रकार केवली भगवानके

अथ केवलिनां क्रियापि क्रियाफल न साधयतीत्यनुशास्ति—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥ ४४ ॥

सामयिक थान आसन, विचरण धर्मोपदेश जिनवरका ।
स्वाभाविक सब होता, स्त्रीकी सामयिक मायावत् ॥४४॥

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम् । अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥ ४४ ॥

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते, तथा हि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते । अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात् । यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते, अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनां क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति ॥ ४४ ॥

नामसंज्ञ—ठाणणिसेज्जविहार धम्मुवदेस य त अरहंत काल मायाचार व्व इत्थी । **धातुसंज्ञ**—ट्ठा गतिनिवृत्तौ । **प्रातिपदिक**—स्थाननिषद्याविहार धर्मोपदेश च नियति तत् अर्हत् काल मायाचार इव स्त्री । **मूलधातु**—ष्ठा गतिनिवृत्तौ, अर्ह पूजायां । **उभयपदविवरण**—ठाणणिसेज्जविहारा स्थाननिषद्याविहारा –प्रथमा बहु० । धम्मुवदेसो धर्मोपदेश –प्र० ए० । च व्व इव–अव्यय । णियदयो नियतय –प्र० बहु० । तेसिं तेषां अरहंताणं अर्हतां–षष्ठी बहु० । काले काले–सप्तमी एक० । मायाचारो मायाचार –प्र० ए० । इत्थीणं स्त्रीणां–षष्ठी बहु० । **निरुक्ति**—स्त्यायति गर्भ अस्यां इति स्त्री । **समास**—स्थानं च निषद्या च विहारश्चेति स्थाननिषद्याविहारा , धर्मस्य उपदेश धर्मोपदेश , मायाया आचार मायाचार ॥४४॥

खड़े रहना इत्यादि प्रबुद्धिपूर्वक ही याने इच्छाके बिना ही देखा जाता है । इसलिये यह स्थानादिक व्यापार मोहोदयपूर्वक न होनेसे क्रियाविशेष होनेपर भी केवली भगवानके क्रियाफलभूत बन्धके साधन नहीं होते ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया व बन्धरूप क्रियाफल मोहादिभावसे होता है । अब इस गाथामें बताया गया है कि केवली भगवानकी क्रिया प्रयत्न बिना होनेसे क्रियाफलको अर्थात् बन्धको नहीं करती ।

तथ्यप्रकाश—(१) केवली भगवानके खड़ा होना, बैठना, विहार करना, ठहरना ये काययोगसम्बन्धित क्रियायें अघातिया कर्मके उदयसे सहज ही होती है । (२) केवली प्रभुकी दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेशरूप वचनयोगकी क्रिया भी अघातिया कर्मके उदयसे सहज होती

अथैवं सति तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयति—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥४५॥

अर्हन्त पुण्यफल है, यद्यपि उनकी क्रिया हि औदयिकी ।
तो भी मोहादिरहित, अतः उसे क्षायिकी मानी ॥ ४५ ॥

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषा क्रिया पुनर्हि औदयिकी । मोहादिभि विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥४५॥

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति । क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मसंभूतितया किलौदयिक्येव । अथैवंभूतापि सा

नामसंज्ञ—पुण्णफल अरहत त किरिया पुणो हि ओदइय मोहादि विरहिय त त खाइग त्ति मदा । **धातुसंज्ञ**- रह त्यागे, क्षि क्षये । **प्रातिपदिक**— पुण्यफल अर्हत् तत् क्रिया पुनस् हि औदयिकी मोहादि वि-

---

है । (३) प्रभुकी कोई भी क्रिया इच्छापूर्वक नही होती, क्योकि प्रभुके सूक्ष्मसे सूक्ष्म भी इच्छादि मोहनीय भावोका अभाव है । (४) प्रयत्न बिना प्राकृतिक होने वाली केवली भगवानकी क्रिया बन्धका कारण नही होती । (५) बन्धका कारण मात्र राग द्वेष मोह भाव है । (६) जैसे मेघाकारपरिणत पुद्गलोका गमन व अवस्थान पुरुषप्रयत्न बिना होता है ऐसे ही केवली भगवानका विहार व अवस्थान इच्छाके बिना व प्रयत्नके बिना होता है । (७) जैसे मेघाकार परिणत पुद्गलोका सयोग वियोगज गर्जन पुरुषप्रयत्न बिना सर्वाङ्गत होता है ऐसे ही केवली भगवानकी वचनयोगज व भव्यभाग्योदयज दिव्यध्वनि इच्छाके बिना अबुद्धिपूर्वक सर्वाङ्गतः होती है । (८) मोहनीयकर्मका क्षय होनेपर शेष तीन घाति कर्मोका क्षय होनेपर केवली प्रभु होता है सो प्रभुके इच्छा रचमात्र नही है । (९) इच्छारहित केवली भगवानकी क्रिया बन्धका कारण नही बन सकती ।

सिद्धान्त—(१) उपाधिके अभावमे द्रव्यका शुद्ध परिणमन होता है ।

दृष्टि—१- उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४अ] ।

प्रयोग—समस्त बन्धनोका मूल कारण इच्छा है ऐसा जानकर इच्छारहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमे उपयुक्त होना ॥ ४४ ॥

अब ऐसा होनेपर तीर्थंकरोंके पुण्यका विपाक अकिंचित्कर ही है, यह निश्चित करते है—[**अर्हन्तः**] अरहंत भगवान [**पुण्यफलाः**] पुण्यफल वाले है [**पुनः हि**] और [**तेषां क्रिया**] उनकी क्रिया [**औदयिकी**] औदयिकी होनेपर भी [**मोहादिभिः विरहिता**] मोहादिसे रहित है [**तस्मात्**] इसलिये [**सा**] वह [**क्षायिकी**] क्षायिकी [**इति मता**] मानी गई है ।

समस्तमहामोहमूर्धाभिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरञ्जकानाम-भावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत। अथानुमन्येत चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय ॥ ४५ ॥

रहिता तत् तत् क्षायिकी इति मता। **मूलधातु** - रह त्यागे, क्षि क्षये। **उभयपदविवरण**—पुण्णफला पुण्यफला अरहता अर्हन्त–प्र० बहु०। तेसि तेषा–षष्ठी बहु०। किरिया क्रिया ओदइया औदयिकी–प्र० ए०। पुणो पुन हि त्ति इति–अव्यय। मोहादीहि मोहादिभि:–तृतीया बहु०। विरहिया विरहिता सा सा खाइग क्षायिकी–प्रथमा एक०। तम्हा तस्मात्–पचमी एक०। मदा मता–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। **निरुक्ति**—अर्हन्तीति अर्हन्त, मोहन मोह, क्षये भवा क्षायिकी। **समास**—मोह: आदिर्येषा ते मोहादय तै ॥४५॥

तात्पर्य—अरहत भगवानके अघातिकर्मोदयज हुई क्रियायें बन्धका कारण नही और वे कर्म निष्फल नष्ट हो जाते है।

टीकार्थ—अरहन्त भगवान वास्तवमें पुण्यरूपी कल्पवृक्षके समस्त फल भले प्रकार परिपक्व हुए है जिनके ऐसे ही है, सो उनकी जो भी क्रिया है वह सब उस पुण्यके उदयके प्रभावसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिकी ही है। किन्तु ऐसी होनेपर भी वह सदा औदयिकी क्रिया महामोह राजाको समस्त सेनाके सर्वथा क्षय होनेपर उत्पन्न हुई है इस कारण मोह-रागद्वेषरूपी उपरजकोका अभाव होनेसे चैतन्यके विकारके कारणपनेको नही प्राप्त होती हुई कार्यभूत बन्धकी अकारणभूततासे और कार्यभूत मोक्षकी कारणभूततासे क्षायिकी ही क्यो न माननी चाहिये? और जब क्षायिकी ही मानी जावे तब कर्मविपाक भी उन अरहन्तोके स्वभावविघातके लिये नही होता।

प्रसङ्गविवरण—अनतरपूर्व गाथामे बताया गया था कि केवली प्रभुकी विहारादि क्रिया क्रियाफलको नही साधती है अर्थात् बन्धका कारण नही बनती। अब इस गाथामे बतलाया गया है कि केवली भगवानकी तरह सभी जीवोके स्वभावविघातका अभाव नही है।

तथ्यप्रकाश—(१) अरहत भगवान पुण्यरूपी कल्पवृक्षके पुष्ट परिपक्व फल हैं। (२) अरहंत भगवानकी विहारादि क्रिया अघातिया पुण्यकर्मके उदयसे होनेके कारण औदयिकी है, स्वाभाविकी नही और विकारभावपूर्वक नही। (३) अरहंत भगवानकी क्रिया औदयिकी होने पर भी चूकि वह क्रिया समस्तमोहकर्मका क्षय होनेपर हुई है अतः वहाँ उपरञ्जक मोह राग द्वेष रच भी नही है। (४) जहाँ मोह राग द्वेष रच भी नही है तथा विकारोंका व विकारोंके निमित्तभूत कर्मप्रकृतियोका मूलतः क्षय हो चुका है वहाँ अघातिया कर्मोदयसे क्रिया भी हो जाय तो भी क्रियाफल (बंध) नही है। (५) जिन अघातिया कर्मोंके उदयसे वीतराग सकलपर-

अथ केवलिनामिव सर्वेषामपि स्वभावविघाताभावं निषेधयति—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥ ४६ ॥

यदि संसारी आत्मा, शुभ अशुभ न हो स्वकीय परिणतिसे।
तो संसार भी नहीं, होगा सब जीववृन्दोंके ॥ ४६ ॥

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वयं स्वभावेन। संसारोऽपि न विद्यते सर्वेषां जीवकायानाम् ॥

यदि खल्वेकान्तेन शुभाशुभभावस्वभावेन स्वयमात्मा न परिणमते तदा सर्वदैव सर्वथा

नामसंज्ञ—जदि त सुह व असुह ण अत्त सय सहाव ससार वि ण सव्व जीवकाय। **धातुसंज्ञ**—हव सत्ताया, विज्ज सत्तायां। **प्रातिपदिक**— यदि तत् शुभ वा अशुभ न आत्मन् स्वय स्वभाव ससार अपि न सर्व जीवकाय। **मूलधातु**—भू सत्ताया, विद सत्ताया दिवादि। **उभयपदविवरण**—जदि यदि व वा ण न सय

मात्माके विहारादि क्रिया होती है वे कर्म अपना अनुभाग समाप्त कर खिर जाते है अतः वह औदयिकी क्रिया क्षायिकी ही है अर्थात् कर्मक्षय कराने वाली ही है। (६) जो क्रिया क्षायिकी हो जाय वह स्वभावविघात करने वाली कैसे मानी जा सकती है? (७) सकलपरमात्माके समवशरणादि लक्ष्मी व सातिशय विहार दिव्यध्वनि आदि पुण्यविपाकसे होता है तो भी उनका वह पुण्यविपाक अकिञ्चित्कर (संसार फल न देने वाला) ही होता है।

सिद्धान्त—(१) सकलपरमात्माके विहारादि क्रिया वीतरागता होनेके कारण क्षायिकी होती है।

दृष्टि—१- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४ब]।

प्रयोग—सर्व क्रियावोको औदयिकी निरखकर व अपने अन्तस्तत्त्वको अविकार चैतन्यस्वरूप निरखकर ज्ञातामात्र रहना ॥४५॥

अब केवली भगवानकी तरह समस्त जीवोके स्वभावविघातका अभाव होनेका निषेध करते है—[**यदि**] यदि [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**स्वयं**] स्वय [**स्वभावेन**] अपने भावसे [**शुभः वा अशुभः**] शुभ या अशुभ [**न भवति**] नही होता [**सर्वेषां जीवकायानां**] तो समस्त जीवनिकायोके [**संसारः अपि**] संसार भी [**न विद्यते**] विद्यमान नही है, यह प्रसंग आता है।

तात्पर्य—वीतराग होनेसे केवली प्रभुकी औदयिकी क्रिया बन्धका कारण नही है, किन्तु रागी मोही जीवका विकार व्यापार बन्धका कारण है और बन्धफलका, सुख दुःखका अनुभव करता है।

टीकार्थ—वस्तुतः यदि एकान्तसे यह माना जाये कि शुभाशुभभावरूप अपने भावसे

निर्विघातेन शुद्धस्वभावेनैवावतिष्ठते । तथा च सर्व एव भूतग्रामाः समस्तबन्धसाधनशून्यत्वा-दाजवंजवाभावस्वभावतो नित्यमुक्ततां प्रतिपद्येरन् । तच्च नाभ्युपगम्यते । आत्मनः परिणाम-धर्मत्वेन स्फटिकस्य जपातापिच्छरागस्वभावत्ववत् शुभाशुभस्वभावत्वद्योतनात् ॥४६॥

स्वयं वि अपि–अव्यय । सो स सुहो शुभ असुहो अशुभ आदा आत्मा ससारो संसार –प्रथमा एक० । सहावेण स्वभावेन–तृतीया एक० । सव्वेसि सर्वेषां जीवकायाणं जीवकायानां–षष्ठी बहु० । हवदि भवति विज्जदि विद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**––शोभनं शुभं, संसरणं संसारः । **समास**––स्वस्य भावः स्वभावः ॥ ४६ ॥

आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता, तो यह प्रसंग आता कि वह आत्मा सदा ही सर्वथा निर्विघात शुद्ध स्वभावसे ही रहता है । और इस प्रकार सभी जीवसमूह समस्त बन्धकारणोंसे रहित प्रसक्त होनेसे संसारके अभावरूप स्वभावके कारण नित्यमुक्तताको प्राप्त हो जायेंगे, किन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्फटिकमणिके जपाकुसुम और तमालपुष्पके रंग-रूप स्वभावपनेकी तरह आत्माके परिणामधर्मपना होनेसे शुभाशुभ स्वभावयुक्तता प्रकाशित होती है ।

प्रसंगविवरण––अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अरहंत भगवानके पुण्यविपाकवश सातिशय विहारादि क्रिया होती है, किन्तु उनका वह पुण्यविपाक स्वभावविघात न कर सकनेके कारण अकिंचित्कर ही है । अब इस गाथामें बताया गया है कि संसारी जीवोंकी चेष्टायें केवली भगवानकी तरह स्वभावविघात न कर सकें ऐसी नहीं है ।

तथ्यप्रकाश––(१) आत्माका स्वभाव विकाररूप परिणमनेका नहीं है । (२) मोहकर्मबद्ध जीवमें विकाररूप परिणमनेकी योग्यता हो जाती है । (३) मोहकर्मबद्ध जीव कर्मविपाकका प्रतिफलन होनेपर शुभ अशुभ भावसे स्वयं न परिणमे तो स्वयं सदा शुद्धदशामें रहा कहलायगा तब यों सभी प्राणी नित्य मुक्त हो गये जो कि प्रत्यक्षविरुद्ध है, फिर उपदेश व तप ज्ञान आदिकी आवश्यकता ही क्यों रहेगी ? (५) उपाधिसम्पर्कमें स्फटिक मणिकी तरह कर्मविपाकसम्पर्कमें जीव शुभ अशुभ विकाररूप खुद परिणम जाता है । (६) स्वभावदृष्टिसे कोई भी जीव शुभ अशुभ भावरूप नहीं परिणमता । (७) पर्यायदृष्टिमें अशुद्धनिश्चयनयसे जीव शुभाशुभ भावरूप परिणमता ही ज्ञात होता है । (८) जैसे केवली भगवानके शुभाशुभ भावोंका अभाव है ऐसे ही सब जीवोंके शुभाशुभ भावोंका अभाव नहीं समझ लेना । (९) राग द्वेष मोहसे उपरञ्जक संसारी जीवोंकी चेष्टायें स्वभावविघातक, बन्धकारी व सुख दुःखका अनुभव कराने वाली होती हैं ।

सिद्धान्त––(१) कर्मोदयविपाकके सान्निध्यमें जीव विकाररूप परिणमता है ।

अथ पुनरपि प्रकृतमनुसृत्यातीन्द्रियज्ञानं सर्वज्ञत्वेनाभिनन्दति—

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७॥

जो भूत भावि साम्प्रत, विषम विचित्र सब अर्थको जाने ।
युगपत् समंतसे उस-को क्षायिक ज्ञान बतलाया ॥ ४७ ॥

यत्तात्कालिकमितर जानाति युगपत्समन्तत सर्वम् । अर्थं विचित्रविषम तत् ज्ञान क्षायिक भणितम् ॥४७॥

तत्कालकलितवृत्तिकमतीतोदर्ककालकलितवृत्तिक चाप्येकपद एव **समन्ततोऽपि सकलम-प्यर्थजातं** पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणलक्ष्मीकटाक्षितानेकप्रकारव्यञ्जितवैचित्र्यमितरेतरविरोधधापिता-समानजातीयत्वोद्दामितवैषम्य क्षायिक ज्ञान किल जानीयात् । तस्य हि **क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानां**

नामसंज्ञ--ज तक्कालिय इदर जुगव समतदो सव्व अत्थ विचित्तविसम त णाण खाइग भणिय । **धातुसंज्ञ**--जाण अवबोधने, भण कथने । **प्रातिपदिक**--यत् तात्कालिक इतर युगपत् समन्ततः सर्व अर्थ विचित्रविषम तत् ज्ञान क्षायिक भणित । **मूलधातु**--ज्ञा अवबोधने, भण शब्दार्थ । **उभयपदविवरण**—जं

दृष्टि --१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४] ।

प्रयोग—सर्व आपदावोका मूल कर्मविपाकप्रतिफलनको अपनाना है, सो **निरापद** होनेके लिये कर्मसे, कर्मविपाकसे व कर्मविपाकप्रतिफलनसे **भिन्न अविकार ज्ञानमात्र अपनेको** निरखनेका पौरुष करना ॥४६॥

अब फिर भी प्रकरणगत विषयका **अनुसरण** करके **अतीन्द्रिय ज्ञानको सर्वज्ञपनेसे** अभिनन्दते है याने अतीन्द्रिय ज्ञानको सर्वज्ञताका गुणानुवाद करते है– **[यत्]** जो **[युगपद्]** एक ही साथ **[समन्ततः]** सर्व आत्मप्रदेशोसे **[तात्कालिकं]** तात्कालिक **[इतर]** या अतात्का-लिक **[विचित्रविषमं]** अनेक प्रकारके और मूर्त, **अमूर्त आदि असमान जातिके [सर्वं अर्थं]** समस्त पदार्थोंको **[जानाति]** जानता है **[तत् ज्ञानं]** उस ज्ञानको **[क्षायिकं भणितम्]** क्षायिक कहा गया है ।

टीकार्थ—वास्तवमे जिनमे पृथक् रूपसे **वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मीसे आलोकित अनेक प्रकारोके** कारण वैचित्र्य प्रगट **हुआ है और जिनमे परस्पर विरोधसे उत्पन्न होने वाली अस-मानजातीयताके** कारण वैषम्य प्रगट **हुआ है ऐसे वर्तमानमें वर्तते तथा भूत भविष्यत् कालमें वर्तने वाले समस्त पदार्थोंको सर्व आत्मप्रदेशोसे एक ही समयमें क्षायिक ज्ञान जान लेता है । वह क्षायिक ज्ञान क्रमप्रवृत्तिके हेतुभूत, क्षयोपशम अवस्थामें रहने वाले ज्ञानावरणीय कर्मपुद्-गलोंका अत्यन्त अभाव होनेसे वह तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थसमूहको समकालमें ही**

क्षयोपशमावस्थावस्थितज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामत्यन्ताभावात्तात्कालिकमतात्कालिकं वाप्यर्थ-जातं तुल्यकालमेव प्रकाशेत । सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्तःप्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशेत । सर्वावरणक्षयाद्देशावरणक्षयोपशमस्यानवस्थानात्सर्वमपि प्रकाशेत । सर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयादसर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विलयनाद्विचित्रमपि प्रकाशेत । असमानजातीयज्ञानावरणक्षयात्समानजातीयज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विनाशनाद्विषममपि प्रकाशेत ।

यत् तक्कालिक तत्कालिकं इदरं इतर सव्व सर्व अत्थं अर्थ विचित्रविसम विचित्रविषम–द्वितीया एक० । जुगव युगपत्–अव्यय । जाणदि जानाति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । त तत् णाण ज्ञान खाइग क्षायिक–

प्रकाशित करता है । सर्वतः विशुद्ध क्षायिक ज्ञान प्रतिनियत प्रदेशोकी विशुद्धिका सर्वविशुद्धि के भीतर डूब जानेसे अर्थसमूहको सर्व आत्मप्रदेशोंसे प्रकाशित करता है । सर्व आवरणोका क्षय होनेसे, देश आवरणका क्षयोपशम न रहनेसे वह सबको भी प्रकाशित करता है । सर्व प्रकार ज्ञानावरणके क्षयके कारण असर्वप्रकारके ज्ञानावरणका क्षयोपशम विलयको प्राप्त होनेसे वह विचित्र अर्थात् अनेक प्रकारके पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है । असमानजातीयज्ञानावरणके क्षयके कारण समानजातीयज्ञानावरणका क्षयोपशम नष्ट हो जानेसे वह विषम अर्थात् असमानजातिके पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है । अथवा अतिविस्तारसे कुछ लाभ नही, जिसका अनिवारित फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होनेसे क्षायिक ज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा सर्वको जानता ही है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि केवली भगवानकी तरह सभी संसारी जीवोके स्वभावविघातका अभाव हो ऐसा नही है । अब इस गाथामे केवली भगवानके प्रकरणके अनुसार ही प्रभुके अतीन्द्रिय ज्ञानको सर्वज्ञपनेके रूपसे अभिनंदित किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानावरणकर्मका पूर्ण क्षय हो जानेसे क्षायिक ज्ञान तीनो काल की वृत्ति वाले सब पदार्थोंको जान लेता है । (२) ज्ञानावरणकर्मका क्षय होनेसे ज्ञानावरण कर्मकी क्षयोपशम अवस्थाका प्रसंग ही नही, अतः क्षायिक ज्ञान क्रम क्रमसे पदार्थोंको नही जानता, किन्तु एक ही समयमें सबको जानता है । (३) पूर्ण निर्विकार होनेके कारण द्रव्येन्द्रियके प्रदेशोंसे ही जाननेका प्रसंग ही नहीं, अतः क्षायिक ज्ञान समस्त आत्मप्रदेशोसे जानता है । (४) सर्वार्थज्ञानावरणका क्षय होनेसे क्षायिक ज्ञान सबको ही जानता है । (५) सर्व प्रकार के ज्ञानके आवरणका क्षय हो जानेसे सर्व प्रकारके पदार्थोंको अर्थात् विचित्र विचित्र भी सब पदार्थोंको क्षायिक ज्ञान जानता है । (६) विभिन्न-विभिन्न जातिके पदार्थोंके ज्ञानके आवरण का क्षय हो जानेसे क्षायिक ज्ञान विषम विभिन्न विभिन्न जातिके पदार्थोंको जानता है ।

अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ॥४७॥

प्रथमा एकवचन। भणियं भणितं–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। निरुक्ति—अर्यते इति अर्थः त, क्षये भव क्षायिकं। समास—विचित्रं च विषमं च विचित्रविषमे तयोः समाहारः विचित्रविषम ॥४७॥

(७) पूर्ण निरावरण हो जानेसे ज्ञानका अनिवार्य असीम फैलाव हो जाना है, अतः क्षायिक ज्ञान सब समय, सब जगह, सब प्रकार सबको जानता ही रहता है। (८) परमात्माका ज्ञान अर्थात् क्षायिक ज्ञान त्रिलोकत्रिकालवर्ती सर्व पदार्थको जानता रहता है, सो यह ज्ञानस्वभाव का प्रताप है इस कारण वहाँ व्याकुलता नही, प्रत्युत अनत आनंद है। (९) घातिया कर्मों का क्षय हो जानेसे जैसे ज्ञानस्वभाव असीम विकसित हो जाता है ऐसे ही आनंदस्वभाव भी असीम विकसित हो जाता है। (१०) ज्ञान आनद आदि समस्त गुणोंका असीम विकास निश्चयतः आत्मप्रदेशोमे ही है।

सिद्धान्त—(१) घातियाकर्मोपाधिरहित परमात्मा त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेयाकारकरम्बित निर्विकार आत्माको जानते रहते हैं।

दृष्टि—१– स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायदृष्टि [२१२]।

प्रयोग—नियत आत्मप्रदेशोसे किसी किसीको ही क्रमपूर्वक जाननेको स्वभावप्रतिकूल कार्य जानकर ऐसे जाननसे विरक्त होकर निज सहज ज्ञानस्वभावमे उपयुक्त होकर सहज सत्य विश्राम करना ॥ ४७ ॥

अब जो सबको नही जानता वह एकको भी नही जानता, यह निश्चित करते हैं—[**यः**] जो [**युगपद्**] एक ही साथ [**त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्**] तीनो कालके और तीनों लोकके [**अर्थान्**] पदार्थोंको [**न विजानाति**] नही जानता, [**तस्य**] उसे [**सपर्ययं**] पर्यायसहित [**एकं द्रव्यं वा**] एक द्रव्य भी [**ज्ञातुं न शक्यं**] जानना शक्य नहीं है।

तात्पर्य—जो सबको नही जानता वह एक पदार्थको भी पूरा नही जान सकता।

टीकार्थ—इस विश्वमें एक आकाशद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असंख्य कालद्रव्य और अनंत जीवद्रव्य हैं तथा उनसे भी अनंतगुणे पुद्गलद्रव्य हैं, और उन्हीके प्रत्येकके अतीत, अनागत और वर्तमान ऐसे तीन प्रकारोसे भेद वाली निरवधि वृत्तिप्रवाहके भीतर पड़ने वाली अनंत पर्यायें हैं। इस प्रकार यह समस्त याने द्रव्यो और पर्यायोका समुदाय ज्ञेय है इनमे ही एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है। अब यहाँ जैसे समस्त दाह्यको जलाती हुई अग्नि समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसे समस्त दाह्याकार पर्यायरूप परिणमित सकल

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति –

जो ण विजाणादि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥

जो जानता न युगपत्, त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ अर्थोंको ।
वह जान नहीं सकता, एक सपर्यय द्रव्यको भी ॥ ४८ ॥

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान् । ज्ञातु तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा ॥ ४८ ॥

इह किलैकमाकाशद्रव्यमेकं धर्मद्रव्यमेकमधर्मद्रव्यमसंख्येयानि कालद्रव्याण्यनंतानि जीवद्रव्याणि । ततोऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि । तथैषामेव प्रत्येकमतीतानागतानुभूयमानभेदभिन्ननिरवधिवृत्तिप्रवाहपरिपातिनोऽनन्ताः पर्यायाः । एवमेतत्समस्तमपि समुदितं ज्ञेयं, इहैवैकं किंचिज्जीवद्रव्यं ज्ञातृ । अथ यथा समस्तं दाह्यं दहन् दहनः समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं परिणमति, तथा समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति ।

नामसंज्ञ—ज ण जुगव अत्थ तिक्कालिग तिहुवणत्थ त ण सक्क सपज्जय दव्व एग वा । **धातुसंज्ञ**—वि जाण अवबोधने, सक्क सामर्थ्ये । **प्रातिपदिक**- यत् न युगपत् अर्थ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ तत् न शक्य सपर्यय द्रव्य एक वा । **मूलधातु**—वि ज्ञा अवबोधने, शक्लृ सामर्थ्ये । **उभयपदविवरण** - जो य –प्र० ए० । विजाणदि विजानाति–वर्तमान अन्य पुरुष एक० क्रिया । अत्थे अर्थान् तिक्कालिगे त्रैकालिकान् तिहुवणत्थे त्रिभुवनस्थान्–द्वितीया बहु० । णादुं ज्ञातुं–हेत्वर्थे कृदन्त । तस्स तस्य–षष्ठी एक० । सक्कं शक्यं–प्रथमा

एक दहन जिसका स्वरूप है, ऐसे अपनेरूप परिणमित होती है, वैसे ही समस्त ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञाता याने आत्मा समस्त ज्ञेय जिसका निमित्त है ऐसे समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका स्वरूप है ऐसे चेतनताके कारण स्वानुभवप्रत्यक्षभूत निजरूप परिणमित होता है । ऐसा वास्तवमे द्रव्यका स्वभाव है । किंतु जो समस्त ज्ञेयको नही जानता वह आत्मा जैसे समस्त दाह्यको न जानती हुई अग्नि समस्तदाह्यहेतुक समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार है ऐसे अपने रूपमे परिणमित नही होती, उसी प्रकार समस्तज्ञेयहेतुक समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे अपने रूप स्वयं चेतनताके कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष होनेपर भी परिणमित नही होता, इस प्रकार यह फलित होता है कि जो सबको नही जानता वह अपनेको भी नहीं जानता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि क्षायिक ज्ञान अर्थात् परमात्माका ज्ञान त्रिलोकत्रिकालवर्ती सर्व प्रकारके सर्व पदार्थोंको जानता है । अब इस गाथामें

एवं किल द्रव्यस्वभावः । यस्तु समस्तं ज्ञेयं न जानाति स समस्त दाह्यमदहन् समस्तदाह्यहेतुक-समस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं दहन इव समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेया-कारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारमात्मानं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति । एवमेतदायाति यः सर्वं न जानाति स आत्मानं न जानाति ।। ४८ ।।

एक० कृदन्त । सपज्जय सपर्यय दव्व द्रव्यं एग एकं-द्वि० एक० । निरुक्ति—शक्तु योग्य शक्य, त्रिभुवने स्थिता' त्रिभुवनस्थाः तान् । समास—पर्ययेण सहित सपर्यय ।। ४८ ।।

बताया गया है कि जो त्रिलोकत्रिकालवर्ती सर्व पदार्थोंको युगपत् नही जानता है वह एक द्रव्यको नही जान सकता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य छह जातिके होते है—आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, जीवद्रव्य व पुद्‌गलद्रव्य । (२) आकाशद्रव्य एक ही है व असीम व्यापक है, इसके सर्व द्रव्योसे व्याप्त व अव्याप्त क्षेत्रकी दृष्टिसे लोकाकाश व अलोकाकाश ऐसे दो विभाग माने जाते है । (३) धर्मद्रव्य एक ही है व लोकाकाशप्रमाण है, यह जीव पुद्‌गलोकी गतिका नि-मित्तभूत है । (४) अधर्मद्रव्य एक है व लोकाकाशप्रमाण है, यह जीव पुद्‌गलोंकी स्थितिका निमित्तभूत है । (५) कालद्रव्य असंख्यात है और वे एक-एक कालद्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर ही अवस्थित है, ये सर्व द्रव्योके परिणमनके निमित्तभूत हैं । (६) जीवद्रव्य अनंता-नंत है और वे सब लोकाकाशमे ही है । (७) पुद्‌गलद्रव्य जीवद्रव्योसे भी अनंतानंत गुणे है और वे सब लोकाकाशमे ही है । (८) सभी द्रव्योमे अनन्त पर्यायें अतीत हो चुकी, अनन्त पर्यायें भविष्यमे होगी और वर्तमान पर्याय एक एक होती जाती है । (९) उक्त समस्त द्रव्य पर्यायोका समूह सब ज्ञेय है । (१०) सर्व ज्ञेयोमे केवल जीवद्रव्य ही ज्ञाता है । (११) कुछ कुछ ज्ञेयोको जाननेका स्वभाव ज्ञानका नही, ज्ञानका स्वभाव त्रैकालिक पर्यायोसहित समस्त ज्ञेयोंके जाननरूप आकारसे परिणमनेका है । (१२) जो ज्ञाता समस्त ज्ञेयोके जाननरूप आकारसे नही परिणम रहा वह अपने हो पूर्ण विलासरूप नहीं परिणम रहा । (१३) जो समस्त ज्ञेयोको नही जानता वह एक अपनेको भी पूर्ण रीत्या नही जानता । (१४) जो ज्ञाता अतीतानागत-वर्तमान पर्याय प्रतिबिम्बित स्व आत्मद्रव्यको नही जानता है वह अतीतानागतवर्तमानपर्याय सहित समस्त द्रव्योंको नही जानता वह किसी भी एक द्रव्यको पूर्ण रीत्या नही जानता ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा स्वभावत: सर्वज्ञेयाकाराक्रान्त निजको निश्चयत: जानता है ।

दृष्टि—१- सर्वगतनय (१७१) ।

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४६॥

अनंत पर्यायसहित, एक स्वयं द्रव्यको न जाने जो ।
सब अनंत द्रव्योंको, वह युगपत् जान नहिं सकता ॥४६॥

द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि । न विजानाति यदि युगपत् कथ स सर्वाणि जानाति ॥ ४६ ॥

आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव । ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम् । तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि । ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनाः । अथ यः सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनानन्तविशेषव्यापिप्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथं प्रतिभासमयमहासामान्यव्याप्यप्रतिभासमयानन्तविशेषनिबन्धनभूत-

---

नामसंज्ञ—दव्व अणतपज्जय एग अणत दव्व जाद ण जदि जुगव किध त सव्व । **धातुसंज्ञ** वि जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—द्रव्य अनतपर्यय एक अनत द्रव्यजात न यदि युगपत् कथ तत् सर्व । **मूलधातु**—वि ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—दव्व द्रव्य अणतपज्जय अनतपर्याय–द्वितीया एक० । अण-

---

प्रयोग—स्वयं सहज जो जाननेमे आये, आवे, हमको तो सहज प्रतिभासमय निज आत्माको जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

अब एकको न जानता हुआ ज्ञान सबको नही जानता, यह निश्चित करते है—

[यदि] यदि **[अनन्तपर्यायं]** अनन्त पर्याय वाले **[एकं द्रव्य]** एक द्रव्यको अर्थात् एक आत्मद्रव्यको **[न विजानाति]** नही जानता **[सः]** तो वह **[युगपद्]** एक ही साथ **[सर्वाणि अनन्तानि द्रव्यजातानि]** समस्त अनन्त द्रव्यसमूहको **[कथं जानाति]** कैसे जान सकता ?

तात्पर्य—सर्वज्ञेयाकारमय एक अपने आत्माको न जाननेपर सबका जानना कैसे हो सकता ?

टीकार्थ—आत्मा तो वास्तवमें स्वय ज्ञानमयपना होनेपर ज्ञातृत्वके कारण ज्ञान ही है; और ज्ञान प्रत्येक आत्मामे रहता हुआ प्रतिभासमय महासामान्य है । वह प्रतिभासमय अनन्तविशेषोंमें व्यापी है; और वे विशेष सर्वद्रव्यपर्यायनिमित्तक है । अब जो आत्मा सर्व द्रव्यपर्याय जिनके निमित्त हैं ऐसे अनन्त विशेषोंमें व्याप्त होने वाले प्रतिभासमय महासामान्य रूप आत्माका स्वानुभव प्रत्यक्ष नही करता, वह प्रतिभासमय महासामान्यके द्वारा व्याप्य प्रतिभासमय अनन्त विशेषोंके निमित्तभूत सर्व द्रव्यपर्यायोको कैसे प्रत्यक्ष कर सकेगा ? अर्थात् नही कर सकेगा इससे यह फलित होता है कि जो आत्माको नही जानता वह सबको नहीं

सर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात् । एवमेतदायाति य आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानाति । अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवतिष्ठते । एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभासमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति । यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत् ॥ ४६ ॥

ताणि दव्वजादाणि अनन्तानि द्रव्यजातानि–द्वितीया बहु० । ण न जदि यदि किध कथ जुगवं युगपत्–अव्यय । विजाणदि विजानाति जाणादि जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । सो स–प्र० एक० । सव्वाणि सर्वाणि–द्वितीया बहु० । **निरुक्ति**–द्रवति पर्यायान् इति द्रव्य । **समास**—न अन्त यस्य तत् अनन्तम्, द्रव्याणा जातानि द्रव्यजातानि ॥४६॥

जानता । अब यह निश्चित हुआ कि सर्वके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान और आत्माके ज्ञानसे सर्व का ज्ञान होता है और ऐसा होनेपर आत्मा ज्ञानमयताके कारण स्वसंचेतक होनेसे, ज्ञाता और ज्ञेयका वस्तुरूपसे अन्यत्व होनेपर भी प्रतिभास और प्रतिभासमान इन दोनोंका स्व अवस्था में अन्योन्य मिलन होनेके कारण उनका भेद करना अत्यन्त अशक्य होनेमे सब पदार्थसमूह आत्मामे प्रविष्ट हो गयेकी तरह प्रतिभासित होता है, यदि ऐसा न हो तो, अर्थात् यदि आत्मा सबको न जानता हो तो ज्ञानके परिपूर्ण आत्मसंचेतनका अभाव होनेसे परिपूर्ण एक आत्माका भी ज्ञान सिद्ध न होगा ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि सबको न जानने वाला आत्मा एकको भी पूर्णरीत्या नही जानता है । अब इस गाथामे बताया गया है कि एकको पूर्णरीत्या न जानने वाला आत्मा सबको नही जानता ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा स्वयं ज्ञानमय है, ज्ञाता है, ज्ञान ही है । (२) वह ज्ञान सामान्यदृष्टिसे आत्मगत प्रतिभासमय महासामान्यरूप है । (३) वह ज्ञान विशेषदृष्टिसे अनन्त विशेषोमें (अर्थोमे) व्यापने वाला अर्थात् अनन्त पदार्थोंको जानने वाला प्रतिभासमय है । (४) अनन्त सर्व पदार्थोंके जानने वाले ज्ञानके विषयरूप निमित्त सर्व द्रव्य पर्याय है । (५) सर्व द्रव्य पर्यायोंके निमित्तसे अनन्तविशेषोंमें व्यापने वाले प्रतिभासमय महासामान्यरूप अपने आत्माको स्वानुभव प्रत्यक्ष करनेके मायने सबका जानना कहते है । (६) जो सर्वार्थव्यापी प्रतिभासमय महासामान्यरूप एक निज आत्माको नही जान पाता वह सर्व अर्थोंको कैसे जान सकता है ? (७) सर्वके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान होता, आत्माके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान होता । (८) प्रतिभासप्रतिभासमानपनेके नातेसे सर्व पदार्थ आत्मामें जड़े हुएसे विदित होते हैं । (९) अपना ज्ञान और सबका ज्ञान एक साथ ही होता है । (१०) परिपूर्ण स्वयंका ज्ञान न हो

अथ क्रमकृतप्रवृत्त्या ज्ञानस्य सर्वगतत्वं न सिद्धयतीति निश्चिनोति—

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥५०॥

अर्थोंका आश्रय कर, क्रमसे यदि ज्ञान जीवका जाने ।
तो वह ज्ञान न होगा, नित्य न सर्वगत नहीं क्षायिक ॥५०॥

उत्पद्यते यदि ज्ञान क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिनः । तन्नैव भवति नित्य न क्षायिक नैव सर्वगतम् ॥ ५० ॥

यत्किल क्रमेणैकैकमर्थमालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञान तदेकार्थालम्बनादुत्पन्नमन्यार्थालम्बनात्

नामसंज्ञ—जदि णाण कमसो अट्ठ णाणि त ण एव णिच्च ण खाइग ण एव सव्वगद । **धातुसंज्ञ**—हव सत्ताया, उद पज्ज गतौ । **प्रातिपदिक**—यदि ज्ञान क्रमश अर्थ ज्ञानिन् तत् न एव नित्य न क्षायिक न एव सर्वगत । **मूलधातु**—भू सत्ताया, उत् पद गतौ । **उभयपदविवरण**—जदि यदि ण न णिच्च नित्य

तो सबका ज्ञान होना असभव है । (११) प्रतिभासमान सबका ज्ञान न हो तो एक पूर्ण **स्वयंका ज्ञान होना भी असभव है ।**

सिद्धान्त— सर्वज्ञदेव विश्वप्रतिभासमय निज आत्माको ही जानते है ।

दृष्टि— १– शुद्धनिश्चयनय (४६) ।

प्रयोग— अन्य पदार्थको जानना अशक्य ही है, अन्यपदार्थविषयक प्रतिभासमय निज **आत्माका** ही जानना हुआ करता है ऐसा जानकर अन्य पदार्थको जाननेका विकल्प भी न **कर अपने आपको** ही निरखनेका **पौरुष करना** ॥४६॥

अब यह निश्चित करते है कि **क्रमश**· प्रवृत्तिसे ज्ञानकी सर्वगतता सिद्ध नही होती— [**यदि**] यदि [**ज्ञानिनः ज्ञानं**] आत्माका ज्ञान [**क्रमशः**] क्रमशः [**अर्थान् प्रतीत्य**] पदार्थोंका **अवलम्बन** लेकर [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होता है [**तत्**] तो वह ज्ञान [**न एव नित्यं भवति**] न तो नित्य हो सकता, [**न क्षायिकं**] न क्षायिक हो सकता [**न एव सर्वगतम्**] और न सर्वगत हो सकता ।

तात्पर्य—क्रमप्रवृत्तिसे जानने वाला ज्ञान नित्य, क्षायिक व सर्वव्यापक नही हो सकता ।

टीकार्थ—जो ज्ञान क्रमशः एक एक पदार्थका अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है, वह एक पदार्थके अवलम्बनसे उत्पन्न हुआ दूसरे पदार्थके अवलम्बनसे नष्ट हुआ नित्य नही होना हुआ तथा कर्मोदयसे एक व्यक्तिको प्राप्त करके फिर अन्य व्यक्तिको प्राप्त करता हुआ क्षायिक भी न होता हुआ, अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको व्यापनेमे असमर्थता होनेके कारण सर्वगत नही है ।

प्रलीयमानं नित्यमसत्तथा कर्मोदयादेकां व्यक्ति प्रतिपन्नं पुनर्व्यक्त्यन्तरं प्रतिपद्यमान क्षायिकम-प्यसदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानाक्रान्तुमशक्तत्वात् सर्वगतं न स्यात् ।।५०।।

कमसो क्रमश –अव्यय । णाण ज्ञान खाइगं क्षायिक सव्वगदं सर्वगत–प्र० एक० । अट्ठे अर्थान्–द्वि० बहु० । पडुच्च प्रतीत्य–असमाप्तिकी क्रिया । णाणिस्स ज्ञानिन –पष्ठी एक० । त तत्–प्रथमा ए० । हवदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । **निरुक्ति**—ज्ञानं अस्यास्तीति ज्ञानी तस्य, क्षये भव क्षायिक । **समास**—सर्वेषु गत सर्वगत ।। ५० ।।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि जो एकको नही जानता वह सबको भी नही जानता । अब इस गाथामें बताया गया है कि क्रमक्रमप्रवृत्तिसे जाननहार ज्ञानके सर्वगतपना सिद्ध नही होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो ज्ञान क्रम क्रमसे एक एक अर्थका आश्रय करके जानता है वह सर्वगत अर्थात् सर्वज्ञ नही हो सकता । (२) क्रमवर्ती ज्ञान एक अर्थका आश्रय करके जानेगा तब पहिलेके अन्य अर्थका आश्रय न रहा सो वह ज्ञान नित्य न रहा तो सर्वकालके पदार्थोंको तो नही जान सकता । (३) जो ज्ञान एक अर्थका आश्रय करके जाननेके बाद उसका जानन छोडकर अन्य अर्थको आश्रय करके जाननेके बाद उसका जानना छोड़कर अन्य अर्थको आश्रय करके जानता है वह ज्ञान क्षायिक तो नही हो सकता सो कैसे अनन्त द्रव्योंके जाननरूप परिणमेगा ।

सिद्धान्त—(१) यह जीव क्रमवर्ती ज्ञान द्वारा अल्पज्ञ अपने आपको जानता है ।

दृष्टि—१- अस्वभावनय [१८०] ।

प्रयोग—क्रमवर्ती ज्ञानको अपनी अस्वभाववृत्ति जानकर उसमे आस्था न करके पर को जाननेका विकल्प न कर विशुद्ध प्रतिभासमात्र अपनेको निरखना ।। ५० ।।

अब युगपत् प्रवृत्तिके द्वारा ही ज्ञानका सर्वगतपना सिद्ध होता है, यह निश्चित करते है—[**त्रैकाल्यनित्यविषमं**] तीनो कालमे सदा विषम [**सर्वत्र संभवं**] सर्व क्षेत्रमे रहने वाले [**चित्रं**] विविध [**सकल**] समस्त पदार्थोंको [**जैनं**] जिनदेवका ज्ञान [**युगपत् जानाति**] एक साथ जानता है [**अहो हि**] अहो ! कैसा अद्भुत [**ज्ञानस्य माहात्म्यम्**] यह ज्ञानका माहात्म्य है ।

तात्पर्य—युगपद्वृत्तिसे जानने वाला ज्ञान ही सर्वज्ञ होता है ।

टीकार्थ—वास्तवमे क्षायिक ज्ञान सर्वोत्कृष्टताका स्थानभूत उत्कृष्ट माहात्म्य वाला है, और जो ज्ञान एक साथ ही समस्त पदार्थोंका अवलम्बन लेकर प्रवर्तता है वह ज्ञान टंकोत्कीर्णन्यायसे अवस्थित समस्त वस्तुओंका ज्ञेयाकारपना होनेसे जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है,

अथ यौगपद्यप्रवृत्त्यैव ज्ञानस्य सर्वगतत्वं सिद्धयतीति व्यवतिष्ठते—

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थ संभवं चित्तं ।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥५१॥

त्रैकाल्य नित्य व विषम, त्रिलोकके विविध सर्व अर्थोंको ।
ज्ञान प्रभूका जाने, युगपत् यह ज्ञानकी महिमा ॥ ५१ ॥

त्रैकाल्यनित्यविषम सकल सवत्र सभव चित्रम् । युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम् ॥ ५१ ॥

क्षायिक हि ज्ञानमतिशयास्पदीभूतपरममाहात्म्य, यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णन्यायावस्थितसमस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्व प्रतिपन्नसमस्तव्यक्तित्वेनाभिव्यक्तस्वभावभासिक्षायिकभाव त्रैकाल्येन नित्यमेव विषमीकृतां सकलामपि सर्वार्थसंभूतिमनन्तजातिप्रापितवैचित्र्यां परिच्छिन्ददक्रमसमाक्रान्तानन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया प्रकटीकृताद्भुतमाहात्म्यं सर्वगतमेव स्यात् ॥ ५१ ॥

नामसंज्ञ—तिक्कालणिच्चविसम सयल सव्वत्थ सभव चित्त जुगव जोण्ह अहो हि णाण माहप्प । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—त्रैकाल्यनित्यविषम सकल सर्वत्र सभव चित्र युगपत् जैन अहो हि माहात्म्य । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—तिक्कालणिच्चविमम त्रैकाल्यनित्यविषम सयल सकल सभव चित्त चित्र जोण्ह जैन माहप्प माहात्म्य–प्र० ए० । सव्वत्थ सर्वत्र जुगव युगपत् अहो हि–अव्यय । णाणस्स ज्ञानस्य–षष्ठी एक० । **निरुक्ति**—जयतीति जिन., जिनस्येदमिति जैन । **समास**—त्रैकाल्ये नित्य विषम इति त्रैकाल्यनित्यविषम ॥ ५१ ॥

और समस्त विशेषोको प्राप्त कर लेनेसे स्वभावप्रकाशक क्षायिकभाव प्रगट किया है जिसने ऐसा त्रिकालमे सदा विषम रहने वाले और अनन्त प्रकारोके कारण विचित्रताको प्राप्त सपूर्ण सर्व पदार्थोंके समूहको जानता हुआ, अक्रमसे अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको प्राप्त होनेसे अद्भुत माहात्म्य प्रगट किया है जिसने ऐसा वह ज्ञान सर्वगत ही है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे बताया गया था कि क्रम-क्रमसे जानने वाले ज्ञान के सर्वगतपना नही सिद्ध होता । अब इस गाथामे बताया गया है कि एक साथ त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेयोके जानने वाले ज्ञानके ही सर्वगतपना सिद्ध होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानका स्वभाव जानना है । (२) स्वतः जाननमे ज्ञेयकी छांट नही होती कि इसको जानना इसको नही जानना । (३) ज्ञानशक्तिपर ज्ञानावरणकर्मका आवरण होनेसे क्षयोपशमानुसार ज्ञेयकी छांट होती है । (४) जहाँ ज्ञानावरण कर्मका क्षय हो चुका है वहाँ इस क्षायिक ज्ञानका असीम विकास स्वभावतः होता ही है । (५) क्षायिक ज्ञान उत्कृष्ट परममाहात्म्यमय ही है । (६) सदा सर्व अर्थोंको विषय करता हुआ जानता

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूतं बन्धं प्रतिषेधयन्नुपसंहरति—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५२ ॥

परिणमता न न गहता, उन अर्थोंमें न आत्मा उपजता।
उनको विजानता भी, यह इस ही से अबन्धक है ॥५२॥

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु। जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्तः ॥ ५२ ॥

इह खलु 'उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया। तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥' इत्यत्र सूत्रे उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु सचेतयमानो मोहराग-द्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमानः क्रियाफलभूतं बंधमनुभवति, न तु ज्ञानादिति प्रथममेवार्थपरिणमनक्रियाफलत्वेन बन्धस्य समर्थितत्वात्। तथा 'गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि ण पर परिणमदि केवली भगवं। पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेस ॥'

नामसंज्ञ—ण वि ण ण एव त अट्ठ त अत्त अबधग त पण्णत्त। **धातुसंज्ञ**—परि णम प्रह्वत्वे, गिण्ह ग्रहणे, उद् पज्ज गतौ, जाण अवबोधने। **प्रातिपदिक**—न अपि न एव तत् अर्थ तत् आत्मन् अबंधग त पण्णत्त। **मूलधातु**—परि णम प्रह्वत्वे, ग्रह ग्रहणे, उत् पद गतौ, ज्ञा अवबोधने। **उभयपदविवरण**—ण न

रहनेसे क्षायिक ज्ञान नित्य है। (७) सदा सर्वप्रकारके सर्व पदार्थोंको सर्वात्मप्रदेशोसे जानने वाला ज्ञान सर्वगत कहलाता है।

सिद्धान्त—(१) व्यवहारसे आत्मा सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है। (२) शुद्ध निश्चयसे आत्मा परिपूर्ण प्रतिभासमय अपने आपका ज्ञाता है।

दृष्टि—१- स्वाभाविक उपचरित स्वभावव्यवहार [१०५अ]। २- शुद्धनिश्चयनय [४६]।

प्रयोग—सर्वज्ञ होनेका विकल्प नही करना, क्योंकि वीतराग होनेका तो वह फल ही है, आत्मीय आनन्द तो वीतरागताके कारण है ऐसा जानकर अविकारस्वभाव सहज अन्तस्तत्त्वमय अपना अनुभव करना ॥ ५१ ॥

अब ज्ञानीके (केवलज्ञानी आत्माके) ज्ञप्तिक्रियाका सद्भाव होनेपर भी क्रियाफलरूप बन्धका निषेध करते हुए उपसंहार करते है—[**आत्मा**] आत्मा [**तान् जानन् अपि**] पदार्थोंको जानता हुआ भी [**न अपि परिणमति**] न तो उसरूप परिणमित होता, [**न गृह्णाति**] न ही उन्हें ग्रहण करता, [**न एव तेषु अर्थेषु उत्पद्यते**] और न ही उन पदार्थोंके रूपमे उत्पन्न होता है [**तेन**] इस कारण [**अबन्धकः प्रज्ञप्तः**] वह ज्ञानी अबन्धक कहा गया है।

इत्यर्थपरिणमनादिक्रियाणामभावस्य शुद्धात्मनो निरूपितत्वाच्चार्थानपरिणमनोऽगृह्णंस्तेष्वनुत्पद्यमानस्य चात्मनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि न खलु क्रियाफलभूतो बन्धः सिद्धचेत् ॥ ५२ ॥

वि अपि न एव–अव्यय । तेसु तेषु अट्ठेसु अर्थेषु–सप्तमी बहु० । परिणमदि परिणमति गेण्हदि गृह्णाति उप्पज्जदि उत्पद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जाणं जानन्–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया ।

तात्पर्य—प्रभु सबको जानते हुए भी उनका किसीसे कुछ संसर्ग नही अतः सर्वज्ञ प्रभु बन्धरहित है।

टीकार्थ—यहां "उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहि णियदिणा भणिया । तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥" इस गाथा सूत्रमे "उदयगत पुद्गल कर्मांशोके होनेपर अनुभव करने वाला जीव मोह-राग-द्वेषमे परिणतपना होनेसे ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप क्रियाके साथ युक्त होता हुआ क्रियाफलभूत बन्धको अनुभवता है, किन्तु ज्ञानसे नही" इस प्रकार पहले ही अर्थ-परिणमनक्रियाके फलरूपसे बन्धका समर्थन किया गया है तथा "गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि ण परं परिणमदि केवली भगवं । पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेस ॥" इस गाथा सूत्रमे शुद्धात्माके अर्थपरिणमनादि क्रियाओके अभावका निरूपण किया गया होनेसे पदार्थरूप मे परिणमित नही होते हुए, उसे ग्रहण नही करते हुए और उसरूप उत्पन्न नही होते हुए आत्माके ज्ञप्तिक्रियाका सद्भाव होनेपर भी वास्तवमे क्रियाफलभूत बन्ध सिद्ध नही होता ।

अब पूर्वोक्त आशयको काव्य द्वारा कहकर, केवलज्ञानी आत्माकी महिमा बताते है—**जानन्** इत्यादि—**अर्थ**—कर्मोको छेद डाला है जिसने ऐसा यह आत्मा भूत, भविष्यत् और वर्तमान समस्त विश्वको एक ही साथ जानता हुआ भी मोहके अभावके कारण पररूप परिणमित नही होता, इस कारण अत्यन्त विकसित ज्ञप्तिके विस्तारसे स्वयं पी डाला है ज्ञेयाकारोको जिसने ऐसा वह ज्ञानमूर्ति तीनो लोकके पदार्थोको पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ मुक्त ही रहता है । इस प्रकार ज्ञान-अधिकार समाप्त हुआ ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि युगपद्वृत्तिसे ही जाननेमे ज्ञानका सर्वगतपना सिद्ध होता है । अब इस गाथामे सर्वज्ञदेवके ज्ञप्तिक्रिया निरन्तर होते रहनेपर भी उसके क्रियाफलभूत बन्धका प्रतिषेध किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जाननक्रिया होनेपर भी यदि आत्मा ज्ञेयार्थपरिणमन क्रियासे युक्त नही है तो उसके कर्मबन्ध नही होता । (२) मोहनीय कर्मका उदय होनेपर वेदन करने वाला जीव मोह रागद्वेष भावसे परिणत होता है । (३) मोह रागद्वेषसे परिणत जीव ज्ञेयार्थ-परिणमन क्रियासे युक्त होता है । (४) ज्ञेयार्थपरिणमन क्रियासे युक्त हो रहा जीव क्रियाफल-

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा। तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीतज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥४॥ इति ज्ञानाधिकारः।

ते तान्–द्वि० बहु०। आदा आत्मा–प्र० एक०। अबधगो अबन्धकः–प्र० एक०। पण्णत्तो प्रज्ञप्त –प्र० एक० कृदन्त क्रिया। तेण तेन–तृतीया एक०। **निरुक्ति**–बध्नातीति बधक, न बन्धक इति अबन्धक ॥५२॥

भूत बन्धको अनुभवता है। (५) मोहनीयकर्मका उदित अनुभाग उपयोगभूमिकामें प्रतिफलित होता है। (६) प्रतिफलित अनुभागको स्वीकार करनेसे मोह राग द्वेष भाव होता है। (७) मोह राग द्वेष भाव होनेसे विषयभूत ज्ञेय पदार्थके परिणमनके अनुसार जीव अपना परिणाम बनाता है। (८) ज्ञेय पदार्थके परिणमनके अनुसार इष्ट अनिष्ट आदि भावरूप परिणाम बनाने को ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया कहते है। (९) केवली भगवान परपदार्थको न तो ग्रहण करते है, न छोडते है, न परिणमाते है, न ज्ञेय अर्थके परिणमनके अनुसार परिणमते है, वे तो केवल देखते जानते है। (१०) इष्ट अनिष्ट बुद्धि न कर मात्र देखने जानने वालेको ज्ञाता द्रष्टा कहते है। (११) सर्वज्ञदेव वीतराग है, ज्ञाता द्रष्टा है, अत उनके ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया नही होती, केवल ज्ञप्तिक्रिया होती। (१२) कुछ भी विकल्प न कर मात्र जाननेको ज्ञप्तिक्रिया कहते है। (१३) सर्वज्ञदेवके ज्ञप्तिक्रिया है, किन्तु ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया नहीं, अतः केवली प्रभुके सर्वविश्वज्ञेयाकाराक्रान्त होनेपर भी कर्मबन्ध नही होता। (१४) प्रभुका कार्य अर्थात् कर्म ज्ञान (जानना) है। (१५) कोई भी कार्य क्रिया बिना नहीं होता। (१६) निश्चयतः कर्म और क्रिया उस एक ही द्रव्यमे है। (१७) ज्ञान (जानन) की क्रियाको ज्ञप्तिक्रिया कहते है। (१८) भगवान ज्ञानको ही ग्रहण करते है, अतः ज्ञान प्राप्य होनेसे ज्ञान ही प्रभुका कर्म है। (१९) प्रभु ज्ञानरूप ही परिणमित होते है, अतः ज्ञान विकार्य होनेसे ज्ञान ही प्रभुका कर्म है। (२०) प्रभु ज्ञानरूप ही उत्पन्न होते है, अतः ज्ञान ही निर्वर्त्य होनेसे ज्ञान ही प्रभुका कर्म है। (२१) ज्ञप्तिक्रियाका फल निरपेक्ष सहज आनन्द है। (२२) ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया का फल कर्मबन्ध है।

सिद्धान्त— (१) उपाधिका अभाव होनेसे भगवानका शुद्ध ज्ञानपरिणमन होता है।

दृष्टि—१– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४अ]।

प्रयोग—संसारसकटोके कारणभूत कर्मबन्धसे हटनेके लिये अविकार चैतन्यस्वभावमे उपयुक्त होकर ज्ञाता द्रष्टा रहनेका पौरुष करना ॥५२॥

अब ज्ञानसे अभिन्न सुखके स्वरूपको विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए ज्ञान और सुख

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूप प्रपञ्चयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति —

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु ।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

अर्थोंका ज्ञान व सुख, मूर्त अमूर्त इन्द्रियज अतीन्द्रिय ।

हो जो इनमें उत्तम, वही उपादेय है मानो ॥ ५३ ॥

अस्त्यमूर्त मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रिय चार्थेषु । ज्ञान च तथा सौख्य यत्तेषु पर च तत् ज्ञेयम् ॥ ५३ ॥

अत्र ज्ञानं सौख्यं च मूर्तमिन्द्रियजं चैकमस्ति । इतरदमूर्तमतीन्द्रियं चास्ति । तत्र यद-मूर्तमतीन्द्रिय च तत्प्रधानत्वादुपादेयत्वेन ज्ञातव्यम् । तत्राद्यं मूर्ताभि क्षायोपशमिकीभिरुपयोग-

नामसंज्ञ—अमुत्त मुत्त अदिंदिय इदिय च अत्थ णाण च तहा सोक्ख ज त पर च त णेय । **धातुसंज्ञ**—अस सत्ताया, ज्ञा अवबोधने । **प्रातिपदिक**—अमूर्त मूर्त अतीन्द्रिय इन्द्रिय च अर्थ ज्ञान च सौख्य यत् तथा तत् पर ज्ञेय । **मूलधातु**—अस भुवि, ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**— अमुत्त अमूर्त मुत्त मूर्त अतीन्द्रिय

की हेयोपादेयताका चिन्तन करते है—[**अर्थेषु ज्ञानं**] पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान [**अमूर्तं मूर्तं**] अमूर्त, मूर्त [**अतीन्द्रिय ऐन्द्रियं च अस्ति**] अतीन्द्रिय और ऐन्द्रिय होता है, [**च तथा सौख्यं**] और इसी प्रकार अर्थात् अमूर्त, मूर्त, अतीन्द्रिय और ऐन्द्रिय सुख होता है । [**तेषु च यत् परं**] उनमे जो उत्कृष्ट है [**तत् ज्ञेय**] वह उपादेयरूप जानने योग्य है ।

तात्पर्य—अमूर्त व अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सुख ही उत्कृष्ट और उपादेय है ।

टीकार्थ—यहां एक तो ज्ञान और सुख मूर्त और इन्द्रियज है; और दूसरा ज्ञान तथा सुख अमूर्त और अतीन्द्रिय है वह प्रधान होनेसे उपादेयरूप जानना । यहाँ पहला ज्ञान तथा सुख अर्थात् मूर्त व इन्द्रियज ज्ञान और सुख मूर्तरूप क्षायोपशमिक उपयोगशक्तियोसे उस-उस प्रकारकी इन्द्रियोके द्वारा उत्पन्न होता हुआ पराधीन होनेसे कादाचित्क, क्रमश· प्रवृत्त होने वाला, सप्रतिपक्ष और हानिवृद्धियुक्त है, अतः गौण है, यह समझकर वह हेय है, और दूसरा ज्ञान तथा सुख अर्थात् अमूर्त अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख अमूर्तरूप चैतन्यानुविधायी एकाकी आत्म-परिणाम शक्तियोसे तथाविध अतीन्द्रिय, स्वाभाविक चिदाकारपरिणामोके द्वारा उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त आत्माधीन होनेसे नित्य, युगपत् प्रवर्तमान, निःप्रतिपक्ष और हानिवृद्धिरहित है, अतः मुख्य है, यह समझकर वह उपादेय है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि सर्वज्ञदेवके ज्ञप्तिक्रिया होनेपर भी कर्मबन्ध नही होता । अब इस गाथामें ज्ञानसे अभिन्न सौख्यका स्वरूप निर्दिष्ट कर ज्ञान और सौख्यमे कौनसा ज्ञान व सौख्य हेय है और कौनसा ज्ञान व सौख्य उपादेय है यह बताया

शक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्यः समुत्पद्यमान परायत्तत्वात् कादाचित्कं, क्रमकृतप्रवृत्ति सप्रतिपक्षं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्य च हेयम् । इतरत्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानुविधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणामशक्तिभिस्तथाविधेभ्यः स्वाभाविकचिदाकारपरिणामेभ्यः समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्यं, युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्य चोपादेयम् ॥ ५३ ॥

अदिदिय इदिय इन्द्रिय णाण ज्ञान सोक्ख सौख्य ज यत् त तत्–प्रथमा एक० । णेय ज्ञेय–प्र० ए० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—न मूर्त अमूर्त, सुखयन सुख तस्य भाव. सौख्य । **समास**—इन्द्रिय अतिक्रान्त अतीन्द्रिय ॥ ५३ ॥

गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञान दो प्रकारका होता है—१– मूर्त इन्द्रियज ज्ञान, २– अमूर्त अतीन्द्रिय ज्ञान । (२) सौख्य भी दो प्रकारका है— १– मूर्त इन्द्रियज सौख्य, २– अमूर्त अतीन्द्रियज सौख्य । (३) उपादानदृष्टिसे मूर्त क्षायोपशमिक उपयोगशक्तियो द्वारा व निमित्तदृष्टिसे मूर्त इन्द्रियो द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान व सौख्य मूर्त इन्द्रियज कहलाता है । (४) अमूर्त अकेली चैतन्यपरिणमन शक्तियोके द्वारा उत्पन्न हुआ इन्द्रियातीत ज्ञान व सौख्य अमूर्त अतीन्द्रिय कहलाता है । (५) मूर्त इन्द्रियज ज्ञान व सौख्य पराधीन होनेसे अनित्य है । (६) मूर्त इन्द्रियज ज्ञान व सौख्य पराधीन होनेसे क्रमसे अपनी प्रवृत्ति कर पाता है । (७) मूर्त इन्द्रियज ज्ञान व सौख्य अज्ञानसे व दुःखसे सहित है । (८) मूर्त इन्द्रियज ज्ञान व सौख्य हानि व वृद्धिसे सहित है । (९) विनश्वर क्रमवर्ती अज्ञानरूप दुःखव्याप्त विषम ज्ञान एव सौख्य हेय है । (१०) अमूर्त अतीन्द्रिय ज्ञान व सौख्य पूर्ण आत्माधीन होनेसे नित्य है, एक साथ परिपूर्ण प्रवर्तने वाला है, अज्ञान व दुःखसे बिल्कुल रहित है एव हानि वृद्धिसे रहित असीम परिपूर्ण होनेसे उपादेय है ।

सिद्धान्त—(१) प्रभुका ज्ञान व सौख्य आत्मोत्थ व स्वाभाविक है । (२) मोही प्राणियोंका ज्ञान व सौख्य निमित्तापेक्ष एवं विकृत है ।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय [४६] । २– अशुद्धनिश्चयनय [४७] ।

प्रयोग—हेयभूत मूर्त इन्द्रियज ज्ञान व सौख्यसे उपेक्षा करके उपादेयभूत अमूर्त व अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सौख्यके लाभके लिये अमूर्त सहज चैतन्यस्वरूपका अवलंबन करना ॥५३॥

अब अतीन्द्रिय सुखका साधनीभूत अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है, ऐसा अभिस्तवन करते हैं अर्थात् उसका आस्थाके साथ गुणानुवाद करते हैं—**[प्रेक्षमाणस्य यत्]** देखने वालेका जो

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति—

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं ।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥५४॥

ज्ञान प्रत्यक्ष वह जो, द्रष्टाका ज्ञान जानता होवे ।
मूर्त अमूर्त अतीन्द्रिय, प्रच्छन्न स्व पर समस्तोंको ॥५४॥

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम् । सकलं स्वकं च इतरत् तद्ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम् ॥ ५४ ॥

अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियं यत्प्रच्छन्नं च तत्सकलं स्वपरविकल्पान्तःपाति प्रेक्षत एव । तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसाम्प्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टृत्व

नामसंज्ञ—जं पेच्छंत अमुत्त मुत्त अदिदिय च पच्छण्ण सयल सग च इदर त णाण पच्चक्ख । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां । **प्रातिपदिक**—यत् प्रेक्षमाण अमूर्त मूर्त अतीन्द्रिय च प्रच्छन्न सकल स्वक इतर तत् ज्ञान प्रत्यक्ष । **मूलधातु**—भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—जं यत् अमुत्तं अमूर्तं अदिंदियं अतीन्द्रियं पच्छण्णं प्रच्छन्नं सयलं सकलं—द्वि० एक० । पेच्छदो प्रेक्षमाणस्य—षष्ठी एक० । मुत्तेसु मूर्तेषु—सप्तमी बहुवचन ।

ज्ञान [**अमूर्तं**] अमूर्तको, [**मूर्तेषु**] मूर्त पदार्थोंमे भी [**अतीन्द्रियं**] इन्द्रियागोचर परमाणु आदिको [**च प्रच्छन्नं**] और प्रच्छन्नको, [**स्वकं च इतरत्**] ऐसे स्व तथा पररूप [**सकलं**] उन सबको जानता है [**तत् ज्ञानं**] वह ज्ञान [**प्रत्यक्षं भवति**] प्रत्यक्ष है ।

तात्पर्य—अतीन्द्रिय ज्ञान अमूर्त इन्द्रियागोचर गुप्त स्व पर सभी पदार्थोंको प्रत्यक्ष रूपसे जानता है ।

टीकार्थ—जो अमूर्त है, जो मूर्त पदार्थोंमे भी अतीन्द्रिय है, और जो प्रच्छन्न (ढका हुआ) है, उस सबको जो कि स्व और पर इन दो भेदोमे समा जाता है उस सबको अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है । अमूर्त धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदिकोमे और मूर्त पदार्थोंमे भी अतीन्द्रिय परमाणु आदिकोमे तथा द्रव्यप्रच्छन्न काल आदिकोंमे, क्षेत्रप्रच्छन्न अलोकाकाशके प्रदेश आदिकोमे, कालप्रच्छन्न असाम्प्रतिक (अतीत अनागत) पर्यायोमें तथा भाव-प्रच्छन्न स्थूलपर्याय अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायोमें, स्व और परकी व्यवस्थासे व्यवस्थित उन सबमे ही उस अतीन्द्रिय ज्ञानके द्रष्टापन है, प्रत्यक्षपना होनेसे । वास्तवमें अनन्त शुद्धिका सद्भाव प्रगट हुआ है जिसके ऐसे चैतन्यसामान्यके साथ अनादिसिद्ध सम्बन्ध वाले एक ही अक्ष नामक आत्माके प्रति जो नियत है जो इन्द्रियादिक अन्य सामग्रीको नही ढूंढता, और जो अनन्तशक्तिके सद्भाव

प्रत्यक्षत्वात् । प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसन्निधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धमेक-मेवाक्षनामानमात्मानं प्रतिनियतमितरां सामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव दाह्याकाराणां ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत । अतस्तदुपादेयम् ॥ ५४ ॥

इदर इतर त तत् णाण ज्ञान पच्चक्ख प्रत्यक्ष–प्रथमा एक० । हवदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । **निरुक्ति**—प्रकर्षेण ईक्षते इति प्रेक्षमाणः तस्य । **समास**—इन्द्रिय अतिक्रान्तं अतीन्द्रियं ॥ ५४ ॥

के कारण अनन्तताको प्राप्त है, ऐसा तथा दहनके दाह्याकारोंकी तरह ज्ञानके ज्ञेयाकारोंका उल्लघन न होनेसे यथोक्त प्रभावका अनुभव करता हुआ वह प्रत्यक्ष ज्ञान किसके द्वारा रोका जा सकता है ? अत. अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि इन्द्रियज ज्ञान व सुख हेय है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख उपादेय है । अब इस गाथामें उपादेयभूत अतीन्द्रिय सुख को व उसके साधनीभूत अतीन्द्रिय ज्ञानको उपादेय बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश— (१) अतीन्द्रिय ज्ञान अमूर्तको, इन्द्रियागम्य मूर्तको, द्रव्यप्रच्छन्नको, क्षेत्रप्रच्छन्नको, कालप्रच्छन्नको, भावप्रच्छन्नको सभी स्व-पर पदार्थोंको जानता है । (२) धर्म, अधर्म, आकाश, काल व जीव पदार्थ अमूर्त है । (३) परमाणु व अति सूक्ष्मस्कन्ध इन्द्रिया-गम्य मूर्त हैं । (४) काल आदिक पदार्थ द्रव्यप्रच्छन्न है । (५) अलोकाकाशके प्रदेश आदिक क्षेत्रप्रच्छन्न है । (६) भूत भविष्यत् पर्यायें कालप्रच्छन्न है । (७) स्थूल पर्यायोंमें अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें भावप्रच्छन्न हैं । (८) समस्त पदार्थ स्व व परकी व्यवस्थामें व्यवस्थित हैं । (९) प्रभुका अतीन्द्रियज्ञान सकलप्रत्यक्ष है । (१०) सकलप्रत्यक्षमें अनन्त ज्ञेय ज्ञात होते ही है ऐसा ही ज्ञानस्वभावके कारण व ज्ञेयस्वभावके कारण अनिवारित नियम है ।

सिद्धान्त—(१) निरुपाधि शुद्ध ज्ञान सदैव सर्वज्ञेयाक्रान्त रहता ही है ।

दृष्टि—१– अशून्यनय [१७४] ।

प्रयोग—ज्ञानस्वभावके कारण ज्ञानको अपना विलास करने दो, एतदर्थ अपने वर्त-मान उपयोगको अखण्ड एक प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयुक्त करना ॥५४॥

अब इन्द्रियसुखका साधनीभूत इन्द्रियज्ञान हेय है, ऐसा उसको प्रकर्षरूपसे निन्दते हैं अर्थात् इन्द्रियज ज्ञानके प्रति हेयबुद्धि रखकर उसका अवगुण कहते हैं—[**स्वयं अमूर्तः**] स्वयं अमूर्त [**जीवः**] जीव [**मूर्तिगतः**] मूर्त शरीरको प्राप्त होता हुआ [**तेन मूर्तिना**] उस मूर्त शरीरके द्वारा [**योग्यं मूर्तं**] योग्य मूर्त पदार्थको [**अवगृह्य**] अवग्रह करके [**तत्**] उसे [**जा-**

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं ।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥५५॥

आत्मा स्वयं अमूर्तिक, मूर्तिग मूर्तसे योग्य मूर्तोंको ।
अवग्रह हि जाने या, नहिं जाने ज्ञान वह क्या है ॥५५॥

जीव स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तिना मूर्तम् । अवगृह्य योग्यं जानाति वा तन्न जानाति ॥ ५५ ॥

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भकं मूर्तोपलभ्य च तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पञ्चेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्तं स्पर्शादिप्रधानं वस्तूपलभ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तदसंभवान्नावगच्छति । परोक्षत्वात् । परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलि-

नामसंज्ञ— जीव सय अमुत्त मुत्तिगद त मुत्ति मुत्त जोग्ग वा न ण । धातुसंज्ञ -अव गिण्ह ग्रहणे, जाण अवबोधने । प्रातिपदिक—जीव स्वयं अमूर्त मूर्तिगत मूर्ति मूर्त योग्य वा तत् न । मूलधातु—अव ग्रह उपादाने, ज्ञा अवबोधने । उभयपदविवरण— जीवो जीवः अमुत्तो अमूर्तः मुत्तिगदो मूर्तिगतः-प्रथमा ए० ।

नाति] जानता है [वा न जानाति] अथवा नहीं जानता है ।

तात्पर्य—यह प्राणी इन्द्रियोंके द्वारा कभी मूर्त पदार्थका अवग्रह ज्ञान करके आगे कुछ जान भी पाता व नहीं भी जान पाता, ऐसा यह इन्द्रियज ज्ञान बहुत कमजोर ज्ञान है ।

टीकार्थ— इन्द्रियज्ञान मूर्तका उपलम्भक है, और मूर्तके द्वारा उपलभ्य है । वह इन्द्रियज्ञान वाला जीव स्वयं अमूर्त होनेपर भी मूर्त-पचेन्द्रियात्मक शरीरको प्राप्त होता हुआ, ज्ञप्ति उत्पन्न करनेमें बलधारणका निमित्त होनेसे उपलम्भक हुए उस मूर्त शरीरके द्वारा मूर्त स्पर्शादिप्रधान वस्तुको जो कि योग्य हो अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा उपलभ्य हो उसे अवग्रह करके परोक्षपना होनेसे कदाचित् उससे ऊपर ऊपरकी शुद्धिके सद्भावके कारण उसे जानता है और कदाचित् अवग्रहसे ऊपर ऊपरकी शुद्धिके असद्भावके कारण नहीं जानता है । देखिये—चैतन्यसामान्यके साथ अनादिसिद्ध सम्बन्ध होनेपर भी जो अति दृढ़तर अज्ञानरूप अन्धकार-समूह द्वारा आवृत होनेसे संकुचित हो गया है व स्वयं जाननेके लिये असमर्थ हो गया है ऐसे आत्माका उपात्त और अनुपात्त परपदार्थरूप सामग्रीको ढूंढनेकी व्यग्रतासे अत्यंत चचल-तरल-अस्थिर वर्तता हुआ, अनन्तशक्तिसे च्युत होनेसे अत्यन्त खिन्न वर्तता हुआ, महामोह-मल्लके जीवित होनेसे परको परिणमित करनेका अभिप्राय करनेपर भी पद पदपर ठगाईको प्राप्त होता हुआ परमार्थतः न जाननेकी संभावनाको प्राप्त है, इस कारण वह हेय है ।

तस्यानादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धस्याप्यात्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपर-प्रत्ययसामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यन्तविसंष्टुलत्वमवलम्बमानमनन्तायाः शक्तेः परिस्खलनान्नितान्तविक्लवीभूतं महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् परपरिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसभावनामेव परमार्थतोऽर्हति । अतस्तद्धेयम् ॥५५॥

सय स्वयं वा ण न-अव्यय । तेण तेन मुत्तिणा मूर्तिना-तृतीया एक० । मुत्तं मूर्तं जोग्ग योग्य त तत्-द्वि० एक० । ओगिण्हित्ता अवगृह्य-असमाप्तिकी क्रिया । जाणदि जानाति जाणादि जानाति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**--प्राणैर्जीवतीति जीव. । **समास**--मूर्ति गत मूर्तिगतः ॥५५॥

प्रसंगविवरण--अनन्तरपूर्व गाथामे अतीन्द्रिय सुखके साधनीभूत अतीन्द्रिय ज्ञानको उपादेय बताया गया था । अब इस गाथामे इन्द्रियसुखके साधनीभूत इन्द्रियज्ञानको हेय बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश-- (१) इन्द्रियज ज्ञान परोक्ष ज्ञान होनेसे हीन ज्ञान है । (२) इन्द्रियज ज्ञान मूर्त पदार्थको ही जान सकता है अमूर्तको नही । (३) इन्द्रियजज्ञान मूर्त इन्द्रियोंके द्वारा बनता है, इन्द्रियोके बिना केवल अमूर्तात्मशक्तिसे नही । (४) इन्द्रियज ज्ञान वाला जीव स्वयं अमूर्त होकर भी इन्द्रियात्मक मूर्त शरीरको पाता हुआ मूर्त बन रहा है । (५) इन्द्रियज्ञान किसी वस्तुका अवग्रह करके इतना ही जानता है, कभी और कुछ क्षयोपशमके अनुसार कुछ अधिक जानता है, कभी विशेष नही जानता है । (६) इन्द्रियज्ञान जाननेके लिये प्रकाश आदि बाह्य पदार्थको ढूंढनेकी व्यग्रताके कारण क्षुब्ध रहता है । (७) इन्द्रियज्ञान जाननेके लिये इन्द्रियको ठीक रखनेकी व्यग्रतामे चञ्चल रहता है । (८) इन्द्रियज्ञान अल्पशक्ति वाला होनेसे खेदखिन्न होता है । (९) इन्द्रियज्ञान परपदार्थका परिणमन करनेका अभिप्राय होनेसे इच्छानुकूल परपरिणामन न देखकर पद पदपर ठगा हुआ रहता है । (१०) इन्द्रियज्ञान परमार्थसे अज्ञान ही है । (११) इन्द्रियज्ञान दुःखव्याप्त होनेसे, अस्वभाव होनेसे हेय है ।

सिद्धान्त--(१) इन्द्रियज्ञान अशुद्ध होनेसे हेय है ।

दृष्टि--१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४] ।

प्रयोग--इन्द्रियसे व इन्द्रियज्ञानसे उपेक्षा करके सर्वविशुद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥५५॥

अब इन्द्रियोकी मात्र अपने विषयोमे भी युगपत् प्रवृत्ति नही होनेसे इन्द्रियज्ञान हेय ही है, यह अवधारित करते है अर्थात् अपने मनमें इन्द्रियज ज्ञानकी हेयताका पक्का निर्णय रखकर इन्द्रियज ज्ञानका दोष बताते हैं--[स्पर्शः] स्पर्श [रसः च] रस [गंधः] गंध [वर्णः]

अथेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति —

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ।।५६।।

स्पर्श रस गंध वर्ण रु, शब्द पुद्गल विषय है अक्षोंके ।
उसको भी ये इन्द्रिय, युगपत् नहिं ग्रहण कर सकतीं ।।५६।।

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णः शब्दश्च पुद्गला भवन्ति । अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति ।। ५६ ।।

इन्द्रियाणां हि स्पर्शरसगन्धवर्णप्रधानाः शब्दश्च ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः । अथेन्द्रियैर्युगपत्तेऽपि न गृह्यन्ते, तथाविधक्षयोपशमनशक्तेरसंभवात् । इन्द्रियाणां हि क्षयोपशमसंज्ञिकाया

नामसंज्ञ—फास रस य गध वण्ण सद्द य पुग्गल अक्ख त अक्ख जुगव त ण एव । **धातुसंज्ञ**- हो सत्ताया, गिण्ह ग्रहणे । **प्रातिपदिक**—स्पर्श रस च गन्ध वर्ण शब्द च पुद्गल अक्ष तत् अक्ष युगपत् तत् न एव । **मूलधातु**—भू सत्ताया, ग्रह उपादाने । **उभयपदविवरण**—फासो स्पर्श रसो रस गधो गन्ध वण्णो वर्णः–प्र० एक० । य च जुगव युगपत् ण न एव–अव्यय । पुग्गला पुद्गला –प्र० बहु० । अक्खाण अक्षाणा–

वर्णः [**शब्दः च**] और शब्द [**पुद्गलाः**] पुद्गल है, वे [**अक्षाणां भवन्ति**] इन्द्रियोके विषय हैं [**तानि अक्षाणि**] परन्तु वे इन्द्रियाँ [**तान्**] उन्हे भी [**युगपत्**] एक साथ [**न एव गृह्णन्ति**] ग्रहण नही करती, नही जान सकती ।

तात्पर्य—इन्द्रियाँ तो अपने विषयको भी एक साथ ग्रहण नही कर सकती ।

टीकार्थ—वास्तवमे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण है प्रधान जिनमे ऐसे पुद्गल व पौद्गलिक शब्द इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण करने योग्य है । किन्तु, वे भी इन्द्रियोके द्वारा एक साथ ग्रहण नही किये जा पाते, क्योकि उस प्रकारके क्षयोपशमनकी शक्ति असभव है । इन्द्रियोकी क्षयोपशम नामक अन्तरंग ज्ञातृशक्तिकी कौवेकी आँखकी पुतलीकी तरह क्रमिक प्रवृत्ति होनेसे अनेकतः जाननेके लिये असमर्थपना होनेसे द्रव्येन्द्रिय द्वारोके विद्यमान होनेपर भी समस्त इन्द्रियोके विषयोके विषयभूत पदार्थोंका ज्ञान एक ही साथ नही होता, क्योकि इन्द्रियज ज्ञान परोक्ष है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे इन्द्रियसौख्यके साधनीभूत इन्द्रियज्ञानको हीन दिखाकर हेय बताया गया था । अब इस गाथामें इन्द्रिय ज्ञानकी हेयताके समर्थनमें बताया गया है कि इन्द्रियोकी अपने संकुचित विषयमे भी एक साथ प्रवृत्ति नही हो सकनेसे इन्द्रिय ज्ञान हेय ही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ग्रहणयोग्य हैं स्पर्शप्रधान पुद्गल । (२)

परिच्छेद्याः शक्तेन्तरङ्गायाः काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकतः प्रकाशयितुमसमर्थत्वा-त्सत्स्वपि द्रव्येन्द्रियद्वारेषु न यौगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोधः सिद्ध्येत्, परोक्षत्वात् ॥५६॥

षष्ठी बहु० । ते तानि अक्खा अक्षाणि–प्र० बहु० । ते तानि–द्वितीया बहु० । होंति भवन्ति गेण्हंति गृह्णन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । निरुक्ति—स्पर्शनं स्पर्श, रसनं रस:, गन्धनं गन्ध:, वर्णनं वर्ण:, शब्दनं शब्द:, अश्नोति इति अक्षः ॥ ५६ ॥

रसनाइन्द्रियके द्वारा ग्रहणयोग्य है रसप्रधान पुद्गल । (३) घ्राणइन्द्रियके द्वारा ग्रहण योग्य हैं गन्धप्रधान पुद्गल । (४) चक्षुरिन्द्रियके द्वारा ग्रहणयोग्य है वर्णप्रधान पुद्गल । (५) कर्ण इन्द्रियके द्वारा ग्रहणयोग्य है शब्दपरिणत पुद्गल । (६) इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयको ग्रहण करती है सो वे अपने विषयमें भी युगपत् प्रवृत्ति नही कर सकती, क्योंकि युगपत् ग्रहण कराने वाली क्षयोपशमन शक्ति होती ही नही है । (७) जैसे कौवाकी आँखकी पुतलीका उपयोग दोनों आँखोसे हो रहा जंचता है, ऐसे ही स्थूलदृष्टिसे क्षयोपशमनशक्तिजन्य ज्ञानका उपयोग शीघ्र बदलनेसे इन्द्रियोके विषय एक साथ ज्ञात हो रहे जचते है, परन्तु वस्तुतः वे क्रमसे ही ज्ञात होते हैं । (८) इन्द्रियज्ञान हीन एवं क्षोभहेतु होनेसे हेय है ।

सिद्धान्त—(१) इन्द्रियज्ञान हीन व पराधीन होनेसे अशुद्ध है ।

दृष्टि—१– अशुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार [८८] । विभावगुण व्यञ्जन पर्यायदृष्टि [२१३] ।

प्रयोग— इन्द्रियज्ञानको अपूर्ण व हेय जानकर उससे उपेक्षा करके सहज ज्ञानकी दृष्टिके बलसे ज्ञानका सहज परिणमन होने देना ॥ ५६ ॥

अब इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नही होता, यह निश्चित करते हैं—**[तानि अक्षाणि]** वे इन्द्रियाँ **[परद्रव्यं]** परद्रव्य हैं **[आत्मनः स्वभावः इति]** वे आत्मस्वभावरूप **[न एव भणितानि]** नही कहे गये है । **[तैः]** उनके द्वारा **[आत्मनः]** आत्माका **[उपलब्धं]** उपलब्ध ज्ञान **[प्रत्यक्षं]** प्रत्यक्ष **[कथं भवति]** कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य—आत्मस्वभाव न होनेसे परद्रव्यरूप इन्द्रियो द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष नही हो सकता ।

टीकार्थ—केवल आत्माके प्रति ही नियत ज्ञान वास्तवमे प्रत्यक्ष है । परन्तु भिन्न अस्तित्व वाली होनेसे परद्रव्यत्वको प्राप्त आत्मस्वभावको किंचिन्मात्र स्पर्श नहीं करती हुईं इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्धि करके उत्पन्न हो रहा इन्द्रियज्ञान आत्माके प्रत्यक्ष नही हो सकता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि इन्द्रियज्ञान अपने संकुचित विषयमें भी एक साथ प्रवृत्त न होनेसे हेय है । अब इस गाथामे निश्चय किया गया है कि

अथेन्द्रियज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा ।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥ ५७ ॥

इन्द्रिय परद्रव्य कहीं, वे नहिं होते स्वभाव आत्माके ।
उनसे जो जाना वह, आत्मप्रत्यक्ष कैसे हो ॥ ५७ ॥

परद्रव्यं तान्यक्षाणि नैव स्वभाव इत्यात्मनो भणितानि । उपलब्धं तै कथं प्रत्यक्षमात्मनो भवति ॥ ५७ ॥

आत्मानमेव केवलं प्रतिनियतं किल प्रत्यक्षं, इदं तु व्यतिरिक्तास्तित्वयोगितया परद्रव्यतामुपगतैरात्मनः स्वभावतां मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरुपलभ्योपजन्यमानं न नामात्मनः प्रत्यक्षं भवितुमर्हति ॥ ५७ ॥

नामसंज्ञ— परदव्व त अक्ख ण एव सहाव त्ति अप्प भणिद उवलद्ध त कध पच्चक्ख अप्प । **धातुसंज्ञ**— भण कथने, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—परद्रव्य तत् अक्ष न एव स्वभाव इति आत्मन् भणित उपलब्ध तत् कथं प्रत्यक्ष आत्मन् । **मूलधातु**— भू सत्तायां, भण शब्दार्थः । **उभयपदविवरण**— परदव्वं परद्रव्य—प्रथमा एक० । ते तानि अक्खा अक्षाणि—प्रथमा बहु० । ण न एव त्ति इति कधं कथं—अव्यय । सहावो स्वभावः—प्रथमा एक० । अप्पणो आत्मनः—षष्ठी एक० । भणिदा भणितानि—प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । उवलद्धं उपलब्धं—प्र० ए० । तेहि तैः—तृतीया बहु० । पच्चक्खं प्रत्यक्षं—प्रथमा एक० । होदि भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**— द्रवति अदुद्रुवत् द्रोष्यति पर्यायान् इति द्रव्यं । **समास**— परं च तत् द्रव्यं चेति परद्रव्यं ॥ ५७ ॥

इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नही होता ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो केवल आत्माके प्रति नियत हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है । (२) इन्द्रियज्ञान भिन्न परद्रव्यरूप अनात्मस्पर्शी इन्द्रियों द्वारा परपदार्थोंको उपलब्ध कर जन्य होनेसे प्रत्यक्ष नही हो सकता । (३) जो ज्ञान प्रत्यक्ष नही उसके अनुभवमें सहज आनन्द नहीं जग सकता । (४) जिस ज्ञानके साथ सहज आनन्द नहीं, प्रत्युत क्षोभ है वह ज्ञान (इन्द्रियज्ञान) हेय है । (५) केवल आत्मासे ही निष्पन्न होने वाला निरावरण ज्ञान सकलप्रत्यक्ष है व उपादेय है । (६) निरावरण सकलप्रत्यक्ष ज्ञान बाट जोहनेसे नही उपलब्ध होता, किन्तु सहज ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होते हुए मग्न होनेपर यही सहज ज्ञानस्वभाव स्वयं पूर्ण विकसित होता हुआ केवलज्ञानरूप परिणमता है ।

सिद्धान्त—(१) इन्द्रियज्ञान क्षोभसे व्याप्त है । (२) अतीन्द्रिय ज्ञान सहज आनन्दसे व्याप्त है ।

दृष्टि— १— उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४] । २— उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध

अथ परोक्षप्रत्यक्षलक्षणमुपलक्ष्यति––

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

जो परसे अर्थोका, ज्ञान हुआ वह परोक्ष बतलाया।
जो केवल आत्मासे, जाने प्रत्यक्ष कहलाता ॥ ५८ ॥

यत्परतो विज्ञान तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु। यदि केवलेन ज्ञात भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम् ॥ ५८ ॥

यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्यालक्ष्यते। यत्पुनरन्त.करणमिन्द्रिय परोपदेशमुपलब्धिसंस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमान परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः सम्भूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते। इह हि सहजसौख्यसाधनीभूतमिदमेव महाप्रत्यक्षमभिप्रेतमिति ॥ ५८ ॥

नामसंज्ञ—ज परदो विण्णाण त तु परोक्ख त्ति भणिद अट्ठ जदि केवल णाद हि जीव पच्चक्ख। **धातुसंज्ञ**—भण कथने, हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—यत् पर‍त विज्ञान तत् तु परोक्ष इति भणित अर्थ यदि केवल ज्ञात हि जीव प्रत्यक्ष। **मूलधातु**—भण शब्दार्थः, भू सत्तायां। **उभयपदविवरण**—जं यत् विण्णाणं विज्ञान त तत् परोक्ख परोक्ष–प्र० ए०। परदो परत –अव्यय पंचम्यर्थे। तु त्ति इति जदि यदि हि–अव्यय। भणिद भणित–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। अट्ठेसु अर्थेषु–सप्तमी बहु०। केवलेण केवलेन जीवेण जीवेन–तृतीया एक०। णाद ज्ञात पच्चक्ख प्रत्यक्ष–प्रथमा एक०। हवदि भवति–वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया। **निरुक्ति**—अक्ष आत्मान प्रतीत्य आश्रित्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्ष ॥ ५८ ॥

द्रव्यार्थिकनय [२४ग्र]।

प्रयोग––इन्द्रियज्ञानकी उपेक्षा करके ज्ञानस्वभाव अन्तस्तत्त्वमे उपयुक्त होना ॥५७॥

अब परोक्ष और प्रत्यक्षके लक्षणको उपलक्षित करते है अर्थात् अपनेमे उनकी सभावना निरखकर उनके स्वरूपको प्रकट करते हैं––**[परतः]** परके द्वारा होने वाला **[यत्]** जो **[अर्थेषु विज्ञानं]** पदार्थसम्बन्धी विज्ञान है **[तत् तु]** वह तो **[परोक्षं इति भणितं]** परोक्ष कहा गया है **[यदि]** यदि **[केवलेन जीवेन]** मात्र जोवके द्वारा ही **[ज्ञातं भवति]** ज्ञात होता है **[हि प्रत्यक्षं]** वह ज्ञान वास्तवमे प्रत्यक्ष है।

तात्पर्य—इन्द्रियादिक परके निमित्तका अवलम्बन पाकर उत्पन्न हुआ ज्ञान परोक्ष है और मात्र आत्मासे हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है।

टीकार्थ—निमित्तताको प्राप्त परद्रव्यभूत मन इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार

अथैतदेव प्रत्यक्षं पारमार्थिकसौख्यत्वेनोपक्षिपति—

जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।
रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणियं ॥५६॥

जात स्वयं व समंतज, निर्मल विस्तृत अनन्त अर्थोंमें।
अवग्रहादिसे रहित ज्ञान हि को सुख कहा वास्तव ॥५६॥

जातं स्वयं समंतं ज्ञानमनन्तार्थविस्तृतं विमलम्। रहितं त्ववग्रहादिभिः सुखमिति ऐकान्तिकं भणितम् ॥५६॥

स्वयं जातत्वात्, समन्तत्वात् अनन्तार्थविस्तृतत्वात्, विमलत्वात्, अवग्रहादिरहितत्वाच्च प्रत्यक्षं ज्ञानं सुखमैकान्तिकमिति निश्चीयते, अनाकुलत्वैकलक्षणत्वात्सौख्यस्य। यतो हि परतो जायमानं पराधीनतया, असमंतमितरद्वारावरणेन, कतिपयार्थप्रवृत्तमितरार्थबुभुत्सया,

नामसंज्ञ—जाद सयं समंत णाण अणतत्थवित्थड विमल रहिय तु ओग्गहादि सुह ति एगतिय भणिय। **धातुसंज्ञ**—भण कथने। **प्रातिपदिक**—जात स्वय समन्त ज्ञान अनन्तार्थविस्तृत विमल रहित तु अवग्रहादि सुख इति ऐकान्तिक भणित। **मूलधातु**—भण शब्दार्थ। **उभयपदविवरण**—जाद जात समत णाण ज्ञान

व प्रकाशादिकसे होने वाला स्वविषयभूत पदार्थका ज्ञान परके द्वारा प्रगट होता हुआ परोक्ष है ऐसा जाना जाता है, और जो अंतःकरण, इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि संस्कार या प्रकाशादिक सब परद्रव्यकी अपेक्षा न करके एक मात्र आत्मस्वभावको ही कारणरूपसे ग्रहण करके सर्व द्रव्य पर्यायोंके समूहको एक समयमे ही व्यापकर प्रवर्तमान ज्ञान है वह केवल आत्मासे ही उत्पन्न होनेसे प्रत्यक्ष है ऐसा जाना जाता है। यहाँ सहज सुखका साधनभूत यही महा प्रत्यक्ष ज्ञान इष्ट माना गया है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें इन्द्रियज्ञानके प्रत्यक्षार्हत्वका निषेध किया था। अब उसीके स्पष्टीकरणके लिये इस गाथामे परोक्ष व प्रत्यक्षका लक्षण कहा गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) परद्रव्य निमित्तके योगमे पदार्थका ज्ञान करने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। (२) परोक्षज्ञानके होनेमे उपादान कारण पदार्थोपलब्धिके संस्कारसे युक्त वह आत्मा है। (३) परोक्ष ज्ञान होनेमें निमित्त कारण तत्तद्विषयकज्ञानावरणका क्षयोपशम आदि है। (४) परोक्षज्ञान होनेपर संबद्ध निमित्तकारण है मन व इन्द्रियाँ। (५) परोक्ष ज्ञान होनेमें बाहरी निमित्त कारण है परोपदेश, प्रकाश आदि। (६) मन इन्द्रिय उपदेश संस्कार प्रकाश आदि कारणकी अपेक्षा किये बिना मात्र आत्मस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके जानने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। (७) प्रत्यक्ष ज्ञान सहज आनंदका परम साधनीभूत है। (८) जो सहज आनन्दका परमसाधनीभूत ज्ञान है वह महा प्रत्यक्ष ज्ञान है।

समलमसम्यगवबोधेन, अवग्रहादिसहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदेन परोक्षं ज्ञानमत्यन्तमाकुलं भवति। ततो न तत् परमार्थतः सौख्यम्। इदं तु पुनरनादिज्ञानसामान्यस्वभावस्योपरि महाविकाशेनाभिव्याप्य स्वत एव व्यवस्थितत्वात्स्वयं जायमानमात्माधीनतया, समन्तात्मप्रदेशान् परमसमक्षज्ञानोपयोगीभूयाभिव्याप्य व्यवस्थितत्वात्समन्तम् अशेषद्वारापावरणेन, प्रसभं निपीतसमस्त-

अणनत्थवित्थड अनन्तार्थविस्तृत विमलं रहियं रहित सुहं सुखं एगंतियं ऐकान्तिक–प्र० ए०। ओग्गहादिहिं अवग्रहादिभि–तृतीया बहु०। भणिदं भणित–प्र० एक० कृदन्त क्रिया। निरुक्ति—अनन्ताश्च ते अर्थाश्चेति

सिद्धान्त—(१) इन्द्रियज्ञानमें संस्कारवशवर्ती अल्पज्ञ आत्माका बोध है। (२) अतीन्द्रिय ज्ञानमें संस्कारादिकी आवश्यकतासे शून्य सर्वज्ञ आत्माका बोध है।

दृष्टि—१– अस्वभावनय [१८०]। २– स्वभावनय [१७९]।

प्रयोग—अपनेको संस्कारादिशून्य सहज ज्ञानस्वभावमात्र निरखना ॥५८॥

अब इसी प्रत्यक्षज्ञानको पारमार्थिक सुखरूपसे अपने पास रखते है अर्थात् पारमार्थिक सुखमय प्रत्यक्ष ज्ञानको अपनेमें रखनेकी तीव्र भावनासहित उसका स्वरूप बतलाते है—**[स्वयं जातं]** अपने आप ही उत्पन्न **[समंत]** आत्माके सर्व प्रदेशोमे हुआ **[अनन्तार्थविस्तृतं]** अनन्त पदार्थोंमे विस्तृत **[विमलं]** निर्दोष **[तु]** और **[अवग्रहादिभिः रहितं]** अवग्रहादिसे रहित **[ज्ञानं]** ज्ञान **[ऐकान्तिकं सुखं]** ऐकान्तिक अर्थात् सर्वथा सुखरूप **[इति भणितं]** ऐसा सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया है।

तात्पर्य—केवल ज्ञान स्वयं सहजानन्दमय है।

टीकार्थ—स्वयं उत्पन्न होनेसे, समंत होनेसे, अनन्त पदार्थोंमे विस्तृत होनेसे, निर्दोष होनेसे और अवग्रहादिरहित होनेसे, प्रत्यक्षज्ञान सर्वथा परिपूर्ण सुख है यह निश्चित होता है, क्योंकि सुखका एक मात्र अनाकुलता ही लक्षण है। चूकि परोक्ष ज्ञान (१) 'परके द्वारा उत्पन्न' होता हुआ पराधीनताके कारण, (२) इतर द्वारोके आवरणके कारण, (३) अन्य पदार्थोंको जाननेकी इच्छाके कारण (४) 'समल' होता हुआ मिथ्या अवबोधके कारण और (५) 'अवग्रहादि सहित' होता हुआ क्रमशः होने वाले पदार्थग्रहणके खेदके कारण अत्यन्त आकुल है; इसलिये वह परमार्थसे सुख नहीं है। परन्तु यह प्रत्यक्षज्ञान (१) अनादि ज्ञानसामान्यरूप स्वभावपर महाविकाससे व्याप्त होकर स्वतः ही व्यवस्थित होनेसे स्वयं उत्पन्न होता हुआ स्वाधीनताके कारण (२) समस्त आत्मप्रदेशोंका परम प्रत्यक्ष ज्ञानोपयोगरूप होकर व्याप करके रहनेसे समंत होता हुआ समस्त द्वारोके निरावरण होनेके कारण, (३) बिल्कुल पी लिये गये समस्त वस्तुओंके ज्ञेयाकार रहनेसे अनन्त पदार्थोंमे विस्तृत होता हुआ सर्व

वस्तुज्ञेयाकारं परमं वैश्वरूप्यमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादनन्तार्थविस्तृतम् समस्तार्थाबुभुत्सया, सकलशक्तिप्रतिबन्धककर्मसामान्यनिःक्रान्ततया परिस्पष्टप्रकाशभास्वरं स्वभावमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादवग्रहादिरहितम् क्रमकृतार्थग्रहणखेदाभावेन प्रत्यक्षं ज्ञानमनाकुलं भवति। ततस्तत्पारमार्थिकं खलु सौख्यम् ॥५६॥

अनन्तार्था तेषु विस्तृत अनन्तार्थविस्तृतम् ॥ ५६ ॥

पदार्थोंको जाननेकी इच्छाके अभावके कारण, (४) सकल शक्तिको रोकने वाला कर्मसामान्य (ज्ञानमे से) निकल जानेसे (ज्ञान) अत्यंत स्पष्ट प्रकाशके द्वारा प्रकाशमान स्वभावमे व्याप्त होकर रहनेसे निर्मल होता हुआ यथार्थ जाननेके कारण तथा (५) युगपत् समर्पित किया है तीनो कालोका अपना स्वरूप जिसने ऐसे लोकालोकको व्याप्त कर रहनेसे अवग्रहादिरहित होता हुआ क्रमसे किये गये पदार्थग्रहणके खेदके अभावके कारण अनाकुल है। इस कारण वास्तवमे वह पारमार्थिक सुख है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे परोक्ष व प्रत्यक्ष ज्ञानका स्वरूप बताया गया था। अब इस गाथामे इसी प्रत्यक्ष ज्ञानको पारमार्थिक आनन्दरूप कहा गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) स्वयमे ही उत्पन्न हुआ ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) स्वाधीन होनेसे आनन्दरूप है, पर इन्द्रियादिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ परोक्ष ज्ञान पराधीन होनेसे आकुल रहता है। (२) सर्व आत्मप्रदेशोसे जानने वाला समस्त ज्ञान परिपूर्ण होनेसे आनन्दरूप है, किन्तु अन्य द्वारोंके आवरण वाला व एक इन्द्रिय द्वारसे किञ्चित् जानने वाला ज्ञान आकुल रहता है। (३) सर्व अनन्त पदार्थोंका जाननहार ज्ञान सर्व जान चुकनेके कारण आनन्दरूप है, किन्तु कुछ ही पदार्थोंमे प्रवर्त सकने वाला ज्ञान अन्य पदार्थोंके जाननेकी इच्छा रहनेके कारण आकुल रहता है। (४) निर्दोष अतीन्द्रिय ज्ञान सही जाननेके कारण आनन्दरूप है, किन्तु सदोष इन्द्रियज्ञान यथार्थज्ञता न होनेसे आकुल रहता है। (५) युगपत् विश्वको जानने वाला ज्ञान जिज्ञासाखेदरहित होनेके कारण आनन्दरूप है, किन्तु अवग्रहादि विधिसे जानने वाला ज्ञान क्रमकृत अर्थग्रहणके खेदसे युक्त होनेके कारण आकुल है। (६) निरावरण प्रत्यक्ष ज्ञान अनिवारित आनन्दरूप है।

सिद्धान्त—(१) स्वभावकी निर्मलतामे सर्व निर्मलता है।

दृष्टि—१- स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायदृष्टि [२१४]।

प्रयोग—सहज परम आनन्दके अनुभवके लिये अविनाभाव्य सहज परम ज्ञानके स्रोतभूत सहज ज्ञानस्वभावको उपासना करना ॥५६॥

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य संभवादैकान्तिकसुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे—

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणामं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥६०॥

केवल ज्ञान हि सुख है, है वह परिणामरूप हो तो भी ।
खेद न रंच वहां है, क्योंकि घातिकर्म नष्ट हुए ॥ ६० ॥

यत्केवलमिति ज्ञान तत्सौख्य परिणामश्च स चैव । खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षय जातानि ।६०।

अत्र को हि नाम खेद· कश्च परिणामः कश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेक:, यतः केवलस्यैकान्तिकसुखत्वं न स्यात् । खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवल परिणाममात्रम् । घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयन्ति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते, तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेद· । यतश्च त्रिसमयावच्छिन्नसकलपदार्थपरि-

नामसंज्ञ ज केवल ति णाण त सोक्ख परिणम च त च एव खेद त ण भणिद ज घादि खय जाद । **धातुसंज्ञ**—भण कथने, जा प्रादुर्भावे । **प्रातिपदिक**- यत् केवल इति ज्ञान तत् सौख्य परिणाम च तत् च एव खेद तत् न भणित यत् घाति क्षय जात । **मूलधातु**—भण शब्दार्थ·, जनी प्रादुर्भावे । **उभयपदविवरण**— ज यत् केवल णाण ज्ञान त तत् सोक्ख सौख्य परिणम परिणाम. सो स. खेदो खेद·—प्रथमा एकवचन ।

अब 'केवलज्ञानके भी परिणामके द्वारा खेदकी सम्भवता होनेसे ऐकान्तिक सुखरूपता नहीं है' इस अभिप्रायका खडन करते है—**[यत्]** जो **[केवलं इति ज्ञानं]** 'केवल' नामका ज्ञान है **[तत् सौख्यं]** वह सुख है **[परिणामः च]** परिणाम भी **[सः च एव]** वही है **[तस्य खेदः न भणितः]** उसके खेद नही कहा गया है, **[यस्मात्]** क्योकि **[घातीनि]** घातियाकर्म सब **[क्षयं जातानि]** क्षयको प्राप्त हुए है ।

तात्पर्य—केवलज्ञान परिणमन तो स्वाभाविक परिणमन है वहाँ रच भी खेद नही हो सकता ।

टीकार्थ—यहाँ केवलज्ञानके सम्बंधमे, वास्तवमे खेद क्या, परिणमन क्या तथा केवलज्ञान और सुखका भेद क्या, जिससे कि केवलज्ञानको ऐकान्तिक सुखपना न हो ? देखिये—चूकि (१) खेदके आयतन घातिकर्म है, केवल परिणमन मात्र नही । घातिकर्म महामोहके उत्पादक होनेसे पागलकी तरह अतत्मे तत् बुद्धि धारण करवाकर आत्माको ज्ञेयपदार्थके प्रति परिणमन कराते है; इस कारण वे घातिकर्म प्रत्येक पदार्थके प्रति परिणमित हो-होकर थकने वाले आत्माके लिये खेदके कारणपनेको प्राप्त होते है । उन घातिकर्मोंका अभाव होनेसे केवल-

च्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूत चित्रभित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः, ततः कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः। यतश्च समस्तस्वभावप्रतिघाताभावात्समुल्लसितनिरकुशानन्तशक्तितया सकलं त्रैकालिकं लोकालोकाकारमभिव्याप्य कूटस्थत्वेनात्यन्तनिःप्रकम्पं व्यवस्थितत्वादनाकुलता सौख्यलक्षणभूतामात्मनोऽव्यतिरिक्ता बिभ्राणं केवलमेव सौख्यम्। ततः कुतः केवलसुखयोर्व्यतिरेकः। अतः सर्वथा केवल सुखमैकान्तिकमनुमोदनीयम् ॥६०॥

तस्स तस्य–षष्ठी एक०। भणिदो भणित –प्र० एक० कृदन्त क्रिया। जम्हा यस्मात्–पचमी एक०। घादी घातीनि–प्र० बहु०। खय क्षयं–द्वितीया एक०। जादा जातानि–प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया। **निरुक्ति**—खेदनं खेद, घातयन्तीति घातीनि ॥६०॥

ज्ञानमे खेद कहाँसे प्रगट होगा ? (२) और चूंकि तीन कालोमे अवच्छिन्न समस्त पदार्थोंकी ज्ञेयाकाररूप विविधताको प्रकाशित करनेका स्थानभूत केवलज्ञान चित्रित दीवारकी भाँति, स्वय ही अनन्त स्वरूप परिणमित होता हुआ केवलज्ञान ही परिणमन है। इस कारण अन्य परिणमन कहाँसे हो जिससे कि खेदकी उत्पत्ति हो ? (३) और चूंकि समस्त स्वभावप्रतिघातके अभावके कारण निरंकुश अनन्त शक्तिके उल्लसित होनेसे समस्त त्रैकालिक लोकालोकके आकारमे व्याप्त होकर कूटस्थतया अत्यत निष्कम्प रहनेसे आत्मासे अभिन्न सुख-लक्षणभूत अनाकुलताको धारण करता हुआ केवलज्ञान ही सुख है, इस कारण केवलज्ञान और सुखका व्यतिरेक कहाँ है ? इससे 'केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख है' यह सर्वथा अनुमोदनके योग्य है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे प्रत्यक्षज्ञानको पारमार्थिक आनन्दरूप बताया गया था। अब यदि कोई अतीन्द्रिय केवलज्ञानमे यह सदेह करे कि केवलज्ञान भी तो प्रति समय होने वाला परिणमन है और जहाँ परिणमन है वहाँ खेद है, तो उनके इस संदेहका निराकरण इस गाथामे किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्यत्व गुणके कारण पदार्थमे परिणमन प्रतिसमय होता ही रहा है व होता ही रहेगा। (२) पदार्थ परिणमनशून्य कभी रहेगा ही नही। (३) परमात्मपदार्थ भी शुद्ध परिणमनोसे परिणमता ही रहेगा। (४) परिणमनमात्र खेदका कारण नही है। (५) खेदका कारण घातिया कर्मोंके उदयके निमित्तसे होने वाला परोन्मुख परिणमन है। (६) घातिया कर्मके उदयसे महामोहका उत्पाद होनेके कारण जीव अतत्मे तद्बुद्धि कर लेता है अर्थात् वस्तुस्वरूपसे विपरीत निर्णय रखता है। (७) विपरीत बुद्धि वाला जीव ज्ञेय पदार्थके प्रति अपनेको परिणमनेका विकल्प करते है। (८) ज्ञेयार्थपरिणमनबुद्धिसे यह जीव इष्टानिष्ट

अथ पुनरपि केवलस्य सुखस्वरूपतां निरूपयन्नुपसंहरति—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥ ६१ ॥

ज्ञान अर्थान्तिगत है, दृष्टि है लोकालोकमें विस्तृत ।
नष्ट अनिष्ट हुआ सब, जो परमेष्ट वह लब्ध हुआ ॥६१॥

ज्ञानमर्थान्तिगत लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टि । नष्टमनिष्ट सर्वमिष्ट पुनर्यत्तु तल्लब्धम् ॥ ६१ ॥

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम् । आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभावः तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तिगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभावः । ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम् । किंच केवल सौख्यमेव, सर्वानिष्टप्रहाणात् सर्वेष्टोप-

---

नामसंज्ञ—णाण अत्थतगय लोयालोय वित्थडा दिट्ठि णट्ठ अणिट्ठ सव्व इट्ठ पुण ज तु त लद्ध । **धातुसंज्ञ**—दिस प्रेक्षणे, नस्स नाशे, लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—ज्ञान अर्थान्तिगत लोकालोक विस्तृता दृष्टि नष्ट अनिष्ट सर्व इष्ट पुनर् यत् तु लब्ध । **मूलधातु**—दृशिर् दर्शने, णश अदर्शने दिवादि, डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपदविवरण**—णाण ज्ञान अत्थगदं अर्थान्तिगत णट्ठ नष्ट अणिट्ठ अनिष्ट सव्व सर्व इट्ठं इष्ट ज यत्

कल्पनावोसे थककर खेद किया करता है । (६) घातिया कर्मोंका अभाव होनेपर खेदका आयतन न रहनेसे केवलज्ञानमें खेद बिल्कुल असभव है । (१०) केवलज्ञान परिणमन उस आत्मा के ही है जिसके घातिया कर्म क्षीण हो चुकनेसे विद्यमान ही नही है । (११) निरुपाधि ज्ञान केवलज्ञान केवलज्ञानरूप प्रतिसमय परिणमन हो-होकर अनन्तकाल अनन्तो केवलज्ञानरूप परिणमता रहेगा । (१२) परमात्म पदार्थके परिणमन न हो तो केवलज्ञान नष्ट ही हो जायगा । (१३) त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेयोके आकारादिके अनुरूप प्रतिबिम्बित अन्तर्ज्ञेयाकारमय आत्माको जाननेरूप परिणमना यही केवलज्ञान परिणमन है सो यह स्वाभाविक है और यह परिणमन सहज आनन्दका अविनाभावी है । (१४) केवलज्ञान सर्वथा अपरिणामी नही है, किन्तु वह ज्ञेयपरिवर्तन नही करता अर्थात् त्रैकालिक समस्त ज्ञेयाकारोको सर्वदा जानता रहता है जो कि स्वभावानुरूप विकास है वहां खेदकी गुंजाइश ही नही । (१५) केवलज्ञान स्वयं सहज असीम आनन्दमय है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध आत्मा केवलज्ञानमय है और अनन्तआनन्दमय है ।

दृष्टि—१- सभेद शुद्ध सद्भूत व्यवहार [७२] ।

प्रयोग—आकुलताके साधनीभूत इन्द्रियज्ञानको हेय जानकर तथा अनन्त शुद्ध सहज आनन्दके परमसाधनीभूत अतीन्द्रियज्ञानको उपादेय जानकर अतीन्द्रियज्ञानके ओघ उपादान

लम्भाच्च । यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञानमखिलमेव प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायेत । ततः केवलमेव सौख्यमित्यलं प्रपञ्चेन ॥६१॥

तं तत्–प्रथमा एकवचन । लोयालोएसु लोकालोकेषु–स० बहु० । वित्थडा विस्तृता दिट्ठी दृष्टि –प्र० एक० । लद्धं लब्ध–प्र० एक० कृदन्त क्रिया । पुनर् पुन तु–अव्यय । **निरुक्ति**– न इष्टं अनिष्टं, लोक्यन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स लोकः । **समास** –अर्थस्य अन्तः अर्थान्तः अर्थान्तं गतं अर्थान्तगतं ॥ ६१ ॥

कारणरूप अनीन्द्रिय अविकार सहज चैतन्यस्वरूपमे आत्मत्वका अनुभव करना ॥६०॥

अब फिर भी 'केवलज्ञान सुखस्वरूप है' यह निरूपण करते हुये उपसहार करते हैं—[**ज्ञानं**] ज्ञान [**अर्थान्तगतं**] पदार्थोंके पारको प्राप्त है [**दृष्टिः**] और दर्शन [**लोकालोकेषु विस्तृताः**] लोकालोकमे विस्तृत है; [**सर्वं अनिष्टं**] सर्व अनिष्ट [**नष्टं**] नष्ट हो चुका है [**पुनः**] और [**यत् तु**] जो [**इष्टं**] इष्ट है [**तत्**] वह सुख [**लब्धं**] प्राप्त हुआ है ।

तात्पर्य—केवलज्ञानके होनेपर सर्व अनिष्ट मिट चुका व पूर्ण इष्ट मिल गया, इस कारण भी केवलज्ञान परिपूर्ण आनन्दमय है ।

टीकार्थ—स्वभावप्रतिघातके अभावके कारण ही परमार्थ सुख है । आत्माका स्वभाव दर्शन ज्ञान है; उन दोनोंके लोकालोकमे विस्तृतपना होनेसे और पदार्थोंके पारको प्राप्त होनेरा व स्वतन्त्रतापूर्वक विकसितपना होनेसे प्रतिघातका अभाव है । इस कारण स्वभावके प्रतिघातका अभाव जिसका कारण है ऐसा सुख अभेदविवक्षामे केवलज्ञानका स्वरूप है । और क्या, कि केवलज्ञान सुख ही है, क्योंकि सर्व अनिष्टोका नाश हो चुका है और सम्पूर्ण इष्टकी प्राप्ति हो चुकी है । चूंकि केवल अवस्थामे, सुखोपलब्धिके विपक्षभूत दुःखके साधनपनाको प्राप्त समस्त ही अज्ञान नष्ट हो जाता है और सुखका साधनीभूत परिपूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है, इस कारण केवल ही सुख है । यह अधिक विस्तारसे बस होओ ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि केवलज्ञान परिणमन है सो वहाँ खेद संभव होगा, अतः आनन्दका अभाव होगा, ऐसी शंका नही रखनी चाहिये । अब इस गाथामे पुनरपि केवलज्ञानकी आनन्दस्वरूपताका निरूपण किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आनन्द तो स्वभावका प्रतिघात न होनेके कारण हुआ करता है । (२) आत्माका स्वभाव दर्शन ज्ञान है । (३) प्रभुका दर्शन ज्ञान असीम विकसित है वहां स्वभावका प्रतिघात नही है । (४) जहां स्वभावका प्रतिघात नहीं है वहां अनत आनंद है और वही अभेदविवक्षामें केवलज्ञानका स्वरूप है । (५) केवलज्ञान होनेपर कोई अनिष्ट नही रहा

अथ केवलिनामेव पारमार्थिकसुखमिति श्रद्धापयति—

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिऊण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥६२॥

विगतघाति प्रभुका सुख, सुखोंमे उत्कृष्ट यह वचन सुनकर।
नहिं अभव्य सरधाने, भव्य हि प्रभुसौख्य सरधाने ॥ ६२ ॥

न श्रद्दधति सौख्यं सुखेषु परममिति विगतघातिनाम्। श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति ॥ ६२ ॥

इह खलु स्वभावप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशालिनां सुखाभासेऽप्यपारमार्थिकी सुखमिति रूढिः। केवलिनां तु भगवतां प्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघाताभावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयम्। न किलैवं

नामसंज्ञ— णो सोक्ख सुह परम ति विगदघादि त अभव्व भव्व वा त। **धातुसंज्ञ**—सद् दह धारणे (सद् श्रद्धाया), सुण श्रवणे तृतीयगणी, पडि इच्छ इच्छायां। **प्रातिपदिक**—न सौख्य सुख परम इति विगतघाति तत् अभव्य भव्य वा तत्। **मूलधातु**—श्रद् डुधाञ् धारणपोषणयो जुहोत्यादि, श्रु श्रवणे भ्वादि, प्रति इष इच्छायां स्वादि। **उभयपदविवरण**—णो न ति इति वा—अव्यय। सोक्ख सौख्यं परम—प्रथमा एक०। सुहेसु सुखेषु—सप्तमी बहु०। विगदघादीण विगतघातिनां—षष्ठी बहु०। सद्दहंति श्रद्दधति पडिच्छं-

सर्व इष्ट पा लिया, अतः केवलज्ञान अत्यंत निराकुल अनन्त आनन्दमय है। (६) केवलज्ञान की अवस्थामे दुःखका साधनीभूत अज्ञान तो सब नष्ट हो चुका और आनन्दका साधनीभूत परिपूर्ण ज्ञान आविर्भूत हुआ अतः वह केवलज्ञान आनन्दरूप ही है।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध परमात्मद्रव्यमे ज्ञान आनन्द आदि गुणोंका परम विकास है।

दृष्टि—१- शुद्धभेदविषयी द्रव्यार्थिकनय या शुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय [५१]।

प्रयोग—अपने आत्माकी स्वस्थताके लिये अपने केवलकी अर्थात् एकत्वविभक्त ज्ञायक स्वभावमय अन्तस्तत्त्वको आराधना करना ॥६१॥

अब केवलज्ञानियोंके ही पारमार्थिक सुख होता है, यह श्रद्धा कराते है—[**विगतघातिनां**] घातिकर्म नष्ट हो गये है जिनके उनका [**सौख्यं**] सुख [**सुखेषु परमं**] सर्व सुखोंमें उत्कृष्ट है [**इति श्रुत्वा**] यह सुनकर [**न श्रद्दधति**] जो श्रद्धा नही करते [**ते अभव्याः**] वे अभव्य है; [**भव्याः वा**] और भव्य [**तत्**] उसे [**प्रतीच्छन्ति**] स्वीकार करते हैं, उसकी श्रद्धा करते है।

तात्पर्य—केवलज्ञानियोंके अनन्तसुखका जिनके श्रद्धान नहीं वे मिथ्यादृष्टि है।

टीकार्थ—इस लोकमे मोहनीयादि कर्मजाल वालोके स्वभावप्रतिघातके कारण और आकुलताके कारण सुखाभास होनेपर भी उस सुखाभासको 'सुख' ऐसा कहनेकी अपा-

येषां श्रद्धानमस्ति ते खलु मोक्षमुखमुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भोभारमेवाभव्या· पश्यन्ति । ये पुनरिदमिदानीमेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजनं समासन्नभव्याः भवन्ति । ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते तु दूरभव्या इति ॥६२॥

न्ति प्रतीच्छन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । ते अभव्वा अभव्या भव्वा भव्या –प्र० बहु० । सुणिऊण श्रुत्वा–असमाप्तिकी क्रिया । त तत्–द्वितीया एक० । **निरुक्ति**––भवितु योग्या· भव्या । **समास**– विगतानि घातीनि येषा ते विगतघातिन तेषा विगतघातिना ॥ ६२ ॥

रमार्थिकी रूढ़ि है; परन्तु जिनके घातिकर्म नष्ट हो चुके है ऐसे केवली भगवानके, स्वभावप्रतिघातके अभावके कारण और अनाकुलताके कारण सुखके यथोक्त कारणका और लक्षणका सद्भाव होनेसे पारमार्थिक सुख है—यह श्रद्धा करने योग्य है । वास्तवमे जिनके ऐसी श्रद्धा नही है वे मोक्षसुखके सुधापानसे दूर रहने वाले अभव्य मृगतृष्णाके जलसमूहको देखते है । और जो उस वचनको इसी समय स्वीकार करते है वे मोक्षलक्ष्मीके भाजन आसन्नभव्य है, और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूरभव्य है ।

प्रसंगविवरण––अनन्तरपूर्व गाथामे केवलज्ञानकी आनन्दरूपताका निरूपण किया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि केवली भगवानके ही पारमार्थिक आनन्द है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मोहग्रस्त जीवोके सुखाभासको जो सुख कहनेकी रूढि है वह वास्तविक नही है । (२) सुखाभास अर्थात् इन्द्रियजन्य सुख कष्टरूप ही है, क्योकि वह सुखाभास आत्मस्वभावका घात करता है और आकुलतासे व्याप्त है । (३) केवली भगवानका आनन्द अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द पारमार्थिक आनन्द है । (४) अतीन्द्रिय आनन्द निर्विकल्प असीम सहज परम आह्लादस्वरूप है, क्योकि वहां स्वभावका घात नही और वह पूर्ण निराकुलतामय है । (५) जिनको प्रभुके सहज आनदकी श्रद्धा नही है वे तृष्णाग्रस्त मोक्षानन्दामृत दूरवर्ती जीव खोटी होनहार वाले है । (६) जो प्रभुके सहज आनन्दकी श्रद्धा करते है और ऐसे ही निज सहज आनन्दकी रुचि रखते है वे मोक्षलक्ष्मीके पात्र है, निकटभव्य है । (७) केवली भगवानमे सहज परम आनन्द है यह श्रद्धा निज सहज आनन्दकी रुचिकी साधिका है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धस्वरूपकी भावनाके प्रसादसे शुद्ध पर्यायका आविर्भाव होता है और कर्मोका क्षय होता है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४ब] ।

प्रयोग—निजविकासके अर्थ प्रभुविकासके स्वरूपकी श्रद्धा कर उस विकासके आधारभूत सहज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि कर स्वपरविभागरहित शाश्वत सहज चैतन्यस्वभावमें उपयुक्त

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति--

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ६३ ॥

नृसुरासुरेन्द्र पीडित, प्राकृतिक इन्द्रियोंके द्वारा ही।
उस दुखको न सहन कर, रमते हैं रम्य विषयोंमें ॥६३॥

मनुजासुरामरेन्द्रा अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः। असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ६३ ॥

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते। अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां तप्तायोगोलानामिवात्यन्तमुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु

नामसंज्ञ- मणुआसुरामरिंद अहिद्दुद इंदिय सहज असहंत त दुक्ख विसय रम्म। **धातुसंज्ञ**--अभि द्दु उपतापे, सह सहने, रम क्रीडायां। **प्रातिपदिक**--मनुजासुरामरेन्द्र अभिद्रुत इन्द्रिय सहज असहमान तत् दुःख विषय रम्य। **मूलधातु**--अभि द्रुञ् हिंसायां, षह मर्षणे, रमु क्रीडायां। **उभयपदविवरण**--मणुआसुरामरिंदा मनुजासुरामरेन्द्राः अहिद्दुदा अभिद्रुताः असहंता असहमानाः--प्र० बहु०। इंदियेहिं इन्द्रियैः सहजेहिं सहजैः--तृतीया बहु०। तं तत् दुक्खं दुःखं--द्वितीया एक०। रमंति रमन्ते--वर्तमान० अन्य० बहु०।

होना ॥६२॥

अब परोक्ष ज्ञान वालोंके अपारमार्थिक इन्द्रियसुखको विचारते है--[**मनुजासुरामरेन्द्राः**] मनुष्येन्द्र अर्थात् चक्रवर्ती असुरेन्द्र और सुरेन्द्र [**सहजैः इन्द्रियैः**] प्राकृतिक इन्द्रियोंसे [**अभिद्रुताः**] पीडित होते हुए [**तद् दुःखं**] व उस दुःखको [**असहमानाः**] सहन न कर सकते हुए [**रम्येषु विषयेषु**] रम्य विषयोमे [**रमन्ते**] रमण करते है।

तात्पर्य--संसारके बड़े इन्द्रियजज्ञानी भी इन्द्रियविषयोंकी तृष्णाकी पीडाको न सहकर कल्पित रम्य विषयोमे रमण करते है।

टीकार्थ--प्रत्यक्षज्ञानके अभावके कारण परोक्षज्ञानका आश्रय लेने वाले इन प्राणियोंके उस परोक्षज्ञानकी सामग्रीरूप इन्द्रियोके प्रति निजरससे (स्वभावसे) ही मैत्री प्रवर्तती है। उन इन्द्रियोमें मैत्रीको प्राप्त उदयप्राप्त महामोहरूपी कालाग्निसे ग्रस्त तप्त लोहेके गोलेकी तरह उत्पन्न हुई है अत्यन्त तृष्णा जिनके उस दुःखके वेगको सहन न कर सकने वाले उन प्राणियोके व्याधिके प्रतिकारके समान है। इसलिये इन्द्रियां व्याधि समान होनेसे और विषय व्याधिके प्रतिकार समान होनेसे छद्मस्थोके पारमार्थिक सुख नही है।

प्रसङ्गविवरण--अनंतरपूर्व गाथामें यह श्रद्धा कराई गई थी कि पारमार्थिक आनंद केवली प्रभुके ही है। अब इस गाथामे बताया गया है कि परोक्षज्ञानियोंका इन्द्रियसुख अपार-

विषयेषु रतिरुपजायते । ततो व्याधिस्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां च न छद्मस्थानां पारमार्थिकं सौख्यम् ॥ ६३ ॥

विसएसु विषयेषु रम्मेसु रम्येषु–सप्तमी बहु० । **निरुक्ति**––मनो जात मनुज , सुरन्ति इति सुर । **समास**–मनुजाश्च असुराश्च अमराश्च मनुजासुरामरा तेषा इन्द्रा मनुजासुरामरेन्द्राः ॥ ६३ ॥

मार्थिक है ।

तथ्यप्रकाश—(१) इन ससारी प्राणियोके प्रत्यक्ष ज्ञान नही है । (२) प्रत्यक्षज्ञान न होनेसे ये प्राणी परोक्षज्ञानमे ही रेंगते रहते है । (३) परोक्षज्ञानसे चिपटने वालोके परोक्षज्ञान के साधनीभूत इन्द्रियोंमे मित्रता प्रकृत्या ही हो जाती है । (४) इन्द्रियोमे मैत्रीको प्राप्त, महामोहकालाग्निसे ग्रस्त तृष्णालु इन प्राणियोको इन्द्रियोके रम्य विषयोमे अनुरक्ति हो जाती है । (५) ये इन्द्रियवृत्तियाँ रोगके समान है । (६) य इन्द्रियविषयसेवन रोगमे थोडा आराम जैसा अनुभव कराने वाले उपचारके समान है । (७) विषयसेवनमे क्षोभव्याप्त कल्पित सुख होनेसे वह इन्द्रियसुख सुखाभास है । (८) परोक्षज्ञानियोका इन्द्रियसुख पारमार्थिक तत्त्व नही है । (९) इन्द्रियानुरागी छद्मस्थ प्राणियोके पारमार्थिक सुख होता ही नही है । (१०) चक्रवर्ती देवेन्द्र जैसे पुण्यवान जीव भी इन्द्रियविषयपीडाके दुःखको सहन न करते हुए कल्पनामात्र रम्य विषयोमें रमते है ।

सिद्धान्त––(१) विषयवासनासंस्कारवशवर्ती परोक्षज्ञानीका इन्द्रियसुख अपारमार्थिक है । (२) अशुद्ध मोहग्रस्त जीवका खोटे विकल्पोमे रमण होता है । (३) विषयवासनापीडित जीव इष्ट रम्य स्पर्शादि विषयोमे रमता है ।

दृष्टि––१– अस्वभावनय [१८०] । २– अशुद्धनिश्चयनय [४७] । ३– आश्रये आश्रयी उपचारक व्यवहार [१५१] ।

प्रयोग—इन्द्रियज्ञानकी प्रेरणावोको अहितकर जानकर इन्द्रियविषयोमे रमण न कर अतीन्द्रिय अविकार सहज ज्ञानस्वरूपमे मग्न होनेका पौरुष करना ॥६३॥

अब जब तक इन्द्रियाँ है तब तक स्वभावसे ही दुःख है, यह युक्तियोसे निश्चित करते है—**[येषां]** जिनके **[विषयेषु रतिः]** विषयोमे रति है **[तेषां]** उनके **[दुःखं]** दुःख **[स्वाभावं]** प्राकृतिक **[विजानीहि]** जानो, **[हि]** क्योकि **[यदि]** यदि **[तद्]** वह दुःख **[स्वाभावं न]** प्राकृतिक न हो तो **[विषयार्थं]** विषयोके अर्थ **[व्यापारः]** व्यापार **[न अस्ति]** नही हो सकता ।

तात्पर्य—विषयोमे राग होनेसे दुःख होना स्वाभाविक ही है ।

अथ यावदिन्द्रियाणि तावत्स्वभावादेव दुःखमेवं वितर्कयति—

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

जिनकी विषयोंमें रति, उनके तो क्लेश प्राकृतिक जानो ।
यदि हो न प्राकृतिक दुख, विषयार्थ प्रवृत्ति नहि होती ॥६४॥

येषा विषयेषु रतिस्तेषा दुःख विजानीहि स्वाभावम् । यदि तन्न हि स्वाभाव व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥

येषा जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम्, किंतु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात् । अवलोक्यते हि तेषा स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, सफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य सकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपात । यदि पुनर्न तेषा दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशांतशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णावचूर्णनमिव,

---

नामसंज्ञ—ज विपय रदि त दुक्ख सब्भाव जइ त ण हि सब्भाव वावार ण विसयत्थ । **धातुसंज्ञ**—वि जाण अवबोधने, अस सत्ताया । **प्रातिपदिक**—यत् विषय रति तत् दुःख स्वाभाव यदि तत् न हि स्वाभाव व्यापार न विषयार्थ । **मूलधातु**—वि ज्ञा अवबोधने, वि आ पृङ् व्यायामे तुदादि, पार कर्मसमाप्ती चुरादि, अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—जेसि येषा—षष्ठी बहु० । विसएसु विषयेषु—सप्तमी बहु० । रदी रति—प्र० ए० । तेसि तेषा—षष्ठी बहु० । दुक्ख दुःख सब्भाव स्वाभाव—द्वि० एक० । वियाण विजानीहि—आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया । जइ यदि ण न हि—अव्यय । सब्भाव स्वाभाव वावारो व्यापार—

टीकार्थ—जिनकी हतक (हत्यारी निकृष्ट) इन्द्रियां जीवित है, उनके उपाधिके कारण दुःख नही है, किन्तु स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनकी विषयोंमे रति देखी जाती है । हाथीका हथिनीरूपी कुट्टिनीके शरीरस्पर्शकी तरह, मछलीका बंसीमे फंसे हुए मांसके स्वादकी तरह, भ्रमरका बन्द हो जाने वाले कमलके गंधकी तरह, पतगेका दीपककी ज्योतिके रूपकी तरह और हिरनका शिकारीके सगीतके स्वरकी तरह दुर्निवार इन्द्रियवेदनाके वशीभूत होते हुए उनके निकट याने विषयोमें अभिपात होता है अर्थात् विषयोसे नाश अति निकट है, विषय क्षणिक हैं तो भी विषयोकी ओर दौडते दिखाई देते है । और यदि उनका दुःख स्वाभाविक स्वीकार न किया जाये तो जिसका शीतज्वर उपशांत हो गया है, उसके पसीना आनेके लिये उपचार करनेकी तरह तथा जिसका दाह्य ज्वर उतर गया है उसके आरनालसे शरीरके परिषेक करनेकी तरह तथा जिसकी आंखोंका दुःख दूर हो गया है उसके वटाचूर्ण आंजनेकी तरह

विनष्टकर्णशूलस्य बस्तमूत्रपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपनदानमिव, विषयव्यापारो न दृश्येत । दृश्यते चासौ । ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः ॥६४॥

प्रथमा एक० । अत्थि अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । विसयत्थं विषयार्थ–चतुर्थ्यर्थे अव्यय । निरुक्ति––विशेषेण षयन गमन विषयः । समास –स्वस्य भाव स्वभाव स्वभावस्य इद स्वाभाव ॥६४।

तथा जिसका कर्णशूल नष्ट हो गया हो उसके कानमे बकरेका मूत्र डालनेकी तरह और जिसका घाव भर जाता है उसके फिर लेप करनेकी तरह उनका विषयोमे व्यापार नही दिखना चाहिये; किन्तु उनके वह विषयप्रवृत्ति तो देखी जाती है । इससे सिद्ध हुआ कि जिनके इन्द्रियाँ जीवित है ऐसे परोक्षज्ञानी स्वाभाविक दुःखसे युक्त है ही ।

प्रसगविवरण— अनन्तरपूर्व गाथामे कहा गया था कि परोक्षज्ञानी प्राणियोका इन्द्रियसुख कष्टरूप है, अपरमार्थ है । अब इस गाथामे बताया गया है कि जब तक इन्द्रियाँ जीवित है तब तक दुःख होना प्राकृतिक ही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जिनके इन्द्रियविषयवासना बर्त रही है उनके दुःख होना प्राकृतिक बात है । (२) विषयोमे रति होनेसे प्राणीके दुःख बाह्य विषयोके कारण नही, किन्तु विकारजन्य है । (३) विकारजन्य दुःखको न सह सकनेसे जीवोकी विषय भोगनेमे प्रवृत्ति होती है । (४) इन्द्रियवेदना इतनी कठिन पीड़ा है कि इसके वशीभूत प्राणी निकट ही जिनमे मरण हो ऐसे भी विषयोमें गिर पड़ते है । (५) उद्धत इन्द्रियो वाले परोक्षज्ञानीके स्वयके विभावसे जन्य दुःख है तभी वे विषयोमे व्यापार करते हैं । (६) जिन प्राणियोंको विषयोमे प्रेम है उनको नियमसे विषयरतिके विकारसे दुःख हो रहा है । (७) विषयोमे प्रेम होनेका कारण निजमे भेदविज्ञानका अभाव है । (८) विषयोमे प्रेम होनेका निमित्त कारण उस प्रकारकी रागवाली प्रकृतियोका उदय है ।

सिद्धान्त—(१) विभावगुणव्यञ्जनपर्याय स्वभावका प्रतिघातक होनेसे कष्टरूप ही है ।

दृष्टि—१– विभावगुणव्यञ्जनपर्यायदृष्टि [२१३] ।

प्रयोग—दुःखकारक विकारोसे, विकारके निमित्तभूत कर्मविपाकसे, कर्मबन्धके निमित्तभूत विभावोसे उपेक्षा करके अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावमे उपयोगको लगाना ॥६४॥

अब मुक्त आत्माके सुखकी प्रसिद्धिके लिये, शरीरकी सुखसाधनताका खडन करते हैं—[**स्पर्शैः समाश्रितान्**] स्पर्शनादिक इन्द्रियोसे समाश्रित [**इष्टान् विषयान्**] इष्ट विषयोको [**प्राप्य**] पाकर [**स्वभावेन**] अपने अशुद्ध स्वभावसे [**परिणममानः**] परिणमन करता हुआ [**आत्मा**] आत्मा [**स्वयमेव**] स्वयं ही [**सुखं**] इन्द्रियसुखरूप होता है [**देहः न भवति**] देह

अथ मुक्तात्मसुखप्रसिद्धये शरीरस्य सुखसाधनतां प्रतिहन्ति—

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥६५॥

स्पर्शादिसे समाश्रित, इष्ट विषय या स्वभावसे आत्मा।
परिणममान स्वयं सुख, होता नहिं देहसे कुछ सुख ॥६५॥

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन। परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देहः ॥६५॥

अस्य खल्वात्मनः सशरीरावस्थायामपि न शरीरं सुखसाधनतामापद्यमानं पश्यामः, यतस्तदापि पीतोन्मत्तकरसैरिव प्रकृष्टमोहवशवर्तिभिरिन्द्रियैरिमेऽस्माकमिष्टा इति क्रमेण विषयानभिपतद्भिरसमीचीनवृत्तितामनुभवन्नुपरुद्धशक्तिसारेणापि ज्ञानदर्शनवीर्यात्मकेन निश्चयकारण-

---

नामसंज्ञ—इट्ठ विसय फास समस्सिद सहाव परिणममाण अप्प सयं एव सुह ण देह। **धातुसंज्ञ**—सम् आ सिण सेवाया, प अप्प अर्पणे, हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—इष्ट विषय स्पर्श समाश्रित स्वभाव परिणममान आत्मन् स्वय एव सुख न देह। **मूलधातु**—सम् आ श्रिञ् सेवायां, भू सत्तायां, प्र आप्लृ प्राप्तौ। **उभयपदविवरण**—इट्ठे इष्टान् विसए विषयान् समस्सिदे समाश्रितान्—द्वि० बहु०। फासेहिं स्पर्शैः—तृतीया

सुखरूप नहीं होता।

तात्पर्य—इष्ट विषयोंका आश्रय कर भी जीव जब सुखी होता है तब वहाँ जीव ही सुखरूप होता है, देह सुखरूप नहीं होता।

टीकार्थ—वास्तवमें इस आत्माके सशरीर अवस्थामें भी शरीर सुखसाधनताको प्राप्त हो ऐसा हम नहीं देख रहे हैं, क्योंकि तब भी, उन्मादजनक मदिराका पान कर लेने वालोंकी तरह प्रबल मोहके वश वर्तने वाली, 'यह विषय हमें इष्ट है' इस प्रकार विषयोंकी ओर दौड़ती हुई इन्द्रियोंके द्वारा अयोग्य परिणतिका अनुभव करता हुआ भी जिसकी शक्तिकी उत्कृष्टता रुक गई है ऐसे भी निश्चयकारणताको प्राप्त अपने ज्ञान-दर्शन-वीर्यात्मक स्वभावसे परिणमन करता हुआ स्वयमेव सुखत्वको प्राप्त करता है। किन्तु शरीर अचेतनपना होनेसे सुखत्वपरिणतिका निश्चय कारण न होता हुआ किंचित् मात्र भी सुखत्वको प्राप्त नहीं करता, यह सब पूर्णतया निःसंदिग्ध है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जब तक इन्द्रियाँ उद्धत हैं तब तक प्रकृतिसे ही दुःख है। अब इस गाथामें मुक्त आत्मावोंके सुखकी प्रसिद्धिके लिये शरीरके सुखसाधनपनेका निराकरण किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) शरीरसहित अवस्थामें भी जीवके सुखका वास्तविक साधन शरीर

तामुपागतेन स्वभावेन परिणममानः स्वमेवायमात्मा सुखतामापद्यते । शरीरं त्वचेतनत्वादेव सुखत्वपरिणतेर्निश्चयकारणतामनुपगच्छन्न जातु सुखतामुपढौकत इति ॥ ६५ ॥

बहु० । सहावेण स्वभावेन–तृतीया एक० । परिणममाणो परिणममान अप्पा आत्मा सुह सुख देहो देहः– प्रथमा एक० । हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । सय स्वयं एव ण न–अव्यय । पप्पा प्राप्य–असमाप्तिकी क्रिया । **निरुक्ति**– दिह्यति उपचीयते इति देह. । **समास**–स्वस्य भाव स्वभाव तेन स्वभावेन ॥ ६५ ॥

नही है, किन्तु उस प्रकारका विकल्प है । (२) ये विषय मुझे इष्ट है ऐसा विकल्प होनेसे मोहवशवर्ती इन्द्रियाँ विषयोमे कूदती है । (३) विषयोंमे कूदने वाली इन्द्रियों द्वारा जीव मलिन वृत्तिका अनुभव करने लगता है । (४) मलिनवृत्तिका अनुभव करने वाले जीवका आत्मशक्तिसार रुक जाता है । (५) आत्मशक्तिसार रुक जानेपर भी जो कुछ भी ज्ञानदर्शन-वीर्यात्मक स्वभावसे जीव परिणम रहा उस परिणमनसे जीव सुखरूप अवस्थाको प्राप्त कर रहा है । (६) शरीरसहित अवस्थामें भी जीवकी सुखरूप परिणतिका निश्चयत कारण यथोचित ज्ञानदर्शनवीर्यात्मक स्वभावसे परिणमना है । (७) अचेतन होनेसे शरीर सुखका निश्चयतः कारण हो ही नही सकता । (८) सुखरूप परिणमन व शरीर भिन्न-भिन्न द्रव्यगत है, अतः शरीरमे सुखकारणता नही है । (९) मुक्त जीवके शरीर नही है इस कारण उनके सुख कैसे हो सकता ? यह सदेह नही करना, क्योकि शरीर सुखका साधन नही है, सुखका निश्चयतः साधन आत्मपरिणाम है । (१०) इन्द्रियसुखका भी निश्चयत: कारण अशुद्ध आत्मभाव है । (११) मुक्त जीवोके अनन्त आनन्दका कारण परिपूर्ण निर्मल आत्मविकास है । (१२) इन्द्रियसुखरूप परिणमने वाले आत्माकी ज्ञानदर्शनवीर्यात्मक स्वभावकी उत्कृष्ट शक्ति रुक कर विकारकी योग्यता हो जाना ही अशुद्ध स्वभाव होना कहलाता है ।

सिद्धान्त—(१) आत्माके आनन्दका वास्तविक कारण आत्मभाव ही है ।

दृष्टि—१– उपादानदृष्टि [४९ब] ।

प्रयोग—शुद्ध आनन्दके लिये सहजानन्दधाम चैतन्यस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वमे मग्न होनेका दृष्टिपौरुष करना ॥ ६५ ॥

अब इसी तथ्यको दृढ करते है—[**एकान्तेन हि**] एकान्तसे अर्थात् नियमसे [**स्वर्गे वा**] स्वर्गमे भी [**देहः**] शरीर [**देहिनः**] शरीरी आत्माको [**सुखं न करोति**] सुख नही देता [**तु विषयवशेन**] परन्तु विषयोके वशसे [**सौख्यं वा दुःखं**] सुख अथवा दुःखरूप [**स्वयं आत्मा भवति**] स्वयं आत्मा होता है ।

तात्पर्य—स्वर्गमे भी देवोंका जीव ही सुख दुःखरूप होता है, उनका शरीर नही ।

अथैतदेव दृढयति—

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६६॥

स्वर्गमे भी नियमसे, देहीके देहसे नहीं सुख है।
विषयवशसे स्वयं यह, सुख व दुखरूप होता है ॥६६॥

एकान्तेन हि देह सुख न देहिन करोति स्वर्गे वा। विषयवशेन तु सौख्य दु ख वा भवति स्वयमात्मा ॥६६॥

अयमत्र सिद्धातो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीर न खलु सुखाय कल्प्येतेतीष्टानामनिष्टानां वा विषयाणां वशेन सुख वा दु ख वा स्वयमेवात्मा स्यात् ॥ ६६ ॥

नामसंज्ञ—एगत हि देह सुह ण देहि सग्ग विसयवस दु सोक्ख दुक्ख वा सय अत्त। **धातुसंज्ञ**—कुण करणे, हव सत्ताया। **प्रातिपदिक**—एकान्त हि देह सुख देहिन् स्वर्ग वा विषयवश तु सौख्य दु ख स्वय आत्मन्। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, भू सत्ताया। **उभयपदविवरण**—एगंतेण एकान्तेन-तृतीया बहु०। देहो देह मोक्ख सौख्य दुक्ख दु ख आदा आत्मा-प्र० एक०। सुह सुख-द्वितीया एक०। देहिस्स देहिन.-षष्ठी एक०। विसयवसेण विषयवशेन-तृतीया एक०। हवदि भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। **निरुक्ति**—अतति (सतत गच्छति जानाति) इति आत्मा। **समास**—विषयस्य वश विषयवश तेन ॥६६॥

टीकार्थ—यहाँ यह सिद्धान्त है कि दिव्य वैक्रियिकपना होनेपर भी शरीर सुखके लिये नही माना जाता, यह सुनिश्चित है, आत्मा स्वयं ही इष्ट अथवा अनिष्ट विषयोके वशसे सुख अथवा दु खरूप स्वय ही होता है।

प्रसङ्गविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे मुक्तात्मावोके आनन्दकी प्रसिद्धिके लिये शरीरके सुखसाधनपनेका निराकरण किया था। अब इस गाथामे उसी देहको सुखसाधनताके निराकरणको दृढ किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) शरीर जीवको सुख या दुःख नही देता। (२) इष्ट अनिष्ट विषयो के वशसे सुख व दु खरूप स्वय ही जीव होता है। (३) देवोका वैक्रियक शरीर सुखका कारण नही। (४) नारकियोका वैक्रियक शरीर दुःखका कारण नही। (५) जीव ही स्वय कल्पनावश सुख अथवा दुःखरूप परिणमता है।

सिद्धान्त—(१) परद्रव्य आत्माके परिणमनका निश्चयकारण नही।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुद्धनय [४९अ]।

प्रयोग—सत्य सहज आनन्दके लाभके लिये सहजानन्दके स्रोतभूत सहज ज्ञानस्वभाव की उपासना करना ॥ ६६ ॥

अब आत्माको स्वयं ही सुखपरिणामकी शक्तिसे युक्तता होनेसे विषयोंकी अकिञ्चित्क-

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्वं द्योतयति--

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६७॥

जिसकी दृष्टि तिमिरहर, उसको नहिं कार्य दीपसे ज्यों कुछ ।
त्यों आत्मा सौख्यमयी, वहां विषय कार्य क्या करते ॥ ६७ ॥

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्तव्यम् । तथा सौख्य स्वयमात्मा विषया किं तत्र कुर्वन्ति ॥

यथा हि केषाचिन्नक्तचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपा-

नामसंज्ञ—तिमिरहरा जइ दिट्ठि जण दीव ण कायव्व तह सोक्ख सय अत्त विषय किं तत्थ । **धातुसंज्ञ**—का करणे, कुव्व करणे । **प्रातिपदिक**—तिमिरहरा यदि दृष्टि जन दीप न कर्तव्य तथा सौख्य स्वय आत्मन् विषय किं तत्र । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—तिमिरहरा दिट्ठी

रताका द्योतन करते है—[**यदि**] यदि [**जनस्य दृष्टिः**] प्राणीकी दृष्टि [**तिमिरहरा**] तिमिर-नाशक हो तो [**दीपेन नास्ति कर्तव्य**] दीपकसे कोई प्रयोजन नही है, [**तथा**] इसी प्रकार जहाँ [**आत्मा**] आत्मा [**स्वयं**] स्वयं [**सौख्यं**] सुखरूप परिणमन करता है, [**तत्र**] वहाँ [**विषयाः**] विषय [**किं कुर्वन्ति**] क्या कर सकते है ।

तात्पर्य—प्राणी स्वयं सुखरूप परिणमता है विषयभूत पदार्थ जीवोके सुखरूप नही परिणमते, न जीवोको सुखरूप परिणमाते ।

टीकार्थ—जैसे किन्ही उल्लू, बिल्ली इत्यादि निशाचरोके नेत्र स्वयमेव अन्धकारको नष्ट करनेकी शक्ति वाले होते है, इस कारण उन्हे अधकार नाशक स्वभाव वाले दीपक-प्रकाशादिसे कोई प्रयोजन नही होता, इसी प्रकार ससारमे या मुक्तिमे स्वयमेव सुखरूप परिणमित इस आत्माका अज्ञानियो द्वारा सुखसाधनबुद्धिसे व्यर्थ माने गये भी विषय क्या कर सकते है ?

प्रसङ्गविवरण—अनतरपूर्व गाथामे शरीरकी सुखसाधनताके निराकरणको दृढ किया था । अब इस गाथामे आत्माकी स्वयंकी सुखपरिणामशक्तिको दिखाकर विषयोकी अकिञ्चित्करता प्रसिद्ध की है ।

तथ्यप्रकाश—(१) यह आत्मा चाहे संसारदशामे हो या मुक्तावस्थामे हो, स्वय ही सुखरूपसे परिणमित होता है । (२) ससारदशामे इन्द्रियसुख होनेमे भी सुखरूप परिणमता आत्मा ही है, सातादिकर्मोदय मात्र निमित्त है और विषयभूत पदार्थ आश्रयभूत कारण है । (३) आश्रयभूत विषयमे उपयोग जुटाये तो वे आश्रयभूत कारण कहलाते हैं तिसपर भी ये स्पर्शादि विषय आत्मामे कुछ परिणमन नही करते । (४) अज्ञानीजन ही विषयोको सुखका

करणप्रवणेन प्रदीपप्रकाशादिना कार्यं, एवमस्यात्मनः संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मु'धाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्यु': ॥६७॥

दृष्टि सोक्ख सौख्य आदा आत्मा-प्रथमा एक०। जइ यदि ण न तह तथा सयं स्वयं तत्थ तत्र-अव्यय। किं-अव्यय या द्वि० एक०। जणस्स जनस्य-षष्ठी एक०। दीवेण दीपेन-तृतीया एक०। अत्थि अस्ति-वर्तमान लट् अन्य० एक० क्रिया। कायव्व कर्तव्य-प्रथमा ए० कृदन्त क्रिया। विसया विषया -प्र० बहु०। कुव्वंति कुर्वन्ति-वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन ॥ ६७ ॥

कर्ता मानकर व्यर्थ ही विषयोका आश्रय करते है।

सिद्धान्त—(१) विषयोको जीवसुखका कर्ता कहना मात्र उपचार है। (२) जीव अपनी सुखपरिणमनशक्तिमे परिणमता है।

दृष्टि--१- परकर्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार [१२६ब], आश्रये आश्रयी उपचारक व्यवहार [१५१]। २- उपादानदृष्टि [४६ब]।

प्रयोग--परपदार्थको अपने सुखपरिणमनमे अकिञ्चित्कर जानकर और स्वयंको ही आनन्दस्वरूप पहिचानकर परविकल्पसे हटना और अविकल्प सहजानन्दधाम सहजचित्स्वभाव मे उपयोग लगाना ॥ ६७ ॥

अब आत्माका सुखस्वभावत्व दृष्टान्त द्वारा दृढ करते है—[**यथा**] जैसे [**नभसि**] आकाशमे [**आदित्यः**] सूर्य [**स्वयमेव**] अपने आप ही खुद [**तेजः**] तेज [**उष्णः**] उष्ण [**च**] और [**देवता**] देव है [**तथा**] उसी प्रकार [**लोके**] लोकमे [**सिद्धः अपि**] सिद्ध भगवान भी अपने आप ही स्वय [**ज्ञानं**] ज्ञान [**सुखं च**] सुख [**तथा देवः**] और देव हैं।

तात्पर्य—भगवान स्वयं ही अनन्तज्ञानमय, अनन्तानन्दमय और देवस्वरूप है।

टीकार्थ—जैसे आकाशमे अन्य कारणकी अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य स्वयमेव अत्यधिक प्रभा समूहसे चमकते हुए स्वरूपके द्वारा विकसित प्रकाशयुक्त होनेसे तेज है, और जैसे कभी उष्णतारूप परिणमित लोहेके गोलेकी तरह सदा उष्णतापरिणामको प्राप्त होनेसे उष्ण है, और जैसे देवगतिनामकर्मके धारावाहिक उदयके वशवर्ती स्वभावपनेसे देव है, इसी प्रकार लोक मे अन्य कारणकी अपेक्षा रखे बिना ही भगवान आत्मा भी स्वयमेव स्वपरको प्रकाशित करनेमे समर्थ यथार्थ अनन्तशक्तियुक्त सहज संवेदनके साथ तादात्म्य होनेसे ज्ञान है, और उसी प्रकार आत्मतृप्तिसे उत्पन्न होने वाली परिनिर्वृत्तिसे प्रवर्तमान अनाकुलतामे सुस्थितताके कारण सौख्य है, और उसी प्रकार जिन्हे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि निकट है ऐसे बुधजनोके मनरूपी शिलास्तम्भमें जिसकी अतिशय द्युति स्तुति उत्कीर्ण है ऐसा दिव्य आत्मस्वरूपवान होनेसे देव है। इस कारण इस आत्माको सुखसाधनाभासके विषयोसे बस हो। इस प्रकार यह आनन्द-प्रकरण पूर्ण हुआ। अब यहां शुभपरिणामका अधिकार प्रारम्भ होता है।

अथात्मनः सुखस्वभावत्वं दृष्टान्तेन दृढयति—

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ॥६८॥

स्वयमेव सूर्य नभमे, तेजस्वी उष्ण देव है जैसे ।
स्वयमेव सिद्ध सुखमय, ज्ञान तथा देव है तैसे ॥६८॥

स्वयमेव यथादित्यस्तेजः उष्णश्च देवता नभसि । सिद्धोऽपि तथा ज्ञानं सुखं च लोके तथा देवः ॥ ६८ ॥

यथा खलु नभसि कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव प्रभाकरः प्रभूतप्रभाभारभास्वरस्वरूपविकस्वरप्रकाशशालितया तेजः, यथा च कादाचित्कौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवन्नित्यमेवौष्ण्यपरिणामापन्नत्वादुष्णः, यथा च देवगतिनामकर्मोदयानुवृत्तिवशवर्तिस्वभावतया देवः । तथैव लोके कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थनिर्वितथानन्तशक्तिसहजसंवेदनतादात्म्यात् ज्ञानं, तथैव चात्मतृप्तिसमुपजातपरिनिर्वृत्तिप्रवर्तितानाकुलत्वसुस्थितत्वात् सौख्यं, तथैव चासन्नात्मतत्त्वोपलम्भलब्धवर्णजनमानसशिलास्तम्भोत्कीर्णसमुदीर्णद्युतिस्तुतियोगिदिव्यात्मस्वरूपत्वाद्देवः । अतोऽस्यात्मनः सुखसाधनाभासैर्विषयैः पर्याप्तम् । इति आनन्दप्रपञ्चः । अथ शुभपरिणामाधिकारप्रारम्भः । ६८॥

नामसंज्ञ— सयं एव जहा आदिच्च तेज उण्ह य देवदा णभस् सिद्ध वि अपि तहा णाण सुह च लोग तहा देव । **धातुसंज्ञ**— सिज्झ निष्पत्तौ । **प्रातिपदिक**—स्वयं एव यथा आदित्य तेजस् उष्ण च देवता नभस् सिद्ध अपि तथा ज्ञान सुख च लोक तथा देव । **मूलधातु**—षिध गतौ, षिधु संराद्धौ दिवादि । **उभयपदविवरण**—सयं स्वयं एव जहा यथा य च वि अपि तहा तथा–अव्यय । आदिच्चो आदित्य तेजो तेज उण्हो उष्ण देवदा देवता सिद्धो सिद्ध णाणं ज्ञानं सुहं सुखं देवो देव –प्रथमा एक० । णभसि नभसि लोगे लोके–सप्तमी एकवचन । **निरुक्ति**—सिद्ध्यति स्म इति सिद्धः, अतति गततं गच्छति इति आदित्यः ॥ ६८ ॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे आत्माकी सुखपरिणमनशक्तियोगिता दिखाकर विषयोकी अकिञ्चित्करता सिद्ध की थी । अब इस गाथामे आत्माके आनन्दस्वभावपनेको दृष्टान्तपूर्वक दृढ किया है ।

तथ्यप्रकाश—१– आत्माके आनन्दका वास्तविक साधन स्वयं आत्मा है । २– संसारदशामे आनन्दगुणकी विकृत पर्यायरूप सुख सुखाभास है । ३– सुखाभासके आश्रयभूत साधन साधनाभास है । ४– सुखसाधनाभासोसे आत्माको कोई लाभ नही है । ५– भगवान आत्मा अन्य कारणोकी अपेक्षा किये बिना स्वयं ही स्वपरप्रकाशनमे समर्थ अनन्तशक्तियुक्त सहजसंवेदनमय होनेसे ज्ञानरूप है । ६– सहज संवेदनमय होनेसे यह भगवान आत्मा परम आत्मतृप्तिसे प्रवर्तमान निराकुलतामे सुस्थित होनेसे सहजपरमानन्दमय है । ७– सम्यग्ज्ञानोके नम

अथेन्द्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधनस्वरूपमुपन्यस्यति--

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥६६॥

देवगुरुभक्तिमें नित, दान सदाचार अनशनादिकमें ।
जो प्रवृत्त आत्मा वह, है सरल शुभोपयोगात्मक ॥६६॥

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु । उपवासादिषु रक्त शुभोपयोगात्मक आत्मा ॥ ६६ ॥

यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिका-

---

नामसंज्ञ—देवदजदिगुरुपूजा च एव दाण वा सुसील उववासादि रत्त सुहोव ओगप्पग अप्प । **धातुसंज्ञ**—रज्ज रागे । **प्रातिपदिक** - देवतायतिगुरुपूजा च एव दान वा सुशील उपवासादि रक्त शुभोपयोगात्मक आत्मन् । **मूलधातु**– रज रागे । **उभयपदविवरण** – देवदजदिगुरुपूजासु देवतायतिगुरुपूजासु सुसीलेसु

मे सातिशय द्युति स्तुति जिसकी प्रतिफलित है, ऐसा दिव्यस्वरूप भगवान आत्मा देव है । ८– जो स्वयं ज्ञान है, स्वय आनन्द है, स्वयं देव है उस आत्माको सुखसाधनाभासोसे क्या प्रयोजन है ? ६– भगवानकी तरह सब जीवोका स्वभाव है, अतः आनंदाभिलाषी जीवोंको विषयावलबनकी कल्पना छोडकर सहजानन्दस्वभावमय अतस्तत्त्वकी उपासना करनी चाहिये ।

सिद्धान्त—१– भगवान आत्मा अपने ही स्वरूपसे प्रकट स्वतंत्र ज्ञानानन्द विलासका अनुभव करता है ।

दृष्टि—१– अनीश्वरनय [१८६] ।

प्रयोग—परिपूर्ण अनाकुल रहनेके लिये अपने सहजानन्दस्वभावमय सहज ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वमे उपयोग रमाना ॥६८॥

अब इन्द्रियसुखस्वरूप सम्बन्धी विचारको लेते हुए आचार्य इन्द्रियसुखके साधनभूत शुभोपयोगके स्वरूपको समीपमे धरोहरवत् धरते है अर्थात् जैसे दूसरेकी धरोहर बिना ममता के धरी जाती है ऐसे शुभोपविषयक बातका प्रसंग करते हुए भी उसका ममत्व न कर स्वरूप को कहते है—[**देवतायतिगुरुपूजासु**] देव, यति व गुरुकी पूजामे [**दाने च एव**] और दानमें [**सुशीलेषु वा**] एवं सुशीलोमे [**उपवासादिषु**] और उपवासादिकमे [**रक्तः आत्मा**] अनुरागी आत्मा [**शुभोपयोगात्मकः**] शुभोपयोगात्मक है ।

तात्पर्य—मोक्षमार्गके साधकोंकी सेवादिक शुभानुष्ठानोमे अनुरागी शुभोपयोगी जीव है ।

टीकार्थ—जब यह आत्मा दुःखकी साधनीभूत द्वेषरूप तथा इन्द्रियविषयकी अनुराग-

मतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत ।। ६६ ।।

सुशीलेषु उववासादिसु उपवासादिषु–सप्तमी बहु० । च एव वा–अव्यय । दाणम्मि दान–सप्तमी एक० । **रत्तो** रक्त सुहोवओगप्पगो शुभोपयोगात्मक. अप्पा आत्मा–प्रथमा एक० । **निरुक्ति**—यतते इति यति, उप वसन उपवास । **समास** - देवता च यतिश्च गुरुश्च देवतायतिगुरव तेषां पूजा तासु । शुभश्चासौ उपयोग. शुभोपयोग: शुभोयोग एव आत्मक यस्य स शुभोपयोगात्मक ।। ६६ ।।

रूप अशुभोपयोग भूमिकाका उल्लंघन करके, देव-गुरु-यतिकी पूजा, दान, शील और उपवासादिकके प्रीतिस्वरूप धर्मानुरागको अंगीकार करता है तब वह इन्द्रियसुखकी साधनीभूत शुभोपयोगभूमिकाको प्राप्त हुआ कहलाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि यह भगवान आत्मा स्वय सुखस्वभावी है । अब इस गाथामे इन्द्रियसुखके विचारके प्रसगमे इन्द्रियसुखके साधनके स्वरूप निर्देश किया है।

तथ्यप्रकाश—१– द्वेष एव इन्द्रियविषयोका अनुराग अशुभोपयोग है । २– अशुभोपयोगकी भूमिकाका उल्लघन करनेपर शुभोपयोग होता है । ३– देव यति गुरुकी पूजा, शील, दान, उपवासमें प्रीति आदि धर्मानुराग शुभोपयोग है । ४– शुभोपयोग इन्द्रियसुखका साधन है । ५– इन्द्रियसुख हेय है, इसलिये इन्द्रियसुखके साधनभूत शुभोपयोगकी आवश्यकता न होनी चाहिये, किन्तु शुद्धोपयोग शुभोपयोगपूर्वक ही होता है, अतः शुद्धोपयोगसे पहिले शुभोपयोग होना अनिवारित है । ६– निर्दोष सर्वज्ञ परमात्मा देव है । ७– भेदाभेद रत्नत्रयके आराधक व आराधनार्थी भव्य जीवोको दीक्षा देने वाले साधु गुरु है । ८– इन्द्रियविजय करके शुद्धात्मस्वरूपमे प्रयत्नपरायण साधु यति कहलाते है । ९–जो अशुभोपयोगकी भूमिका को उल्लंघन करके जो धर्मानुराग करता है वह शुभोपयोगी कहलाता है ।

सिद्धान्त—१– इन्द्रियसुखका निमित्त सातादिकर्मप्रकृतिका उदय है । २– सातादि कर्मप्रकृतियोके बन्धका निमित्त शुभोपयोग है । ३– इन्द्रियसुखका साधन शुभोपयोग है ।

दृष्टि— १, २– निमित्तदृष्टि [५३अ] । ३– निमित्तपरम्परादृष्टि [५३ब] ।

प्रयोग—शाश्वत आनन्दके लाभके लिये अशुभोपयोगभूमिकाका उल्लघन न कर शुभोपयोगभूमिकामे आकर शुद्धोपयोगके लक्ष्यमे बढ़कर दोनो अशुद्धोपयोगसे निवृत्त होकर शुद्धोपयोगरूप परिणमनके लिये सहज परमविश्राम करना ।।६६।।

अब शुभोपयोगके साध्यपनेसे इन्द्रियसुखको कहते है—[**शुभेन युक्तः**] शुभोपयोग युक्त [**आत्मा**] आत्मा [**तिर्यक् वा**] तिर्यंच [**मानुषः वा**] मनुष्य [**देवः वा**] अथवा देव [**भूतः**] होकर [**तावत्कालं**] उतने समय तक [**विविधं**] विविध [**ऐन्द्रियं सुखं**] इन्द्रियसुखको

अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्याति—

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा ।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्दियं विविहं ॥७०॥

शुभयुक्त जीव होकर, तिर्यञ्च मनुष्य देवगति वाला ।
उतने काल विविध इन्द्रियसुखको प्राप्त करता है ॥७०॥

युक्तः शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा । भूतस्तावत्कालं लभते सुखमैन्द्रियं विविधं ॥ ७० ॥

अयमात्मेन्द्रियसुखसाधनीभूतस्य शुभोपयोगस्य सामर्थ्यात्तदधिष्ठानभूतानां तिर्यग्मानुषदेवत्वभूमिकानामन्यतमां भूमिकामवाप्य यावत्कालमवतिष्ठते, तावत्कालमनेकप्रकारमिन्द्रियसुखं समासादयतीति ॥७०॥

नामसंज्ञ—जुत्त सुह अत्त तिरिय वा माणुस सिद्ध वा भूद तावदि काल सुह इदिय विविह । **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—युक्त शुभ आत्मन् तिर्यच वा मानुष देव भूत तावत् काल सुख इन्द्रिय विविध । **मूलधातु**—भू सत्तायां डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपदविवरण**—जुत्तो युक्तः आदा आत्मा तिरियो तिर्यग् माणुसो मानुष देवो देव –प्रथमा एक० । सुहेण शुभेन–तृतीया एक० । लहदि लभते–वर्तमान अन्य पुरुष एक० क्रिया । सुह सुख इदिय ऐन्द्रिय विविह विविध–द्वितीया ए० । भूदो भूत –प्रथमा एक० । तावत् काल–अव्यय । **निरुक्ति**—शोभते इति शुभ, तेन, दिव्यतीति देव ॥७०॥

[लभते] प्राप्त करता है ।

टीकार्थ—यह आत्मा इन्द्रियसुखके साधनभूत शुभोपयोगकी सामर्थ्यसे उसके आधारभूत तिर्यंच मनुष्य और देवत्वकी भूमिकाओंमे से किसी एक भूमिकाको प्राप्त करके जितने समय तक उसमे रहता है उतने समय तक अनेक प्रकारके इन्द्रियसुखको प्राप्त करता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें इन्द्रियसुखके साधनके स्वरूपका निर्देश किया था । अब इस गाथामें इन्द्रियसुखको शुभोपयोग द्वारा साध्यपनेसे प्रकट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– इन्द्रियसुखका मूल साधन है शुभोपयोग । २–शुभोपयोगके सामर्थ्यसे तिर्यंच मनुष्य व देव– इनमे से किसी भी पर्यायमें आत्मा आता है रहता है । ३– जब तक यह आत्मा तिर्यंच मनुष्य व देव पर्यायमें रहता है तब तक यह इन्द्रियसुखको प्राप्त करता है ।

सिद्धान्त— १– शुभोपयोगके निमित्तसे सातादि पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है । २–सातादि पुण्यप्रकृतियोंके उदयके निमित्तसे जीव इन्द्रियसुखको पाता है । ३– इन्द्रियसुखके निमित्तका निमित्त होनेसे इन्द्रियसुखका मूल साधन शुभोपयोग है ।

दृष्टि—१, २– निमित्तदृष्टि [५३अ] । २– निमित्तपरम्परादृष्टि [५३ब] ।

अथैवमिन्द्रियसुखमुत्क्षिप्य दुःखत्वे प्रक्षिपति--

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ७१ ॥

स्वाभाविक सुख देवों, के भी नहीं आगमोक्त है वे तो ।
देहेन्द्रियपीड़ावश, रम्य विषयोमे रमते है ॥ ७१ ॥

सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे । ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ७१ ॥

इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकस, तेषामपि स्वाभाविकं न खलु **सुखमस्ति** प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते । यतस्ते पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरपिशाचपीडया **परवशा** भृगुप्रपातस्थानीयान्मनोज्ञविषयानभिपतन्ति ॥ ७१ ॥

नामसंज्ञ—सोक्ख सहावसिद्ध ण सुराण सिद्ध उवदेस ते देहवेदणट्टा विसएसु रम्मेसु । **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां, रम क्रीडायां, पुर ऐश्वर्यदीप्त्योः । **प्रातिपदिक** सौख्य स्वभावसिद्ध सुर अपि सिद्ध उपदेश तत् वेदनार्त विषय रम्य । **मूलधातु**—अस् भुवि, रमु क्रीडायां । **उभयपदविवरण**—सोक्खं सौख्यं सहावसिद्धं स्वभावसिद्धं सिद्धं–प्रथमा एक० । उवदेसे उपदेशे–सप्तमी एक० । ते देहवेदणट्टा वेदनार्ता –प्रथमा बहु० । रमंति रमन्ते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । विसएसु विषयेषु रम्मेसु रम्येषु–सप्तमी बहुवचन । **निरुक्ति**- सुरन्तीति सुराः, रन्तुं योग्य रम्य । **समास**—स्वभावेन सिद्धं स्वभावसिद्धं, देहस्य वेदना देहवेदना तया आर्ता ॥७१॥

प्रयोग—इन्द्रियसुखको व इन्द्रियसुखके साधनभूत शुभोपयोगको हेय जानकर परम उपादेय शुद्धोपयोगके आश्रयभूत निज सहज अन्तस्तत्त्वमे उपयुक्त होना ॥७०॥

इस प्रकार इन्द्रियसुखकी बात उठाकर अब उसे दु.खरूपमे प्रक्षिपित करते है–[**उपदेशे सिद्धं**] (जिनेन्द्रदेवके) उपदेशसे सिद्ध है कि [**सुराणाम् अपि**] देवोके भी [**स्वभावसिद्धं**] स्वभावसिद्ध [**सौख्यं**] सुख [**नास्ति**] नही है, [**ते**] वे [**देहवेदनार्ता**] (पंचेन्द्रियमय) देहकी वेदनासे पीड़ित होनेसे [**रम्येषु विषयेषु**] रम्य विषयोमे [**रमन्ते**] रमते है ।

टीकार्थ—इन्द्रियसुखके अधिकारियोमे प्रधान देव है, उनके भी वास्तवमे **स्वाभाविक** सुख नही है, प्रत्युत उनके स्वाभाविक दु.ख ही देखा जाता है, क्योकि वे पचेन्द्रियात्मक **शरीर** रूपी पिशाचकी पीडासे परवश होते हुए शिखरसे गिरनेके समान मनोज्ञ विषयोकी **ओर दौड़ते** है ।

प्रसङ्गविवरण—अनतरपूर्व गाथामे बताया गया था कि इन्द्रियसुख शुभोपयोग **द्वारा** साध्य है । अब इस गाथामे इन्द्रियसुखको उखाडकर दुःखपनेमें फेंका गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– इन्द्रियसुख जिन जीवोको मिला है उनमें सर्वाधिक **इन्द्रियसुख**

अथैवमिन्द्रियसुखस्य दुःखतायां युक्त्यावतारितायामिन्द्रियसुखसाधनीभूतपुण्यनिर्वर्तक-शुभोपयोगस्य दुःखसाधनीभूतपापनिर्वर्तकाशुभोपयोगविशेषादविशेषत्वमवतारयति—

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥७२॥

नर नारक तिर्यक् सुर, यदि देहोद्भव हि क्लेश अनुभवते।
कैसे वह शुभ व अशुभ, होता उपयोग जीवोंका ॥ ७२ ॥

नरनारकतिर्यक्सुरा भजन्ति यदि देहसंभवं दुःखं। कथं स शुभो वाऽशुभ उपयोगो भवति जीवानाम् ॥७२॥

यदि शुभोपयोगजन्यसमुदीर्णपुण्यसंपदस्त्रिदशादयोऽशुभोपयोगजन्यपर्यागतपातकापदो वा नारकादयश्च, उभयेऽपि स्वाभाविकसुखाभावादविशेषेण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरप्रत्ययं दुःखमेवा-

---

नामसंज्ञ—णरणारयतिरियसुर जदि देहसंभव दुक्ख किह त सुह व असुह उवओग जीव। **धातुसंज्ञ**—भज सेवायां, हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—नरनारकतिर्यक्सुर यदि देहसंभव दुःख कथं तत् शुभ वा

वाले देव है। २— इन्द्रियसुखपात्रप्रधान देवोके भी सुख स्वाभाविक नही है। ३— इन्द्रियसुख वाले देवोके भी वास्तवमे वह दुःख ही है। ४— देव भी इन्द्रियात्मक शरीरपिशाचकी पीड़ासे परवश हुए मनोज्ञ विषयोमे गिर पडते है। ५— इन्द्रियसुख क्षोभसे व्याप्त है, अतः इन्द्रिय-सुख हेय है। ६— इन्द्रियसुखका मूल साधन शुभोपयोग भी हेय है। ७— नाना दुःखोका मूल साधन अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है। ८— अशुभोपयोग अत्यन्त हेय इस कारण है कि अशुभोपयोगमे उद्धारका अवसर ही नही मिलता। ९— शुभोपयोग अत्यन्त हेय इस कारण नही कि शुभोपयोगी जीवको उद्धारका अवसर मिल सकता है। १०— शुद्धोपयोग शुभोपयोग पूर्वक ही होता है, अशुभोपयोगपूर्वक नही।

सिद्धान्त—(१) इन्द्रियविषयवशवर्ती जीव देहवेदनावश विषयासक्त भावसे दुःखी रहते है।

दृष्टि—१— उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४]।

प्रयोग—विषयोपयोग छोडकर निज सहज शुद्ध स्वभावका उपयोग करना ॥७१॥

इस प्रकार युक्तिसे इन्द्रियसुखको दुःखरूप प्रगट करके अब इन्द्रियसुखके साधनीभूत पुण्यको रचने वाले शुभोपयोगकी दुःखके साधनीभूत पापको उत्पन्न करने वाले अशुभोपयोगसे अविशेषताको प्रगट करते है—**[नरनारकतिर्यक्सुराः]** मनुष्य नारकी तिर्यंच और देव सभी **[यदि]** यदि **[देहसंभवं]** देहोत्पन्न **[दुःखं]** दुःखको **[भजंति]** अनुभव करते हैं तो **[जीवानां]** जीवोंका **[सः उपयोगः]** वह अशुद्ध उपयोग **[शुभः वा अशुभः]** शुभ और अशुभ दो प्रकार

नुभवन्ति । तत. परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोः पृथक्त्वव्यवस्थानावतिष्ठते ॥७२॥

अशुभ उपयोग जीव । **मूलधातु**– भज सेवाया, भू सत्ताया । **उभयपदविवरण** णरणारयतिरियसुरा नरनारकतिर्यक्सुरा–प्र० बहु० । देहसभव दुक्ख दु ख–द्वि० ए० । भजति–वर्तमान अन्य पुरुष बहु० क्रिया । जदि यदि किह कथ व वा–अव्यय । हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष बहु० क्रिया । सुहो शुभ असुहो अशुभः उवओगो उपयोग –प्र० ए० । जीवाण जीवाना–षष्ठी बहु० । **निरुक्ति**–नृणाति इति नर । **समास**–नरश्च नारकश्च तिर्यक् च सुरश्च नरनारकतिर्यक्सुरा. ॥ ७२ ॥

का [**कथ भवति**] कैसे है ? अर्थात् दोनो ही समान है, अशुद्ध उपयोग है ।

तात्पर्य––आत्मीय आनन्दके विराधक होनेसे शुभ अशुभ दोनो ही उपयोग समान हैं, अशुद्ध है ।

टीकार्थ— यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्यकी सम्पत्ति वाले देवादिक और अशुभोपयोगजन्य उदयगत पापकी आपदा वाले नारकादिक दोनों स्वाभाविक सुखके अभावके कारण बिना अन्तरके पंचेन्द्रियात्मक शरीर सम्बन्धी दु खका ही अनुभव करते है तब फिर परमार्थसे शुभ और अशुभ उपयोगकी पृथक्त्व व्यवस्था नही रहती ।

प्रसंगविवरण— अनन्तरपूर्व गाथामे इन्द्रियसुखको दुःखरूप बताया गया था । अब इस गाथामें इन्द्रियसुखके साधनीभूत पुण्यनिर्वर्तक शुभोपयोगमे और दु.खके साधनीभूत पापनिर्वर्तक अशुभोपयोगमे अविशेषताका अवधारण दिया है ।

तथ्यप्रकाश — (१) शुभोपयोगमे देवेन्द्र आदिक पुण्यसपदाको प्राप्त करते है । (२) अशुभोपयोगसे जीव कुयोनियोमे आपत्ति पाते है । (३) शुभोपयोगजन्य पुण्यसपदा वालोंमे व अशुभोपयोगजन्य पर्यायगत पापविपदा वालोंमे आत्मीय सहज आनन्द नही है । (४) पुण्योदय वाले व पापोदय वाले पञ्चेन्द्रियात्मक शरीरके निमित्त दु ख ही अनुभव करते है । (५) शुभोपयोग व अशुभोपयोग दोनोका ही परिणाम कष्टरूप होनेसे दोनोमे कोई अन्तर नही है । (६) शुभोपयोग व अशुभोपयोग दोनोको ही अतिक्रान्त करके होन वाला शुद्धोपयोग ही परम कल्याण है ।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोग व अशुभोपयोग दोनो अशुद्धोपयोग है ।

दृष्टि—१– सादृश्यनय [२०२] ।

प्रयोग—अशुभोपयोगसे व पश्चात् शुभोपयोगसे उपेक्षा करके सहज चित्स्वभावके आलम्बन सहज शुद्धोपयोगरूप परिणमना ॥७२॥

अब शुभोपयोगजन्य फल वाले पुण्यको विशेषतः दूषण देनेके लिये मान करके उखाड़ते है—[**कुलिशायुधचक्रधराः**] इन्द्र और चक्रवर्ती [**शुभोपयोगात्मकैः भोगैः**] शुभोपयोग-

अथ शुभोपयोगजन्यं फलवत्पुण्यं विशेषेण दूषणार्थमभ्युपगम्योत्थापयति--

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७३॥

वज्रधर चक्रधर भी, शुभोपयोग फलरूप भोगोंसे ।
सुखकल्पी भोगनिरत, देहादिक पुष्ट करते हैं ॥७३॥

कुलिशायुधचक्रधरा शुभोपयोगात्मकै भोगै.। देहादीना वृद्धि कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरता: ॥ ७३ ॥

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वेच्छोपगतैर्भोगैः शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ताः सुखिता इव प्रतिभासन्ते । ततः शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते ॥७३॥

नामसंज्ञ—कुलिसाउहचक्कधर सुहोवओगप्पग भोग देहादि विद्धि सुहिद इव अभिरद। **धातुसंज्ञ**—कर करणे। **प्रातिपदिक**—कुलिशायुधचक्रधर शुभोपयोगात्मक भोग देहादि वृद्धि सुखित इव अभिरत। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे। **उभयपदविवरण**—कुलिसाउहचक्कधरा कुलिशायुधचक्रधराः सुहोवओगप्पगा शुभोपयोगात्मका सुहिदा सुखिता अभिरदा अभिरता–प्रथमा बहु०। भोगेहि भोगैः–तृतीया बहु०। देहादीण देहादीना–षष्ठी बहु०। विद्धि वृद्धि–द्वितीया एक०। करेति कुर्वन्ति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। **निरुक्ति**—वर्धन वृद्धि.। **समास**—कुलिश आयुध येषा ते कुलिशायुधा, चक्र धरन्ति इति चक्रधराः, कुलिशायुधाश्च चक्रधराश्चेति कुलियायुधचक्रधरा. ॥ ७३ ॥

मूलक भोगोके द्वारा **[देहादीनां]** देहादिकोंकी **[वृद्धि कुर्वन्ति]** पुष्टि करते है और **[अभिरताः]** (इस प्रकार) भोगोमें रत वर्तते हुए **[सुखिताः इव]** सुखी जैसे मालूम होते है ।

तात्पर्य—इन्द्र चक्री जैसे बड़े लोग भी शुभोपयोगहेतुक पुण्यके फल भोगोको भोगते व भोगोमे रत होते हुए सुखी जैसे लगते है, किन्तु वह सब होता नही है ।

टीकार्थ—चूंकि शक्र और चक्रवर्ती अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगोंके द्वारा शरीरादिको पुष्ट करते हुए दूषित रक्तमे अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई जोककी तरह उन भोगोमें अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए सुखी जैसे प्रतिभासित होते है, इससे शुभोपयोगजन्य फलवान पुण्य दिखाई देते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे शुभोपयोग व अशुभोपयोगमें अविशेषताका अवधारण कराया था । अब इस गाथामे शुभोपयोगजन्य फलवान पुण्यका दूषण प्रसिद्ध किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) इन्द्र, चक्री आदि बड़े प्राणी भोगोंके द्वारा शरीर आदिको पुष्ट करते हुए भोगोंमें आसक्त होते हैं । (२) भोगासक्त इन्द्र चक्री आदि सुखी जैसे लगते हैं,

अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥ ७४ ॥

शुभ उपयोगजनित जो, नानाविध पुण्य विद्यमान हुए।
करते हि विषय तृष्णा, देवों तकके भि जीवोंके ॥७४॥

यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि। जनयन्ति विषयतृष्णा जीवन्ना देवतान्तानाम्।

यदि नामैव शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यन्त इत्यभ्युपगम्यते, तदा तानि सुधाशनानामप्यवधिं कृत्वा समस्तसंसारिणां विषयतृष्णामवश्यमेव

नामसंज्ञ—जदि हि पुण्ण य परिणामसमुब्भव विविह विषयतण्ह जीव देवदंत। धातुसंज्ञ—अस सत्तायां, जण उत्पादने। प्रातिपदिक—यदि हि पुण्य परिणामसमुद्भव विविध विषयतृष्णा जीव देवतान्त। मूलधातु—अस भुवि, जन जनने जुहोत्यादि, जनी प्रादुर्भावे दिवादि, णिजन्ते। उभयपदविवरण—जदि यदि हि य च–अव्यय। पुण्णाणि पुण्यानि परिणामसमुब्भवाणि परिणामसमुद्भवानि विविहाणि विविधानि—प्रथमा बहु०। संति सन्ति–वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया। जणयंति जनयन्ति–वर्तमान अन्य पुरुष

किन्तु है वे सब क्षुब्ध। (३) ये भोग पुण्यके फल हैं, सो पुण्यका अस्तित्व तो है, पर उसका परिणाम संसार ही है।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोग अशुद्धोपयोग है और नैमित्तिक है।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय [५३]।

प्रयोग—शुभोपयोगसे अशुभोपयोगका आक्रमण दूर करके सुरक्षित होकर सहज शुद्ध चैतन्यस्वभावका उपयोग करते हुए सहज शुद्धोपयोगी होना ॥ ७३ ॥

अब इस प्रकार माने गये पुण्योंकी दुःखबीजकारणताको उद्भावित करते है—[यदि] यदि [परिणामसमुद्भवानि] शुभोपयोगरूप परिणामसे उत्पन्न होने वाले [विविधानि पुण्यानि च] नाना प्रकारके पुण्य [संति] विद्यमान हैं [देवतान्तानां जीवानां] तो वे देवपर्यन्त जीवो के [विषयतृष्णां] विषयकी तृष्णाको [हि जनयन्ति] ही उत्पन्न कराते है।

तात्पर्य—इन्द्रादिकोके पुण्य हैं तो वे पुण्य विषयतृष्णाको ही उत्पन्न कर दुःखके ही बीज बनते है।

टीकार्थ—यदि इस प्रकार शुभोपयोग परिणामसे उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकारके पुण्य विद्यमान हैं, यह माना जाता है तो वे पुण्य देवो तकके समस्त संसारियोके विषयतृष्णा को अवश्य ही उत्पन्न करते है (यह भी मानना पड़ेगा)। वास्तवमें तृष्णाके बिना दूषित रक्त मे जोंककी तरह समस्त संसारियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति दिखाई न दे; किन्तु वह तो दिखाई

समुत्पादयन्ति । न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकानां समस्तसंसारिणां विषयेषु प्रवृत्तिरवलोक्येत । अवलोक्यते च सा । ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमबाधितमेव ॥७४॥

बहुवचन णिजन्त क्रिया । विसयतण्ह विषयतृष्णां-द्वितीया एक० । जीवाणं जीवाना देवदताण देवता-न्ताना-षष्ठी बहु० । निरुक्ति—पूयते अनेनेति पुण्य, विषिण्वन्ति स्वात्मकतया विषयिण संबध्नन्ति इति विषया:, तृष्यते अनयेति तृष्णा । समास—परिणामेन समुद्भूतानि परि०, विषयाणा तृष्णा वि० ॥७४॥

देती है । इस कारण पुण्योंकी तृष्णायतनपना अबाधित ही है ।

प्रसंगविवरण—अनतरपूर्व गाथामें शुभोपयोगजन्य पुण्यकर्मका दूषण स्पष्ट किया गया था । अब इस गाथामे उन पुण्यकर्मोंकी दु.खकारणताको प्रकट किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शुभोपयोगके परिणामसे अनेक प्रकारके पुण्यकर्म बन जाते हैं । (२) वे पुण्यकर्म बड़ेसे बड़े प्राणी देवेन्द्रो तकके संसारियोंके विषयतृष्णाको उत्पन्न करते है । (३) यदि उन पुण्यकर्म वाले बड़े प्राणियोके पुण्यकर्म विषयतृष्णाजनक न होते तो उनकी विषयोंमें प्रवृत्ति न देखी जाती । (४) पुण्योदय वाले प्राणियोके विषयतृष्णा व विषयप्रवृत्ति देखी जाती है, अतः अबाधित सिद्ध है कि पुण्यकर्म तृष्णाके घर ही हैं । (५) वास्तवमें पुण्यकर्म सुखके साधन तो क्या होंगे वे तो दुःखके बीजरूप तृष्णाके ही घर है ।

सिद्धान्त—(१) तृष्णाका कारण है मोहोदयके साथ पुण्योदय, पुण्यबन्धका कारण है शुभोपयोग ।

दृष्टि—१- निमित्तपरम्परादृष्टि [५३ब] ।

प्रयोग—पुण्यकर्मको भी दुःखबीज जानकर पुण्यकर्मसे, पुण्यकर्मके फलसे व पुण्यकर्म के साधनसे उपेक्षा करके शुद्ध सहज अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि करना ॥७४॥

अब पुण्यके दुःखबीजरूप विजय घोषित करते है—**[पुनः]** फिर **[उदीर्णतृष्णाः ते]** उदीर्ण है तृष्णा जिनकी ऐसे वे जीव **[तृष्णाभिः दुःखिताः]** तृष्णाओंके द्वारा दुःखी होते हुए **[आमरणं]** मरण पर्यंत **[विषयसौख्यानि इच्छन्ति]** विषयसुखोंको चाहते हैं **[च]** और **[दुःखसंतप्ताः]** दुःखोंसे संतप्त होते हुए **[अनुभवंति]** उन्हें भोगते हैं ।

तात्पर्य—जिनके तृष्णा बढ़ी-चढ़ी है वे विषयचाहकी दाहसे मरणपर्यन्त दुःख भोगते रहते है ।

टीकार्थ—जिनके तृष्णा बढ़ी-चढ़ी है ऐसे देवपर्यंत समस्त संसारी, तृष्णा दुःखका बीज होनेसे पुण्यजनित तृष्णाओके द्वारा भी दुःखबीजपना होनेसे अत्यंत दुखी होते हुए मृग-तृष्णाओंसे जलकी भाँति विषयोसे सुख चाहते हैं, और उस दुःख-संतापके वेगको न सहते हुए जोंककी भाँति विषयोंको तब तक भोगते हैं, जब तक कि मरणको प्राप्त नहीं होते । जैसे

अथ पुण्यस्य दुःखबीजविजयमाघोषयति—

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥ ७५ ॥

फिर तृष्णाकी दुखिया, हो तृष्णासे हि विषयसौख्योंको ।
आमरण चाहते वे, दुखसे संतप्त हों भोगें ॥ ७५ ॥

ते पुनरुदीर्णतृष्णाः दुःखितास्तृष्णाभिर्विषयसौख्यानि । इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरणं दुःखसंतप्ताः ॥ ७५ ॥

अथ ते पुनस्त्रिदशावसानाः कृत्स्नसंसारिणः समुदीर्णतृष्णाः पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिताः सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्यः सौख्यान्यभिलषन्ति । तद्दुःखसंतापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान् जलायुका इव, तावद्यावत् क्षयं

नामसंज्ञ—त पुण उदिण्णतण्ह दुहिद तण्हा विसयसोक्ख य आमरण दुक्खसंतत्त । **धातुसंज्ञ**—इच्छ इच्छायां, अणु भव सत्तायां । **प्रातिपदिक**—तत् पुनर् उदीर्णतृष्णा दुःखित तृष्णा विषयसौख्य आमरण

जोंक तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विजयको प्राप्त होती हुई दुःखांकुरसे क्रमशः आक्रान्त हो रही दूषित रक्तको चाहती हुई और उसीको भोगती हुई मरणपर्यंत क्लेशको पाती है, उसी प्रकार यह पुण्यशाली जीव भी पापशाली जीवोंकी भांति तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विजयप्राप्त दुःखांकुरोंके द्वारा क्रमशः आक्रान्त हो रहे हुए विषयोंको चाहते हुए और उन्हींको भोगते हुए विनाश पर्यन्त क्लेश पाते है । इस कारण पुण्य सुखाभासरूप दुःखका ही साधन है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे पुण्यकर्मोंकी दुःखबीजता प्रकट की थी । अब इस गाथामे यह घोषित किया गया है कि पुण्य दुःखरूप फलको देता है, इसरूपमे पुण्यको विजय प्रसिद्ध है ।

तथ्यप्रकाश—(१) देवपर्यन्त सभी संसारी जीव तृष्णामे सने है । (२) पुण्यरचित तृष्णावोंके कारण सभी संसारी जीव दुःखी है । (३) तृष्णापीडित प्राणी विषयोंसे सुखकी अभिलाषा करते है । (४) पुण्योदय वाले मोही प्राणी तृष्णाजन्यपीड़ाको न सहते हुए तब तक विषयोंको भोगते रहते हैं जब तक वे मर मिट जायें । (५) गौच तृष्णावश मरणपर्यन्त दुष्ट खूनको चाहती व पीती रहती है, ऐसे ही पुण्योदयी मुग्ध प्राणी पापयुक्त प्राणियोंकी तरह प्रलयपर्यन्त विषयोंको चाहते, भोगते व कष्ट पाते हैं । (६) पुण्य सुखाभासरूप दुःखके ही साधन हैं । (७) जिनके निर्विकल्प परमसमाधिसे उत्पन्न परमाह्लादस्वरूप तृप्ति नहीं है उनके विषयतृष्णा अवश्य वर्तती है । (८) आश्रयभूत कारणोंमें उपयोग जुटानेपर विषय-

यान्ति । यथा हि जलायुकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखांकुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा दुष्ट-कीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । एवममी अपि पुण्यशालिनः पाप-शालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखांकुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलषन्त-स्तानेवानुभवन्तश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्युः ॥ ७५ ॥

दु खसंतप्त । **मूलधातु**—उत् ऋ गतिप्रापणो भ्वादि, ऋ गतौ क्र्यादि, वि षिञ् बन्धने स्वादि क्र्यादि, इषु इच्छायां, अनु भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—ते उदिण्णतण्हा उदीर्णतृष्णा· दुहिदा दु खिता. दुक्ख-सतत्ता दु खसतप्ता.–प्र० बहु० । पुण पुन य च–अव्यय । तण्हाहिं तृष्णाभि –तृतीया बहु० । विसयसो-क्खाणि विषयसौख्यानि–द्वि० बहु० । इच्छति इच्छन्ति अणुभवंति अनुभवन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । आमरण–क्रियाविशेषण अव्यय समास । **निरुक्ति**—म्रियतं मरण । **समास**—उदीर्णा तृष्णा येषा ते उदीर्णतृष्णा , विषयाणा सौख्यानि वि०, दुःखेन सतप्ता. दु.खसतप्ता. ॥ ७५ ॥

तृष्णा व्यक्त होती है । (९) आश्रयभूत कारणोंमे उपयोग न जुटानेपर विषयतृष्णा अव्यक्त होती है । (१०) तृष्णारूप बीज क्रमशः अंकुररूप होकर दुःखरूप वृक्ष बढता है । (११) दुःखदाहका वेग असह्य होनेपर जीव विषयोंमें प्रवृत्ति करते है । (१२) जिनके विषयोंमें प्रवृत्ति है वे सब संसारी जीव स्पष्ट दुःखी है । (१३) जैसे मृगमरीचिकासे जल प्राप्त नही होता, ऐसे ही इन्द्रियविषयोंसे सुख प्राप्त नही होता है ।

सिद्धान्त— (१) कर्मोदयवश जीव विकारी और आकुल होता है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—सुखाभासोसे हटकर पारमार्थिक सुखके स्रोत ज्ञानानन्दस्वभावमय अंतस्तत्त्व में दृष्टि करना ॥७५॥

अब पुनः भी पुण्यजन्य इन्द्रियसुखको अनेक प्रकारसे दुःखरूप उद्योतित करते हैं—[**यत्**] जो [**इंद्रियैः लब्धं**] इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है [**तत् सौख्यं**] वह सुख [**सपरं**] परद्रव्या-पेक्ष [**बाधासहितं**] बाधासहित [**विच्छिन्नं**] विच्छिन्न [**बंधकारणं**] बंधका कारण [**विषमं**] और विषम है, [**तथा**] इस प्रकार [**दुःखं एव**] वह दुःख ही है ।

तात्पर्य—जो सुख पराधीन बाधासहित विनाशीक व बन्धका कारण हो वह तो दुःख ही है ।

टीकार्थ—परापेक्षता होनेसे, बाधासहितपना होनेसे, विच्छन्नपना होनेसे, बन्धका कारणपना होनेसे, और विषमता होनेसे, पुण्यजन्य भी इन्द्रियसुख दुःख ही है । परसम्बन्ध वाला होता हुआ पराश्रयताके कारण पराधीनता होनेसे बाधासहित होता हुआ खाने, पीने

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वमुद्योतयति--

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इन्दियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥७६॥

सपर सबाध विनाशी, बन्धनकारण तथा विषम जो भी ।
सुख इन्द्रियसे पाया, वह सुख क्या दुःख ही सारा ॥७६॥

सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बन्धकारणं विषमम् । यदिन्द्रियैर्लब्धं तत्सौख्यं दुःखमेव तथा ॥ ७६ ॥

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बंधकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यम-पीन्द्रियसुखं दुःखमेव स्यात् । सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया, बाधासहितं हि सद-

नामसंज्ञ—सपर बाधासहिय विच्छिण्ण बधकारण विसम ज इदिय लद्ध त सोक्ख दुक्ख एव तहा । **धातुसंज्ञ**--वि च्छिद छेदने, लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**- सपर बाधासहित विच्छिन्न बन्धकारण विषम यत् इन्द्रिय लब्ध तत् सौख्य दुःख एव तथा । **मूलधातु**--वि छिदिर् द्वेधीकरणे, डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपद-विवरण**—सपर बाधासहिय बाधासहित विच्छिण्ण विच्छिन्न बधकारण विसम विषम ज यत् सोक्ख सौख्य दुक्ख दुःख–प्रथमा एक० । इदियेहि इन्द्रियैः–तृतीया बहु० । लद्ध लब्ध–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । एव

और मैथुनकी इच्छा इत्यादि तृष्णाकी प्रगटताओसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त आकुलता होने से 'विच्छिन्न' होता हुआ असातावेदनीयका उदय जिसे च्युत कर देता है, ऐसे सातावेदनीय के उदयकी प्रवृत्तिरूपसे अनुभवमे आनेके कारण विपक्षकी उत्पत्ति वाला होनेसे, बधका कारण होता हुआ विषयोपभोगके मार्गमे लगी हुई रागादि दोषोकी सेनाके अनुसार, कर्मरजके ठोस समूहका सम्बन्ध होनेके कारण दुःसह परिणाम होनेसे; और विषम होता हुआ हानि वृद्धिमे परिणमित होनेसे अत्यन्त अस्थिर होनेके कारण वह इन्द्रियसुख दुःख ही है । लो, अब ऐसा पुण्य भी पापकी तरह दुःखका साधन ही सिद्ध हुआ ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे पुण्यकी दुःखबीजताके रूपमे विजयकी घोषणा की थी । अब इस गाथामे पुनः पुण्यजन्य इन्द्रियसुखका अनेक प्रकारसे दुःखपना बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश--(१) इन्द्रियसुख यद्यपि पुण्यजन्य है तथापि वह अनेक कारणोसे दुःख-रूप ही है । (२) इन्द्रियसुख परनिमित्तके योगमे होनेके कारण पराधीन है । (३) इन्द्रिय-सुख खाने पीने मैथुन आदिकी इच्छाओ रूप तृष्णाविशेषोके कारण अत्यन्त आकुल है । (४) इन्द्रियसुख असातावेदनीयके उदय द्वारा खंडित किया जानेसे विनाशीक है । (५) विषयोप-भोगके मार्गसे लगे हुए रागादि दोषोके अनुसार घन कर्मवर्गणायें बँधनेसे इन्द्रियसुख बन्धका

शनायोदन्यावृषस्यादिभिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया, बंधकारणं हि सद्विषयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसंगच्छमानघनकर्मपांसुपटलत्वादुदर्कदुःसहतया, विषमं हि सदभिवृद्धिपरिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसंष्ठुलतया च दुःखमेव भवति । अथैवं पुण्यमपि पापवद्दुःखसाधनमायातम् ॥७६॥

तहा तथा—अव्यय । **निरुक्ति**—बाध्यते अनयेति बाधा, बन्धनं बन्धः, समन सम· (षम अवैकल्ये) । **समास**—बाधया सहित बा०, बन्धस्य कारण ब०, विगत. सम. यस्मात् तत् विषम ॥७६॥

कारण है । (६) हानि-वृद्धिरूप परिणत होते रहनेसे इन्द्रियसुख विषम है । (७) पराधीन बाधासहित विनाशीक बन्धकारणभूत विषम इन्द्रियसुख पुण्यजन्य होनेपर भी दुःख ही है । (८) अहो पुण्य भी पापकी तरह दुःखसाधन बन जाता है ।

सिद्धान्त—(१) पुण्यजन्य होनेपर भी इन्द्रियसुख दुःखरूप ही है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—इन्द्रियसुखसे, उसके निमित्तभूत पुण्यकर्मसे, पुण्यकर्मके निमित्तभूत शुभोपयोगसे उपेक्षा करके सहज चैतन्यस्वरूपमे उपयोग लगाकर सहज विश्राम पाना ॥७६॥

अब पुण्य और पापकी अविशेषताको निश्चित करते हुए उपसंहार करते है—[**एवं**] इस प्रकार [**पुण्यपापयोः**] पुण्य और पापमें [**विशेषः नास्ति**] फर्क नही है [**इति**] यों [**यः**] जो [**न हि मन्यते**] नही मानता [**मोहसंछन्नः**] वह मोहसे आच्छादित होता हुआ [**घोरं अपारं संसारं**] घोर अपार संसारमे [**हिण्डति**] परिभ्रमण करता है ।

तात्पर्य—बन्धहेतु होनेसे पुण्य पाप दोनोमें फर्क नहीं है, ऐसा जो नही मानता वह इस भयानक ससारमे भटकता रहता है ।

टीकार्थ—यो पूर्वोक्त प्रकारसे शुभाशुभ उपयोगके द्वैतकी तरह और सुख दुःखके द्वैतकी तरह परमार्थसे पुण्य पापका द्वैत भी नही टिकता, क्योकि दोनोमे अनात्मधर्मत्वकी अविशेषता है । परन्तु जो जीव उन दोनोंमें सुवर्ण और लोहेकी बेड़ीकी तरह अहंकारमय अन्तर मानता हुआ, अहमिन्द्रपदादि-सम्पदाओंके कारणभूत धर्मानुरागका अत्यन्त गाढ़ रूपसे अवलम्बन करता है, वह जीव वास्तवमे चित्तभूमिके उपरक्त होनेसे शुद्धोपयोग शक्तिका तिरस्कार किया है जिसने, ऐसा वर्तता हुआ, संसारपर्यंत शारीरिक दुःखका ही अनुभव करता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे पुण्यजन्य भी इन्द्रियसुखकी बहुत प्रकारसे दुःखरूपता बताई गई थी । अब इस गाथामें पुण्य और पापमें अविशेषपनेका निश्चय कराकर

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

पुण्य पापमें अन्तर, न कुछ भि ऐसा न मानता जो वह ।
मोहसंछन्न होकर, अपार संसारमें भ्रमता ॥ ७७ ॥

न हि मन्यते य एव नास्ति विशेष इति पुण्यपापयो: । हिण्डते घोरमपार ससार मोहसच्छन्न ॥ ७७ ॥

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदु:खद्वैतमिव च न खलु परमार्थत: पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात् । यस्तु पुनरनयो: कल्याणकालायसनिगलयोरिवाहङ्कारिकं विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्रपदादिसंपदां निदानमिति निर्भरतर धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीर दु:खमेवानुभवति ॥ ७७ ॥

नामसंज्ञ— ण हि ज एव ण विसेस त्ति पुण्णपाव घोर अपार संसार मोहसच्छण्ण । **धातुसंज्ञ** – मन्न अवबोधने तृतीयगणी, अस सत्तायां, हिंड भ्रमणे शब्द च । **प्रातिपदिक**—न हि यत् एवं न अस्ति विशेष इति पुण्यपाप घोर अपार ससार मोहसछन्न । **मूलधातु**— मन ज्ञाने दिवादि, अस् भुवि, हिडि गत्यनादरयो: । **उभयपदविवरण**—ण न हि एव त्ति इति–अव्यय । मण्णदि मन्यते अत्थि अस्ति हिंडदि हिण्डते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जो य: विसेसो विशेष –प्रथमा एकवचन । घोर अपार ससार–द्वि० एक० । मोहस छण्णो मोहसछन्न –प्रथमा एक० । **निरुक्ति**—शेषन शेष विगत. शेष यस्मात्स विशेष याति रक्षति आत्मान शुभात् इति पाप, स सरण स सार: त । **समास**—पुण्य च पाप पुण्यपापे तयो पुण्यपापयो:, मोहेन स छन्न मोहस छन्न: ॥ ७७ ॥

शुभोपयोगके व्याख्यानका उपसंहार कर दिया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शुभोपयोग व अशुभोपयोगमे अनात्मधर्मत्वकी समानता है । (२) सुख और दु:खमे अनात्मधर्मत्वकी समानता है । (३) पुण्य और पापमें अनात्मधर्मत्व की समानता हे । (४) मुग्धजन ही पुण्यको अहमिन्द्रादिपदका कारण देखकर पुण्यबंधके कारणभूत शुभोपयोगकी पकड बनाये रहते हैं । (५) शुभोपयोगको ही अपना सर्वस्व धर्म मानकर उसकी पकड रखने वाले शुद्धोपयोगकी शक्तिको तिरस्कृत करनेके कारण संसारपर्यन्त शारीरिक दु:खको ही भोगते हैं ।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोग विभाव गुणव्यञ्जन पर्याय है और उसे ही परम धर्म मानकर उसकी पकड़ होना मिथ्याभाव है ।

दृष्टि—१– विभावगुणव्यञ्जन पर्यायदृष्टि (२१३), स्वजातिपर्याये स्वजातिपर्यायोप-

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेषदुःख-क्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति—

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥७८॥

यों सत्य जानकर जो, द्रव्योंमें राग द्वेष नहिं करता।
शुद्धोपयुक्त हो वह, देहोद्भव दुःख मिटाता है ॥ ७८ ॥

एवं विदितार्थो यो द्रव्येषु न रागमेति द्वेषं वा। उपयोगविशुद्धः स क्षपयति देहोद्भवं दुःखम् ॥ ७८ ॥

यो हि नाम शुभानामशुभानां च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तुस्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु रागं द्वेषं चाशेषमेव परिवर्जयति स किलै-

---

नामसंज्ञ—एव विदिदत्थ ज दव्व ण राग दोस वा उवओगविसुद्ध त देहुब्भव दुक्ख। **धातुसंज्ञ**—इ गतौ, खव क्षण करणे तृतीयगणी, विद ज्ञाने। **प्रातिपदिक**—एव विदितार्थ यत् द्रव्य न राग द्वेष वा उपयोगविशुद्ध तत् देहोद्भव दुःख। **मूलधातु**—विदॢ ज्ञाने, इण् गतौ, क्षै क्षये पुकानिर्देशात् क्षपि क्षये भ्वादि। **उभयपदविवरण**—एव ण न वा–अव्यय। विदिदत्थो विदितार्थः जो यः उवओगविसुद्धो उपयोग-

---

चारकव्यवहार (१०८)।

प्रयोग—पुण्य पाप दोनोको विकार जानकर उनसे उपेक्षा करके पुण्यपापरहित सहज चैतन्यस्वभावमे उपयुक्त होना ॥७७॥

अब इस प्रकार अवधारित किया है शुभ और अशुभ उपयोगकी अविशेषता जिसने, ऐसा समस्त रागद्वेषके द्वैतको दूर करता हुआ अशेष दुःखका क्षय करनेका मनमे दृढ़ निश्चय करने वाला ज्ञानी पुरुष शुद्धोपयोगमे निवास करता है—[**एवं**] इस प्रकार [**विदितार्थः**] जान लिया है वस्तुस्वरूपको जिसने ऐसा [**यः**] जो ज्ञानी [**द्रव्येषु**] द्रव्योमे [**रागं द्वेषं वा**] राग व द्वेषको [**न एतिः**] प्राप्त नही होता [**सः**] वह [**उपयोगविशुद्धः**] उपयोगविशुद्ध होता हुआ [**देहोद्भवं दुःखं**] देहोत्पन्न दुःखका [**क्षपयति**] क्षय करता है।

तात्पर्य—वस्तुस्वरूपको जानकर जो ज्ञानी पदार्थोंमे राग द्वेष नही करता वह दुःखो का विनाश करता है।

टीकार्थ—जो जीव शुभ और अशुभ भावोकी समानताकी श्रद्धासे वस्तुस्वरूपको सम्यक्प्रकारसे जानता है, स्व और पर—ऐसे दो विभागोमें रहने वाली समस्त पर्यायोंसहित समस्त द्रव्योमे राग और द्वेष सारा ही छोड़ता है वह जीव एकान्तसे उपयोगविशुद्धपना होने से छोड दिया है परद्रव्यका आलम्बन जिसने, ऐसा वर्तता हुआ लोहेके गोलेमे से लोहेके सार

कान्तेनोपयोगविशुद्धतया परित्यक्तपरद्रव्यालम्बनोऽग्निरिवायःपिण्डादननुष्ठितायःसारः **प्रचण्ड-घनघातस्थानीयं** शारीरं दुःखं क्षपयति, ततो ममायमवैकः शरणं शुद्धोपयोगः ॥ ७८ ॥

विशुद्ध सो स.–प्रथमा एकवचन। दव्वेसु द्रव्येषु–सप्तमी बहु०। रागं दोस द्वेष दुहब्भव देहोद्भव दुक्ख दुःखं–द्वि० एक०। **निरुक्ति**– द्रवति गच्छति पर्यायानिति द्रव्य, रजन राग, द्वेषण द्वेष (द्विष् अप्रीतौ), दुःखयन दुःख। **समास**- विदित· अर्थ येन स विदितार्थ, उपयोगेन विशुद्ध उपयोगविशुद्ध·, देहे उद्भव देहोद्भवम् ॥ ७८ ॥

का अनुसरण न करने वाली अग्निकी भांति प्रचंड घनके आघात समान शारीरिक दुःखका क्षय करता है। इस कारण मेरा यही एक शुद्धोपयोग शरण है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे पुण्य पापको अविशेष बताते हुए शुभोपयोग कथनका उपसंहार किया गया था। अब इस गाथामे बताया गया है कि शुभोपयोग व अशुभोपयोगके अविशेषपनेका अवधारण करने वाला भव्य रागद्वेषको हटाता हुआ समस्त दुःखक्षय के लिये दृढ निश्चय करता हुआ शुद्धोपयोगको अङ्गीकार करता है।

तथ्यप्रकाश—(१) शुभ व अशुभ भावोमे अविशेषता वही भव्य जानता है जो वस्तुस्वरूपको सम्यक् जानता है। (२) वस्तुस्वरूपका ज्ञानी समस्त सपर्याय द्रव्योमे राग द्वेषका परिहार कर देता है। (३) रागद्वेषपरिहारी ज्ञानी परद्रव्यका आलम्बन छूट जाने शारीरिक दुःखका वेदन नही करता। (४) आत्माका एक यही शुद्धोपयोग शरण है। (५) लोहेका संग न करने वाली अग्निको घनघातके प्रहारका प्रश्न ही नही उठता। (६) शरीरका संग न करने वाले आत्माको शारीरिक दुःख होनेका प्रश्न ही नही उठता। (७) लोहेके सत्त्वको धारण न करने वाली अग्निपर प्रचण्ड घनके प्रहार नही होते। (८) परद्रव्यका आलम्बन न करने वाले आत्माको शारीरिक दुःखका वेदन नही होता।

सिद्धान्त—(१) रागद्वेषपरिहारी स्वावलम्बी जीव शुद्धोपयोगको अङ्गीकार करता है।

दृष्टि—१– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४अ), शुद्ध भावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—समस्त दुःख विनाशके लिये शुभ अशुभ उपयोगमे अविशेषता निरखकर समस्त राग द्वेषको दूर कर शुद्धोपयोगरूप होना ॥ ७८ ॥

अब सर्व सावद्ययोगको छोड़कर चारित्रको अङ्गीकार करता हुआ भी यदि मैं शुभोपयोगपरिणतिके वश होकर मोहादिका उन्मूलन न करूँ तो मेरे शुद्ध आत्माका लाभ कहांसे होगा ? इसलिये मोहादिके उन्मूलनके लिये सर्व उद्यमपूर्वक उठता है—**[पापारम्भं]** पापा-

अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि, ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥

पापारंभ छोड़कर, शुभ चरित्रमें उद्यमी भी हो ।
यदि न तजे मोहादिक, तो न लहें शुद्ध आत्माको ॥७९॥

त्यक्त्वा पापारम्भं समुत्थितो वा शुभे चरित्रे । न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मकं शुद्धम् ॥ ७९ ॥

य खलु समस्तसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणं परमसामायिकं नाम चारित्रं प्रतिज्ञायापि शुभोपयोगवृत्त्याऽटकाभिसारिकयेवाभिसार्यमाणो न मोहवाहिनीविधेयतामवकिरति स किल समासन्नमहादुःखसङ्कटः कथमात्मानमविप्लुतं लभते । अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम् ॥ ७९ ॥

नामसंज्ञ—पावारंभ समुट्ठिद वा सुह चरिय ण जदि मोहादि ण त अप्पग सुद्ध । **धातुसंज्ञ**—च्चय त्यागे तृतीयगणी, सम् उद् ट्ठा गतिनिवृत्तौ, जहा त्यागे, लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—पापारम्भ समुत्थित वा शुभ चारित्र न यदि मोहादि न तत् आत्मक शुद्ध । **मूलधातु**—त्यज त्यागे, सम् उत् ष्ठा गतिनिवृत्तौ, ओहाक् त्यागे जुहोत्यादि, डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपदविवरण**—पावारंभं पापारम्भं अप्पगं आत्मकं सुद्धं शुद्धं-द्वितीया एक० । समुट्ठिदो समुत्थितः सो सः-प्रथमा एक० । सुहम्मि शुभे चरियम्हि चारित्रे-सप्तमी एक० । मोहादी मोहादीन्-द्वितीया बहु० । चत्ता त्यक्त्वा-असमाप्तिकी क्रिया कृदन्त । जहदि जहाति लहदि लभते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । **निरुक्ति**- शोभनं शुभं , चरणं चारित्रं, मोहनं मोहः । **समास**—पापस्य आरम्भः पापारम्भः तं पापारम्भं ॥७९॥

रम्भको [**त्यक्त्वा**] छोडकर [**शुभे चरित्रे**] शुभ चारित्रमे [**समुत्थितः वा**] उठा हुआ भी [**यदि**] यदि जीव [**मोहादीन्**] मोहादिको [**न जहाति**] नही छोडता तो [**सः**] वह [**शुद्धं आत्मकं**] शुद्ध आत्माको [**न लभते**] नही पाता है ।

तात्पर्य—पापारम्भ त्याग कर चारित्रमार्गमे लगकर भी यदि शुभोपयोगकी हठसे मोहादिको नही छोडता है तो वह सहजात्मस्वरूपको नही प्राप्त कर सकता ।

टीकार्थ—जो जीव समस्त सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप परमसामायिक नामक चारित्रकी प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिकाकी तरह शुभोपयोगपरिणतिसे मिलन पाता हुआ मोहकी सेनाके कृत्यको दूर नही कर डालता, वास्तवमे महादुःख संकट निकट है जिसके, ऐसा वह शुद्ध आत्माको कैसे प्राप्त कर सकता है ? इस कारण मैंने मोहकी सेनापर विजय प्राप्त करनेको यह कमर कसी है ।

अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनीत्युपायमालोचयति—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

जो जिनवरको जाने, द्रव्यत्व गुणत्व पर्ययपनेसे ।
वह जाने आत्माको, उसके नहिं मोह रह सकता ॥८०॥

यो जानात्यर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः । स जानात्यात्मानं मोहः खलु याति तस्य लयम् ॥ ८० ॥

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात् । अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्मरूपं, तत-

---

नामसंज्ञ—ज अरहत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्त त अप्प मोह खलु त लय । **धातुसंज्ञ**—जा गतौ जाण अवबोधने, अरह योग्यतायां । **प्रातिपदिक**—यत् अर्हत् द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्व तत् आत्मन् मोह खलु तत्

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि शुभाशुभोपयोगविशेषज्ञ रागद्वेषका परिहार करता हुआ शुद्धोपयोगको अङ्गीकार करता है । अब इस गाथामें बताया गया है कि सर्व पापको त्यागकर चारित्र अंगीकार करते हुए भी यदि शुभोपयोगवृत्तिवश होकर मोहादिकको नहीं उखाड़ता है तो शुद्धात्माका लाभ नहीं होता है । इस कारण यह ज्ञानी सर्वोद्यमपूर्वक उठता है अर्थात् मोहादिकको उखाड फैंकनेके लिये तैयार होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मोक्षोद्यमी पुरुष सर्वपापसबधको हटानेरूप परमसामायिक नामक चारित्रका प्रतिज्ञापन करता है । ( ) यदि कोई परमसामायिक चारित्रकी प्रतिज्ञा करके भी शुभोपयोगवृत्तिके वश होकर मोहसेनाको ध्वस्त नहीं करता है वह दुःखी जीव आत्माको प्राप्त कर सकता है । (३) मुमुक्षुको मोहसेनापर विजयके लिये कमर कसना चाहिये ।

सिद्धान्त—(१) आत्माके पुरुषार्थसे निर्मोह आत्मपदकी सिद्धि होती है ।

दृष्टि—१- पुरुषकारनय (१८३) ।

प्रयोग—पापारंभको छोड़कर चारित्रमें बढ़कर निर्मोह भावसे रहकर आत्मस्वभावमें उपयुक्त होना ॥७६॥

अब मेरे द्वारा मोहकी सेना कैसे जीती जानी चाहिये ऐसा उपाय वह निरखता है—[**यः**] जो [**अर्हन्तं**] अरहंतको [**द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः**] द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपनेसे [**जानाति**] जानता है, [**सः**] वह [**आत्मानं**] अपने आत्माको [**जानाति**] जानता है, और [**तस्य मोहः**] उसका मोह [**खलु**] निश्चयतः [**लयं याति**] विनाशको प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—जो अपनेमें समानता असमानता व उपायकी दृष्टिपूर्वक द्रव्यत्व गुणत्व व

स्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः । तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः । तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमुत्पश्यति । यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्य, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिमाणतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चिद्विवर्तनग्रन्थय इति यावत् । अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्ताश्चेतन एव संक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव प्रालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हितं

लय । मलधातु—ज्ञा अवबोधने, या प्रापणे । उभयपदविवरण—जो य. सो स मोहो मोह –प्रथमा ए० । अरहंत अर्हन्त अप्पाण आत्मान लय–द्वि० एक० । दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहि द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वै –तृतीया बहुवचन । तस्स तस्य–षष्ठी, एक० । जाणदि जानाति जादि याति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया ।

पर्ययत्वसे भगवानको जानता है उसका मोह नष्ट हो जाता है ।

टीकार्थ—जो वास्तवमे अरहतको द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे जानता है वह वास्तवमे अपने आत्माको जानता है, क्योकि दोनोके भी निश्चयसे अन्तर नही है । अरहंतका भी अन्तिम तावको प्राप्त सोनेके स्वरूपकी तरह आत्मस्वरूप परिस्पष्ट है, इसलिये उसका ज्ञान होनेपर सर्व आत्माका ज्ञान होता है । वहाँ अन्वय द्रव्य है । अन्वयका विशेषण गुण है और अन्वयके व्यतिरेक अर्थात् भेद पर्यायें है । सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहंतमे जीव त्रिभूमिक याने द्रव्यगुणपर्याययुक्त समयको (निज आत्माको) अपने मनसे जान लेता है, समझ लेता है । 'यह चेतन है' इस प्रकारका जो अन्वय है वह द्रव्य है । अन्वयके आश्रित रहने वाला 'चैतन्य' विशेषण वह गुण है, और एक समय मात्रकी मर्यादा वाला कालपरिमाण होनेसे परस्पर अप्रवृत्त अन्वयव्यतिरेक वे पर्यायें है—जो कि चिद्विवर्तनकी अर्थात् आत्माके परिणमन की ग्रंथियाँ हैं । अब इस प्रकार त्रैकालिक आत्माको भी एक कालमे समझ लेने वाला वह जीव, झूलते हुए हारमे मोतियोंकी तरह चिद्विवर्तोंको चेतनमें ही अन्तर्गत करके तथा विशेषण विशेष्यताकी वासनाका अन्तर्धान होनेसे हारमे सफेदीकी तरह चैतन्यको चेतनमे ही अन्तर्हित करके, मात्र हारकी तरह केवल आत्माको जानते हुएके उसके उत्तरोत्तर क्षणमे कर्ता-कर्म-क्रियाका विभाग क्षीयमाण होनेसे निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त हुएके उत्तम मणिकी तरह निर्मल प्रकाश स्वभावरूपसे प्रवर्तमान है जिसका, ऐसे उस जीवके, मोहांधकार निराश्रयताके कारण अवश्यमेव प्रलयको प्राप्त होता है । यदि ऐसा है तो मैंने मोहकी सेनाको जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा गया था कि चारित्र अङ्गीकार करके भी

विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्दतस्तदुत्तरोत्तरक्षणक्षीयमानकर्तृकर्मक्रियाविभागतया निःक्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते । यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः ॥ ८० ॥

निरुक्ति—अतति इति आत्मा, लयनं लयः । **समास**—द्रव्यत्वं गुणत्वं पर्ययत्वं चेति द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वानि तैः द्र० ॥८०॥

यदि शुभोपयोगानुवृत्तिवश होकर मोहादिक विकारको उखाडकर नही फेंकता हू तो मेरे शुद्धात्मत्वका लाभ कैसे हो सकता है ? अब इस गाथामे उसी मोहादिकको उखाड फेंकनेके एक उपायका प्रकाशन किया है ।

तथ्यप्रकाश— (१) निश्चयतः अरहंत प्रभुका द्रव्यत्व और मेरा द्रव्यत्व समान है, क्योकि साधारणासाधारण गुणमय द्रवणशील अनादि अनन्त आत्मत्व सब आत्मावोका समान है । (२) अरहंत प्रभु और मैं गुणरूपसे समान है, क्योकि एकरूप चैतन्यगुण सब आत्मावो का समान है । (३) अरहतप्रभुमें और मुझमे पर्यायरूपसे अन्तर है, क्योकि प्रभु राग द्वेषसे रहित व सर्वज्ञ हैं, मैं राग द्वेषसे सहित व अल्पज्ञ हू । (४) पर्यायकृत अन्तर द्रव्यरूपसे, अभेद गुणरूपसे आत्माकी उपासना करनेपर दूर हो जाता है । (५) अरहतका पर्याय आत्मद्रव्य व गुणके पूर्ण अनुरूप है, अतः अरहतको जाननेसे अपने अन्तःस्वरूपका परिचय सुगम हो जाता है । (६) अनादि अनन्त आत्माको जानते समय गुण व पर्यायोका आत्मामे ही अन्तर्धान हो जाता है और वहां गुण पर्यायके भेदका विकल्प नही रहता । (७) गुण पर्याय के भेद विकल्पसे अतीत अन्तस्तत्त्वके जानते समय परिणाम परिणाम व परिणतिका भेद विकल्प भी नष्ट हो जाता है । (८) निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वका अनुभविता आत्मा निष्क्रिय चिन्मात्रभावको प्राप्त होता है । (९) निष्क्रिय चिन्मात्रभावको प्राप्त आत्माके मोह अन्धकार प्रलयको प्राप्त होता है । (१०) अरहंतप्रभुको द्रव्य गुण पर्यायरूपसे जानना मोहविनाशका एक सुगम उपाय है, क्योंकि अरहंतप्रभुका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है । (११) अरहत प्रभुका स्वरूप निरखनेपर विषमताविकल्प न होनेके कारण सहजज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव सहज बन जाता है । (१२) अरहत भगवानके परिचयके लिये अरहंतके द्रव्य गुण पर्यायका परिचय किया जाता है । (१३) अरहंत प्रभुके परिचयके बाद परमात्माके गुण व पर्यायोंको परमात्मद्रव्यमें समाविष्ट कर देनेपर गुण पर्यायके विकल्पसे छूटकर मात्र आत्मद्रव्यका जानना होता है और तब सहज आनन्दका अनुभव होता है । (१४) लोकमें भी हार खरीदते समय हार सफेदी मोती आदिकी परीक्षा की जाती है, किन्तु हारके पहिननेके समय सफेद मोती

अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लसदि सुद्धं ॥८१॥

निर्मोह जीव सम्यक् निज आत्मतत्त्वको जानकर भी ।
यदि राग द्वेष तजता, तो पाता शुद्ध आत्माको ॥८१॥

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवास्तत्त्वमात्मन. सम्यक् । जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मान लभते शुद्धम् ।८१।

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति । यदि पुनः पुनरपि तावनुवर्तते सदा प्रमाद-

नामसंज्ञ—जीव ववगदमोह उवलद्ध तच्च अप्प सम्म जदि रागदोस त अप्प सुद्ध । **धातुसंज्ञ**—जहा त्यागे, लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**— जीव व्यपगतमोह उपलब्ध तत्त्व आत्मन् सम्यक् यदि रागद्वेष तत् आत्मन् शुद्ध । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, मुह वैचित्ये, ओहाक् त्यागे, डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपदविवरण**—जीवो जीव ववगदमोहो व्यपगतमोह –प्रथमा एकवचन । उवलद्धो उपलब्धवान्–प्रथमा ए० कृदन्त

आदिको हारमें ही समाविष्ट कर उनका ख्याल छोडकर मात्र हारको जानता है और हार पहिननेके सुखका वेदन करता है । (१५) वास्तविक जिनेन्द्रभक्तिका वास्तविक परिणाम यह है कि मोहका विलय हो जावे ।

सिद्धान्त—(१) द्रव्यत्वके निरीक्षणमे सर्व आत्मा समान निरखे जाते है ।

दृष्टि—१– उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२१) ।

प्रयोग—प्रभुस्मरणमे प्रभुके पर्यायको गुणमे एव गुण व पर्यायको एक प्रवाहरूप आत्मद्रव्यमें अन्तर्निहित करके उस चित्स्वरूपस्मरणसे स्वपरविभाग हटाकर मात्र चित्स्वरूप का अनुभव करना ॥८०॥

अब इस प्रकार चिंतामणि रत्न प्राप्त कर लिया है जिसने, ऐसा होनेपर भी मेरे प्रमाद चोर विद्यमान है, इस कारण यह जगता है— [**व्यपगतमोहः**] जिसने मोहको दूर किया है और [**सम्यक् आत्मनः तत्त्वं**] आत्माके सम्यक् तत्त्वको [**उपलब्धवान्**] प्राप्त किया है ऐसा [**जीवः**] जीव [**यदि**] यदि [**रागद्वेषौ**] राग और द्वेषको [**जहाति**] छोड़ता है [**सः**] तो वह [**शुद्धं आत्मानं**] शुद्ध आत्माको [**लभते**] पाता है ।

तात्पर्य—निर्मोह व आत्मतत्त्वका ज्ञाता आत्मा यदि रागद्वेषसे रहित हो जाता है तो वह परमात्मा होता है ।

टीकार्थ—इस प्रकार वर्णन किया गया है स्वरूप जिसका, ऐसे उपाय द्वारा मोहको

तन्मतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति । अतो मया रागद्वेषनिषेधायात्यन्तं जागरितव्यम् ॥८१॥

क्रिया । तच्च तत्त्व–द्वितीया एक० । अप्पणो आत्मन.–षष्ठी एक० । सम्म सम्यक् जदि यदि–अव्यय । जहदि जहाति लहदि लभते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । रागदोसे रागद्वेषौ–द्वि० द्विवचन । सो स –प्रथमा एक० । अप्पाण आत्मान–द्वितीया एक० । सुद्ध शुद्ध–द्वितीया एक० । **निरुक्ति**––तस्य भाव तत्त्व । **समास**––व्यपगतः मोह यस्य स व्यपगतमोह , रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तौ ॥८१॥

दूर करके भी सम्यक् आत्मतत्त्वको प्राप्त करके भी यदि जीव राग द्वेषको निर्मूल करता है तो वह शुद्ध आत्माका अनुभव करता है । यदि पुनः पुनः भी राग द्वेपका अनुसरण करता है, तो प्रमादके अधीन होनेसे लुट गया है शुद्धात्मतत्त्वका अनुभवरूप चिंतामणि रत्न जिसका, ऐसा वह अन्तरंगमे खेदको प्राप्त होता है । इस कारण मुझे रागद्वेषको दूर करनेके लिये अत्यन्त जागृत रहना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनतरपूर्व गाथामे अर्हत्स्वरूपविज्ञानको मोहप्रलयका उपाय बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि मोह दूर करके आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर भी यदि रागद्वेषको छोडा जाता है तो शुद्धात्माका अनुभव होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) भूतार्थविधिसे अर्हत्स्वरूपके परिचयसे सहजात्मस्वरूपका परिचय होता है । (२) सहजात्मस्वरूपके परिचयसे मोह दूर हो जाता है । (३) मोह हटनेपर *समीचीन आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है । (४) आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेपर भी रागद्वेष* का पूर्ण निर्मूलन होनेपर ही परिपूर्ण शुद्ध आत्माका अनुभव होता है । (५) आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेपर भी यदि बार-बार रागद्वेषरूप परिणमन किया जाता है तो आत्मतत्त्वकी उपलब्धि भी खतम हो जायगी । (६) आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नष्ट होनेपर अत्यन्त खेदकी दशा बर्तने लगेगी । (७) विवेकीका कर्तव्य है कि आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होने पर प्रमाद (राग द्वेष) चोरोसे सावधान रहे और रागद्वेषको समूल नष्ट करे । (८) सम्यक्त्व प्राप्त करके भी व सराग चारित्र प्राप्त करके मोक्षके साक्षात् साधनभूत वीतराग चारित्र पानेके लिये रागद्वेषका समूल प्रयत्न होना आवश्यक है ।

सिद्धान्त—आत्माका शुद्धभाव बर्तनेपर कर्मोका प्रक्षय होता है ।

दृष्टि—१–शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय (२४ ब) ।

प्रयोग—रत्नत्रयकी उपलब्धि व पूर्णताके लिये अविकार सहजचित्स्वभावको उपासना करके रागद्वेषसे छुटकारा पाना ॥८१॥

अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८२ ॥

सब ही अरहंत प्रभु, इस विधि कर्मांश नष्ट करके ही ।
उपदेश नहीं करके, युक्त हुए है नमोस्तु उन्हें ॥ ८२ ॥

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशा । कृत्वा तथोपदेशं निर्वृतास्ते नमस्तेभ्यः ॥ ८२ ॥

यतः खल्वातीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थंकराः प्रकारान्तरस्यासभवादसभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपणं कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया परे-

नामसंज्ञ—सव्व वि य अरहत त विधाण खविदकम्मस तथा उवदेस णिव्वाद त णमो त । **धातुसंज्ञ**—खव क्षयकरणे, का करणे । **प्रातिपदिक**—सर्व अपि अर्हत् तत् विधान क्षपितकर्मांश तथा उपदेश निर्वृत तत् नम तत् । **मूलधातु**—क्षै क्षय प्रकानिर्देशे, डुकृञ् करणे । **उभयपदविवरण**—सव्वे सर्वे अर-

अब यही एक भगवन्तोके द्वारा अनुभव करके प्रगट किया हुआ निःश्रेयसका पारमार्थिक पन्थ है—इस प्रकार मतिको व्यवस्थित करते है—[**सर्वे अपि च**] सभी [**अर्हन्तः**] अरहन्त भगवान [**तेन विधानेन**] उसी विधिसे [**क्षपित कर्मांशाः ते**] कर्मांशोको नष्ट कर चुके वे [**तथा**] उसी प्रकारसे [**उपदेशं कृत्वा**] उपदेश करके [**निर्वृताः**] मोक्षको प्राप्त हुए [**नमः तेभ्यः**] उन सबको नमस्कार होओ ।

तात्पर्य—शुद्धोपयोग द्वारा घातिया कर्मोका क्षय कर अरहंत होकर मोक्षमार्गका उपदेश कर निर्वाणको प्राप्त हुए उन सबको नमस्कार है ।

टीकार्थ—चूकि अतीत कालमे क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर भगवान्, प्रकारान्तरका असंभव होनेसे जिसमे द्वैत संभव नही है, ऐसे इसी एक प्रकारसे कर्मांशोका क्षय स्वयं होकर परमाप्तताके कारण भविष्यकालमे अथवा इस (वर्तमान) कालमें अन्य मुमुक्षुओको भी इसी प्रकारसे कर्मक्षयका उपदेश देकर मोक्षको प्राप्त हुए हैं, इस कारण निर्वाणका अन्य कोई मार्ग नही है, यह निश्चित होता है अथवा अधिक प्रलापसे क्या ? मेरी मति व्यवस्थित हो गई है, भगवन्तोको नमस्कार हो ।

प्रसङ्गविवरण—अनतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेपर रागद्वेषको निर्मूल कर देनेसे परिपूर्ण शुद्धात्माका अनुभव होता है । अब इस गाथामें उसी विधानका सभक्ति समर्थन किया गया है ।

षामव्याप्यत्यामिदानीत्वे वा मुमुक्षूणा तथैव तदुपदिश्य नि.श्रेयसमध्याश्रिताः । ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते । अलमथवा प्रलपितेन । व्यवस्थिता मतिर्मम, नमो भगवद्भ्यः ॥८२॥

हंता अर्हन्त. खविदकम्मसा क्षपितकर्माशा· णिव्वादा निर्वृता –प्रथमा बहु० । तेण तेन विधाणेण विधानेन–तृतीया एक० । वि अपि य च तधा तथा णमो नम –अव्यय । उवदेस उपदेश–द्वितीया एक० । तेसि–षष्ठी बहु० । तेभ्य –चतुर्थी बहु० । **निरुक्ति—** सर्वेण सर्व·, उप देशन उपदेश । **समास—** कर्मणा अशा कर्माशा क्षपिता. कर्माशा यैस्ते क्षपितकर्माशा ॥ ८२ ॥

तथ्यप्रकाश—(१) काल अनादि अनन्त है और यद्यपि प्रत्येक सिद्ध आत्मा अशुद्धावस्थाको त्यागकर सिद्ध हुए है तथापि सिद्ध होनेका आदि नही है, अत तीर्थंकर अब तक अनन्त हो चुके । (२) मुक्त होनेका उपाय अन्य प्रकार असंभव होनेसे सम्यक्त्वलाभ और रागद्वेषका समूल नष्ट हो जाना ही मुक्तिका उपाय है । (३) सभी तीर्थंकरोने उक्त विधिसे घातिकर्मका क्षय करके, आप्त सर्वज्ञ होकर अन्य मुमुक्षुवोको उसी विधिका उपदेश कर अघातिया कर्मोंका क्षय होनेपर मोक्ष पाया । (४) भविष्यमे भी अनन्त तीर्थंकर आत्मतत्त्वोपलम्भ व रागद्वेष परिहारकी विधिसे सकलपरमात्मा होकर इसी विधिका उपदेश कर अघातिकर्म क्षय होते ही मोक्ष जावेंगे । (५) इस समय भी विदेहमे वर्तमान तीर्थंकर उक्त विधिसे सकलपरमात्मा होकर विधिका उपदेश देकर अघातिक्षय होनेपर मोक्ष जा रहे है । (६) निर्वाणप्राप्तिका मार्ग आत्मतत्त्वोपलम्भ व रागद्वेषपरिहारके अतिरिक्त अन्य कुछ नही है ।

सिद्धान्त— १–शुद्ध भावके होनेपर कर्मप्रकृतियोका क्षय होकर कैवल्य प्रकट होता है ।

दृष्टि— १– शुद्ध भावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग— कैवल्यलाभके लिये भूतार्थका आश्रय कर सम्यक्त्व पाकर स्वभावदृष्टिकी दृढ़तासे रागद्वेषका परिहार होने देना ॥ ८२ ॥

अब शुद्धात्म लाभके शत्रु मोहके स्वभाव और उसकी भूमिकावोको विभावित करते हैं— [**जीवस्य**] जीवके [**द्रव्यादिकेषु मूढः भावः**] द्रव्य आदिकोमे मूढ़ भाव [**मोहः इति भवति**] मोह है [**तेन अवच्छन्नः**] उससे आच्छादित हुआ जीव [**रागं वा द्वेषं वा प्राप्य**] राग अथवा द्वेषको प्राप्त करके [**क्षुभ्यति**] क्षुब्ध होता है ।

तात्पर्य— द्रव्य गुण पर्यायोमे यथार्थ ज्ञान व सुध न होनेका परिणाम मोह है । उस मोहसे आक्रान्त प्राणी रागी द्वेषी होकर दुःखी रहता है ।

टीकार्थ— धतूरा खाये हुए मनुष्यकी तरह पूर्ववर्णित द्रव्य, गुण, पर्यायोंमे होने वाला जीवका तत्त्वकी अप्राप्तिरूप मूढ़भाव वास्तवमें मोह है । उस मोहसे आच्छादित ढक गया है आत्मरूप जिसका, ऐसा यह आत्मा परद्रव्यको स्वद्रव्यरूपसे, परगुणको स्वगुणरूपसे, और

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभावं भूमिकाश्च विभावयति—

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति ।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥

द्रव्यादिकमें आत्मा, का मूढ हि भाव मोह कहलाता ।
मोहावृत जीव करे, क्षोभ रागद्वेषको पाकर ॥ ८३ ॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति । क्षुभ्यति तेनावच्छन्न प्राप्य रागं वा द्वेष वा ॥ ८३ ॥

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नयमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मगुणतया परपर्यायानात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु विषयेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य प्रचुरतराम्भोभाररयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदार्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति । अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः ॥८३॥

नामसंज्ञ—दव्वादिय मूढ भाव जीव मोह त्ति त उच्छण्ण राग वा दोस वा । **धातुसंज्ञ**—हव सत्ताया, प आव प्राप्लृ । **प्रातिपदिक**—द्रव्यादिक मूढ भाव जीव मोह इति तत् अवच्छन्न राग वा द्वेष वा । **मूलधातु**—भू सत्ताया, क्षुभ संचलने दिवादि, प्र आप्लृ व्याप्तौ । **उभयपदविवरण**—दव्वादिएसु द्रव्यादिकेषु–सप्तमी बहु० । मूढो मूढ भावो भावः मोहो मोह उच्छण्णो अवच्छन्नः–प्रथमा एक० । जीवस्स जीवस्य–षष्ठी एक० । तेण तेन–तृतीया एक० । हवदि भवति खुब्भदि क्षुभ्यते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन । पप्पा प्राप्य–असमाप्तिकी क्रिया कृदन्त । रागं दोस–द्वि० ए० । **निरुक्ति**—भवनं भाव , मोहन मोह । **समास**—द्रव्यं आदिक येषा ते द्रव्यादिका. तेषु द्रव्यादिकेषु ॥८३॥

परपर्यायोंको स्वपर्यायरूप समझकर चले आये दृढतर संस्कारके कारण परद्रव्यको ही सदा ग्रहण करता हुआ, दग्ध इन्द्रियोंको रुचिके वशसे अद्वैतमें भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ, रुचिकर-अरुचिकर विषयोंमे रागद्वेष करके अत्यधिक जलसमूहके वेगसे आहत सेतुबन्ध (पुल) की भाँति दो भागोमे खंडित होता हुआ अत्यन्त क्षोभको प्राप्त होता है । इस कारण मोह, राग और द्वेष—इन भेदोंसे मोह तीन भूमिका वाला है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि मोहक्षयके उपायको स्वयं करके हुए अरहंत देवोने इस शुद्धात्मलाभके पारमार्थिक पन्थका उपदेश किया है । अब इस गाथामें शुद्धात्मलाभके निरोधक मोहके परिणामको विभावित किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अन्तस्तत्त्वकी सुध न होना व परभावोंमें मुग्ध होना मोह है । (२) मोही जीव परद्रव्यको स्वद्रव्यरूपसे समझता है । (३) मोही जीव परगुणको स्वगुणरूपसे

अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥८४॥

मोह राग द्वेष हि से, परिणत जीवोके बन्ध हो जाता ।
इससे विभाव रिपुका मुमुक्षु निर्मूल नाश करे ॥ ८४ ॥

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य । जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते संक्षपयितव्याः ॥८४॥

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य तृणपटलावच्छन्नगर्तसङ्गतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धतप्रविधाविनस्य च सिन्धु-

नामसंज्ञ—मोह व राग व दोस व परिणद जीव विविह बंध त त संखवइदव्व । **धातुसंज्ञ**—जा प्रादुर्भावे, स खव क्षयकरणे । **प्रातिपदिक**—मोह वा राग वा द्वेष वा परिणत जीव विविध बन्ध तत् तत् संक्ष-

समझता है । (४) मोही जीव परपर्यायोको स्वपर्यायरूपसे समझता है । (५) मोही जीव इन्द्रियोकी रुचिके वश होकर अच्छे बुरे न होकर भी ज्ञेय पदार्थोके इष्ट और अनिष्ट ऐसे दो भाग कर डालता है । (६) मोही जीव इष्ट (रुचित) विषयोमे राग करके व अनिष्ट (अरुचित) विषयोमे द्वेष करके अत्यन्त क्षुब्ध व्याकुल रहता है । (७) परभावविमूढता (मोह) की तीन भूमिकायें है—मोह, राग व द्वेष । (८) मोहकी तीनो भूमिकाये मूलतः विनष्ट होनेपर ही कैवल्यका लाभ होता है ।

सिद्धान्त—(१) मोहनीय कर्मविपाकके सान्निध्यमे जीव विकाररूप परिणमता है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—कैवल्यलाभके लिये केवल ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधना करके विकारसे हटकर स्वभावमे मग्न होना ॥८३॥

अब तीनो प्रकारके मोहकी अनिष्टकार्यकारणता कहकर तीनो ही भूमिका वाले मोह का क्षय सूत्र द्वारा कहते है—**[मोहेन वा]** मोहरूपसे **[रागेण वा]** रागरूपसे **[द्वेषेण वा]** अथवा द्वेषरूपसे **[परिणतस्य जीवस्य]** परिणमित जीवके **[विविधः बंधः]** नाना प्रकारका बंध **[जायते]** होता है; **[तस्मात्]** इस कारण **[ते]** वे अर्थात् मोह, राग, द्वेष **[संक्षपयितव्याः]** सम्पूर्णतया क्षय करने योग्य है ।

तात्पर्य—बन्धनके बीज मोह राग द्वेष ही है, अतः इन तीनोको निर्मूल नष्ट करना चाहिये ।

टीकार्थ—इस प्रकार वस्तुस्वरूपके अज्ञानसे रुके हुये, मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप

रस्येव भवति नाम नानाविधो बन्धः। ततोऽमी अनिष्टकार्यकारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषाः सम्यग्निर्मूलकाप कषित्वा क्षपणीयाः ॥ ८४ ॥

पयितव्व। **मूलधातु**— जनी प्रादुर्भावे दिवादि, स क्षै क्षये कृतात्वस्य पुकागिर्देशे क्षपि। **उभयपदविवरण**— मोहेण मोहेन रागेण रागेन दोसेण द्वेषेण-तृतीया एक०। परिणदस्स परिणतस्य जीवस्स जीवस्य-षष्ठी एक०। जायदि जायते-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन। विविहो विविध. बधो बन्ध-प्रथमा एक०। तम्हा तस्मात्-पचमी एकवचन। ते-प्र० बहु०। संखवइदव्वा सक्षपयितव्या.-प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया। **निरुक्ति**— मोहन मोह, रजन राग, द्वेपण द्वेष, जीवतीति जीव, बन्धन बन्धः ॥ ८४ ॥

परिणमित होते हुए इस जीवको घासके ढेरसे ढके हुए खड्डेको प्राप्त होने वाले, हथिनीरूपी कुट्टनीके शरीरमे आसक्त और विरोधी हाथीको देखकर उत्तेजित होकर उनकी ओर दौडते हुए हाथीकी भाँति विविध प्रकारका बध होता है; इसलिये मुमुक्षु जीवको अनिष्ट कार्य करने वाले ये मोह, राग और द्वेष यथावत् निर्मूल नष्ट हो, इस प्रकार कसकर नष्ट किये जाने चाहियें।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे मोहकी तीन भूमिका कही गई थी। अब इस गाथामे उन तीनो भूमिकावोंको नष्ट करनेका कर्तव्य बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) वस्तुस्वरूपके ज्ञानसे रहित जीव मोह राग व द्वेपरूपसे परिणत होकर विविध बन्धनोंसे बद्ध हो जाता है। (२) उदाहरणार्थ— बनहस्ती तृणाच्छादित गड्ढेके अज्ञानसे (मोहसे), झूठी हथिनीके गात्रस्पर्शके रागसे व विषय भोगनेके लिये सामनेसे दौडकर आने वाले दूसरे हाथीके द्वेषमे गड्ढेमे गिरकर बन्धनको प्राप्त होता है। (३) मोह राग व द्वेप आत्माका अहित व अनिष्ट करने वाले है। (४) कल्याणार्थी पुरुषका मोह राग द्वेषको मूलत. पूर्ण नष्ट कर देनेका आवश्यक कर्तव्य है।

सिद्धान्त—(१) वस्तुतः मोही जीव अपने विकारभावोसे बँधकर क्लेश पाता है। (२) जीवके मोहादि भावका संपर्क पाकर कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणत हो जाती है। (३) जीव बद्ध कर्मोंसे बँधा है।

दृष्टि—१-अशुद्धनिश्चयनय (४७)। २- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३), निमित्तदृष्टि (५३अ)। ३- संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (१२५)।

प्रयोग— संसारचक्रसे हटनेके लिये स्वभावदृष्टिके बलसे मोह राग द्वेष भावसे हटना ॥ ८४ ॥

अब ये राग द्वेष मोह-इन चिह्नोंके द्वारा पहिचानकर उत्पन्न होते ही नष्ट कर दिये जाने चाहियें, यह प्रगट करते है—[**अर्थे अयथाग्रहणं**] पदार्थका बिपरीत स्वरूपमे [**च**] और [**तिर्यङ्मनुजेषु करुणाभावः**] तिर्यँच मनुष्योमें करुणाभाव [**विषयेषु प्रसंगः च**] तथा

अथामी अमीर्भिलिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।
विसएसु यप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥ ८५ ॥

अर्थविरुद्ध प्रतीती, करुणाभाव तियंच मनुजोंमें ।
विषयोंका संगम ये मोह विकारके चिह्न कहे ॥८५॥

अर्थे अयथाग्रहण करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु । विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि ॥ ८५ ॥

अर्थानामयथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्धया च मोहमभीष्टविषयप्रसगेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः ॥ ८५ ॥

नामसंज्ञ—अट्ठ अजधागहण करुणाभाव य तिरियमणुय विसय य पसग मोह एत लिंग । **धातुसंज्ञ**—गाह ग्रहणे । **प्रातिपदिक**—अर्थ अयथाग्रहण करुणाभाव च तिर्यङ्मनुज विषय च प्रसङ्ग मोह एतत् लिंग । **मूलधातु**— ग्रह उपादाने । **उभयपदविवरण**—अट्ठे अर्थे-सप्तमी एकवचन । अजधागहण अयथाग्रहण करुणाभावो करुणाभाव. प्रसगो प्रसग–प्रथमा एक० । तिरियमणुएसु तिर्यङ्मनुजेषु विसएसु विषयेषु–सप्तमी बहु० । मोहस्स मोहस्य–षष्ठी एक० । एदाणि एतानि लिंगाणि लिङ्गानि–प्रथमा बहुवचन । **निरुक्ति**—अर्यते इति अर्थ , विशेषेण सिन्वन्ति इति विषया (षिञ् बन्धने) । **समास**—न यथा अयथा ग्रहण इति अयथाग्रहणं, तिर्यंच मनुजा चेति तिर्यङ्मुनुजा तेषु तिर्यङ्मनुजेषु ॥ ८५ ॥

विषयोंकी संगति [एतानि] ये सब [मोहस्य लिंगानि] मोहके चिह्न है ।

तात्पर्य—वस्तुस्वरूपका विपरीत ग्रहण, सम्बन्धियोमे करुणाबुद्धि व विषयोका लगाव ये सब मोहके चिह्न है ।

टीकार्थ—पदार्थोंकी अन्यथारूप प्रतिपत्तिके द्वारा और केवल देखे जाने योग्य होनेपर भी तिर्यंच मनुष्योमे करुणाबुद्धिसे मोहको, इष्ट विषयोकी आसक्तिमे रागको और अनिष्ट विषयोंकी अप्रीतिसे द्वेषको– यो तीन लिगोके द्वारा पहिचानकर तुरन्त ही उत्पन्न होते ही तीनो प्रकारका मोह नष्ट कर देने योग्य है ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे मोह राग द्वेषका निर्मूलन करनेका कर्तव्य बताया गया था । अब इस गाथामें क्षपणीय उन मोह रागद्वेष भावोके चिह्न बताये गये है ।

तथ्यप्रकाश—(१) पदार्थोंकी विपरीत स्वरूपमे समझ होना मोहका चिन्ह है । (२) तिर्यंच मनुष्योमे तन्मयतासे करुणाभाव जगना मोहका चिन्ह है । (३) इष्ट विषयोका प्रसंग करना रागका चिन्ह है । (४) अनिष्ट विषयोमे अरुचि होना द्वेषका चिन्ह है । (५) अपने-अपने चिन्होसे मोह राग द्वेष विकारको जानकर विकारोका क्षय करना चाहिये ।

अथ मोहक्षपणोपायान्तरमालोचयति—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥८६॥

जिन शास्त्रोंसे अर्थोंके प्रत्यक्षादि रूप ज्ञाताके।
मोह नशे इस कारण शास्त्रपठन नित्य आवश्यक ॥८५॥

जिनशास्त्रादर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्य नियमात्। क्षीयते मोहोपचय. तस्मात् शास्त्रं समध्येतव्यम् ॥

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतो ज्ञानादात्मनस्तथा ज्ञानं मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नम्। तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते। इदं हि विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शाब्दं प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कारस्फुटीकृतविशिष्टसंवेदनशक्तिसंपद: सहृदयहृदयानंदोद्भेददायिना प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वत:

नामसंज्ञ—जिणसत्थ अट्ठ पच्चक्खादि बुज्झद णियम मोहोवचय त सत्थ समधिदव्व। **धातुसंज्ञ**—बुज्झ अवगमने, खिव क्षये। **प्रातिपदिक**—जिनशास्त्र अर्थ प्रत्यक्षादि बुध्यमान नियम मोहोपचय तत् शास्त्र समधितव्य। **मूलधातु**—बुध अवगमने, क्षि क्षये, अधि इङ् अध्ययने। **उपपदविवरण**-जिणसत्थादो

सिद्धान्त—(१) मोह आत्माके सम्यक्त्व गुणकी विकृत दशा है। (२) राग द्वेष आत्माके चारित्रगुणकी विकृत दशा है।

दृष्टि—१, २– विभावगुणव्यञ्जनपर्यायदृष्टि (१२३)।

प्रयोग—अपनेमे मोह राग द्वेषोके चिन्होंसे मोह रागद्वेषको परख परखकर निज सहज चित्स्वभावकी दृष्टिके लिये पौरुष करके मोह रागद्वेषका क्षय करना ॥ ८५ ॥

अब मोहक्षयका दूसरा उपाय विचारते हैं—[**जिनशास्त्रात्**] जिनशास्त्रसे [**प्रत्यक्षादिभि:**] प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा [**अर्थान्**] पदार्थोंको [**बुध्यमानस्य**] जानने वालेके [**नियमात्**] नियमसे [**मोहोपचय:**] मोहसमूह [**क्षीयते**] क्षय हो जाता है [**तस्मात्**] इसलिये [**शास्त्रं**] शास्त्र [**समध्येतव्यम्**] सम्यक् प्रकारसे अध्ययन किया जाना चाहिये।

तात्पर्य—जिनागमसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा वस्तुस्वरूपका सही ज्ञान [illegible] मोहक्षयका उपाय है।

टीकार्थ—द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभावसे अरहंतके ज्ञान द्वारा आत्माका [illegible] प्रकारका ज्ञान मोहक्षयके उपायके रूपसे पहले प्रतिपादित किया गया था, वह वास्तवमें [illegible] उपायान्तर की अपेक्षा रखता है—

प्रथम भूमिकामें गमन किया है जिसने, ऐसे तथा सर्वज्ञप्रणीत होनेसे [illegible] प्रकारसे

समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः । **अतो** हि मोहक्षपणे परम शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ।। ८६ ।।

जिनशास्त्रात्–पचमी एक० । अट्ठे अर्थान्–द्वितीया बहु० । पच्चक्खादीहिं प्रत्यक्षादिभि–तृतीया बहु० । बुज्झदो बुध्यमानस्य–षष्ठी एक० । णियमा नियमात्–पचमी एक० । खीयदि क्षीयते–वर्तमान अन्य पुरुष एक०, क्रिया । मोहोवचयो मोहोपचय.–प्रथमा एक० । तह्मा तस्मात्–प० ए० । सत्थ शास्त्र–प्रथमा ए० । समाधिदव्व समध्येतव्यम्–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—शास्यते अनेन इति शास्त्र (शासु अनुशिष्टौ) । **समास**—मोहस्य उपचय. मोहोपचय , जिनस्य शास्त्र जिनशास्त्र तस्मात् जिनशास्त्रात् ।।८६।।

अबाधित द्रव्य श्रुतप्रमाणको प्राप्त करके ज्ञानलीला करते हुए व उसके संस्कारसे प्रकट हुई है विशिष्ट संवेदन शक्तिरूप सम्पदा जिसके तथा सहृदय जनोंके हृदयको आनन्दका उद्भेद देने वाले प्रत्यक्ष प्रमाणसे अथवा उससे अविरुद्ध अन्य प्रमाणसमूहसे तत्त्वत. समस्त वस्तुमात्रको जानने वाले जीवके विपरीताशयका संस्कार करने वाला मोहसमूह अवश्य ही नष्ट हो जाता है । इसलिये मोहका क्षय करनेमे, शब्दब्रह्मकी परम उपासना करना, भावज्ञानके अवलम्बन द्वारा दृढ किये गये परिणामसे सम्यक् प्रकार अभ्यास करना सो उपायान्तर हे ।

प्रसंगविवरण—८०वी गाथामे बताये गये मोहक्षयके उपायके प्रसङ्गमे विविध वर्णन के बाद अनन्तरपूर्व गाथामे नष्ट किये जाने योग्य मोह रागद्वेष चिन्होको बताया गया था । अब इस गाथामें पूर्वोक्त मोहक्षपणोपायके पूरक अन्य उपायको बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मोहक्षपणका पूर्वोक्त उपाय और इस गाथामे कथित उपाय यद्यपि [illegible]न-भिन्न मुद्रामे है तो भी यह उपाय पूर्वोक्त उपायका पूरक है । (२) जो पहिली भूमिकामें [illegible] है उसको सर्वप्रथम आगमका अभ्यास करना चाहिये । (३) आगमाभ्याससे [illegible]स्तुस्वरूपका निर्णय करना चाहिये । (४) आगमाभ्याससे जाने गये वस्तुस्वरूपको युक्ति, [illegible]वेदन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोसे दृढ अवधारित करना चाहिये । (५) एकत्वविभक्त वस्तु-[illegible]के परिच्छेदके प्रसंगमे सहजात्मस्वरूपका परिग्रहण करने वाले भव्यात्माके मोहका प्रक्षय हो जाता है । (६) भावज्ञान दृढ हो, ऐसी पद्धतिसे शास्त्रका अध्ययन करना मोहक्षपणका दूसरा [illegible] है । (७) भावभासना सहित शास्त्राध्ययनसे वस्तुस्वरूप स्पष्ट जाननेपर अर्हन्त प्रभुको [illegible]गुण पर्यायरूपसे जान लेना सुगम होता है ।

[illegible]न्त—१–, शास्त्राध्ययनसे भावभासनासहित आत्मज्ञान पाकर उसके अभिमुख होनेके प[illegible] निर्मोह आत्मतत्त्वका लाभ होता है ।

[illegible]—१–पुरुषकारनय [१८३] ।

अथ कथं जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थितिरिति वितर्कयति—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥ ८७ ॥

द्रव्य गुण तथा उनको, पर्यायें अर्थनामसे संज्ञित ।
उन गुण पर्यायोंकी आत्माको द्रव्य बतलाया ॥८७॥

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिता । तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः ॥ ८७ ॥

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः तत्र गुणपर्यायानियृति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयूतिद्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणा', द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थाः पर्याया' ।

नामसंज्ञ—दव्व गुण त पज्जाय अट्ठसण्णय भणिय त गुणपज्जय अप्प दव्व त्ति उवदेस । **धातुसंज्ञ**—द्रु गतौ, परि इण् गतौ, भण कथने । **प्रातिपदिक**—द्रव्य गुण तत् पर्याय अर्थसंज्ञा भणित तत् गुणपर्याय आत्मन् द्रव्य इति उपदेश । **उभयपदविवरण**--दव्वाणि द्रव्याणि गुणा गुणा पज्जाया पर्याया—प्रथमा बहुवचन । अट्ठसण्णया अर्थसंज्ञया—तृ० एक० । भणिया भणिता.—प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । तेसु तेषु—

प्रयोग—निर्मोह आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये अपनेपर उपदेशको घटित करते हुए शास्त्रका अध्ययन करना ॥ ८६ ॥

अब जिनागममे वस्तुतः अर्थोंकी व्यवस्था किस प्रकार है, यह सतर्क विचार करते है—[**द्रव्याणि**] द्रव्य [**गुणाः**] गुण [**तेषां पर्यायाः**] और उनकी पर्यायें [**अर्थसंज्ञया**] 'अर्थ' नामसे [**भणिताः**] कही गई है । [**तेषु**] उनमे [**गुणपर्यायानाम् आत्मा द्रव्यम्**] गुण-पर्यायो का आत्मा द्रव्य है [**इति उपदेशः**] इस प्रकार जिनागममे उपदेश है ।

तात्पर्य—द्रव्य, गुण व पर्याय ये अर्थ नामसे कहे जाते है, उनमे द्रव्य गुण पर्यायमय है ।

टीकार्थ—द्रव्य, गुण और पर्याय अभिधेयभेद होनेपर भी अभिधानका अभेद होनेसे वे 'अर्थ' है । उनमे जो गुणोको और पर्यायोको प्राप्त करते हैं अथवा जो गुणो और पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किये जाते है, ऐसे वे 'अर्थ' द्रव्य है, जो द्रव्योको आश्रयके रूपसे प्राप्त करते हैं अथवा जो आश्रयभूत द्रव्योके द्वारा प्राप्त किये जाते है, ऐसे वे 'अर्थ' गुण है, जो द्रव्योको क्रमपरिणामसे प्राप्त करते हैं अथवा जो द्रव्योंके द्वारा क्रमपरिणामसे प्राप्त किये जाते है ऐसे वे 'अर्थ' पर्याय है । वास्तवमें जैसे सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुणोको और कुण्डल इत्यादि पर्यायोको प्राप्त करता है अथवा सुवर्ण उनके द्वारा प्राप्त किया जाता है, इसमे वह सुवर्ण

यथा हि सुवर्णं पीततादीन् गुणान् कुण्डलादीश्च पर्यायानियर्ति तैरर्यमाणं वा **अर्थो** द्रव्यस्था-नीयं, **यथा** च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयूतितेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्थाः पीततादयो गुणा. यथा च **सुवर्णं** क्रमपरिणामेनेर्यति तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः कुण्डलादयः पर्यायाः । एवम-**न्यत्रापि** । यथा चैतेषु सुवर्णपीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायेषु पीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां **सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्णमेवात्मा** तथा च तेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु गुणपर्यायाणा द्रव्यादपृथग्भावा-**द्द्रव्यमेवात्मा** ॥८७॥

सप्तमी बहु० । गुणपज्जयाण गुणपर्यायाणा–षष्ठी बहु० । अप्पा आत्मा दव्व दव्व उवदेसो उपदेश –प्रथमा एक० । **निरुक्ति**—गुण्यते ऐभिः ते गुणा , परियति (गच्छति) इति पर्याया । **समास** – अर्थस्य सज्ञा अर्थ-सज्ञा तया अ०, गुणाश्च पर्यायाश्चेति गुणपर्यायास्तेषा गुणपर्यायाणा ॥ ८७ ॥

द्रव्यस्थानीय 'अर्थ' है । जैसे पीलापन इत्यादि गुण सुवर्णको आश्रयके रूपमे प्राप्त करते है अथवा वे आश्रयभूत सुवर्णके द्वारा प्राप्त किये जाते है इसलिये पीलापन इत्यादि गुण 'अर्थ' हैं; और जैसे कुण्डल इत्यादि पर्यायें सुवर्णको क्रमपरिणामसे प्राप्त करती है अथवा वे सुवर्ण के द्वारा क्रमपरिणामसे प्राप्त की जाती है, इसलिये कुण्डल इत्यादि पर्यायें 'अर्थ' है, इसी प्रकार अन्यत्र भी है । और जैसे इन सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुण और कुण्डलादि पर्यायोमें पीलापन इत्यादि गुणोका और कुण्डल इत्यादि पर्यायोका सुवर्णसे अपृथक्त्व होनेका उनका सुवर्ण ही आत्मा है उसी प्रकार उन द्रव्य गुण पर्यायोमे गुण-पर्यायोका द्रव्यसे अपृथक्त्व होने से उनका द्रव्य ही आत्मा है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे शास्त्राध्ययनको मोहक्षयका दूसरा उपाय बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि शास्त्रोमे पदार्थोंकी व्यवस्था किस प्रकार है ?

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य, गुण व पर्यायें अर्थ कहलाते है । (२) अर्यंते निश्चीयते इति अर्थः, इस निरुक्तिके अनुसार चूंकि द्रव्य, गुण, पर्याय जाने जाते है इस कारण वे अर्थ कहलाते है । (३) द्रव्य गुण पर्यायको अर्थ कहनेपर भी सत् द्रव्य ही है, गुण पर्याय उस सद्भूत द्रव्यकी विशेषतायें हैं । (४) गुण व पर्याय ही सीधे नही जाने जाते, किन्तु गुण व पर्यायरूपसे द्रव्यके ज्ञात होनेपर गुणका व पर्यायका जानना कहा जाता है । (५) ऋ गतौ धातुका अर्थ प्राप्ति भी है । 'अर्यंते प्राप्यते इति अर्थः' इस निरुक्तिसे जो प्राप्त किया जाय वह अर्थ है, तब (६) जो गुण पर्यायोको प्राप्त करे वह अर्थ द्रव्य है । (७) आश्रयभूत अर्थोंके द्वारा जो प्राप्त किया जाय वह अर्थ गुण है । (८) क्रमपरिणामसे द्रव्यके द्वारा जो प्राप्त किया जाय वह पर्याय है । (९) गुण व पर्यायोका सर्वस्व द्रव्य ही है, क्योंकि गुण व पर्याय द्रव्यसे पृथक् नही हैं । (१०) प्रत्येक द्रव्य अपने गुण पर्यायसे तन्मय है, अन्य अथवा अन्य

अथैवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुषकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुषं व्यापारयति—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥८८॥

जैन उपदेश पाकर, हनता जो मोह राग द्वेषोंको ।
वह अल्पकालमें ही, सब दुखसे मुक्ति पाता है ॥८८॥

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम् । स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ ८८ ॥

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेश्वरं निशिततरवारि-धारापथस्थानीयमुपदेशं य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति स एव निखिलदुःख-

---

नामसंज्ञ—ज मोहरागदोस जोण्ह उपदेस त सव्वदुक्खमोक्ख अचिर काल । **धातुसंज्ञ**—णि हण हिंसाया, प आव प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—यत् मोहरागद्वेष जैन उपदेश तत् सर्वदुःखमोक्ष अचिर काल । **मूलधातु**—नि हन हिंसागत्योः, डुलभष् प्राप्तौ, प्र आप्लृ व्याप्तौ । **उभयपदविवरण**—जो यः-प्र० एक० । मोहरागदोसे मोहरागद्वेषान्–द्वि० बहु० । णिहणदि निहन्ति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । उपलब्भ

द्रव्यके गुण पर्यायसे अत्यन्त जुदा है । (११) द्रव्योंका यथार्थस्वरूप ज्ञान होनेपर मोहका क्षय हो जाता है । (१२) यथार्थ वस्तुस्वरूप जिनशास्त्रोंमें है, अतः जिनशास्त्रका अध्ययन मुमुक्षुका कर्तव्य है ।

सिद्धान्त—(१) प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपसे है । (२) प्रत्येक द्रव्य परद्रव्यके रूप से नहीं ही है ।

दृष्टि—१– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय [२८] । २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय [२९] ।

प्रयोग—सर्व द्रव्योंको स्वतंत्र स्वतंत्र सत् जानकर समस्त अन्य द्रव्योंसे विविक्त आत्मतत्त्वकी भावना करना ॥८७॥

इस प्रकार मोहक्षय करनेके उपायभूत जिनेश्वरके उपदेशकी प्राप्ति होनेपर भी पुरुषार्थ अर्थक्रियाकारी है, इसलिये अब पुरुषार्थको व्यापरते है—[यः] जो [जैनं उपदेशं] जिनोपज्ञ उपदेशको [उपलभ्य] प्राप्त करके [मोहरागद्वेषान्] मोह-राग-द्वेषको [निहंति] नष्ट करता है [सः] वह [अचिरेण कालेन] अल्प कालमें [सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति] सर्व दुःखोंसे छुटकारा पा लेता है ।

तात्पर्य—जो जिनोपदेश पाकर मोह रागद्वेषको नष्ट करता है वह अल्प कालमें मोक्ष प्राप्त करता है ।

परिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव । अत एव सर्वारम्भेण **मोहक्षप-णाय पुरुषकारे** निषीदामि ॥८८॥

उपलभ्य–असमाप्तिकी क्रिया । जोण्ह जन उपदेस उपदेश–द्वि० एक० । सो स–प्र० एक० । **सव्वदुक्ख-मोक्ख** सर्वदुखमोक्ष–द्वितीया एक० । पावदि प्राप्नोति–वर्तमान अन्य पुरुष एक० क्रिया । अचिरेण कालेण कालेन–तृतीया एक० । **निरुक्ति**––कालन काल (कालोपदेशे) । **समास**- मोहश्च रागश्च द्वेपश्च मोह-रागद्वेषा तान् मो०, सर्वाणि च तानि दुःखानि चेति सर्वदुखानि तेभ्य मोक्ष सर्वदुखमोक्ष त सर्व० ।८८।

टीकार्थ—इस अति दीर्घ ससारमार्गमे किसी भी प्रकारसे तीक्ष्ण असिधारा समान जैनेश्वर उपदेशको प्राप्त करके भी जो मोह-राग-द्वेषपर अति दृढतापूर्वक उसका प्रहार करता है वही शीघ्र ही समस्त दु खोसे परिमोक्षको प्राप्त होता है, हाथमे तलवार लिये हुए मनुष्य की भाँति अन्य कोई व्यापार समस्त दु.खोसे परिमुक्त नही करता । इसीलिये सम्पूर्ण प्रयत्न पूर्वक मोहका क्षय करनेके लिये मै पुरुषार्थमे लगता हू ।

प्रसंगविवरण––अनन्तरपूर्व गाथामे जैनेन्द्र शब्दब्रह्ममे अर्थोकी व्यवस्था (स्वरूप) बताई गई थी । अब इस गाथामे बताया गया है कि मोहक्षयके उपायभूत जिनेश्वरोपदेशका लाभ होनेपर भी पौरुष (प्रयोग) हो तो कार्यकारी है, अतः तद्विषयक पौरुष करना चाहिये ।

तथ्यप्रकाश—(१) इस जीवका ससारमे अनादिसे उत्पातमय विविध भवधारण चला आया है । (२) इस अनादिसंसारमे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पर्यायोको उल्लंघ कर पञ्चेन्द्रिय होना कठिन है । (३) पञ्चेन्द्रियमे भी उत्तम कुल वाला जिनशासन का अनुयायी होना और भी कठिन है । (४) अब किसी प्रकार जिनोपदेशको पाया है तब मोह राग द्वेषपर उपदेशका प्रयोग करके उनका क्षय करनेका पौरुष करना चाहिये । (५) मोह राग द्वेष नष्ट होनेपर ही समस्त दुःखोसे छुटकारा होता है । (६) जिनोपदेशका लाभ पाया है तब विकारोसे हटकर स्वभावमे लगना यही मात्र एक व्यापार होना रह जाता है । (७) सर्व प्रयत्नसे अपनेको मोहक्षयके लिये अपने पुरुषार्थमे लगना ही चाहिये ।

सिद्धान्त—१– आत्मपौरुषके प्रसादसे शुद्धात्मत्वका लाभ होता है ।

दृष्टि—१– पुरुषकारनय [१८३] ।

प्रयोग––सर्व दुःखोसे छुटकारा पानेके लिये शास्त्राध्ययन कर भावभासना सहित वस्तुस्वरूप जानकर स्वभावदृष्टिके बलसे मोह राग द्वेषका प्रक्षय करना चाहिये ॥८८॥

अब स्व-परके विवेककी सिद्धिसे ही मोहका क्षय हो सकता है, इस कारण स्व परके विभागकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते है—[यः] जो [निश्चयतः] निश्चयसे [ज्ञानात्मकं

अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥

ज्ञानात्मक आत्माको, परको प्रत्यक् स्वद्रव्यतावर्ती ।
जो निश्चयसे जाने, वह करता मोहका प्रक्षय ॥८९॥

ज्ञानात्मकमात्मान पर च द्रव्यत्वेनाभिसबद्धम् । जानाति यदि निश्चयतो य स मोहक्षय करोति ॥८९॥

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसबद्धमात्मानं पर च परकीयेन यथोचितेन द्रव्यत्वेनाभिसबद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेक: सकलं मोहं क्षपयति । अत स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि ॥८९॥

नामसंज्ञ—णाणप्पग अप्प पर च दव्वत्तण अहिसबद्ध जदि णिच्छयदो यत् तत् मोहक्खय । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, कुण करणे । **प्रातिपदिक**—ज्ञानात्मक आत्मन् पर च द्रव्यत्व अभिसबद्ध यदि निश्चयत यत् तत् मोहक्षय । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, डुकृञ् करणे । **उभयपदविवरण**—णाणप्पग ज्ञानात्मक अप्पाण आत्मान पर अहिसवद्ध अभिसबद्ध मोहक्खय मोहक्षय-द्वि० ए० । णिच्छयदो निश्चयतः-अव्यय । जो य सो स-प्र० एक० । जाणदि जानाति कुणदि करोति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—मोहन मोह । **समास**—ज्ञानमेव आत्मा यस्य स ज्ञानात्मक. त ज्ञा०, मोहस्य क्षय मोहक्षय. त मो० ॥८९॥

आत्मानं] ज्ञानात्मक अपनेको [**च**] और [**परं**] परको [**द्रव्यत्वेन अभिसंबद्धम्**] निज निज द्रव्यत्वसे सबद्ध [**यदि जानाति**] यदि जानता है [**सः**] तो वह [**मोह क्षयं करोति**] मोहका क्षय करता है ।

तात्पर्य—सर्व पदार्थोंका स्वतन्त्र स्वरूप जानने वाला ही मोहका क्षय करता है ।

टीकार्थ—जो निश्चयसे अपनेको अपने चैतन्यात्मक द्रव्यत्वसे सबद्ध और परको उसी दूसरेके यथोचित् द्रव्यत्वसे संबद्ध ही जानता है, वही जीव, जिसने कि सम्यक् रूपसे स्व-परके विवेकको प्राप्त किया है, सम्पूर्ण मोहका क्षय करता है, इसलिये मै स्व परके विवेकके लिये प्रयत्नशील हूं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे विकारभावके विनाश करनेके लिये पौरुष करने को प्रेरणा दो थी । अब इस गाथामे कहा गया है कि चूंकि स्वपरविवेक सिद्धिसे ही मोहका क्षय होता है अतः स्वपरविभागकी सिद्धिके लिये भव्य प्रयत्न करता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) स्वपरविवेक ही उत्कृष्ट पद लाभका मूल है । (२) जिन्होंने सम्यक् प्रकारसे स्वपरविवेक प्राप्त किया है वे समस्त मोहका क्षय करते हैं । (३) समस्त

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसंहरति—

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥९०॥

इससे जिनशासनसे, नियत गुणोंसे स्व पर पदार्थोंमें ।
जानो स्वतंत्रता यदि, अपनी निर्मोहता चाहो ॥९०॥

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मानं परं च द्रव्येषु । अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥ ९० ॥

इह खल्वागमनिगदितेष्वनन्तेषु गुणेषु कैश्चिद्गुणैरन्ययोगव्यवच्छेदकतयासाधारणतामुपादाय विशेषणतामुपगतैरनन्तायां द्रव्यसंततौ स्वपरविवेकमुपगच्छन्तु मोहप्रहाणप्रवणबुद्धयो लब्धवर्णाः । तथाहि—यदिदं सदकारणतया स्वतः सिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीयमसमानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय

नामसंज्ञ—त जिणमग्ग गुण अत्त पर च दव्व णिम्मोह जदि अप्प । **धातुसंज्ञ**—अभि गच्छ गतौ, इच्छ इच्छायां । **प्रातिपदिक**—तत् जिनमार्ग गुण आत्मन् पर च द्रव्य निर्मोह यदि आत्मन् । **मूलधातु**—अभि गम्लृ गतौ, इषु इच्छायां । **उभयपदविवरण**—तम्हा तस्मात्-पंचमी एक० । जिणमग्गादो जिनमा-

मोहका क्षय होनेपर केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयका लाभ होता है, पश्चात् सिद्धावस्थाका लाभ होता है । (४) स्वपरविवेक सम्यग्दृष्टिके होता है । (५) सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको स्वकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्वसे युक्त मानता है । (६) सम्यग्दृष्टि पर-आत्माको परकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्वसे युक्त मानता है । (७) सम्यग्दृष्टि अचेतन पदार्थोंको अचैतन्यात्मक उन उनके असाधारण स्वरूपसे युक्त मानता है । (८) स्वपरविवेकबलसे ज्ञात यथार्थ स्वरूपके अवलोकनसे मोहापदा विनष्ट होती ही है । (९) स्वपरविवेकके लिये पौरुष करना श्रेयस्कर है ।

सिद्धान्त—(१) स्वपरविवेक द्वारा उपलब्ध शुद्धात्मस्वरूपके अवलोकनसे शुद्धात्मस्वरूपका विकास होता है ।

दृष्टि—१- ज्ञाननय [१९४] ।

प्रयोग—सकल मोहसंकटविनाशके लिये स्वपरविवेकका प्रयत्न करना ॥८९॥

अब सब प्रकारसे स्वपरके विवेकको सिद्धि आगमसे करने योग्य है, ऐसा उपसंहार करते है—**[तस्मात्]** इस कारण **[यदि]** यदि **[आत्मनः]** अपना **[आत्मा]** आत्मा **[निर्मोहं]** निर्मोह भावको **[इच्छति]** चाहता है तो **[जिनमार्गात्]** जिनमार्गसे **[गुणैः]** गुणोंके द्वारा **[द्रव्येषु]** द्रव्योमे **[आत्मानं परं च]** स्वको और परको **[अभिगच्छतु]** जाने ।

तात्पर्य—यदि अपनेको निर्मोह रखना चाहे तो सबका भिन्न-भिन्न अवान्तरसत्त्व समझकर स्व व परको भिन्न-भिन्न जानें ।

ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्य जानामि । एवं पृथक्त्व-वृत्तस्वलक्षणैर्द्रव्यमन्यदपहाय तस्मिन्नेव च वर्तमानैः सकलत्रिकालकलितध्रौव्य द्रव्यमाकाशं धर्ममधर्मं काल पुद्गलमात्मान्तरं च निश्चिनोमि । ततो नाहमाकाशं न धर्मो नाधर्मो न च कालो न पुद्गलो नात्मान्तरं च भवति, यतोऽमीष्वेकापवरकप्रबोधितानेकदीपप्रकाशेष्विव संभूयावस्थितेष्वपि मच्चैतन्य स्वरूपादप्रच्युतमेव मां पृथगवगमयति । एवमस्य निश्चितस्वपरविवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहांकुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ॥ ९० ॥

र्गात्–प० ए० । गुणेहि गुणैं –तृतीया बहु० । आद आत्मान पर णिम्मोह निर्मोह–द्वितीया एक० । दव्वेसु द्रव्येषु–सप्तमी बहु० । अप्पणो आत्मन –षष्ठी एक० । अप्पा आत्मा–प्र० ए० । अभिगच्छदु अभिगच्छतु–आज्ञार्थे अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । इच्छदि इच्छति–वर्तमान अन्य पुरुष एक० क्रिया । **निरुक्ति**—जयतीति जिन । **समास**—जिनस्य मार्ग जिनमार्गस्तस्मात् जिनमार्गात् ॥९०॥

टीकार्थ—इस जगतमे आगममे कथित अनन्तगुणोमे से किन्ही गुणोके द्वारा—जो गुण अन्यके साथ योगरहित होनेसे असाधारणता धारण करके विशेषपनेको प्राप्त हुए हैं, ऐसे किन्ही गुणोके द्वारा मोहका क्षय करनेमें प्रखर है बुद्धि जिनकी ऐसे स्वरूपज्ञानी पुरुष अनन्त द्रव्य परम्परामे स्व-परके विवेकको प्राप्त करें । स्पष्टीकरण– सत् और अकारण होनेसे स्वतः सिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाश वाला होनेसे स्व-परका ज्ञायक– ऐसा जो यह मेरे साथ सम्बन्ध वाला मेरा चैतन्य है तथा जो समानजातीय अथवा असमानजातीय अन्य द्रव्यको छोडकर मेरे आत्मामें ही वर्तता है, उसके द्वारा मैं अपने आत्माको सकल त्रिकालमे ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हू । इस प्रकार अन्य द्रव्यको छोडकर उसी द्रव्यमें वर्तमान पृथक् रूपसे रहे स्वलक्षणो द्वारा आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और अन्य आत्माको सकल त्रिकालमे ध्रुवत्वधारक द्रव्यके रूपमे निश्चित करता हूं । इस कारण मैं आकाश नही हू, धर्म नही हू, अधर्म नही हू, काल नही हूँ, पुद्गल नही हूं और आत्मान्तर नही हू; क्योकि एक कमरेमे जलाये गये अनेक दीपकोंके प्रकाशोंकी तरह इकट्ठे होकर रहते हुए भी इन द्रव्योमें मेरा चैतन्य निजस्वरूपसे अच्युत ही रहता हुआ मुझे पृथक् बताता है । इस प्रकार जिसने स्व-परका विवेक निश्चित किया है ऐसे आत्माके विकारकारी मोहांकुरका प्रादुर्भाव नही होता ।

प्रसङ्गविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे स्वपरविभागकी सिद्धिका प्रयत्न करनेकी प्रेरणा दी गई थी । अब इस गाथामें आगमसे स्वपरविवेकसिद्धि करनेका कर्तव्य बताया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आगममें अनन्त गुणोंका वर्णन है । (२) अनन्त गुणोंमें कई गुण ऐसे हैं जो अन्ययोगका व्यवच्छेदक होनेसे असाधारण है । (३) असाधारण गुणोंके योग

अथ जिनोदितार्थश्रद्धानमन्तरेण धर्मलाभो न भवतीति प्रतर्कयति---

सत्तासंबद्धे दे सविसेसे जो हि ग्रोव सामण्णे ।
सद्दहदि ग्र सो समग्रो तत्तो धम्मो ग्र संभवदि ॥६१॥

सत्तासम्बद्ध सभी, सविशेष हि जो न द्रव्य सरधाने ।
वह तो श्रमरण नहीं है, नहिं उससे धर्मका उद्भव ॥६१॥

सत्तासबद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये । श्रद्धाति न स श्रमण ततो धर्मो न सभवति ॥ ६१ ॥

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लिष्टविशे-

नामसंज्ञ--सत्तासबद्ध एत सविसेस ज हि ण एव सामण्ण ण त समण तत्तो धम्म ण । **धातुसंज्ञ**--सद् दह धारणे, स भव सत्ताया । **प्रातिपदिक**--सत्तासबद्ध एतत् सविशेष यत् हि न एव श्रामण्य न तत्

से प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है । (४) असाधारण गुणोके द्वारा अनन्त द्रव्योमे स्वपरका विवेक बनता है । (५) अनन्त द्रव्योमे स्वकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्वसे युक्त आत्मा स्व है, शेष सब यथोचित द्रव्यत्वसे युक्त द्रव्य पर है । (६) ज्ञानी जानता है कि मै अहेतुक स्वतःसिद्ध अन्तर्बहिर्मुख प्रकाशशाली स्वकीय चैतन्यमात्र त्रिकाली ध्रुव हू । (७) अन्य द्रव्य भी अपने-अपने असाधारणगुणसे तन्मय त्रिकाली ध्रुव है । (८) स्वमे परका अत्यन्ताभाव है, परमे स्वका अत्यन्ताभाव है । (९) जिसने स्वपरविवेक पाया है उसके मोहांकुरकी उत्पत्ति नही है । (१०) स्वपरविवेक जिनागमके अभ्यास द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप जाननेमे प्राप्त होता है ।

सिद्धान्त--(१) स्वके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे आत्माके अस्तित्वका परिचय होता है । (२) परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे आत्माका नास्तित्व जाना जाता है ।

दृष्टि—१- अस्तित्वनय [१५४] । २- नास्तित्वनय [१५५] ।

प्रयोग—आगममे उपदिष्ट विधिसे तत्त्वज्ञान करते हुए स्वपरविवेककी सिद्धि पाना ॥६०॥

अब जिनेन्द्रभाषित अर्थोंके श्रद्धान बिना धर्मलाभ नही होता, इस तथ्यको तर्कणापूर्वक विचारते है—[यः हि] जो [श्रामण्ये] श्रमणावस्थामे [**एतान् सत्तासंबद्धान् सविशेषान्**] इन सत्ता सयुक्त सविशेष पदार्थोंको [**न एव श्रद्दधाति**] श्रद्धा ही नही करता [**सः**] वह [**श्रमणः न**] श्रमण नही है; [**ततः धर्मः न संभवति**] उससे धर्म सभव नही है ।

तात्पर्य—जो मुनि प्रत्येक पदार्थोंको पृथक् पृथक् सत्तामय नही मानता वह मुनि नही और न वहाँ धर्म सम्भव है ।

षाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छिन्दन्नश्रद्दधानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः । यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न संभूतिमनुभवति ॥ ६१ ॥

श्रमण ततः धर्म न । **मूलधातु**—श्रद् धा धारणे, सं भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—सत्तासबद्धे सत्तासंबद्धान् सविसेसे सविशेषान् एदे एतान्–द्वितीया बहु० । जो यः सो सः समणो श्रमणः धम्मो धर्मः–प्रथमा एक० । सद्दहदि श्रद्दधाति संभवदि संभवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । तत्तो ततः–अव्यय पंचम्यर्थे । **निरुक्ति**—सतः भावः सत्ता, श्रमणस्य भावः श्रामण्यं तस्मिन् । **समास**—सत्तया संबद्धाः सत्तासबद्धाः तान् सत्तासंबद्धान् ॥६१॥

टीकार्थ—जो इन द्रव्योको जो कि सादृश्य अस्तित्वके द्वारा समानताको धारण करते हुए भी स्वरूपास्तित्वके द्वारा विशेषयुक्त हैं उन्हें स्व-परके भेदपूर्वक न जानता हुआ और श्रद्धान न करता हुआ यों ही ज्ञानश्रद्धाके बिना मात्र द्रव्यमुनित्वसे आत्माका दमन करता है वह वास्तवमें श्रमण नही है । इस कारण जैसे जिसे रेती और स्वर्णकणोंका अन्तर ज्ञात नहीं है, उसे धूलके धोनेसे उसमेंसे स्वर्ण लाभ नही होता, इसी प्रकार उस श्रमणाभासमें से निर्विकार आत्मतत्त्वकी उपलब्धि लक्षण वाला धर्मलाभ संभव नहीं होता ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें आगमसे स्वपरविवेक सिद्धिका कर्तव्य बताया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि केवलिप्रज्ञप्त अर्थश्रद्धानके बिना धर्मलाभ नहीं होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सादृश्यास्तित्व अर्थात् महासत्ताकी दृष्टिसे सर्व द्रव्य समान हैं, अविशेष हैं, एक है । (२) स्वरूपास्तित्वसे द्रव्य अपनी-अपनी विशेषताको लिये हुए हैं । (३) स्वरूपास्तित्वसे ही स्व व परका विवेक बनता है । (४) जो पुरुष द्रव्योंको यथार्थ स्व-पररूपसे नही जानता व न ही श्रद्धान करता और यों ही द्रव्यलिङ्गसे अपने आत्माको दबाता है वह वास्तवमें मुनि नहीं है । (५) स्वपरविवेकसिद्धि हुए बिना द्रव्यमुनि होनेपर भी उसे धर्मकी उपलब्धि नही होती । (६) निरुपराग आत्मतत्त्वकी उपलब्धिको धर्मोपलब्धि कहते हैं ।

सिद्धान्त—(१) यथार्थ श्रद्धान् ज्ञानसे धर्ममय आत्माकी उपलब्धि होती है ।

दृष्टि—१– ज्ञाननय (१६४) ।

प्रयोग—आगमोक्त पद्धतिसे तत्त्वश्रद्धान करके सहजनिजस्वभावदृष्टि द्वारा अविकार धर्ममय आत्माकी उपलब्धि करना ॥६१॥

अब 'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इस प्रकार पाँचवीं गाथामें प्रतिज्ञा करके 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इस प्रकार ७वीं गाथामें साम्यका

अथ 'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इति प्रतिज्ञाय 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इति साम्यस्य धर्मत्वं निश्चित्य 'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इति यदात्मनो धर्मत्वमासूत्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुहं' इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तुमारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निध्वंस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूपं चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्योतयता संवेदनस्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम् । तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परमनिस्पृहामात्मतृप्तां पारमेश्वरीप्रवृत्तिमभ्युपगतः कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेषः स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते—

धर्मपना निश्चित करके 'परिणमदि जेण दव्वं तक्काल तन्मयत्ति पण्णत्त, तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इस प्रकार ८वी गाथामे जो आत्माके धर्मपना कहना प्रारम्भ किया और जिसकी सिद्धिके लिये 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो, पावदि णिव्वाणसुहं' इस प्रकार ११वी गाथामे निर्वाण-सुखके साधनभूत शुद्धोपयोगका अधिकार प्रारम्भ किया विरोधी शुभाशुभ उपयोगको नष्ट किया अर्थात् हेय बताया व शुद्धोपयोगका स्वरूप वर्णित किया तथा शुद्धोपयोगके प्रसादसे उत्पन्न होने वाले आत्माके सहज ज्ञान और आनन्दको प्रकाशित करते हुये ज्ञानके स्वरूपका और सुखके स्वरूपका विस्तार किया, उसको अर्थात् आत्माके धर्मत्वको कैसे कैसे ही शुद्धोपयोगके प्रसादसे सिद्ध करके, परमनि.स्पृह आत्मतृप्त पारमेश्वरी प्रवृत्तिको प्राप्त होते हुये, कृतकृत्यताको प्राप्त करके अत्यत अनाकुल होकर भेदवासना की प्रगटताका प्रलय हुआ है जिसके ऐसे होते हुये आचार्य 'मै स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ' इस प्रकार ठहरते है अर्थात् ऐसे भावमे स्थिर होते है—[यः आगमकुशलः] जो आगममे कुशल है, [निहतमोहदृष्टिः] जिसकी मोहदृष्टि हत हो गई है, और [विरागचरितेअभ्युत्थितः] जो वीतराग चारित्रमे आरूढ़ है, [महात्मा श्रमणः] वह महात्मा श्रमण [धर्मः इति विशेषितः] 'धर्म' है इस प्रकार कहा गया है ।

तात्पर्य—निर्मोह वीतरागचारित्रमे लगा आगमकुशल मुनिराज धर्मस्वरूप है ।

टीकार्थ—जो यह आत्मा स्वयं धर्म होता है, सो यह वास्तवमे इष्ट ही है । उसमे विघ्न डालने वाली एकमात्र बहिर्मुख मोहदृष्टि ही है और वह बहिर्मोह दृष्टि आगममे कुशलता से तथा आत्मज्ञानसे नष्ट हुई अब मुझमे पुनः उत्पन्न नही होगी । इस कारण वीतराग चारित्ररूपमें उभरा है अवतार जिसका, ऐसा मेरा यह आत्मा स्वयं धर्म होकर समस्त विघ्नोका

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥६२॥

जो निहतमोहदृष्टी, आगमज्ञानी विरागचर्यामें ।
उन्नत महान आत्मा, वही श्रमण धर्ममय माना ॥ ९२ ॥

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते । अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषितः श्रमण ॥ ९२ ॥

यदय स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव, तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री । सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मम पुनर्भावमापत्स्यते । ततो वीतरागचारित्रसूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वयं धर्मो भूत्वा निरस्तसमस्तप्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवावतिष्ठते । अलमतिविस्तरेण । स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे । स्वस्ति

नामसंज्ञ—ज णिहदमोहदिट्ठि आगमकुसल विरागचरिय अब्भुट्ठिद महप्प धम्म त्ति विसेसिद समण । **धातुसंज्ञ**—णि हण हिंसाया, अभि उत् ट्ठा गतिनिवृत्तौ । **प्रातिपदिक**—यत् निहतमोहदृष्टि आगमकुशल विरागचरित अभ्युत्थित महात्मा धर्म इति विशेषित श्रमण । **मूलधातु**—नि हन हिंसाया, अभि उत् ष्ठा

नाश हो जानेसे सदा निष्कंप ही रहना है । अधिक विस्तारसे क्या ? जयवंत वर्तो स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म ! जयवंत वर्तो शब्दब्रह्ममूलक आत्मतत्त्वोपलब्धि;—कि जिसके प्रसाद से अनादि संसारसे बँधी हुई मोहग्रंथि तत्काल ही निकल गई है और जयवंत वर्तो परमवीतराग चारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग जिसके प्रसादसे यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ है ।

आत्मा इत्यादि, **अर्थ**—इस प्रकार शुद्धोपयोगको प्राप्त करके आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ अर्थात् स्वयं धर्मरूप परिणत होता हुआ नित्य आनन्दके प्रसारसे सरस ज्ञानतत्त्वमें लीन होकर अत्यन्त अविचलपनेसे देदीप्यमान ज्योतिर्मय और सहजरूपसे विलसित रत्नदीपककी निष्कंप-प्रकाशमय शोभाको पाता है ।

निश्चित्य इत्यादि, **अर्थ**—इस प्रकार आत्मारूपी आश्रयमें रहने वाले ज्ञानतत्त्वको यथार्थतया निश्चित करके, उसकी सिद्धिके लिये प्रशमके ध्येयसे ज्ञेयतत्त्वको जाननेका इच्छुक (जीव) सर्व पदार्थोंको द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानता है, जिससे कभी मोहांकुरकी किंचिन्मात्र भी उत्पत्ति नही होती ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जिनोदित अर्थश्रद्धानके बिना धर्मोपलब्धि नही होती । अब इस गाथामें बताया गया है कि शुद्धोपयोगके प्रसादसे साध्यमान यह मै आत्मा स्वयं साक्षात् धर्म ही हूं ।

तथ्यप्रकाश—(१) यह मैं सहजात्मतत्त्व स्वयं धर्म हूं । (२) धर्मकी विघातिका एक

तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः । स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ॥ आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय । प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥५॥ निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत् तत्सिद्धयर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः । सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्त्या प्रादुर्भूतिर्न भवति यथा जातु मोहांकुरस्य ॥६॥९२॥

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां "श्रीमदमृतचन्द्रसूरि" विरचितायां 'ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनो' नाम प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥

गतिनिवृत्तौ । **उभयपदविवरण**—जो यः. णिहदमोहदिट्ठी निहतमोहदृष्टिः आगमकुसलो आगमकुशलः अब्भुट्ठिदो अभ्युत्थितः महप्पा महात्मा धम्मो धर्मः समणो श्रमणः–प्रथमा एक० । विरागचरियम्मि विरागचरिते–सप्तमी एकवचन । विसेसिदो विशेषितः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—दृश्यते अनया सा दृष्टिः, ध्रियते ज्ञानिभिः इति धर्मः । **समास**—आगमे कुशलः आगमकुशलः, निहता मोहदृष्टिः येन सः नि०, विरागं च तत् चरितं चेति विरागचरितं तस्मिन् वि० ॥ ९२ ॥

बहिर्मोह दृष्टि ही है । (३) बहिर्मोहदृष्टि आगमकौशल आत्मज्ञानसे नष्ट हो जाती है । (४) प्रखर स्वभावदृष्टिसे नष्ट हुई बहिर्मोहदृष्टि पुनः नही आ सकती । (५) मोहदृष्टि नष्ट होनेसे वीतराग चारित्ररूपमें स्पष्ट प्रकट यह आत्मा स्वयं धर्मरूप है । (६) धर्ममय यह आत्मा निरावरण होनेसे नित्य अकम्प रहता है । (७) कल्याणका प्रारम्भक जैनेन्द्र शब्दब्रह्मकी (आगमकी) उपासना है । (८) आगमकी उपासनाके प्रसादसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है । (९) आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके प्रसादसे अनादिबद्ध मोहकी गांठ नष्ट होती है । (१०) मोहकी गांठ नष्ट होनेपर परमवीतरागचारित्रात्मक शुद्धोपयोग होता है । (११) शुद्धोपयोगके प्रसादसे यह आत्मा स्वयं धर्मरूप प्रकट होता है ।

सिद्धान्त—(१) स्वभावदृष्टिसे स्वभावका विकास होता है ।

दृष्टि—१– स्वभावनय (१७९) ।

प्रयोग—शान्त धर्ममय होनेके लिये आगमाभ्यास द्वारा आत्मतत्त्वकी उपलब्धि करके प्रखर स्वभावदृष्टिके बलसे अपनेको अविकार अनुभवना ॥९२॥

इस प्रकार श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत श्रीप्रवचनसारशास्त्र व श्रीमदमृतचंद्राचार्यदेवविरचित 'तत्त्वदीपिका' नामक टीकापर सहजानन्द सप्तदशाङ्गी टीका समाप्त ॥

—०—

२—ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन

अथ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनं, तत्र पदार्थस्य सम्यग्द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया॥ ९३॥

अर्थ द्रव्यमय होता, द्रव्य गुणात्मक व उनसे पर्यायें।
पर्यायोंके मोही, होते परसमय अज्ञानी॥ ९३॥

अर्थः खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि। तैस्तु पुन. पर्यायाः पर्ययमूढा हि परसमया॥९३॥

इह किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमयः। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वाद्गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि। तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः।

नामसंज्ञ—अत्थ खलु दव्वमअ दव्व गुणप्पग भणिद त पुणो पज्जाय पज्जयमूढ हि परसमय। **धातुसंज्ञ**—भण कथने, मुज्झ मोहे। **प्रातिपदिक**—अर्थ खलु द्रव्यमय द्रव्य गुणात्मक भणित तत् पुनर् पर्याय

ज्ञेयतत्त्व - प्रज्ञापन

अब ज्ञेयतत्त्वका प्रज्ञापन प्रारम्भ होता है। वहाँ प्रथम ही पदार्थका यथार्थ द्रव्यगुणपर्यायस्वरूप निकटतासे निरखते है—[**खलु अर्थः**] वास्तवमें पदार्थ [**द्रव्यमयः**] द्रव्यस्वरूप है; [**द्रव्याणि**] द्रव्य [**गुणात्मकानि**] गुणात्मक [**भणितानि**] कहे गये हैं; [**तु पुनः तैः**] और द्रव्य तथा गुणोसे [**पर्यायाः**] पर्याय होती है। [**पर्यायमूढाः हि**] पर्यायमूढ जीव [**परसमयाः**] परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

तात्पर्य—जो पर्यायोमें मोहित है, आत्मबुद्धि करते हैं वे मिथ्यादृष्टि है।

टीकार्थ—वास्तवमें इस विश्वमे जो कोई जाननेमें आने वाला पदार्थ है वह समस्त ही विस्तारसामान्यसमुदायात्मक और आयतसामान्यसमुदायात्मक द्रव्यसे रचित होनेसे द्रव्य-

स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च । तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्वयणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि । गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः । सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च । तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः, विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः । अथेदं दृष्टान्तेन द्रढयति– यथैव हि सर्व एव पटोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन चाभिनिर्वर्त्यमानस्तन्मय एव, तथैव हि सर्व एव पदार्थोऽवस्थायिना विस्तार-

---

पर्यायमूढ परसमय । मूलधातु—भण शब्दार्थ, मुह वैचित्ये । उभयपदविवरण—अत्थो अर्थ दव्वमओ द्रव्यमय –प्र० एक० । दव्वाणि द्रव्याणि गुणप्पगाणि गुणात्मकानि पज्जाया पर्याया पज्जयमूढा पर्यायमूढाः

मय है । और द्रव्य एक है आश्रय जिनका, ऐसे विस्तारविशेषस्वरूप गुणोसे रचित होनेसे गुणात्मक है । और पर्यायें–जो कि आयतविशेषस्वरूप है वे जिनके—लक्षण कहे गये है ऐसे द्रव्योसे तथा गुणोसे रचित होनेसे द्रव्यात्मक भी है, गुणात्मक भी है । उसमे अनेक द्रव्यात्मक एकताकी प्रतिपत्तिका कारणभूत द्रव्यपर्याय है । वह दो प्रकार है–समानजातीय और असमानजातीय । उनमे समानजातीय वह है–जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक त्रिअणुक इत्यादि । असमानजातीय वह है, जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि । गुण द्वारा आयतकी अनेकताकी प्रतिपत्तिका कारणभूत गुणपर्याय है । वह भी दो प्रकार है–स्वभावपर्याय और विभावपर्याय । उनमे समस्त द्रव्योके अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप नानापनकी अनुभूति स्वभावपर्याय है । रूपादिके या ज्ञानादिके स्व परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामे होने वाले तारतम्यके कारण देखनेमे आने वाले स्वभाव विशेषरूप अनेकत्वकी आपत्ति विभावपर्याय है । अब इस कथनको दृष्टान्त से दृढ़ करते है—

जैसे सम्पूर्ण पट स्थिर विस्तारसामान्यसमुदायसे और प्रवाहरूप हुये आयतसामान्यसमुदायसे रचित होता हुआ तन्मय ही है, इसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ 'द्रव्य' नामक अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायसे और दौड़ते हुये आयतसामान्यसमुदायसे रचित होता हुआ द्रव्यमय ही है । और जैसे पटमे, अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदाय या प्रवाहरूप आयतसामान्यसमुदाय गुणोसे रचित होता हुआ गुणोसे पृथक् न पाया जानेसे गुणात्मक ही है, उसी प्रकार पदार्थोंमें, अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदाय या अन्वयरूप आयतसामान्यसमुदाय–जिसका नाम

सामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन च द्रव्यनाम्नाभिनिर्वर्त्यमानो द्रव्यमय एव । यथैव च पटेऽवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव, तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव । यथैव चानेकपटात्मको द्विपटिका त्रिपटिकेति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेक पुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः । यथैव चानेककौशेयककार्पासमयपटात्मको द्विपटिकात्रिपटिकेत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकजीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः । यथैव च क्वचित्पटे स्थूलात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण कालक्रमप्रवृत्तेन नानाविधेन परिणमनान्नात्वप्रतिपत्तिर्गुणात्मकः स्वभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु सूक्ष्मात्मीयात्मीयगुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः गुणात्मकः स्वभावपर्यायः । यथैव च पटे रूपादीनां स्वपरप्रत्य-

परसमया परसमया –प्रथमा बहु० । तेहि तै –तृतीया बहु० । भणिदाणि भणितानि–प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया । खलु पुणो पुन. हि–अव्यय । निरुक्ति—परि यंति गच्छति द्रव्यमनु इति पर्यायाः, सम् अयते इति

'द्रव्य' है वह– गुणोसे रचित होता हुआ गुणोसे पृथक् न पाया जानेसे गुणात्मक ही है । और जैसे अनेक पटात्मक द्विपटिक, त्रिपटिक यह समानजातीय द्रव्यपर्याय है, उसी प्रकार अनेकपुद्गलात्मक द्विअणुक, त्रिअणुक, ऐसा समानजातीय द्रव्यपर्याय है; और जैसे अनेक रेशमी और सूती पटोके बने हुए द्विपटिक, त्रिपटिक, ऐसा असमानजातीय द्रव्यपर्याय है उसी प्रकार अनेक जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य, ऐसी असमानजातीय द्रव्यपर्याय है । और जैसे कभी पटमे अपने स्थूल अगुरुलघु गुण द्वारा कालक्रमसे प्रवर्तमान अनेक प्रकाररूपसे परिणत होनेके कारण नानापनकी प्रतिपत्ति गुणात्मक स्वभावपर्याय है, उसी प्रकार समस्त द्रव्योमे अपने अपने सूक्ष्म अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप नानापनकी अनुभूति गुणात्मक स्वभावपर्याय है; और जैसे पटमें, रूपादिकके स्व-परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामे होने वाले तारतम्यके कारण देखनेमें आने वाले स्वभावविशेषरूप आपत्ति गुणात्मक विभावपर्याय है, उसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें रूपादिके या ज्ञानादिके स्व-परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होने वाले तारतम्यके कारण देखनेमें आने वाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्वकी आपत्ति गुणात्मक विभावपर्याय है । वास्तवमे यह, सर्व पदार्थोंके द्रव्यगुणपर्यायस्वभावकी प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था न्याययुक्त है, दूसरी कोई नहीं । क्योंकि बहुतसे जीव पर्यायमात्रका ही अवलम्बन करके, तत्त्वकी अप्रतिपत्ति लक्षण है जिसका ऐसे मोहको प्राप्त होते हुये परसमय होते है ।

यप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभाव-पर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरा-वस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मकोविभावपर्यायः । इयं हि सर्व-पदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा । यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छन्तः परसमया भव-न्ति ॥ ६३ ॥

समयः, द्रव्येण निवृत्तः द्रव्यमयः । समास—गुणाः आत्मकाः येषां तानि गुणात्मकानि, पर्यायेषु मूढाः पर्या-यमूढाः ॥ ६३ ॥

प्रसंगविवरण—प्रारम्भसे अनन्तरपूर्व गाथा तक ज्ञानतत्त्वका प्रज्ञापन किया । अब ज्ञेयतत्त्वका प्रज्ञापन किया जा रहा है, जिसमें प्रथम ही समीचीन प्रकारसे द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप कहा गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो कुछ जाना गया वह सब अर्थ कहलाता है । (२) अर्थ द्रव्य-मय होता है । (३) द्रव्यविस्तार सामान्य (गुण) और आयत (पर्याय) सामान्यरूप समुदाया-त्मक है । (३) द्रव्य स्वाश्रित विस्तारविशेषात्मावोंसे अर्थात् गुणोंसे रचा गया होनेसे गुणात्मक है । (४) पर्यायें प्रतिसमय एक एक होकर त्रिकाल होते रहनेसे आयतविशेषात्मक कहलाती हैं । (५) जो आयतविशेषात्मक पर्यायें द्रव्यों द्वारा अर्थात् प्रदेशोंके आकाररूपसे रचित है वे द्रव्यव्यञ्जन पर्यायें हैं । (६) जो आयतविशेषात्मक पर्यायें गुणोंसे रचित है वे गुणव्यञ्जन पर्यायें है । (७) जो द्रव्यव्यञ्जन पर्याय केवल एक द्रव्यके प्रदेशोंके आकारमे है वह स्वभाव-द्रव्यव्यञ्जनपर्याय है । (८) जो द्रव्यव्यञ्जनपर्याय अनेक बद्ध द्रव्योंके प्रदेशोंके आकारमें है वह या तो समानजातीय द्रव्यव्यञ्जनपर्याय है या असमानजातीय द्रव्यव्यञ्जन पर्याय है । (९) समानजातिके अनेक द्रव्योंके संश्लेषमे होने वाला आकारपरिणमन समानजातीय द्रव्य-व्यञ्जनपर्याय है जैसे ये दृश्यमान पुद्गल स्कंध । (१०) असमान जातिके अनेक द्रव्योंके संश्लेष में होने वाला आकारपरिणाम असमानजातीय द्रव्यव्यञ्जनपर्याय है, जैसे मनुष्य पशु आदि । (११) गुणपर्याय प्रतिसमय अन्य अन्य होता है । (१२) गुणपर्याय दो प्रकारके होते हैं—(१) स्वभाव गुण पर्याय, (२) विभाव गुण पर्याय । (१३) स्वभावगुणपर्याय स्वभावके अनु-रूप विकासका नाम है, इसकी अर्थपर्यायसे समानता होनेसे यहाँ अगुरुलघु गुण द्वारा प्रति-समय उदित षट्स्थानपतित वृद्धि हानिरूप नानापनकी अनुभूति है, फिर भी विकासकार्य समान है जैसे अनन्त ज्ञान आदि । (१४) विभावगुणपर्याय अनुरूपदशावान परपदार्थका

अथानुषङ्गिकीमिमामेव स्वसमयपरसमयव्यवस्थां प्रतिष्ठाप्योपसंहरति—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥९४॥

जो पर्यायनिरत हैं, उन जीवोंको परसमय बताया।
आत्मस्वभावस्थित जो उनको ही स्वकसमय जानो ॥९४॥

ये पर्यायेषु निरता जीवाः परसमयिका इति निर्दिष्टाः। आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया ज्ञातव्याः ॥९४॥

ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसंभावनक्लीवास्तस्मिन्नेवासक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवैतन्मनुष्यशरीरमित्यहङ्कारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा संगतत्वात्परसमया जायन्ते। ये तु पुनरसंकीर्णद्रव्यगुण-

नामसंज्ञ—ज पज्जय णिरद जीव परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठ आदसहाव ठिद त परसमय मुणेदव्व। धातुसंज्ञ—मुण ज्ञाने। प्रातिपदिक—यत् पर्याय निरत जीव परसमयिक इति निर्दिष्ट आत्मस्वभाव स्थित

निमित्त पाकर होनेसे विविध विकाररूप होते हैं जैसे क्रोध, मान, मतिज्ञान आदि। (१५) परमेश्वर अर्हन्तदेवकी दिव्यध्वनिसे प्रकट द्रव्य गुण पर्यायके स्वरूपकी व्यवस्था उक्त प्रकार ही समीचीन है, अन्य कोई व्यवस्था स्वरूपसंगत नही। (१६) द्रव्य गुण पर्यायके स्वरूपकी सही व्यवस्था जिनको निर्णीत नही वे पर्यायमात्रका आलम्बन करके तत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप मोहको अपनाकर मिथ्यादृष्टि रहते है। (१७) द्रव्यगुणपर्यायके स्वरूपकी सही व्यवस्था जिनको निर्णीत हो चुकी वे अध्रुव पर्यायोंमे मुग्ध न होकर ध्रुव सहज ज्ञानस्वभावमय निज अन्तस्तत्त्वके अभिमुख होकर अपनेमें अपनेको सम्यक् अवलोकन कर सम्यग्दृष्टि रहते हैं।

सिद्धान्त—(१) पर्यायको अपना आत्मसर्वस्व मानने वाले जीव परसमय अथवा मिथ्यादृष्टि हैं।

दृष्टि—१- विजात्यसद्भूत व्यवहार (६८)।

प्रयोग—द्रव्यगुणपर्यायरूपसे पदार्थको यथार्थ जानकर अध्रुव व्यतिरेक व भेदसे उपयोगको हटाकर ध्रुव अन्वयी अभेद आत्मचैतन्यस्वरूपमें आत्मत्वको अनुभवना ॥९३॥

अब आनुषंगिकी इस ही स्वसमय-परसमयकी व्यवस्थाको प्रतिष्ठित करके (उसका) उपसंहार करते हैं—[**ये जीवाः**] जो जीव [**पर्यायेषु निरताः**] पर्यायोंमे लीन हैं [**परसमयिकाः इति निर्दिष्टाः**] वे परसामयिक कहे गये है, [**आत्मस्वभावे स्थिताः**] और जो जीव

पर्यायसुस्थितं भगवंतमात्मनः स्वभावं सकलविद्यानामेकमूलमुपगम्य यथोदितात्मस्वभावसंभावनसमर्थतया पर्यायमात्रासक्तिमत्यस्यात्मनः स्वभाव एव स्थितिमासूत्रयन्ति, ते खलु सहजविजृम्भितानेकान्तदृष्टिप्रक्षपितसमस्तैकान्तदृष्टिपरिग्रहग्रहा मनुष्यादिगतिषु तद्विग्रहेषु चाविहिताहङ्कारममकार अनेकापवरकसचारितरत्नप्रदोपमिवैकरूपमेवात्मानमुपलभमाना अविचलितचेतनावि-

तत् स्वकसमय ज्ञातव्य । मूलधातु—ज्ञा अवबोधने । उभयपदविवरण—जे ये णिरदा निरताः जीवा जीवा. परसमयिग परसमयिकाः ते सगसमया स्वकसमयाः–प्रथमा बहु० । पज्जयेसु पर्यायेषु–सप्तमी बहु० । आद-

आत्मस्वभावमे स्थित है [ते] वे [स्वकसमयाः ज्ञातव्याः] स्वसमय ज्ञातव्य है ।

तात्पर्य—पर्यायोमे लीन जीव परसमय है और आत्मस्वभावमे स्थित जीव स्वसमय है ।

टीकार्थ—वास्तवमे जो सकल अविद्याओंकी एक जड है जीवपुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्याय, उसका आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभावकी सभावना करनेमे नपुंसक होनेसे उसीमे आसक्तिको धारण करते हैं वे निरर्गल एकान्तदृष्टि उछलती है जिनके, ऐसे वे 'यह मैं मनुष्य ही हूं, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है' इस प्रकार अहंकार-ममकारसे ठगाये जाते हुये, अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहारसे च्युत होकर, गोदमे ले डाला है समस्त क्रिया-कलापको जिसमे, ऐसे मनुष्यव्यवहारका आश्रय करके रागी द्वेषी, होते हुए परद्रव्यरूप कर्म के साथ संगतताके कारण वास्तवमे परसमय होते है । परन्तु जो असकीर्ण द्रव्य गुण पर्यायोमे सुस्थित व सकल विद्यावोंके मूल भगवान आत्माके स्वभावका आश्रय करके यथोक्त आत्मस्वभावकी संभावनामे समर्थ होनेसे पर्यायमात्रकी आसक्तिको दूर करके आत्माके स्वभावमे ही स्थिति करते है अर्थात् लीन होते है निश्चयसे वे–जिन्होने सहज विकसित अनेकान्तदृष्टिसे समस्त एकान्तदृष्टिके परिग्रहके आग्रह नष्ट कर दिये है, ऐसे मनुष्यादि गतियोमे और उन शक्तियोके शरीरोमें अहंकार-ममकार न करके अनेक कमरोमे संचारित रत्नदीपककी तरह एकरूप ही आत्माको अनुभव करते हुये, अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहारको अंगीकार करके, जिसमे समस्त क्रियाकलापसे भेंट की जाती है ऐसे मनुष्यव्यवहारका आश्रय नही करते हुये, रागद्वेषका प्राकटच रुक जानेसे परम उदासीनताका आलंबन लेते हुये, समस्त परद्रव्योंकी संगति दूर कर देनेसे मात्र स्वद्रव्यके साथ ही सगतता होनेसे वास्तवमें स्वसमय होते हैं । इस कारण स्वसमय ही आत्माका तत्त्व है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें द्रव्य गुण पर्यायके स्वरूपकी समीचीन व्यवस्था बताई गई थी । अब इस गाथामें उसी प्रसंगसे सम्बन्धित स्वसमय व परसमयकी प्रतिष्ठा की

लासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमनाश्रयन्तो विश्रान्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदासीन्यमवलंबमाना निरस्तसमस्तपरद्रव्यसंगतितया स्वद्रव्येणैव केवलेन संगतत्वात्स्वसमया जायन्ते । अतः स्वसमय एवात्मनस्तत्त्वम् ॥९४॥

सहावम्मि आत्मस्वभावे–सप्तमी एक० । ठिदा स्थिताः णिद्दिट्ठा निर्दिष्टाः मुणेदव्वा ज्ञातव्या –प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—नि शेषेण रमन्ते स्म इति निरताः । **समास**—आत्मनः स्वभावः आत्मस्वभाव. तस्मिन् आत्मस्वभावे ॥९४॥

गई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) परके साथ, अस्वभाव भावके साथ अपने आत्माका एकत्व माननेवाला अर्थात् पर्यायको ही आत्मसर्वस्व मानने वाला जीव परसमय कहलाता है । (२) परसमय जीव रागद्वेष मोहसे युक्त होता हुआ परद्रव्य कर्मके साथ बद्ध हो जाता है । (३) जिसकी गोदमे समस्त क्रियाकुटुम्ब पड़े रहते है, ऐसे इस मनुष्यपर्यायमें आत्मव्यवहार करना राग द्वेषका मूल है । (४) मनुष्यपर्यायमे आत्मव्यवहार करनेका कारण है ध्रुव अचल चेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहारसे च्युत हो जाना (अलग हो जाना) । (५) चैतन्यविलासमात्र आत्मव्यवहारसे वे पुरुष च्युत होते है जो मनुष्यपर्यायमें ही 'यह मैं हू, यह मनुष्यशरीर मेरा ही है' इस अहकार व ममकारसे ठगाये जाते है । (६) अहंकार ममकार जैसे विकल्पोसे वे ही पुरुष ठगाये जाते है जो निरर्गल एकान्तदृष्टि रखते है । (७) निरर्गल एकान्तदृष्टि उनकी बनती है जो आत्मस्वभावका आदर करनेमें असमर्थ होते हुए जीव पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्य पर्यायमे, इस मनुष्यपर्यायमे आसक्त रहते हैं । (८) समस्त अज्ञानका मूल मनुष्यादि असमानजातीय द्रव्यपर्यायका लगाव है । (९) जो आत्मा परद्रव्यकी संगति तजकर केवल स्वद्रव्यसे ही युक्त होते हैं वे आत्मा स्वसमय है । (१०) परद्रव्यकी संगति तजकर स्वद्रव्यसे ही संगत होना उनके ही संभव है जो राग द्वेषकी प्रकटता हट जानेसे परम उदासीन भावको प्राप्त होते है । (११) परम उदासीन भावको वे ही पुरुष प्राप्त होते हैं जो समस्तक्रियाकुटुम्बसे घिरे हुए इस मनुष्यव्यवहारका आश्रय नही करते है । (१२) मनुष्यपर्याय व्यवहारका अनाश्रय उनके ही संभव है जो अचल चेतना विलासमात्र आत्मव्यवहारको स्वीकृत करते है । (१३) अचलित चेतना विलासमात्र आत्मव्यवहारको वे ही स्वीकारते हैं जो मनुष्यादि शरीरों में अहंकार ममकार न करते हुए उन शरीरोंमें रहकर भी अपनेको चेतनामात्र एकस्वरूप ही निरखते हैं । (१४) अचलित चेतना विलासमात्र आत्मव्यवहारको वे पुरुष नहीं स्वीकार कर पाते जो एकान्तदृष्टिके परिग्रह पिशाचसे अभिभूत हैं । (१५) एकान्तदृष्टिका परिग्रहपिशाच उनका दूर होता है जो सहज यथार्थस्वरूप वाले पदार्थको अनेकान्तदृष्टिसे निरखते हैं । (१६)

अथ द्रव्यलक्षणमुपलक्षयति—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥९५॥

न स्वभाव छूटनेसे, स्थिति व्यय उत्पाद धर्मसे तन्मय ।
जो गुणवंत सपर्यय, उसको प्रभु द्रव्य कहते हैं ॥९५॥

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्धम् । गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥ ९५ ॥

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम् । तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः, अस्तित्व हि वक्ष्यति द्विविध, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति । तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः । गुणा विस्तारविशेषाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात् । तत्रास्तित्व नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्व चेत्यादयः सामान्यगुणाः । अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्यमित्यादयो विशेषगुणाः । पर्याया आयतविशेषाः, ते पूर्वमेवोक्ताश्चतुर्विधाः । न च तैरुत्पादादिभिर्गुणपर्या-

नामसंज्ञ—अपरिच्चत्तसहाव उप्पादव्वयधुवत्तसबद्ध गुणव च सपज्जाय ज त दव्व ति । **धातुसंज्ञ**—बु व्यक्तायां वाचि । **प्रातिपदिक**—अपरित्यक्तस्वभाव उत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्ध गुणवत् सपर्याय यत् तत्

पदार्थके यथार्थस्वरूपको अनेकान्तदृष्टिसे वे ही पुरुष निरखते है जो पर्यायविषयक आसक्तिको छोड़कर आत्माके स्वभावमें ही लीन होनेका पौरुष करते है । (१७) पर्यायासक्ति छोड़कर आत्मस्वभावमे वे ही पुरुष लीन हो सकते है जो आत्मस्वभावका आदर करनेमे समर्थ है । (१८) आत्मस्वभावका वे ही आदर कर पाते जो समस्त विद्याके एक मूल भगवान आत्मस्वभावकी उपासनामें रहते है । (१९) स्वसमय ही आत्माका तत्त्व है ।

सिद्धान्त—(१) स्वसमय अवस्थाकी प्राप्तिका साधन एक अखण्ड चैतन्यस्वभावमात्र आत्माका परिचय है ।

दृष्टि—१- अखण्ड परमशुद्ध निश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—पर्यायसे उपेक्षा करके आत्मस्वभावमें लीन होनेका पौरुष करना ॥९४॥

अब द्रव्यका लक्षण उपलक्षित करते हैं—**[अपरित्यक्तस्वभावेन]** नही छोड़ा है स्वभाव जिसने ऐसा **[यत्]** जो **[उत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्]** उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्त है **[च]** तथा **[गुणवत् सपर्यायं]** गुणयुक्त और पर्यायसहित है, **[तत्]** वह **[द्रव्यम् इति]** 'द्रव्य' है

यैर्वा सह द्रव्यं लक्ष्यलक्षणभेदेऽपि स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव द्रव्यस्य तथाविधत्वादुत्तरीयवत्। यथा खलूत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथा द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसन्निधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानस्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनांतरङ्गसाधनतामुपागतेनानुग्रहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते। न च तेन

द्रव्य इति। **मूलधातु**—ब्रूञ व्यक्तायां वाचि। **उभयपदविवरण**—अपरिच्चत्तसहावेण अपरित्यक्तस्वभावेन-तृतीया एक०।। उप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं उत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धं गुणवं गुणवत् सपज्जायं सपर्यायं जं-यत् तं तत् दव्वं द्रव्य-प्रथमा एक०। **निरुक्ति**—उत्पद्यते इति उत्पादः। **समास**—अपरित्यक्तः स्वभावः

ऐसा प्रभु [**ब्रुवन्ति**] कहते हैं।

तात्पर्य—एकस्वभावरूप उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त गुणपर्यायवान सत् द्रव्य कहलाता है।

टीकार्थ—वास्तवमें इस विश्वमें नही है स्वभावभेद जिसमें, ऐसा जो उत्पादव्ययध्रौव्यत्रयसे और गुणपर्यायद्वयसे लक्षित होता है वह द्रव्य है। उनमें अर्थात् स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्यायमें से द्रव्यका स्वभाव है अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय। अस्तित्व दो प्रकारका कहेगे—(१) स्वरूपास्तित्व, (२) सादृश्यास्तित्व। उनमें उत्पाद तो प्रादुर्भाव है; व्यय, प्रच्युति है; ध्रौव्य, अवस्थिति है; तथा गुण, विस्तारविशेष हैं। वे सामान्यविशेषात्मक होनेसे दो प्रकारके है। इनमें अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्यगुण हैं। अवगाह हेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं। पर्याय आयतविशेष हैं। वे पूर्व ही (९३वी गाथाकी टीकामें) कथित चार प्रकारके हैं। द्रव्यका उन उत्पादादिके साथ अथवा गुणपर्यायोंके साथ लक्ष्यलक्षण भेद होनेपर भी स्वरूपभेद नही है। स्वरूपसे ही द्रव्य उत्पादादि अथवा गुणपर्याय वाला है; वस्त्र के समान।

जैसे मलिन अवस्थाको प्राप्त वस्त्र, धोया हुआ निर्मल अवस्था रूपसे उत्पन्न होता हुआ उस उत्पादसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूपभेद नही है, स्वरूपसे ही वैसा है अर्थात् स्वयं उत्पादरूपसे ही परिणत है। उसी प्रकार जिसने पूर्व अवस्था

सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा तदेव द्रव्यमप्युत्तरावस्थयो-त्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमेककालमलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्योत्तरीयत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्येककाल-मुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्या द्रव्यत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव

येन सः अपरित्यक्तस्वभाव तेन । उत्पाद. व्यय: ध्रुवत्व चेति उत्पादव्ययध्रुवत्वानि तैं सबद्ध इति उत्पाद-

प्राप्त की है ऐसा द्रव्य भी उचित बहिरंग साधनोके सान्निध्यके सद्भावमे विचित्र नाना स्वरूप के कर्ता व करणके सामर्थ्यरूप स्वभावसे अनुगृहीत होता हुआ, उत्तर अवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ उत्पादसे लक्षित होता है; किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूपभेद नही है, स्वरूपसे ही वैसा है । और जैसे वहीं वस्त्र निर्मल अवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ और मलिन अवस्थारूपसे व्ययको प्राप्त होता हुआ उस व्ययसे लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्ययके साथ स्वरूपभेद नही है, स्वरूपसे ही वैसा है उसी प्रकार वही द्रव्य भी उत्तर अवस्था रूपसे उत्पन्न होता हुआ और पूर्व अवस्था रूपसे व्ययको प्राप्त होता हुआ उस व्ययसे लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्ययके साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूपसे ही वैसा है । और जैसे वही वस्त्र एक ही समयमे निर्मल अवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ, मलिन अवस्थारूपसे व्ययको प्राप्त होता हुआ और टिकने वाली वस्त्रत्व अवस्थासे ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्यसे लक्षित होता है; परन्तु उसका उस ध्रौव्यके साथ स्वरूपभेद नही है, स्वरूपसे ही वैसा है; इसी प्रकार वही द्रव्य भी एक ही समय उत्तर अवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्थारूपसे व्यय होता हुआ, और टिकने वाली द्रव्यत्वअवस्थारूपसे रहता हुआ ध्रौव्यसे लक्षित होता है । किंतु उसका उस ध्रौव्यके साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूपसे ही वैसा है ।

और जैसे वही वस्त्र विस्तारविशेषस्वरूप शुक्लत्वादि गुणोसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उन गुणोके साथ स्वरूपभेद नही है, स्वरूपसे ही वह वैसा है; इसी प्रकार वही द्रव्य भी विस्तारविशेषस्वरूप गुणोसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उन गुणोके साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूपसे ही वैसा है । और जैसे वही वस्त्र आयतविशेषस्वरूप पर्यायस्थानीय तंतुओसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उन तंतुओके साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूपसे ही वैसा है । उसी प्रकार वही द्रव्य भी आयतविशेषस्वरूप पर्यायोंसे लक्षित होता है, परन्तु

च तदेवोत्तरीयं विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमपि विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमायतविशेषात्मकैः पर्यायवर्तिभिस्तन्तुभिर्लक्ष्यते । त च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्यायतविशेषात्मकैः पर्यायैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते ॥६५॥

व्ययध्रुवत्वसबद्ध , गुण यस्यास्तीति गुणवत् पर्ययेन सहित सपर्याय ॥६५॥

उसका उन पर्यायोके साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूपसे ही वैसा है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें स्वसमय व परसमयकी व्यवस्था प्रतिस्थापित की थी । अब इस गाथामे द्रव्यका लक्षण उपलक्षित किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य स्वभावभेदरहित अखण्ड सत् है । (२) द्रव्यका स्वभाव अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय है । (३) द्रव्यका परिचय उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततासे किया जाता है । (४) द्रव्यका परिचय गुणपर्यायवत्तासे किया जाता है । (५) गुण सामान्यविशेषात्मक है । (६) जो गुण अनेक द्रव्योमे पाये जावें वे गुण सामान्य है, जैसे अस्तित्व नास्तित्व एकत्व अनेकत्व आदि । (७) जो गुण एक ही द्रव्यमें या एक ही जातिके द्रव्यमें पाये जावें वे गुण विशेष है । जैसे चेतनत्व, रूपादिमत्त्व, गतिहेतुत्व आदि । (८) पर्यायें कालक्रमभावी विशेष है । (९) पर्यायें चार प्रकारके होते है—स्वभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय, विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय, स्वभावगुणव्यञ्जन पर्याय, विभावगुणव्यञ्जन पर्याय । १० पर्यायोसे गुणोसे उत्पादादिसे द्रव्य जाना जाता है यों उनमें लक्ष्यलक्षणका भेद है, किन्तु द्रव्यमें स्वरूपभेद नही है, क्योकि गुण पर्याय उत्पादादिसे द्रव्य मात्र लक्षित किया जाता है ।

सिद्धान्त—(१) उत्पादादिसे द्रव्य मात्र लक्षित किया जाता है । (२) द्रव्य परमार्थतः स्वभावभेदरहित अखण्ड सत् है ।

दृष्टि—१– उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२५) । २– अखण्ड परमशुद्ध निश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—द्रव्यके लक्षणकी विधिसे अपनेको यथार्थ सहजस्वरूपमें लक्षित करना ॥६५॥

अब क्रमसे दो प्रकारका अस्तित्व कहते हैं—स्वरूप-अस्तित्व और सादृश्य-अस्तित्व । उनमें यह स्वरूपास्तित्वका कथन है—[**गुणैः**] गुणों तथा [**चित्रैः स्वकपर्यायैः**] अनेक प्रकार की अपनी पर्यायोंसे [**उत्पादव्ययध्रुवत्वैः**] और उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे [**सर्वकालं**] सर्वकालमें

अथ क्रमेणास्तित्वं द्विविधमभिदधाति स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति तत्रेदं स्वरूपास्तित्वाभिधानम्--

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ ९६ ॥

गुण व विविध पर्यायों-से उत्पाद व्यय ध्रौव्य धर्मोंसे ।
सर्वकाल वस्तुका सद्भाव स्वभाव कहलाता ॥ ९६ ॥

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः स्वकपर्ययैश्चित्रैः । द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ॥ ९६ ॥

अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततयाहेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च भावभाववद्भावान्नानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद्द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत् । तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते । यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत् । यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पीततादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा

नामसंज्ञ--सब्भाव हि सहाव गुण सगपज्जय चित्त दव्व सव्वकाल उप्पादव्वयधुवत्त । **धातुसंज्ञ**—उव पज्ज गतौ, वि इ गतौ । **प्रातिपदिक**—सद्भाव हि स्वभाव गुण स्वकपर्याय चित्र द्रव्य सर्वकाल उत्पाद-

---

[द्रव्यस्य सद्भावः] द्रव्यका अस्तित्व ही **[हि]** वास्तवमें **[स्वभावः]** स्वभाव है ।

तात्पर्य—गुणोसे, पर्यायोसे, उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे सदाकाल द्रव्यका सद्भाव रहना द्रव्यका स्वभाव है ।

टीकार्थ—वास्तवमें अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव है; और वह अस्तित्व अन्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण अनादि अनन्त होनेसे अहेतुक, एकरूप वृत्तिसे सदा ही प्रवृत्तपना होनेके कारण, विभावधर्मसे विलक्षणताके कारण, भाव और भाववानपना होनेसे अनेकत्व होनेपर भी प्रदेशभेद न होनेसे द्रव्यके साथ एकत्वको धारण करता हुआ, द्रव्यका स्वभाव ही क्यों न हो? वह अस्तित्व भिन्न-भिन्न द्रव्योंकी तरह द्रव्य गुण पर्यायमें प्रत्येकमें समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि उनकी सिद्धि परस्पर होती है, इस कारण उनका अस्तित्व एक ही है; सुवर्णकी तरह ।

जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावसे सुवर्णसे पृथक् न पाये जाने वाले कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे पीतत्वादि गुणोंके और कुण्डलादि पर्यायोंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान

भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा पीततादिगुणेभ्यः कुण्डलादिपर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्वं स स्वभावः। किंच—यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाङ्गदपीततात्युत्पादव्ययध्रौव्याणां

व्ययध्रुवत्व। **मूलधातु**—उत् पद गतौ, वि इण् गतौ, ध्रु स्थैर्ये भ्वादि। **उभयपदविवरण**—सब्भावो सद्भाव सहावो स्वभाव.-प्रथमा एक०। गुणेहिं गुणैः. सगपज्जयेहिं स्वकपर्ययैः उप्पादव्वयधुवत्तेहिं उत्पाद-

---

सुवर्णके अस्तित्वसे निष्पादित उत्पत्तिसे युक्त पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायोंसे जो सुवर्णका अस्तित्व है वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे जो द्रव्यसे पृथक् न पाये जाने वाले कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे गुणोके और पर्यायोके स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान द्रव्यके अस्तित्वसे निष्पादित उत्पत्तिसे युक्त गुणों और पर्यायोंसे जो द्रव्यका अस्तित्व है वह द्रव्यका स्वभाव है। अथवा जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे व भावसे पीतत्वादि गुणोसे और कुण्डलादि पर्यायोसे पृथक् न पाये जाने वाले तथा कर्ता करण-अधिकरणरूपसे सुवर्णके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान पीतत्वादि गुणो और कुण्डलादि पर्यायों से निष्पादित निष्पत्तिसे युक्त सुवर्णका, मूलसाधनपनेसे उन गुण पर्यायोंसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है वह उसका स्वभाव है; इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे गुणोंसे और पर्यायोसे पृथक् न पाये जाने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे द्रव्यके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान गुणों और पर्यायोसे निष्पादित निष्पत्तिसे युक्त द्रव्यका, मूलसाधनपनेसे उन गुण पर्यायोसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है वह स्वभाव है।

और क्या—जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे सुवर्णसे पृथक् न पाये जाने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे कुण्डलादि उत्पादोंके, बाजूबन्धादि व्ययोंके और पीतत्वादि ध्रौव्योंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान सुवर्णके अस्तित्वसे निष्पादित निष्पत्तिसे युक्त ऐसे कुण्डलादि उत्पाद, बाजूबंधादि व्यय और पीतत्वादि ध्रौव्योसे जो सुवर्णका अस्तित्व है वह

स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्व स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्वं स स्वभाव. ॥९६॥

व्ययध्रुवत्वै चित्तेहि चित्रै –तृतीया बहुवचन। दव्वस्स द्रव्यस्य–षष्ठी एक०। सव्वकाल सर्वकाल–क्रियाविशेषण अव्यय। (सदाकाल सद्भाव होना)। **निरुक्ति**–उत्पादनं उत्पाद, व्ययन व्यय, ध्रुवण ध्रुव तस्य भाव ध्रुवत्व। **समास**– उत्पाद व्यय ध्रुवत्व चेति उत्पादव्ययध्रुवत्वानि तै उत्पादव्ययध्रुवत्वै. ॥९६॥

सुवर्णका स्वभाव है। इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे द्रव्यसे पृथक् नही पाये जाने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान द्रव्यके अस्तित्वसे निष्पादित निष्पत्तिसे युक्त उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योसे जो द्रव्यका अस्तित्व है वह उसका स्वभाव है।

अथवा, जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे व भावसे कुण्डलादि उत्पादोसे बाजूबंधादि व्ययो से और पीतत्वादि ध्रौव्योसे पृथक् न पाये जाने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे सुवर्ण के स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान कुण्डलादि उत्पादो, बाजूबन्धादि व्ययो और पीतत्वादि ध्रौव्योसे निष्पादित निष्पत्तिसे युक्त सुवर्णका, मूल साधनपनेसे उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे व भावसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योसे पृथक् न पाये जाने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे द्रव्यके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योसे निष्पादित निष्पत्तिसे युक्त द्रव्यका मूल साधनपनेसे उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है वह उसका स्वभाव है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्यका लक्षण अस्तित्व सामान्यरूप अन्वय बताया गया था जो कि स्वरूपास्तित्व व सादृश्यास्तित्व इन दो प्रकारोसे समझा जाता है।

इदं तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति—

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥६७॥

यहँ विविध लक्षणोंका, लक्षण सामान्य सत्त्व व्यापक है।
धर्म उपदेश कर्ता, जिनवर प्रभुने कहा है यों ॥ ६७ ॥

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम्। उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥ ६७ ॥

इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं

नामसंज्ञ—इह विविहलक्खण लक्खण एग सत् इति सव्वगय उवदिसत खलु धम्म जिणवरवसह पण्णत्त। **धातुसंज्ञ**—लक्ख अंकने, प ज्ञा अवबोधने। **प्रातिपदिक**—इह विविधलक्षण लक्षण एक सत् इति

अब इस गाथामें स्वरूपास्तित्वका कथन किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव है। (२) अस्तित्व स्वयंसिद्ध होता है, उसमे अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं होती। (३) अन्यसाधननिरपेक्ष होनेसे अस्तित्व अनादि अनन्त अहेतुक एकरूप वृत्तिसे नित्य प्रवृत्त रहता है। (४) अस्तित्व भावसे भाववान द्रव्य लक्षित होता है, किन्तु प्रदेशभेद न होनेसे अस्तित्व द्रव्यके साथ एकत्वको प्राप्त हुआ द्रव्यका स्वभाव ही है। (५) जैसे प्रत्येक द्रव्योमें भिन्न-भिन्न अस्तित्व है इस प्रकार गुण पर्यायोंके साथ भिन्न-भिन्न अस्तित्व नही, क्योंकि द्रव्यगुणपर्यायात्मक है। (६) द्रव्यसे पृथक् न पाये जाने वाले गुण पर्यायोके परिचय द्वारा जो अस्तित्व जाना जाता है वह द्रव्यका स्वभाव है।

सिद्धान्त—(१) गुणपर्यायवत्त्वके परिचयसे त्रैकालिक द्रव्यका परिचय होता है।

दृष्टि—१- अन्वय द्रव्यार्थिकनय [२७]।

प्रयोग—आत्मगुणपर्यायोसे अपने आत्माका परिचय करके गुणपर्यायभेदसे परे अखण्ड चैतन्यात्मक अस्तित्वका अनुभव करना ॥ ९६ ॥

अब यह सादृश्य-अस्तित्वका कथन है—[**खलु**] वास्तवमें [**धर्मं**] धर्मका [**उपदिशता**] उपदेश करते हुये [**जिनवरवृषभेण**] जिनवरवृषभके द्वारा [**इह**] इस विश्वमें [**विविधलक्षणानां**] विविध लक्षण वाले द्रव्योंका [**सत् इति**] 'सत्' ऐसा [**सर्वगतं**] सबमें पाया जाने वाला [**लक्षणं**] लक्षण [**एकं**] एक सादृश्यास्तित्व [**प्रज्ञप्तम्**] कहा गया है।

तात्पर्य—धर्मका उपदेश करते हुये जिनवरवृषभ द्वारा विविध लक्षण वाले द्रव्योंका सबमें पाया जाने वाला लक्षण सादृश्यास्तित्व कहा गया है।

प्रवृत्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमान भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूत साहश्यास्तित्व-मेक खल्ववबोधव्यम् । एवं सदित्यभिधान सदिति परिच्छेदनं च सर्वार्थपरामर्शि स्यात् । यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किंचित्सदिति किंचिदसदिति किंचित्सच्चासच्चेति किंचिदवाच्यमिति च स्यात् । तत्तु विप्रतिषिद्धमेव प्रसाध्यं चैतदनोकहवत् । यथा हि बहूना बहुविधानामनोकहाना मात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपारितत्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्व, सामान्यलक्षण भूतेन साहश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति । तथा बहूना बहुविधानां द्रव्याणा-मात्मीयात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षण-भूतेन साहश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति । यथा च तेषामनोकहानां सामान्यलक्षणभूतेन साहश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूत-स्य स्वरूपास्तित्वावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षणभूतेन

सर्वगत, उपदिशत् खलु धर्म जिनवरवृषभ प्रज्ञप्त । **मूलधातु**—लक्ष दर्शनाङ्कनया, प्र ज्ञप ज्ञापने । **उभयपदविवरण**—इह इति खलु–अव्यय । विविहलक्खणाण विविधलक्षणाना–षष्ठी एकवचन । लक्खण लक्षण एग एक सत् सव्वगय सर्वगत–प्रथमा एकवचन । उवदिसदा उपदिशता–तृतीया एक० । धम्म धर्म पण्णत्त प्रज्ञप्त–द्वितीया एक० । जिणवरवसहेण जिनवरवृषभेण–तृ० ए० । **निरुक्ति**—धरति उत्तमे सुखे इति धर्मः

टीकार्थ—इस विश्वमे, विचित्रताको विस्तारित करते हुये अन्य द्रव्योसे पृथक् रहकर प्रवर्तमान और प्रत्येक द्रव्यकी सीमाको बांधते हुवे ऐसे विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्वसे लक्षित हो रहे भी सर्व द्रव्योका, विचित्रताके विस्तारको अस्त करता हुआ, सर्व द्रव्योमे प्रवृत्त होकर रहने वाला, और प्रत्येक द्रव्यकी बँधी हुई सीमाको तोडता हुआ, 'सत्' ऐसा जो सर्व-गत सामान्यलक्षणभूत साहश्यास्तित्व है वह वास्तवमे एक ही जानना चाहिये । इस प्रकार 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थोका लक्ष करने वाला है । यदि वह ऐसा सर्वपदार्थपरामर्शी न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत्, कोई सत् तथा असत् और कोई अवाच्य होना चाहिये; किन्तु वह तो विरुद्ध ही है, और यह तथ्य वृक्षके दृष्टान्तको तरह सिद्ध कर लेना चाहिये ।

जैसे बहुतसे अनेक प्रकारके वृक्षोके अपने अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अव-लम्बनसे उत्थित होते (खडे होते) अनेकत्वको, सामान्य लक्षणभूत साहश्यदर्शक वृक्षत्वसे उत्थित होता एकत्व तिरोहित कर देता है इसी प्रकार बहुतसे, अनेक प्रकारके द्रव्योके अपने अपने विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित होते अनेकत्वको, सामान्यलक्षण-भूत साहश्यदर्शक 'सत्' पनेसे उत्थित होता एकत्व तिरोहित कर देता है । और जैसे उन वृक्षों के विषयमें सामान्यलक्षणभूत साहश्यदर्शक वृक्षत्वसे उत्थित होते एकत्वसे तिरोहित हुआ भी

सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति ॥९७॥

तं धर्मं । समास—विविधानि च तानि लक्षणानि चेति विविधलक्षणानि ॥ ९७ ॥

अपने अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित होता अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है इसी प्रकार सर्व द्रव्योंके विषयमें भी सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पनेसे उत्थित होते एकत्वसे तिरोहित हुआ भी अपने अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित होता अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें द्रव्यके स्वरूपास्तित्वका कथन किया गया था । अब इस गाथामें सादृश्यास्तित्वका कथन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूपास्तित्वसे युक्त है । (२) समस्त द्रव्योंको यदि सत् सामान्यरूपसे देखा जाय तो एक सादृश्यास्तित्व समझा जाता है । (३) सादृश्यास्तित्वसे सत् ऐसा कहनेपर समस्त अर्थोंका ग्रहण हो जाता है । (४) सत् सामान्य कहनेपर स्वरूपास्तित्व गौण हो जाता है । (५) स्वरूपास्तित्व निरखनेपर सादृश्यास्तित्वकी प्रतिष्ठा नही रहती ।

सिद्धान्त—(१) सत् सामान्यके निरखनेमें सर्व द्रव्योंमें सत्वमात्रका परिचय होता है । (२) स्वरूपास्तित्वके निरखनेमें द्रव्य अन्य द्रव्योंसे विलक्षण ज्ञात होता है ।

दृष्टि—१– सादृश्यनय [२०२] । २– वैलक्षण्यनय [२०३] ।

प्रयोग—सब द्रव्योमें स्वरूपास्तित्वको गौण कर सत् सामान्यकी दृष्टिसे निर्विकल्प होते हुए सहज निज स्वरूपास्तित्वको अनुभवना ॥९७॥

अब द्रव्योसे द्रव्यान्तरके आरम्भको और द्रव्यसे सत्ताके अर्थान्तरत्वको खण्डित करते हैं—**[द्रव्यं]** द्रव्य **[स्वभाव सिद्धं]** स्वभावसे सिद्ध और **[सत् इति]** 'सत्' है, ऐसा **[जिनाः]** जिनेन्द्रदेवने **[तत्त्वतः]** यथार्थतः **[समाख्यातवन्तः]** कहा है; **[तथा]** इस प्रकार **[आगमतः]** आगमसे **[सिद्धं]** सिद्ध तथ्यको **[यः]** जो **[न इच्छति]** नही मानता **[सः]** वह **[हि]** वास्तवमें **[परसमयः]** परसमय है ।

तात्पर्य—द्रव्य सहज सिद्ध व सहज सत् है ऐसा न मानने वाला मिथ्यादृष्टि है ।

टीकार्थ—वास्तवमे द्रव्योसे द्रव्यान्तरोकी उत्पत्ति नही होती, क्योंकि सर्व द्रव्योंके स्वभावसे सिद्धपना है । और उनका स्वभावसिद्धपना उनके अनादिनिधनत्वसे प्रसिद्ध है; क्योंकि अनादिनिधन पदार्थ साधनान्तरकी अपेक्षा नही रखता । वह गुणपर्यायात्मक अपने

अथ द्रव्यैर्द्रव्यान्तरस्यारम्भं द्रव्यादर्थान्तरत्वं च सत्तायाः प्रतिहन्ति—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा ।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥९८॥

स्वतःसिद्ध सत् वस्तु, ऐसा प्रभुने कहा यथार्थतया ।
आगमसिद्ध भि ऐसा, न माने जो वह बहिर्दृष्टि ॥ ९८ ॥

द्रव्य स्वभावसिद्ध सदिति जिनास्तत्त्वतः समाख्यातवन्तः । सिद्ध तथा आगमतो नेच्छति य स हि परसमयः ॥

न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वाभावसिद्धत्वात् । स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात् । अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते । गुणपर्यायात्मानमात्मनः स्वभावमेव मूलसाधनमुपादाय स्वयमेव सिद्धसिद्धिमद्भूतं वर्तते । यत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्द्रव्यान्तरं कादाचित्कत्वात् स पर्यायः, द्व्यणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च । द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात् । अथैवं यथा सिद्धं स्वभावत एव द्रव्यं तथा सदित्यपि तत्स्वभावत

नामसंज्ञ—दव्व सहावसिद्ध सत् इति जिण तच्चदो समक्खाद सिद्ध तध आगमदो ण ज त हि परसमय । **धातुसंज्ञ**—क्खा प्रकथने तृतीयगणी, इच्छ इच्छायां । **प्रातिपदिक**—द्रव्य स्वभावसिद्ध सत् इति जिन तत्त्वत समाख्यातवत् सिद्ध तथा आगमत न यत् तत् हि परसमय । **मूलधातु**—ख्या प्रकथने अदादि,

स्वभाव मूलसाधनको उपादान करके स्वयमेव सिद्ध हुआ वर्तता है । जो द्रव्योसे उत्पन्न होना है वह तो द्रव्यान्तर नही है, किन्तु कादाचित्कताके कारण पर्याय है, जैसे द्व्यणुक इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि । द्रव्य तो अनवधि त्रिकालस्थायी होनेसे उत्पन्न नही होता । अब इस प्रकार जैसे द्रव्य स्वभावसे ही सिद्ध है उसी प्रकार द्रव्य 'सत् है' यह भी स्वभावसे ही सिद्ध है, ऐसा अवधारण कीजिये । कही क्योकि द्रव्य सत्तात्मक अपने स्वभावसे निष्पन्न निष्पत्तिमान भाव वाला है । द्रव्यसे अर्थान्तरभूत सत्ता नही बन सकती कि जिसके समवायसे वह द्रव्य 'सत्' हो । देखिये प्रथम तो सत्का व सत्ताका युतसिद्धपना होनेके कारण अर्थान्तरत्व नही है, क्योकि दण्ड और दण्डीकी तरह सत् और सत्तामे युतसिद्धता दिखाई नही देती । अयुतसिद्धपना होनेसे भी सत् और सत्तामे भी अर्थान्तरत्व नही बनता । प्रश्न— 'इसमे यह है अर्थात् द्रव्य में सत्ता है' ऐसी प्रतीति होती है इस कारण अर्थान्तरत्व बन सकता है । उत्तर—'इसमें यह है' ऐसी प्रतीति किसके कारणसे होती है ? यदि ऐसा कहा जाय कि भेदके कारणसे अर्थात् द्रव्य और सत्तामे भेद होनेसे होती है तो, वह कौनसा भेद है ? प्रादेशिक या अताद्भाविक ? प्रादेशिक तो है नही, क्योकि युतसिद्धत्वका पहले ही निराकरण कर दिया गया है, और यदि अताद्भाविक कहा जाय तो वह ठीक ही है, क्योकि ऐसा वचन है कि 'जो द्रव्य है वह गुण

एव सिद्धमित्यवधार्यताम् । सत्तात्मनात्मनः स्वभावेन निष्पन्ननिष्पत्तिमद्भावयुक्तत्वात् । न च द्रव्यादर्थान्तरभूता सत्तोपपत्तिमभिप्रपद्यते, यतस्तत्समवायात्तत्सदिति स्यात् । सतः सत्तायाश्च न तावद्युतसिद्धत्वेनार्थान्तरत्वं, तयोर्दण्डदण्डिवद्युतसिद्धस्यादर्शनात् । अयुतसिद्धत्वेनापि न तदुपद्यते । इहेदमितिप्रतीतेरुत्पद्यत इति चेत् किंनिबन्धना हीहेदमिति प्रतीतिः । भेदनिबन्धनेति-चेत् को नाम भेदः । प्रादेशिक अताद्भाविको वा । न तावत्प्रादेशिकः, पूर्वमेव युनसिद्धत्वस्यापसारणात् । अताद्भाविकश्चेत् उपपन्न एव यद्द्रव्यं तन्न गुण इति वचनात् । अयं तु न खल्वेकान्तेनेहेदमितिप्रतीतेर्निबन्धनं, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात् । तथाहि—यदैव पर्यायेणार्प्यते द्रव्यं तदैव गुणवदिदं द्रव्यमयमस्य गुणः, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति । यदा तु द्रव्येणार्प्यते द्रव्यं तदास्तमितसमस्तगुणवासनोन्मेषस्य तथाविधं द्रव्यमेव शुभ्रमुत्तरीयमित्यादिवत्प्रपश्यतः समूल एवाताद्भाविको भेदो निमज्जति । एवं हि भेदे

इषु इच्छाया । उभयपदविवरण—दव्व द्रव्य सहावसिद्ध स्वभावसिद्ध सत्–प्रथमा एक० । इति ण न तध तथा हि–अव्यय । जिणा जिना –प्रथमा बहु० । तच्चदो तत्त्वत.–अव्यय पचम्यर्थे । समक्खादा समाख्यातवन्त –प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । सिद्ध –द्वि० ए० । आगमदो आगमत –अव्यय पचम्यर्थे । इच्छदि इच्छ-

नही है ।' परन्तु यह अताद्भाविक भेद 'एकान्तसे इसमे यह है' ऐसी प्रतीतिका कारण नही है, क्योकि वह स्वयमेव उन्मग्न और निमग्न होता है । वह इस प्रकार है:— जब ही पर्यायके द्वारा द्रव्य अर्पित किया जाता है तब ही 'शुक्ल यह वस्त्र है, यह इसका शुक्लत्व गुण है' इत्यादिकी तरह 'गुण वाला यह द्रव्य है, यह इसका गुण है' इस प्रकार अताद्भाविक भेद उछलता है, परन्तु जब द्रव्यके द्वारा द्रव्य अर्पित कराया जाय तब जिसके समस्त गुणवासना के उन्मेष अस्त हो गये है ऐसे उस जीवको—'शुक्ल वस्त्र ही है' इत्यादिकी तरह 'ऐसा द्रव्य ही है' इस प्रकार देखनेपर समूल ही अताद्भाविक भेद डूब जाता है । इस प्रकार भेदके निमग्न होनेपर उसके आश्रयसे होती हुई प्रतीति निमग्न होती है । उसके निमग्न होनेपर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व निमग्न होता है, इस कारण समस्त ही एक द्रव्य ही होकर रहता है । और जब भेद उन्मग्न होता है, तब भेदके उन्मग्न होनेपर उसके आश्रयसे होती हुई प्रतीति उन्मग्न होती है, उसके उन्मग्न होनेपर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व उन्मग्न होता है, तब भी द्रव्यके पर्यायरूपसे उन्मग्न होनेसे, जलराशिसे जलतरंगोंकी तरह द्रव्यसे व्यतिरिक्त नही होता । ऐसा होनेपर स्वयमेव सत् द्रव्य है । जो ऐसा नही मानता वह वास्तवमे 'परसमय' (मिथ्यादृष्टि ही) माना जाना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्योके सादृश्यास्तित्वका कथन किया गया था ।

निमज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिर्निमज्जति । तस्यां निमज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वं निमज्जति । ततः समस्तमपि द्रव्यमेवैकं भूत्वावतिष्ठते । यदा तु भेद उन्मज्जति, तस्मिन्नुन्मज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिरुन्मज्जति । तस्यामुन्मज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति । तदापि तत्पर्यायत्वेनोन्मज्जज्जलराशेर्जलकल्लोल इव द्रव्यान्न व्यतिरिक्तं स्यात् । एवं सति स्वयमेव सद्द्रव्यं भवति । यस्त्वेवं नेच्छति स खलु परसमय एव द्रष्टव्यः ॥९८॥

ति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। जो य. सो स.–प्र० एक०। परसमओ परसमय–प्र० एक०। **निरुक्ति**––द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् पर्यायान् इति द्रव्य। **समास**––स्वभावेन सिद्ध स्वभावसिद्धं ॥ ९८ ॥

अब इस गाथामे बताया गया है कि न तो किसी द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यका आरम्भ किया जा सकता है और न द्रव्यकी सत्ता उस द्रव्यसे भिन्न होती है ।

तथ्यप्रकाश––(१) समस्त द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है अतः किसी भी द्रव्यकी सत्ता अन्य द्रव्यसे नही होती । (२) समस्त द्रव्य अनादिनिधन होनेसे स्वभावसिद्ध है । (३) अनादिनिधन तत्त्व अन्य साधनकी अपेक्षा नही करता । (४) द्रव्यके द्वारा जो आरम्भ होता है वह पर्याय है । (५) द्रव्य और सत्त्व भिन्न नहीं है फिर सत्त्वके समवायसे द्रव्य सत् होता है इस कल्पनाका परिश्रम करना व्यर्थ है । (६) द्रव्य और सत्तामे प्रादेशिक भेद नही है कि द्रव्यके प्रदेश अलग हो और सत्त्वके प्रदेश अलग हो । (७) द्रव्य और सत्त्वमे मात्र अताद्भाविक भेद है, क्योंकि अतद्भाव समझे बिना भाव व भाववानकी समझ नही बन सकती । (८) पर्यायदृष्टिसे द्रव्य और सत्त्वमे अतद्भावका भेद जगता है । (९) द्रव्यदृष्टिसे द्रव्यके देखने पर अतद्भाव भेद भी विलीन हो जाता है । (१०) द्रव्य स्वयं ही सत् है ऐसा न मानने वाले जीव परसमय कहलाते है ।

सिद्धान्त––(१) द्रव्य अभेद स्वयमेव सत् है ।

दृष्टि––१– भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३) ।

प्रयोग––स्वद्रव्यको अन्य सब द्रव्योसे विविक्त व अपने स्वरूपमात्र निरखना ॥९८॥

अब उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होनेपर भी 'सत् द्रव्य है' यह बतलाते है––[**स्वभावे**] स्वभावमें [**अवस्थित**] अवस्थित [**द्रव्यं**] द्रव्य [**सत्**] 'सत्' है [**हि**] वास्तवमे [**द्रव्यस्य**] द्रव्यका [**यः**] जो [**स्थितिसंभवनाशसंबद्धः**] उत्पादव्ययध्रौव्यसहित [**परिणामः**] परिणाम है [**सः**] वह [**अर्थेषु स्वभावः**] पदार्थोंका स्वभाव है ।

तात्पर्य––द्रव्य स्वभावमे अवस्थित है और उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है ।

टीकार्थ––यहां स्वभावमे नित्य अवस्थित होनेसे सत् यह द्रव्य है । स्वभाव द्रव्यका

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेऽपि सद्द्रव्यं भवतीति विभावयति—

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥९९॥

स्वभावस्थ होनेसे, द्रव्य कहा सत् व द्रव्यपरिणाम भि।
है अर्थका स्वभाव हि, थितिसंभवनाश समवायी ॥ ९९ ॥

सदवस्थितं स्वभावे द्रव्य द्रव्यस्य यो हि परिणामः। अर्थेषु स स्वभावः स्थितिसंभवनाशसंबद्धः ॥ ९९ ॥

इह हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति द्रव्यम्। स्वभावस्तु द्रव्यस्य ध्रौव्योत्पादोच्छेदैक्यात्मकपरिणामः। यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशाः, तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्यापि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः। यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कम्भक्रमः, तथा परिणामानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमः। यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति, तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र पर-

---

नामसंज्ञ—सद्अवट्ठिद सहाव दव्व ज हि परिणाम अत्थ त सहाव ठिदिसभवणाससबद्ध। धातुसंज्ञ—अव ट्ठा गतिनिवृत्तौ स बध बधने। प्रातिपदिक—सत्अवस्थित स्वभाव द्रव्य यत् हि परिणाम अर्थ यत् स्वभाव स्थितिसभवनाशसबद्ध। मूलधातु— अव ष्ठा गतिनिवृत्तौ, स बन्ध बन्धने। उभयपदविवरण—

ध्रौव्य-उत्पाद-विनाशकी एकतास्वरूप परिणाम है। जैसे अखण्डतासे एक होनेपर भी द्रव्यवास्तुके विस्तारक्रममे प्रवर्तमान जो सूक्ष्म अंश है वे प्रदेश हैं, इसी प्रकार समग्रतया एक होनेपर भी द्रव्यवृत्तिके प्रवाहक्रममे प्रवर्तमान जो सूक्ष्म अंश है वे परिणाम हैं। जैसे विस्तारक्रम प्रदेशोके परस्पर व्यतिरेकके कारण है, उसी प्रकार प्रवाहक्रम परिणामोंके परस्पर व्यतिरेकके कारण है। जैसे वे प्रदेश अपने स्थानमें स्वरूपसे उत्पन्न और पूर्वरूपसे विनष्ट होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एकवास्तुतासे अनुत्पन्न-अविनष्ट होनेसे उत्पत्तिसंहारध्रौव्यात्मक अपनेको रखते है, उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसरमें स्वरूपसे उत्पन्न और पूर्वरूपसे विनष्ट होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एकप्रवाहत्वसे अनुत्पन्न-अविनष्ट होनेसे उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक अपनेको रखते हैं। और जैसे वास्तुका जो ही छोटेसे छोटा अंश पूर्वप्रदेशके विनाशस्वरूप है वही अंश उसके बादके प्रदेशका उत्पाद स्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एक वास्तुत्वसे अनुभय स्वरूप है, इसी प्रकार प्रवाहका जो अल्पाति अल्प अंश पूर्वपरिणामके विनाशस्वरूप है वही उसके बादके परिणामके उत्पादस्वरूप है, तथा

स्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयानुत्पन्नमलीनत्वाच्च सम्भूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति । यथैव च य एव हि पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयातदुभयात्मक इति । तथैव य एव हि पूर्वपरिणामोच्छेदात्मकः प्रवाहसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयातदुभयात्मक इति एवमस्य स्वभावत एव विलक्षणायां परिणामपद्धतौ दुर्ललितस्य स्वभावानतिक्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयम् मुक्ताफलदामवत् । यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्य प्रसिद्धिमवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति ॥ ९९ ॥

सत्अवट्ठिद सत्अवस्थित दव्व द्रव्य परिणामो परिणाम सहावो स्वभाव ठिदिसभवणासंबद्धो स्थितिसभवनाशसबद्ध –प्रथमा एकवचन । सहावे स्वभावे–सप्तमी एक० । दव्वस्स द्रव्यस्य–षष्ठी एक० । अत्थेसु अर्थेषु–सप्तमी बहु० । सो स –प्र० एक० । **निरुक्ति**—अव समन्तात् स्थित इति अवस्थित, परिणमन परिणाम, अर्यते गम्यते ज्ञायते य. स अर्थ, स भवन सभव । **समास**—स्थिति संभवः नाशश्चेति स्थितिसभवनाशा तै संबद्ध इति स्थितिसभवनाशसबद्ध ॥९९॥

वही परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एकप्रवाहत्वसे अनुभयस्वरूप है । इस प्रकार स्वभावसे ही त्रिलक्षण परिणामोकी परम्परामे प्रवर्तमान द्रव्य स्वभावका अतिक्रम नही करनेसे सत्त्वको मोतियोके हारकी तरह त्रिलक्षण ही अनुमोदित करना चाहिये । जैसे– लम्बाई ग्रहण की है जिसने ऐसे लटकते हुये मोतियोके हारमे, अपने-अपने स्थानोमे प्रकाशित होते हुये समस्त मोतियोंमे, आगे आगेके स्थानोमे आगे आगेके मोतियोके प्रगट होनेसे पहले-पहलेके मोतियोके प्रगट नही होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिका रचयिता सूत्र अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धिको प्राप्त होता है । इसी प्रकार नित्यवृत्ति ग्रहण की है जिसने ऐसे रचित होते हुये द्रव्य में, अपने अपने अवसरोंमे प्रकट होते हुये समस्त परिणामोमे उत्तरोत्तर अवसरोपर उत्तरोत्तर परिणाम प्रगट होनेसे और पहले-पहलेके परिणाम नही प्रगट होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचने वाला प्रवाह अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धिको प्राप्त होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि द्रव्योके द्वारा द्रव्यान्तरका आरंभ नहीं होता और सत्ता द्रव्यसे पृथक् नही है । अब इस गाथामे बताया गया है कि

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्परविनाभावं दृढयति—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥१००॥

व्ययविहीन नहिं संभव, व्यय भी संभवविहीन नहिं होता।
संभव व्यय नहिं होते, ध्रौव्य तथा अर्थतत्त्व बिना ॥१००॥

न भवो भङ्गविहीनो भङ्गो वा नास्ति सभवविहीनः। उत्पादोऽपि च भङ्गो न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥१००॥

न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः, यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसहाराविति। तथाहि—य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिण्डस्य सहारः, भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनाभासनात्। य एव च मृत्पि-

नामसंज्ञ—ण भव भगविहीण भंग वा ण सभवविहीण उप्पाद वि य भग ण विणा धोव्व अत्थ। धातुसंज्ञ—अस सत्ताया। प्रातिपदिक—न भव भङ्गविहीन भङ्ग वा न संभवविहीन उत्पाद अपि च भङ्ग

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकपना होनेपर भी सत् द्रव्य है।

तथ्यप्रकाश—(१) स्वभावमे नित्य रहने वाला सत् द्रव्य है। (२) उत्पादव्ययध्रौव्य का एकत्वस्वरूप परिणाम द्रव्यका स्वभाव है। (३) द्रव्यके प्रदेश विस्तारक्रममे जाने जाते है। (४) द्रव्यके पर्याय प्रवाहक्रममें जाने जाते है। (५) एक प्रदेशकी सीमाका अन्त दूसरे प्रदेशकी सीमाकी आदि है, द्रव्य वही एक है। (६) एक पर्यायका अन्त दूसरे पर्यायका उत्पाद है, द्रव्य वही एक है। (७) द्रव्य सर्वदा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य सत्तासापेक्ष सतत उत्पादव्ययात्मक है।

दृष्टि—१- सत्तासापेक्ष नित्याशुद्धपर्यायार्थिकनय (६०)।

प्रयोग—विकारपर्यायका व्यय होकर अविकार पर्यायका उत्पाद मुझमें हो सकता है ऐसी प्रेरणा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकताके परिचयसे पाकर इस विकासके उपायमें ध्रुव चैतन्य-स्वभावकी दृष्टि रखना ॥९९॥

अब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके परस्पर अविनाभावको दृढ़ करते हैं—[**भवः**] उत्पाद [**भङ्गविहीनः**] व्ययसे रहित [न] नही होता, [**वा**] और [**भङ्गः**] व्यय [**संभवविहीनः**] उत्पादरहित [**नास्ति**] नही होता; [**उत्पादः**] उत्पाद [**अपि च**] तथा [**भङ्गः**] भंग [**ध्रौव्येण अर्थेन विना**] ध्रौव्य पदार्थके बिना [न] नही होता।

तात्पर्य—वस्तुमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य परस्पर अविनाभावी है।

घटस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्गः, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात् । यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैवमृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात् । यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात् । यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः सहारः अन्या स्थितिरित्यायाति । तथा सति हि केवलं

न विना ध्रौव्य अर्थ । **मूलधातु**—अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—ण न वा वि अपि विणा विना—अव्यय । भवो भवः भंगविहीणो भङ्गविहीनः भगो भग सभवविहीणो सभवविहीन उप्पादो उत्पादः भगो भग.—

टीकार्थ—वास्तवमे उत्पाद, व्ययके बिना नही होता और व्यय, उत्पादके बिना नही होता; उत्पाद और व्यय ध्रौव्यके बिना नही होते, और ध्रौव्य, उत्पाद तथा व्ययके बिना नही होता । जो उत्पाद है वही व्यय है, जो व्यय है वही उत्पाद है; जो उत्पाद और व्यय है वही ध्रौव्य है; जो ध्रौव्य है वही उत्पाद और व्यय है । स्पष्टीकरण—जो कुम्भका उत्पाद है वही मृत्पिण्डका व्यय है; क्योकि भावका भावान्तरके अभाव स्वभावसे अवभासन है । और जो मृत्पिण्डका व्यय है वही कुम्भका उत्पाद है, क्योकि अभावका भावान्तरके भावस्वभावसे अवभासन है; और जो कुंभका उत्पाद और पिंडका व्यय है वही मृत्तिकाकी स्थिति है, क्योकि व्यतिरेकोंके द्वारा ही अन्वय प्रकाशित है । और जो मृत्तिकाकी स्थिति है वही कुम्भका उत्पाद और पिण्डका व्यय है, क्योकि व्यतिरेक अन्वयका अतिक्रम नही करते । और फिर यदि ऐसा ही न माना जाय तो ऐसा सिद्ध होगा कि उत्पाद अन्य है, व्यय अन्य है, ध्रौव्य अन्य है । ऐसा होनेपर केवल उत्पाद खोजने वाले कुम्भकी उत्पत्तिके कारणका अभाव होनेसे उत्पत्ति ही नही होगी; अथवा असत्का ही उत्पाद होगा । और वहाँ, यदि कुम्भकी उत्पत्ति न होगी तो समस्त ही भावोकी उत्पत्ति ही नही होगी । अथवा यदि असत्का उत्पाद हो तो आकाश-पुष्प इत्यादि का भी उत्पाद होगा, और, केवल व्ययारम्भक मृत्पिण्डका, व्ययके कारणका अभाव होनेसे व्यय ही नही होगा; अथवा सत्का ही उच्छेद होगा । वहाँ यदि मृत्पिण्डका व्यय न होगा तो समस्त ही भावोंका व्यय ही न होगा, अथवा यदि सत्का उच्छेद होगा तो चैतन्य इत्यादिका भी उच्छेद हो जायगा, और केवल ध्रौव्य प्राप्त हो रही मृत्तिकाकी, व्यतिरेक सहित स्थितिके अन्वयका अभाव होनेसे, स्थिति ही नही होगी; अथवा क्षणिकको ही नित्यत्व आ जायगा । वहाँ यदि मृत्तिकाका ध्रौव्यत्व न हो तो समस्त ही भावोका ध्रौव्य ही नही होगा, अथवा यदि क्षणिकका नित्यत्व हो तो चित्तके क्षणिक भावोंका भी नित्यत्व हो बैठेगा । इस कारण उत्तर उत्तर व्यतिरेकोंकी उत्पत्तिके साथ, पूर्व पूर्वके व्यतिरेकोके संहारके साथ और अन्वयके अवस्थानके साथ अविनाभाव वाला द्रव्य अबाधित त्रिलक्षणतारूप चिह्न प्रकाशमान है जिसका ऐसा अवश्य सम्मत करना चाहिये ।

सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा। तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत्। असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात्। तथा केवलं संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा। तत्र मृत्पिण्डस्यासंहरणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत्। सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात्। तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा। तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानमस्थानिरेव भवेत्। क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात्। तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम् ॥१००॥

प्रथमा एकवचन। धोव्वेण ध्रौव्येन अत्थेण अर्थेन—तृतीया एक०। **निरुक्ति**—भवन भव., भजन भंगः (भजो आमर्दने)। **समास**—भगेन विहीन भगविहीनः संभवेन विहीन. संभवविहीनः ॥१००॥

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे बताया गया था कि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्व होनेपर भी सत् द्रव्य होता है। अब इस गाथामे उत्पादव्ययध्रौव्योंका परस्पर अविनाभावको दृढ़ किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) नवीन पर्यायका उत्पाद पूर्वपर्यायके विनाश बिना नही हो सकता है। (२) पूर्व पर्यायका विनाश नवीन पर्यायके उत्पाद बिना नहीं हो सकता। (३) उत्पाद और विनाश ध्रौव्य हुए बिना संभव नहीं। (४) ध्रौव्य रहना उत्पाद व विनाशके बिना संभव नही। (५) जो ही नवीन पर्यायका उत्पाद है वही पूर्वपर्यायका विनाश है क्योकि भाव भावान्तरके अभावस्वरूप होता है। (६) जो ही पूर्व पर्यायका विनाश है वही नवीन पर्याय का उत्पाद है, क्योंकि अभाव अन्य भावके सद्भावरूप होता है। (७) जो ही पूर्वोत्तर पर्याय का विनाश उत्पाद है वही ध्रौव्य है, क्योकि इन भिन्नोमें अन्वयका देखना होता है। (८) जो ही ध्रौव्य है वही उत्पाद विनाश है, क्योकि ये भेद अन्वयका अतिक्रम नही करते। (९) द्रव्य उत्पाद व्ययका अविनाभूत होता है।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है।

दृष्टि—१— उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२५)।

प्रयोग—संसारपर्यायका व्यय, सिद्धपर्यायका उत्पाद व अपने स्वभावका ध्रौव्य वाली स्थितिकी प्रतीक्षा करना ॥१००॥

अब उत्पादादिकोंके द्रव्यसे अर्थान्तरपनेको नष्ट करते हैं—[उत्पादस्थितिभङ्गाः]

अथोत्पादादीनां द्रव्यादर्थान्तरत्वं संहरति—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥१०१॥

ध्रौव्य उत्पाद व्यय हैं, पर्यायोंमें व वे भि पर्यायें ।
है नियत द्रव्यमें इस कारण सब द्रव्य ही होता ॥१०१॥

उत्पादस्थितिभंगा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्याया । द्रव्ये हि सन्ति नियतं तस्माद्‌द्रव्यं भवति सर्वम् ॥ १०१ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्याणि हि पर्यायानालम्बन्ते, ते पुनः पर्याया द्रव्यमालम्बन्ते । ततः समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं न पुनर्द्रव्यान्तरम् । द्रव्यं हि तावत्पर्यायैरालम्ब्यते । समुदायिनः समुदायात्मकत्वात् पादपवत् । यथा हि समुदायी पादपः स्कन्धमूलशाखासमुदायात्मकः स्कन्धमूलशाखाभिरालम्बित एव प्रतिभाति, तथा समुदायि द्रव्यं पर्यायसमुदायात्मकं पर्यायैरालम्बितमेव

नामसंज्ञ—उप्पादट्ठिदिभग पज्जय दव्व हि णियद त दव्व सव्व । **धातुसंज्ञ**—विज्ज सत्ताया, हव अस् सत्तायां । **प्रातिपदिक**—उत्पादस्थितिभग पर्याय द्रव्य हि नियत तत् द्रव्य सर्व । **मूलधातु**—विद सत्तायां, अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—उप्पादट्ठिदिभगा उत्पादस्थितिभगाः पज्जाया पर्याया–प्रथमा बहु० । विज्जते विद्यन्ते–वर्तमान अन्य पुरुष बहु० क्रिया । पज्जएसु पर्यायेषु–सप्तमी बहु० । दव्वे द्रव्ये–

उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय [**पर्यायेषु**] पर्यायोमे [**विद्यन्ते**] वर्तते है, [**पर्यायाः**] पर्यायें [**नियतं**] नियमसे [**द्रव्ये हि सन्ति**] द्रव्यमे होती है, [**तस्मात्**] इस कारण [**सर्वं**] वह सब [**द्रव्यं भवति**] द्रव्य है ।

तात्पर्य—उत्पाद व्यय ध्रौव्यके आश्रयभूत अंश द्रव्यमे ही होनेसे वे तीनो द्रव्यरूप हैं ।

टीकार्थ—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वास्तवमे पर्यायोको आलम्बते है, और वे पर्यायें द्रव्यको आलम्बते हैं, इस कारण यह सब एक ही द्रव्य है, द्रव्यातर नही । द्रव्य तो पर्यायोंके द्वारा आलम्बित हो रहा है, क्योंकि वृक्षकी तरह समुदायी समुदायस्वरूप होता है । जैसे समुदायी वृक्ष स्कंध, मूल और शाखाओंका समुदायस्वरूप होनेसे स्कध, मूल और शाखाओंसे आलम्बित ही दिखाई देता है, इसी प्रकार समुदायी द्रव्य पर्यायोका समुदायस्वरूप होनेसे पर्यायों के द्वारा आलम्बित ही भासित होता है । और पर्यायें उत्पादव्ययध्रौव्यके द्वारा आलम्बित हैं, क्योकि उत्पादव्ययध्रौव्य अंशोके धर्म है; बीज, अकुर और वृक्षत्वकी भाति । जैसे अंशी वृक्षके बीज अंकुर-वृक्षत्वस्वरूप तीन अंश, व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यस्वरूप निज धर्मोसे आलम्बित एक साथ ही विदित होते हैं, उसी प्रकार अंशी द्रव्यके नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव

प्रतिभाति । पर्यायास्तूत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्ययध्रौव्याणामंशधर्मत्वात् बीजांकुरपादपत्ववत् । यथा किलांशिनः पादपस्य बीजांकुरपादपत्वलक्षणास्त्रयोऽशा भंगोत्पाद ध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति, तथांशिनो द्रव्यस्योच्छिद्यमानोत्पद्यमानावतिष्ठमानभावलक्षणास्त्रयोऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति । यदि पुनर्भङ्गोत्पादध्रौव्याणि द्रव्यस्यैवेष्यन्ते तदा समग्रमेव विप्लवते । तथाहि भंगे तावत् क्षणभङ्गकटाक्षितानामेकक्षण एव सर्वद्रव्याणां संहरणाद्द्रव्यशून्यतावतार. सदुच्छेदो वा । उत्पादे तु प्रतिसमयोत्पादमुद्रितानां प्रत्येकं द्रव्याणामानन्त्यमसदुत्पादो वा । ध्रौव्ये तु क्रमभुवां भावानामभावाद्द्रव्यस्याभावः क्षणिकत्वं वा । अत उत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यता पर्यायाः पर्यायैश्च द्रव्यमालम्ब्यतां, येन समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं भवति ॥१०१॥

सप्तमी एक० । हि णियद नियत-अव्यय । सति सन्ति-व० अ० ब० क्रिया । तम्हा तस्मात्-पचमी एक० । दव्व द्रव्य सव्व सर्व-प्रथमा एक० । हवदि भवति-व० अ० एक० क्रिया । **निरुक्ति**—स्थान स्थिति, भजनं भंग. । **समास**—उत्पाद. स्थिति· भगश्चेति उत्पादस्थितिभगा ॥१०१॥

और अवस्थित रहने वाला भाव;—ये तीनों अंश व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यस्वरूप निजधर्मोंके द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते है । यदि व्यय, उत्पाद और ध्रौव्यको (अंशोंका न मानकर) द्रव्यका ही माना जाय तो सारी गडबडी हो जायगी । जैसे—(१) सचमुच यदि व्यय द्रव्यका ही माना जाय तो क्षणभंगसे लक्षित समस्त द्रव्योका एक क्षणमे ही व्यय हो जानेसे द्रव्यशून्यता आ जायगी, अथवा सत्का उच्छेद हो जायगा । (२) यदि उत्पाद द्रव्यका माना जाय तो समय-समयपर होने वाले उत्पादके द्वारा चिह्नित द्रव्योको-प्रत्येकको अनन्तता आ जायगी अथवा असत्का उत्पाद हो जायगा; (३) यदि ध्रौव्य द्रव्यको ही माना जाय तो क्रमशः होने वाले भावोके अभावके कारण द्रव्यका अभाव हो जायगा, अथवा क्षणिकत्व आ जायगा । इस कारण उत्पाद व्यय-ध्रौव्यके द्वारा पर्यायें आलम्बित हों, और पर्यायोंके द्वारा द्रव्य आलम्बित हो, क्योकि वह सब भी यह एक ही द्रव्य है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें उत्पादव्ययध्रौव्योंका परस्पर अविनाभाव दृढ़ किया गया था । अब इस गाथामे उत्पादादिकोकी द्रव्यसे अभिन्नता बताई गई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पर्यायोसे आलम्बित है । (२) पर्यायें सब द्रव्यके आश्रय हैं । (३) उत्पादव्ययध्रौव्य समस्त ही यह एक द्रव्य है द्रव्यान्तर (अन्य अन्य द्रव्य) नहीं है । (४) पर्यायसमुदायात्मक द्रव्य पर्यायोसे आलम्बित है, क्योकि समुदायी समुदायात्मक होता है । (५) पर्यायें उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे आलम्बित हैं, क्योंकि उत्पाद व्यय

अथोत्पादादीनां क्षणभेदमुदस्य द्रव्यत्वं द्योतयति—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०२॥

संभवथितिव्ययसंज्ञित, अर्थोंसे रहे द्रव्य समवायो ।
सो एक ही समयमें, तत्त्रितयात्मक हि द्रव्य हुआ ॥१०२॥

समवेतं खलु द्रव्य सभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थै. । एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्य खलु तत्त्रितयम् ॥१०२॥

इह हि यो नाम वस्तुनो जन्मक्षणः स जन्मनैव व्याप्तत्वात् स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न भवति । यश्च स्थितिक्षणः स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाशक्षणश्च न भवति ।

नामसंज्ञ—समवेद खलु दव्व सभवठिदिणाससण्णिदट्ठ एक्क च एव समय त दव्व खु तत्तिदय । **धातुसंज्ञ**—सम् अव इ गतौ, स ज्ञा अवबोधने । **प्रातिपदिक**—समवेत खलु द्रव्य सभवस्थितिनाशसज्ञितार्थ

**ध्रौव्य अंश धर्मरूप है । (६) उत्पाद पर्यायोमें है, यदि उत्पाद द्रव्यका ही माना जावे तो प्रत्येक उत्पाद द्रव्य बन जायगा तथा असत्का उत्पाद हो जायगा । (७) व्यय पर्यायाश्रय है, यदि व्यय द्रव्यका माना जावे तो सब शून्य हो जायगा । (८) ध्रौव्य पर्यायोके आश्रय है, यदि ध्रौव्य द्रव्यका ही माना जावे तो क्रमभावी पर्यायोका अभाव होनेसे द्रव्यका भी अभाव हो जायगा । (९) उत्पाद व्यय ध्रौव्योके द्वारा पर्यायें आलम्बित है । (१०) पर्यायोके द्वारा द्रव्य आलम्बित है । (११) उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायें सभी यह एक द्रव्य ही है ।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है । (२) उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् अखण्ड द्रव्य है ।

दृष्टि—१- उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२५) । २- भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३) ।

प्रयोग—उत्पाद व्यय ध्रौव्य अंश धर्मोसे आत्मद्रव्यको पहिचानकर सर्व भेद कल्पनायें तजकर अपनेको चैतन्यस्वभावमात्र अनुभवना ॥१०१॥

अब उत्पादादिका क्षणभेद निराकृत करके उनका द्रव्यपना द्योतित करते है—**[द्रव्यं]** द्रव्य **[एकस्मिन् च एव समये]** एक ही समयमे **[संभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः]** उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थोंके साथ **[खलु]** निश्चयतः **[समवेतं]** एकमेक है; **[तस्मात्]** इसलिये **[तत् त्रितयं]** यह तीनोका समुदाय **[खलु]** वास्तवमे **[द्रव्यं]** द्रव्य है ।

तात्पर्य—द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यमय है, अतः वह त्रितय द्रव्यरूप ही है ।

टीकार्थ— प्रश्न—विश्वमें वस्तुका जो जन्मक्षण है वह जन्मसे ही व्याप्त होनेसे

यश्च नाशक्षण: स तूत्पद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षण: स्थितिक्षणश्च न भवति । इत्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति । अवतरत्येवं यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते । तत्तु नाभ्युपगतम् । पर्यायाणामेवोत्पादादय: कुतः क्षणभेद: । तथाहि—यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य

एक च एव समय तत् द्रव्य खलु तत्त्रितय । **मूलधातु**—सम् अव इण् गतौ, स ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—समवेद समवेतं दव्व द्रव्य तत्तिदय तत्त्रितय-प्रथमा एक० । खु खलु च एव-अव्यय । सभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं सभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः-तृतीया बहु० । एक्कम्हि एकस्मिन् समये-सप्तमी एक० ।

स्थितिक्षण और नाशक्षण नहीं है, वस्तुका जो स्थितिक्षण है वह वास्तवमे दोनोंके अन्तराल में अर्थात् उत्पादक्षण और नाशक्षणके बीच दृढ़तया रहता है, इस कारण ध्रौव्य जन्मक्षण और नाशक्षण नहीं है; और जो नाशक्षण है वह, उत्पन्न होकर और स्थिर रहकर नष्ट हो रहे वस्तुका जन्मक्षण और स्थितिक्षण नहीं है; इस प्रकार उत्पादादिकोका तर्कपूर्वक विचार किया जा रहा क्षणभेद हृदयभूमिमे अवतरित होता है ? उत्तर——उत्पादादिका क्षणभेद चित्त मे भी उतरता है जब यह माना जाय कि 'द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही ध्रुव रहता है और स्वयं ही नाशको प्राप्त होता है ।' किन्तु ऐसा तो माना नहीं गया है; पर्यायोंके ही उत्पादादि है, फिर वहां क्षणभेद कहांसे हो सकता है ? स्पष्टीकरण—जैसे कुम्हार, दण्ड, चक्र और चीवरसे आरोपित किये जाने वाले संस्कारकी उपस्थितिमें जो कलशका जन्मक्षण होता है वही मृत्पिण्डका नाशक्षण होता है, और वही दोनों कोटियोमे रहने वाला मृत्तिकात्व का स्थितिक्षण होता है; इसी प्रकार अन्तरंग और बहिरंग साधनोसे आरोपित किये जाने वाले संस्कारोंकी उपस्थितिमें, जो उत्तरपर्यायका जन्मक्षण होता है वही पूर्व पर्यायका नाशक्षण होता है, और वही दोनो कोटियोंमे रहने वाले द्रव्यत्वका स्थितिक्षण होता है । और जैसे कलशमे, मृत्तिकापिण्डमें और मृत्तिकात्वमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एक एकमें वर्तते हुये भी त्रिस्वभावस्पर्शी मृत्तिकामे वे सम्पूर्णतया एक समयमें ही देखे जाते हैं; इसी प्रकार उत्तर पर्यायमें, पूर्व पर्यायमे और द्रव्यत्वमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एक एकमें प्रवर्तमान होनेपर भी त्रिस्वभावस्पर्शी द्रव्यमें वे सम्पूर्णतया एक समयमे ही देखे जाते है । और जैसे कलश, मृत्तिकापिण्ड तथा मृत्तिकात्वमें प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिट्टी ही हैं, अन्य वस्तु नहीं; उसी प्रकार उत्तर पर्याय, पूर्व पर्याय और द्रव्यत्वमे प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें उत्पाद आदिकोंकी द्रव्यसे भिन्नताका निराकरण

जन्मक्षण: स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षण: स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षण: । तथा अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षण: स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षण: स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षण: । यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकायां सामस्त्येनैकसमयएवावलोक्यन्ते, तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनि द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते । यथैव च वर्धमानपिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं, तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यमेव न खल्वर्थान्तरम् ।। १०२ ।।

तम्हा तस्मात्—पचमी एक० । निरुक्ति—सम् अव ऐत् इति समवेतवान् कर्मवाच्ये समवेत । समास—सभवः स्थिति· नाशश्च इति सभवस्थितिनाशा तै. सज्ञिता. सभवस्थितिनाशसज्ञिता, स्थितिसभवनाशसज्ञिताश्च ते अर्था· इति सभवस्थितिनाशसज्ञितार्था ।। १०२ ।।

किया गया था । अब इस गाथामे उत्पाद आदिकोका क्षणभेद निराकृत करके द्रव्यपना प्रकट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) वस्तुका जन्मक्षण जुदा है, नाशक्षण जुदा है व स्थितिक्षण जुदा है ऐसी शंका नही करना चाहिये, क्योकि जन्म नाश ध्रौव्य द्रव्यका नही देखा जाता, किन्तु पर्यायोमें देखा जाता है । (२) अन्तरङ्ग बहिरङ्ग साधनपर हुए संस्कारको सन्निधिमे जो ही उत्तरपर्यायका उत्तरक्षण है वही पूर्व पर्यायका नाश क्षण है और वही दोनो कोटिमे अधिरूढ द्रव्यपनेका स्थितिक्षण है । (३) द्रव्यमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक समयमे ही देखे जाते हैं । (४) उत्तरपर्यायवर्ती उत्पाद पूर्वपर्यायवर्ती विनाश द्रव्यत्ववर्ती ध्रौव्य एक द्रव्य ही है अन्य अन्य नही ।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे त्रिलक्षण सत्तामय है ।

दृष्टि—१- उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२५) ।

प्रयोग—मिथ्यात्व पर्यायका व्यय होता हुआ मुझमें सम्यक्त्व पर्याय होगा, अज्ञान पर्यायका व्यय होता हुआ मुझमे केवलज्ञान पर्याय होगा, उस सब विकासका उपाय सहज ज्ञानस्वभाव अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्वका अनुभवन है यह तथ्य जानकर निज सहज ज्ञानदर्शनसामान्यात्मक चैतन्यस्वभावमें आत्मत्व अनुभवना ।।१०२।।

अब द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको अनेक द्रव्यपर्यायके द्वारा विचारते हैं—[द्रव्यस्य] द्रव्यका [अन्यः पर्यायः] अन्य पर्याय तो [प्रादुर्भवति] उत्पन्न होता है [च] और [अन्यः

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्यनेकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ १०३ ॥

द्रव्यकी अन्य परिणति, उपजे अरु अन्य परिणती विनशे।
द्रव्य वहीका वह है, वह नहिं उत्पन्न नष्ट हुआ ॥ १०३ ॥

प्रादुर्भवति चान्यः पर्यायः पर्यायो व्येति अन्य । द्रव्यस्य तदपि द्रव्यं नैव प्रणष्टं नोत्पन्नम् ॥ १०३ ॥

इह हि यथा किलैकस्त्र्यणुकः समानजातीयोऽनेकद्रव्यपर्यायोविनश्यत्यन्यश्चतुरणुकः प्रजायते, ते तु त्रयश्चत्वारो वा पुद्गला अविनष्टानुत्पन्ना एवावतिष्ठन्ते । तथा सर्वेऽपि समान-

नामसंज्ञ—य अण्ण पज्जाअ पज्जअ अण्ण दव्व त पि दव्व ण एव पणट्ठ ण उप्पण्ण । **धातुसंज्ञ**—पा आ दुर् भव सत्तायां, व्वय गतौ । **प्रातिपदिक**—च अन्य पर्याय पर्यय अन्य द्रव्य अपि तत् द्रव्य न एव प्रनष्ट न उत्पन्न । **मूलधातु**—व्यय गतौ । **उभयपदविवरण**—पाडुब्भवति प्रादुर्भवति वयदि व्येति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । य च पि अपि ण न–अव्यय । अण्णो अन्यः पज्जाओ पर्यायः पज्जओ पर्ययः

पर्यायः] कोई अन्य पर्याय [व्येति] नष्ट होता है; [तदपि] फिर भी [द्रव्यं] द्रव्य [प्रणष्टं न एव] न तो नष्ट होता है, [उत्पन्नं न] और न उत्पन्न होता है ।

तात्पर्य—द्रव्यके पर्याय उत्पन्न व नष्ट होते हैं, द्रव्य उत्पन्न, नष्ट नही होता ।

टीकार्थ—विश्वमें जैसे एक त्रि-अणुक समानजातीय अनेक द्रव्यपर्याय विनष्ट होती है और दूसरा चतुरणुक (समानजातीय अनेक द्रव्यपर्याय) उत्पन्न होता है; परन्तु वे तीन या चार पुद्गल परमाणु तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते है । इसी प्रकार सभी समानजातीय द्रव्यपर्याय विनष्ट होते है और उत्पन्न होते है, किन्तु समानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते है । और, जैसे एक मनुष्यत्वस्वरूप असमानजातीय द्रव्य-पर्याय विनष्ट होता है और दूसरा देवत्वस्वरूप (असमानजातीय द्रव्यपर्याय) उत्पन्न होता है, परन्तु वह जीव और पुद्गल तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहता है, इसी प्रकार सभी असमानजातीय द्रव्य-पर्याय विनष्ट हो जाती हैं और उत्पन्न होती हैं, परन्तु असमानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं । इस प्रकार स्वद्रव्यत्वसे ध्रुव और द्रव्यपर्यायों द्वारा उत्पाद-व्ययरूप हुए द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें उत्पादादिका क्षणभेद निराकृत करके द्रव्यत्व प्रकट किया गया था । अब इस गाथामें अनेकद्रव्यपर्यायरूपसे द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्योंका विचार किया गया है ।

जातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च । समानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवा-वतिष्ठन्ते । यथा चैको मनुष्यत्वलक्षणोऽसमानजातीयो द्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यस्त्रिदशत्वलक्षणः प्रजायते तौ च जीवपुद्गलौ अविनष्टानुत्पन्नावेवावतिष्ठेते, तथा सर्वेऽप्यसमानजातीया द्रव्य-पर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च असमानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । एवमात्मना ध्रुवाणि द्रव्यपर्यायद्वारेणोत्पादव्ययीभूतान्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्याणि भवन्ति ।। १०३ ।।

दव्व द्रव्य–प्रथमा एकवचन । दव्वस्स द्रव्यस्य–षष्ठी एक० । त तत्–प्र० एक० । पणट्ठ प्रणष्ट उप्पण्ण उत्पन्नं–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—परि अयन पर्याय , प्रकर्षेण नष्ट प्रणष्ट ।। १०३ ।।

तथ्यप्रकाश—(१) तीन अणु वाला आदि समानजातीय अनेक द्रव्य पर्याय नष्ट होता है, चार अणु वाला आदि समानजातीय पर्याय उत्पन्न होता है वहा वे अणु द्रव्य तो न नष्ट होते न उत्पन्न होते, अवस्थित ही हैं । (२) मनुष्यरूप आदि असमानजातीय द्रव्यपर्याय नष्ट होता है, देवरूप आदि असमानजातीय द्रव्यपर्याय उत्पन्न होता है, वहा वे जीव और पुद्गल द्रव्य न नष्ट होते, न उत्पन्न होते, अवस्थित ही है । (३) अपने द्रव्यपनेसे ध्रुव और द्रव्य-पर्यायसे उत्पाद व्ययरूप द्रव्य ही उत्पादव्ययध्रौव्य हैं ।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य सदा अवस्थित रहकर द्रव्यपर्यायरूपसे भी उत्पादव्यय करता है ।

दृष्टि—१– सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (३८) ।

प्रयोग—अनेक द्रव्यपर्यायरूपसे अपना उत्पाद होना कलक है यह जानकर उस कलंक से हटनेके लिये अकलङ्क आत्मस्वभावमें आत्मत्व अनुभवना ।। १०३ ।।

अब द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्योंको एक द्रव्य पर्यायके द्वारा विचारते हैं—**[सदविशिष्टं]** स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न **[द्रव्यं स्वयं]** द्रव्य स्वय ही **[गुणतः गुणान्तरं]** गुणसे गुणान्तर रूप **[परिणमते]** परिणमित होता है, **[तस्मात् च पुनः]** इस कारणसे ही तब **[गुणपर्यायाः]** गुणपर्यायें **[द्रव्यम् एव इति भणिताः]** द्रव्य ही है इस प्रकार कहे गये है ।

तात्पर्य—अपने स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न द्रव्य गुणसे गुणान्तररूप परिणमता है सो वे गुणपर्यायें द्रव्य ही हैं ।

टीकार्थ—गुणपर्यायें एक द्रव्यकी ही पर्यायें है, क्योकि गुणपर्यायोंको एकद्रव्यत्व है, उनका एकद्रव्यत्व आम्रफलकी तरह है । जैसे—स्वय ही हरित भावसे पीतभावरूप परिण-मित होता हुआ, प्रथम और पश्चात् प्रवर्तमान हरितभाव और पीतभावके पूर्वोत्तर गुणपर्यायों

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥१०४॥

द्रव्य स्वयं परिणमता, गुणसे गुणांतर तदपि सत् वह ही ।
इससे गुण पर्यायें, सकल उसी द्रव्यरूप कही ॥ १०४ ॥

परिणमति स्वयं द्रव्यं गुणतश्च गुणान्तरं सदविशिष्टम् । तस्माद् गुणपर्याया भणिता पुनः द्रव्यमेवेति ।१०४।

एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः, गुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वात् । एकद्रव्यत्वं हि तेषां सहकारफलवत् । यथा किल सहकारफलं स्वयमेव हरितभावात् पाण्डुभावं परिणमत्पूर्वोत्तरप्रवृत्तहरितपाण्डुभावाभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं हरितपाण्डुभावाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव वस्तु न वस्त्वन्तरं, तथा द्रव्यं स्वयमेव पूर्वावस्थावस्थितगुणादुत्तरावस्थावस्थितगुणं परिणमत्पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां ताभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां सममविशिष्टसत्ता-

---

नामसंज्ञ—सय दव्व गुणदोय गुणंतर सदवसिट्ठ त गुणपज्जाय भणिय पुण दव्व एव त्ति । **धातुसंज्ञ**—परि णम प्रह्वत्वे, भण कथने । **प्रातिपदिक**—स्वय द्रव्य गुणतः गुणान्तर सदवशिष्ट तत् गुणपर्याय भणित पुनर् द्रव्य एव इति । **मूलधातु**—परि णम प्रह्वत्वे, भण शब्दार्थे । **उभयपदविवरण**—परिणमदि परिणमति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । एव त्ति इति सय स्वय य च पुण पुनः–अव्यय । दव्व द्रव्य

द्वारा अनुभव किया है अपनी सत्ताको जिसने ऐसा ऐसा आम्रफल हरितभाव और पीतभावके साथ अविशिष्ट सत्ता वाला होनेसे एक ही वस्तु है, अन्य वस्तु नहीं; इसी प्रकार स्वयं ही पूर्व अवस्थामें अवस्थित गुणसे उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणरूप परिणमित होता हुआ, पूर्व और उत्तर अवस्थामे अवस्थित उन गुणोके द्वारा अपनी सत्ताका अनुभव किया है जिसने ऐसा द्रव्य पूर्व और उत्तर अवस्थामे अवस्थित गुणोके साथ अवशिष्ट सत्ता वाला होनेसे एक ही द्रव्य है द्रव्यान्तर नही । और, जैसे पीतभावसे उत्पन्न हो रहा, हरितभावसे नष्ट हो रहा, और आम्रफलरूपसे स्थिर हो रहा आम्रफल एक वस्तुकी पर्यायके द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, उसी प्रकार उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणसे उत्पन्न, पूर्व अवस्थामे अवस्थित गुणसे नष्ट और द्रव्यत्व गुणसे स्थिर होनेसे द्रव्य एक द्रव्यपर्यायके द्वारा उत्पाद व्यय-ध्रौव्य है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें अनेकद्रव्यपर्यायद्वारसे द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्यों का विचार किया था । अब इस गाथामें एक द्रव्यपर्यायद्वारसे द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्योंका विचार किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) गुणपर्यायें एक द्रव्यकी पर्याये हैं, क्योकि गुणपर्यायें एक द्रव्यके रूप हैं । (२) द्रव्य स्वयं अकेला ही पूर्वगुणपर्यायसे हटकर उत्तरगुणपर्यायरूप परिणमता हुआ

कतयैकमेव द्रव्यं न द्रव्यान्तरम् । यथैव चोत्पद्यमानं पाण्डुभावेन, व्ययमानं हरितभावेनावतिष्ठमानं सहकारफलत्वेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकवस्तुपर्यायद्वारेण सहकारफलं तथैवोत्पद्यमानमुत्तरावस्थावस्थितगुणेन, व्ययमानं पूर्वावस्थावस्थितगुणेनावतिष्ठमानं द्रव्यत्वगुणेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण द्रव्यं भवति ॥ १०४ ॥

सदवसिट्ठं सदवशिष्टं–प्रथमा एक० । गुणदो गुणत.–पचम्यर्थे अव्यय । गुणतरं गुणान्तरं–अव्यय क्रियाविशेषण । तम्हा तस्मात्–पचमी एक० । गुणपज्जाया गुणपर्याया –प्रथमा बहु० । भणिया भणिताः–प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—गुणयनं गुण , सु अयन स्वय । **समास**—सता अविशिष्टं सदवशिष्टं, गुणाश्च पर्यायाश्चेति गुणपर्यायाः ॥ १०४ ॥

के साथ एक ही सत्तारूपसे रहता हुआ वही द्रव्य है अन्य द्रव्य नही है । (३) विकृत गुणपर्याय यद्यपि कर्मविपाकोपाधिका निमित्त पाकर ही होते है तथापि निमित्त व उपादान दोनों में नहीं होते, किन्तु उपादानमे अकेलेमे ही अकेलेके परिणमनसे होते है । (४) पूर्वावस्थामें अवस्थित गुणसे नष्ट, उत्तरावस्थामे अवस्थित गुणसे उत्पन्न व द्रव्यत्व गुणसे एकरूप रहने वाला द्रव्य ही तो एकद्रव्यपर्यायद्वारसे उत्पादव्ययध्रौव्य कहलाता है ।

सिद्धान्त—(१) एक ही समयमे गुणोके उत्पादव्ययध्रौव्यरूप द्रव्य ज्ञात होता है ।

दृष्टि—१– सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (३८) ।

प्रयोग—मैं आत्मा खुदकी भावनाके अनुसार खुद परिणमता हूँ ऐसा जानकर निरापद स्वभावपरिणमनके लिये निरापद अविकार सहज ज्ञानस्वभावमे आत्मत्वको अनुभवना ॥ १०४ ॥

अब सत्ता और द्रव्यकी अनर्थान्तरत्वमे युक्ति उपस्थित करते है—[**यदि**] यदि [**द्रव्यं**] द्रव्य [**सत् न भवति**] स्वरूपसे ही सत् न हो तो [**ध्रुवं असत् भवति**] निश्चयसे यह असत् होगा; [**तत् कथं द्रव्यं**] जो असत् होगा वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? [**वा पुनः**] अथवा फिर वह द्रव्य [**अन्यत् भवति**] सत्तासे अलग होगा । (चूकि ये दोनों बातें नही हो सकती) [**तस्मात्**] इस कारण [**द्रव्यं स्वयं**] द्रव्य स्वयं ही [**सत्ता**] सत्तास्वरूप है ।

तात्पर्य—द्रव्य स्वयं सत्तामय है ।

टीकार्थ—यदि द्रव्य स्वरूपसे ही सत् न हो तो दूसरी गति यह होगी कि वह या तो असत् होगा, अथवा सत्तासे पृथक् होगा । वहाँ, यदि वह असत् होगा तो, ध्रौव्यके असंभव होनेसे स्वयं स्थिर न होता हुआ द्रव्यका ही लोप हो जायगा, और यदि सत्तासे पृथक् होगा तो सत्ताके बिना भी स्वयं रहता हुआ, इतने ही मात्र प्रयोजन वाली सत्ताका लोप कर देगा।

किन्तु स्वरूपसे ही सत् सत् होता हुआ ध्रौव्यके सद्भावके कारण अपने स्वरूपको

अथ सत्ताद्रव्ययोरनर्थान्तरत्वे युक्तिमुपन्यस्यति—

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥१०५॥

यदि द्रव्य सत् नहीं हो फिर असत् हुआ हि द्रव्य कैसे हो।
सत्त्वसे पृथक् सत् क्या, अतः स्वयं द्रव्य है सत्ता ॥१०५॥

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम्। भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥१०५॥

यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितीयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा भवति। तत्रासद्भवद्ध्रौव्यस्यासंभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमेवास्तं गच्छेत्। सत्तातः पृथग्भवत् सत्तामन्तरेणात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामेवास्तं गमयेत्। स्वरूपतस्तु सद्भवद्ध्रौव्यस्य संभवादात्मानं धारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत्। सत्तातोऽपृथग्भूत्वा चात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत्। ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथक्त्वेनान्यत्वात् ॥१०५॥

नामसंज्ञ—ण जदि सत् दव्व असत् धुव्व त कह दव्व पुणो अण्ण वा त दव्व सय सत्ता। **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—न यदि सत् द्रव्य असत् ध्रुव कथ तत् द्रव्य पुनर् अन्यत् वा तत् द्रव्य स्वय सत्ता। **मूलधातु**—भू सत्तायां। **उभयपदविवरण**—ण न जदि यदि कहं कथं पुणो पुनः वा सयं स्वयं—अव्यय। हवदि भवति—वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। सत् दव्व द्रव्य असत् धुव ध्रुव अण्ण अन्यत् सत्ता—प्रथमा एकवचन। तम्हा तस्मात्—पचमी एकवचन। **निरुक्ति**—अस्तीति सत्, ध्रुवन ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः ध्रौव्यम् ॥१०५॥

धारता हुआ द्रव्य इतने ही मात्र प्रयोजन वाली सत्ताको सिद्ध करता है। इस कारण द्रव्य स्वयं ही सत्त्व स्वरूप है ऐसा स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि भाव और भाववान्का अपृथक् पना होनेसे अनन्यत्व है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें एकद्रव्यपर्यायद्वारसे द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्यों का विचार किया था। अब इस गाथामे सत्ता और द्रव्यमे अभिन्नपना है यह युक्तिपूर्वक बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य स्वरूपसे ही सत् है। (२) यदि द्रव्य स्वरूपसे ही सत् नहो याने असत् है तो असत्में ध्रौव्य असंभव ही है सो द्रव्य ही अस्त हो गया, कुछ न रहा। (३) यदि द्रव्य स्वरूपसे ही सत् नहीं याने सत्तासे पृथक् है तो सत्तासे अलग रहकर द्रव्य रह रहा है तो अब सत्ताकी जरूरत ही नहीं रही सो सत्ता ही अस्त हो गई कुछ न रही। (४) द्रव्य स्वरूपसे ही सत् है सो द्रव्यमें ध्रौव्य संभव है और द्रव्य वास्तवमें द्रव्य है।

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति—

पविभत्तपदेसत्तं पुधुत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशपने, को बतलाया पृथक्त्व शासनने ।
अन्यत्व अतद्भाव हि, न तद्भव एक कैसे हो ॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्वमिति शासन हि वीरस्य । अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम् ॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् । तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न संभाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत् । तथाहि—यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया गुणस्य प्रदेशास्त एव

नामसंज्ञ—पविभत्तपदेसत्त पुधत्त इति सासण हि वीर अण्णत्त अतब्भाव ण तब्भव कध एग । **धातुसंज्ञ**—सास शासने, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—प्रविभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व इति शासन वीर अन्यत्व

(५) द्रव्य सत्तासे अभिन्न है सो उसमे सत्ता प्रकट है । (६) भाव व भाववान अपृथक् होनेसे द्रव्य स्वयं ही सत्स्वरूपसे जाना जाता है ।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य स्वयं ही स्वरूपतः सत् है ।

दृष्टि—१- भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३) ।

प्रयोग—स्वयंको परिपूर्ण चैतन्यात्मक सत् निरखकर स्वयको स्वयंमें अनुभवना ॥१०५॥

अब पृथक्त्वका और अन्यत्वका लक्षण उन्मुद्रित करते है—[**प्रविभक्तप्रदेशत्वं**] भिन्न भिन्न प्रदेशपना [**पृथक्त्वं**] पृथक्त्व है, [**इति हि**] ऐसा ही [**वीरस्य शासनं**] वीरका उपदेश है । [**अतद्भावः**] उसरूप न होना [**अन्यत्व**] अन्यत्व है । [**न तत् भवत्**] जो उसरूप न हो वह [**कथं एकम्**] एक कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य—भिन्न भिन्न प्रदेश होनेसे तो अन्यत्व जाना जाता है और तद्भाव न होनेसे पन्यत्व जाना जाता है ।

टीकार्थ—भिन्न प्रदेशपना पृथक्त्वका लक्षण है । वह तो सत्ता और द्रव्यमे संभव नहीं है, क्योंकि गुण और गुणीमे विभक्तप्रदेशत्वका अभाव होता है—शुक्लत्व और वस्त्रकी तरह । स्पष्टीकरण—जैसे—जो ही शुक्लत्व गुणके प्रदेश है वे ही वस्त्र गुणीके है, इस कारण उनमें प्रदेशभेद नही है; इसी प्रकार जो सत्तागुणके प्रदेश है वे ही द्रव्य गुणीके है, इस कारण उनमें प्रदेशभेद नहीं है । ऐसा होनेपर भी उनमें अर्थात् सत्ता और द्रव्यमे अन्यत्व है, क्योंकि उनमें अन्यत्वके लक्षणका सद्भाव है । अतद्भाव अन्यत्वका लक्षण है । वह तो सत्ता और

द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः। एवमपि तयोरन्यत्वमस्तितल्लक्षणसद्भावात्। अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव। तथाहि—यथा यः किलैकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, न खलु स एकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः। तथा या किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति

अतद्भाव न तद्भवत् कथ एक। **मूलधातु**—शासु-अनुशिष्टौ अदादि, पृथ क्षेपणे, भू सत्तायां। **उभयपदविवरण**—पविभत्तपदेसत्तं प्रविभक्तप्रदेशत्व पुधत्त पृथक्त्व सासण शासन अण्णत्त अन्यत्व अतब्भावो अतद्भाव तब्भवं तद्भवत् एग एक-प्रथमा एकवचन। वीरस्स वीरस्य-षष्ठी एकवचन। इदि इति हि ण न कध कथ-अव्यय। होदि भवति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। **निरुक्ति**—प्रकर्षेण देशनं प्रदेशः,

द्रव्यके है ही, क्योंकि गुण और गुणीके तद्भावका अभाव होता है;—शुक्लत्व और वस्त्रकी तरह। वह इस प्रकार है कि जैसे एक चक्षुइन्द्रियके विषयमे आने वाला और अन्य सब इन्द्रियोंके समूहको गोचर न होने वाला शुक्लत्व गुण है वह समस्त इन्द्रियसमूहको गोचर होने वाला वस्त्र नही है; और जो समस्त इन्द्रियसमूहको गोचर होने वाला वस्त्र है वह एक चक्षुइन्द्रियके विषयमें आने वाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियोके समूहको गोचर न होने वाला शुक्लत्व गुण नही है, इस कारण उनके तद्भावका अभाव है; इसी प्रकार, किसीके आश्रय रहने वाली, निर्गुण, एक गुणरूप बनी हुई, विशेषणभूत विधायक और वृत्तिस्वरूप जो सत्ता है वह किसीके आश्रयके बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणोसे निर्मित, विशेष्यभूत, विधीयमान और वृत्तिमान स्वरूप द्रव्य नही है, तथा जो किसीके आश्रयके बिना रहने वाला, गुण वाला, अनेक गुणोंसे निर्मित, विशेष्यभूत, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है वह किसीके आश्रित रहने वाली, निर्गुण, एक गुणसे निर्मित, विशेषणभूत, विधायक और वृत्तिस्वरूप सत्ता नही है, इसलिये उनके तद्भावका अभाव है। ऐसा होनेसे ही, सत्ता और द्रव्य के कथंचित् अभिन्नपदार्थत्व होनेपर भी उनके सर्वथा एकत्व होगा ऐसी शंका नही करनी चाहिये। क्योंकि तद्भाव एकत्वका लक्षण है। जो उसरूप होता हुआ ज्ञात नही होता वह सर्वथा एक कैसे हो सकता है? नही हो सकता। परन्तु गुण-गुणीरूपसे अनेक ही है, यह अर्थ है।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें सत्ता और द्रव्यमें अनर्थान्तरता दिखाई गई थी।

यत्तु किलानाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति, न खलु साश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः। अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्। यत्तु न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेकं स्यात्। अपि तु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थः ॥१०६॥

शास्यते अनेनेति शासन, विशिष्ठा ई लक्ष्मी राति ददाति इति वीर तस्य वीरस्य, अन्यस्य भाव अन्यत्व, तस्य भावः तद्भावः न तद्भाव. अतद्भाव., तद्भवतीति तद्भवत्। **समास**--प्रविभक्त च तत् प्रदेशत्व चेति प्रविभक्तप्रदेशत्व ॥ १०६ ॥

अब इस गाथामे उक्त तथ्यको समझनेके लिये पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण प्रकट किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) जिनमे पृथक्पना होता है उनके प्रदेश एक दूसरेसे भिन्न होते हैं। (२) सत्ता और द्रव्यके भिन्न भिन्न प्रदेश नही है, क्योकि गुण और गुणीके पृथक् प्रदेशीपन नही होता है। (३) जो ही सत्ता गुणके प्रदेश है वे ही द्रव्य गुणीके प्रदेश है, अतः उन दोनोमें प्रदेशविभाग नही है। (४) सत्ता और द्रव्यमे पृथक्पना नही है, तो भी लक्षणकी दृष्टिसे अन्यपना है। (५) अतद्भाव (कथंचित् उसरूप नही) होना अन्यत्वका लक्षण है। (६) सत्ता गुण है, द्रव्य गुणी है। (७) सत्ता गुणका लक्षण द्रव्यके आश्रय रहना, गुणरहित होना, एक गुणमात्र होना, एक विशेषतारूप होना, उत्पादव्ययध्रौव्यैकलक्षण वृत्तिरूप होना है। (८) द्रव्यका लक्षण किसीके आश्रय नही रहना, गुणवान होना, अनेकगुणसमुदित होना, विशेष्य (जिसकी अनेक विशेषतायें बने) होना, उत्पादव्ययध्रौव्यैकलक्षणसत्तामय होना है। (९) लक्षणभेदसे द्रव्य और सत्तामे अतद्भाव है। (१०) सत्ता और द्रव्यमें अभिन्नता होनेपर भी सर्वथा एकत्व नहीं, उनमे अतद्भाव है। (११) सर्वथा एकत्वका लक्षण तद्भाव है। (१२) सत्ता और द्रव्यमें गुणगुणिरूपसे अन्यपना है, प्रदेशभेद न होनेसे अनन्यपना है।

सिद्धान्त—(१) सत्ता और द्रव्यमें प्रदेशभेद न होनेसे द्रव्य सत्त्वमय है। (२) सत्ता और द्रव्यमें लक्षणभेद होनेसे उनमें अतद्भाव है।

दृष्टि—१— उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२५)। २— गुणगुणिभेदक शुद्ध सद्भूत व्यवहार (६९ब)।

प्रयोग—गुण गुणीकी भेदकल्पना छोडकर अपनेको स्वभावमात्र अनुभवना ॥१०६॥

अब अतद्भावको उदाहरणपूर्वक प्रसिद्ध करते हैं—[सत् द्रव्यं] 'सत्द्रव्य' [च सत्

अथातद्भावमुदाहृत्य प्रथयति—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१०७॥

सत् द्रव्य व सत् गुण है, सत् है पर्याय व्यक्त यह वर्णन।
अन्योन्य अभाव हि को, तदभाव व अतद्भाव कहा ॥१०७॥

सद्द्रव्य सच्च गुणः सच्चैव च पर्याय इति विस्तारः। यः खलु तस्याभाव स तदभावोऽतद्भावः ॥१०७॥

यथा खल्वेकं मुक्ताफलस्रग्दाम, हार इति सूत्रमिति मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकं द्रव्य द्रव्यमिति गुण इति पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्य मुक्ताफलस्रग्दाम्नः शुक्लो गुणः शुक्लो हारः शुक्ल सूत्रं शुक्लं मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकस्य द्रव्यस्य सत्तागुणः सद्द्रव्यं सद्गुणः सत्पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि

नामसंज्ञ—सत् दव्व सत् च गुण सत् च एव य पज्जअ त्ति वित्थार ज खलु त अभाव त तदभाव अतब्भाव। **धातुसंज्ञ**—परि इ गतौ, वि त्थर आच्छादने उपसर्गादर्थ परिवर्तनं। **प्रातिपदिक**—सत् द्रव्य

गुणः] और 'सत्गुण' [च] और [सत् एव पर्यायः] 'सत् ही पर्याय' [इति] इस प्रकार [विस्तारः] सत्तागुणका विस्तार है। [यः खलु] और जो उनमें परस्पर [तस्य अभावः] 'उसका अभाव' अर्थात् उसरूप होनेका अभाव है सो [सः] वह [तद्भावः] उसका अभाव [अतद्भावः] अतद्भाव है।

तात्पर्य—सत्को ही द्रव्य गुण पर्यायरूपमें समझाया जाता है वे स्वतंत्र सत् नहीं है।

टीकार्थ—जैसे एक मोतियोकी माला हार है, धागा है और मोती है इस तरह तीन प्रकारसे विस्तारित की जाती है, उसी प्रकार एक द्रव्य, द्रव्य है, गुण है और पर्याय है इस तरह तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है। और जैसे एक मोतियोंकी मालाका शुक्लत्व गुण "शुक्ल हार", "शुक्ल धागा", और "शुक्ल मोती",–यों तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है, उसी प्रकार एक द्रव्यका सत्तागुण 'सत् द्रव्य', 'सत् गुण' और 'सत् पर्याय'–यों तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है। और जैसे एक मोतियोंकी मालामें जो शुक्लत्व गुण है वह हार नहीं है, धागा नहीं है या मोती नहीं है, और जो हार, धागा या मोती है वह शुक्लत्व गुण नहीं है;—इस प्रकार एक दूसरेमें जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है सो वह 'तद्-अभाव' लक्षण वाला 'अतद्भाव' है, जो कि अन्यत्वका कारण है। इसी प्रकार एक द्रव्यमे जो सत्ता गुण है वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है या पर्याय नहीं

यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा स न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः । तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः ।।१०७।।

सत् च गुण सत् च एव य पर्याय इति विस्तार यत् खलु तत् अभाव तदभाव अतद्भाव । **मूलधातु**—परि इण् गतौ, वि स्तृञ् आच्छादने उपसर्गादर्थपरिवर्तन । **उभयपदविवरण**—सत् दव्व द्रव्य गुणो गुण पज्जओ पर्यायः वित्थारो विस्तार, जो यः अभावो अभाव तदभावो तद्भाव अतब्भावो अतद्भाव –प्रथमा एक० । तस्स तस्य–षष्ठी एक० । च एव त्ति इति खलु–अव्यय । **निरुक्ति**—विस्तरण विस्तार. । **समास**—तस्य अभाव तदभाव, तस्य भाव· तद्भावः न तद्भाव. अतद्भाव· ।। १०७ ।।

है; और जो द्रव्य या अन्य गुण या पर्याय है वह सत्तागुण नही है—इस प्रकार एक दूसरेमें जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है वह 'तद् अभाव' लक्षण वाला 'अतद्भाव' है जो कि अन्यत्वका कारण है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे पृथक्त्व व अन्यत्वका लक्षण बताया गया था । अब इस गाथामें उदाहरण देकर अतद्भावका स्पष्टीकरण किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) एक ही आवान्तर सत्को द्रव्य गुण पर्याय इन तीन रूपोसे ज्ञान में फैलाया जाता है । (२) जैसे एक हारकी सफेदी गुणको सफेद हार है, सफेद सूत है, सफेद मोती है यो तीन प्रकारसे निरखा जाता है ऐसे ही एक द्रव्यके सत्ता गुणको सत् द्रव्य है, सत् गुण है, सत् पर्याय है यो तीन प्रकारसे निरखा जाता है । (३) एक हारमे जो सफेदी गुण है वह न हार है, न सूत है, न मोती है और जो हार सूत मोती है वह सफेदी गुण नही यों एकमें दूसरेका अभाव है ऐसा अभाव ही अतद्भाव कहलाता है । (४) एक द्रव्यमे जो सत्ता गुण है वह न द्रव्य है, न अन्य गुण है, न पर्याय है और जो द्रव्य, अन्यगुण व पर्याय है वह सत्ता गुण नही यो एकमें दूसरेका अभाव है ऐसा अभाव ही अतद्भाव कहलाता है । (५) अतद्भाव अन्यत्वके परिचयका कारणभूत है । (६) सत्ता व द्रव्यमे अतद्भाव तो है, किन्तु पृथक्त्व नहीं है ।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य गुणी है सत्ता गुण है इतना अतद्भाव इन दोनों अभिधेयोंमे है ।

दृष्टि—१– गुणगुणिभेदक शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय (६९ब) ।

प्रयोग—मात्र परिचयके लिये अतद्भावका प्रतिपादन जानकर अतद्भावको गौण कर अपनेको स्वरूपमात्र अनुभवना ।।१०७।।

अथ सर्वथाऽभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति—

जं दव्वं तण्ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो ।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥१०८॥

जो द्रव्य न वह गुण है, जो गुण है वह न द्रव्य लक्षणसे ।
अतद्भाव ऐसा है, किन्तु सर्वथा अभाव नहीं ॥ १०८ ॥

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणः स न तत्त्वमर्थात् । एष ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्टः ॥ १०८ ॥

एकस्मिन्द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद्द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः । एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेर्न पुन-

---

नामसंज्ञ—ज दव्व त ण गुण ज वि गुण त ण तच्च अत्था एत हि अतब्भाव ण एव अभाव त्ति णिद्दिट्ठ । **धातुसंज्ञ**—निर् दिस प्रेक्षणे । **प्रातिपदिक**—यत् द्रव्य तत् न गुण यत् अपि गुण त न तत्त्व **अर्थ** एतत् हि अतद्भाव न एव अभाव इति निर्दिष्ट । **मूलधातु**—निस् दिश अतिसर्जने । **उभयपदविवरण**—

अब अतद्भावके सर्वथा अभावरूप लक्षणपनेको निषिद्ध करते है—[**यत् द्रव्य**] जो द्रव्य है [**तत् न गुणः**] वह गुण नही है, [**अपि यः गुणः**] और जो गुण है [**सः न तत्त्वं**] वह द्रव्य नही है । [**अत्थादो**] शब्दार्थ लक्षणकी अपेक्षासे [**एषः हि अतद्भावः**] यह ही अतद्भाव है, [**न एव अभावः**] सर्वथा अभाव अतद्भाव नही है; [**इति निर्दिष्टः**] ऐसा प्रभुके द्वारा निर्दिष्ट किया गया है ।

तात्पर्य—द्रव्य, गुण, पर्यायमे शब्दार्थलक्षणकी अपेक्षा अतद्भाव है, सर्वथा अभाव रूप अतद्भाव नही ।

टीकार्थ—एक द्रव्यमें जो द्रव्य है वह गुण नही है, जो गुण है वह द्रव्य नही है; इस प्रकार द्रव्यका गुणरूपसे न होना अथवा गुणका द्रव्यरूपसे न होना अतद्भाव है; क्योंकि इतनेसे ही अन्यत्वरूप व्यवहार सिद्ध होता है । परन्तु द्रव्यका अभाव गुण है, गुणका अभाव द्रव्य है, ऐसे लक्षण वाला अभाव अतद्भाव नही है । ऐसा होनेपर एक द्रव्यके अनेकपना आ जायगा, उभयशून्यता हो जायगी, अथवा अपोहरूपता आ जायगी । स्पष्टीकरण—जैसे चेतन-द्रव्यका अभाव अचेतन द्रव्य है और अचेतन द्रव्यका अभाव चेतन द्रव्य है, इस प्रकार उनके अनेकपना है, उसी प्रकार द्रव्यका अभाव गुण, और गुणका अभाव द्रव्य है; इस प्रकार एक द्रव्यके भी अनेकपना आ जायगा । जैसे सुवर्णका अभाव होनेपर सुवर्णत्वका अभाव हो जाता है, और स्वर्णत्वका अभाव होनेपर सुवर्णका अभाव हो जाता है, इस प्रकार उभयशून्यत्व हो जाता है; उसी प्रकार द्रव्यका अभाव होनेपर गुणका अभाव और गुणका अभाव होनेपर द्रव्य

द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येवंलक्षणोऽभावोऽतद्भाव, एवं सत्येकद्रव्यस्यानेकत्व-मुभयशून्यत्वमपोहरूपत्वं वा स्यात् । तथाहि—यथा खलु चेतनद्रव्यस्याभावोऽचेतनद्रव्यमचेतनद्रव्यस्याभावश्चेतनद्रव्यमिति तयोरनेकत्वं, तथा द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येकस्यापिद्रव्यस्यानेकत्व स्यात् । यथा सुवर्णस्याभावे सुवर्णत्वस्याभावः सुवर्णत्वस्याभावे सुवर्णस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं, तथा द्रव्यस्याभावे गुणस्याभावो गुणस्याभावे द्रव्यस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं स्यात् । यथा पटाभावमात्र एव घटो घटाभावमात्र एव पट इत्युभयोरपोहरूपत्वं तथा द्रव्याभावमात्र एव गुणो गुणोभावमात्र एव द्रव्यमित्यत्राप्यपोहरूपत्वं स्यात् । ततो द्रव्यगुणयोरेकत्वमशून्यत्वमनपोहत्वं चेच्छता यथोदित एवातद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः ॥१०८॥

ज यत् दव्व द्रव्य त तत् गुणो गुण जो य. गुणो गुण सो स तच्च तत्त्व एसो एष अतब्भावो अतद्भावः अभावो अभाव–प्रथमा एकवचन । अत्थादो अर्थात्–पचमी एकवचन । णिद्दिट्ठो निर्दिष्ट–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । ण न वि अपि हि एव त्ति इति–अव्यय । **निरुक्ति**—द्रवति गच्छति पर्यायात् इति द्रव्यम् । **समास**—न तस्य भाव अतद्भाव ॥१०८॥

का अभाव हो जायगा; इस प्रकार उभयशून्यता हो जायगी । जैसे पटाभावमात्र ही घट है, घटाभावमात्र ही पट है, इस प्रकार दोनोके अपोहरूपता है, उसी प्रकार द्रव्याभावमात्र ही गुण और गुणाभावमात्र ही द्रव्य होगा; इस प्रकार इसमें भी अपोहरूपता आ जायगी, इस कारण द्रव्य और गुणका एकत्व, अशून्यत्व और अनपोहत्व चाहने वालेको यथोक्त ही अतद्भाव मानना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें अतद्भावका विवरण किया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि अतद्भावका सर्वथा अभाव लक्षण नही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो द्रव्य है वह गुण नही, जो गुण है वह द्रव्य नही इस प्रकार द्रव्यका गुणरूपसे न होना, गुणका द्रव्यरूपसे न होना अतद्भाव कहलाता है । (२) द्रव्य और गुणके लक्षणमात्रसे ही उनमें अन्यपनेका व्यवहार है । (३) द्रव्यका अभाव गुण हो या गुण का अभाव द्रव्य हो इस प्रकारके अभावका नाम अतद्भाव नही । (४) यदि द्रव्यके अभावको गुण व गुणके अभावको द्रव्य कहा जाय तो उनका एकत्व न रहेगा अनेकपना हो जावेगा जैसे कि चेतन द्रव्यका अभाव अचेतनद्रव्य व अचेतनद्रव्यका अभाव चेतनद्रव्य है सो यहाँ अनेकपना है । (५) यदि द्रव्यका अभाव होनेपर गुणका अभाव व गुणका अभाव होनेपर द्रव्यका अभाव माना जाय तो दोनों ही न रहेंगे जैसे कि सुवर्णका अभाव होनेपर सुवर्णपनेका अभाव व सुवर्णका अभाव होनेपर सुवर्णपनेका अभाव दोनो ही न रहे । (६) यदि द्रव्यका अभाव मात्र ही गुण व गुणका अभावमात्र ही द्रव्य माना जाय तो मात्र अपोहरूपता रही, तत्त्व

अथ सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावं साधयति—

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं ॥ १०६ ॥

द्रव्यस्वभाव त्रितयमय, जो परिणाम वह गुण उसी सत्का ।
सुस्थित स्वभावमें सत्, उस ही को द्रव्य बतलाया ॥१०६॥

य. खलु द्रव्यस्वभावः परिणाम. स गुण. सदविशिष्टः। सदवस्थित स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ।१०६।

द्रव्यं हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति प्राक् प्रतिपादितम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य परिणामोऽभिहितः । य एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः, स एव सदविशिष्टो गुण इतीह साध्यते । यदेव हि द्रव्यस्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्सदिति संशब्द्यते तदविशिष्ट-

---

नामसंज्ञ—ज खलु दव्वसहाव परिणाम त गुण सदविसिट्ठ सदअवट्ठिद सहाव दव्व त्ति जिणोवदेस इम । **धातुसंज्ञ**—अवि सेस भेदने, अव ट्ठा गति निवृत्तौ तृतीयगणी । **प्रातिपदिक**—यत् खलु द्रव्यस्वभाव

कुछ न रहा । (७) लक्षणभेद वाला ही अतद्भाव माननेपर प्रदेशभेद वाला अभाव न मानने पर ही द्रव्य व गुणमे एकत्व रहता है, द्रव्य व गुण दोनों अशून्य होते है, द्रव्य व गुणमें अनपोहत्व रहता है ।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य और गुणमे सर्वथा अभावरूप अतद्भाव नही है ।

दृष्टि—१- अविकल्पनय (१६२), अशून्यनय (१७४) ।

प्रयोग—लक्षणभेदसे द्रव्य गुणका परिचय करके भेदकल्पना दूर करके एकत्वदृष्टिसे अपनेको स्वरूपमात्र अनुभवना ॥१०८॥

अब सत्ता और द्रव्यका गुण-गुणिभाव सिद्ध करते है—[**खलु यः**] वास्तवमें जो [**द्रव्यस्वभावः परिणामः**] द्रव्यका स्वभावभूत उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक परिणाम है [**सः**] वह [**सदविशिष्टः गुणः**] सत्तासे अभिन्न गुण है । [**स्वभावे अवस्थितं**] स्वभावमें अवस्थित [**द्रव्यं**] द्रव्य [**सत्**] सत् है [**इति जिनोपदेशः**] ऐसा जो जिनोपदेश है [**अयम्**] वही यह है ।

तात्पर्य—द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत्तामें शाश्वत अवस्थित है ।

टीकार्थ—द्रव्य स्वभावमे नित्य अवस्थित होनेसे सत् है, ऐसा पहले प्रतिपादित किया गया था; और द्रव्यका स्वभाव परिणाम कहा गया था । यहाँ यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है वही 'सत्' से अविशिष्ट गुण है । जो ही द्रव्यके स्वरूप का वृत्तिभूत अस्तित्व द्रव्यप्रधान निर्देशसे 'सत्' शब्दसे कहा जाता है उस अस्तित्वसे अनन्य गुण ही द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम वास्तवमें भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनो कालको स्पर्शने

गुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्याः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः। स त्वस्तित्वभूतद्रव्यवृत्त्यात्मकत्वात्सदविशिष्टो द्रव्यविधायको गुण एवेति सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावः सिद्धयति ॥१०६॥

परिणाम तत् गुण सदवशिष्ट सत् अवस्थित स्वभाव द्रव्य इति जिनोपदेश इदम्। **मूलधातु**– वि शिष असर्वोपयोगे चुरादि, अव ष्ठा गतिनिवृत्तौ। **उभयपदविवरण**—जो य. दव्वसहावो द्रव्यस्वभावः परिणामो परिणाम सो स सदवसिट्ठो सदवशिष्ट सदवट्ठिद सदवस्थित दव्व द्रव्य जिणोपदेसो जिनोपदेश. अय– प्रथमा एकवचन। सहावे स्वभावे–सप्तमी एक०। खलु त्ति इति–अव्यय। **निरुक्ति**—परिणमनं परिणामः, उपदेशनं उपदेश। **समास**–स्वस्य भाव· स्वभावः द्रव्यस्य स्वभाव द्रव्यस्वभाव., जिनस्य उपदेश. जिनोपदेशः ॥१०६॥

वाली द्रव्यवृत्तिका प्रतिक्षण उस उस स्वभावरूप परिणमन होनेसे भले प्रकार द्रव्यका स्वभावभूत ही परिणाम है; और वह उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक परिणाम अस्तित्वभूत द्रव्यकी वृत्ति स्वरूप होनेसे, 'सत्' के अविशिष्ट, द्रव्यका रचयिता गुण ही है। इस प्रकार सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणी भाव सिद्ध होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि द्रव्य व गुणमे जो अतद्भाव कहा गया है सो उसका लक्षण सर्वथा अभाव नहीं है। अब इस गाथामे सत्ता व द्रव्यमें गुण-गुणिभावको सिद्ध किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य स्वभावमें नित्य अवस्थित रहनेसे सत् है। (२) द्रव्यका स्वभाव परिणाम है। (३) जो द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है वही सत्ता है और वह अस्तित्वसे अविशिष्ट है। (४) द्रव्यार्थिककी प्रधानतासे द्रव्यके स्वरूपका वृत्तिभूत अस्तित्व ही सत् कहा जाता है। (५) पर्यायार्थिककी प्रधानतासे उस अस्तित्वसे अनन्य गुण ही द्रव्यका परिणाम कहा जाता है। (६) सत्ता और द्रव्यका गुणगुणिभाव युक्तिमे सिद्ध है।

सिद्धान्त—(१) निर्विकल्प वस्तुके परिचयका प्रारम्भ गुणगुणिभेदके व्यवहारसे होता है।

दृष्टि—१– गुणगुणिभेदक शुद्ध सद्भूत व्यवहार (६६ब)।

प्रयोग—गुणगुणिभेदसे आत्मवस्तुका मौलिक परिचयका संकेत पाकर अभेद आत्मवस्तुमें परम विश्राम पानेके लिये भेदकल्पना छोड़कर चैतन्यमात्र आत्मवस्तुको अनुभवनेका सहज पौरुष होने देना ॥१०६॥

अब गुण और गुणीके नानापनका खण्डन करते हैं—[**इह**] इस विश्वमें [**गुणः इति वा कश्चित्**] गुण ऐसा कुछ [**पर्यायः इति वा**] या पर्याय ऐसा कुछ [**द्रव्यं विना नास्ति**] द्रव्यके बिना नही होता; [**पुनः द्रव्यत्वं भावः**] और द्रव्यत्व उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक

अथ गुणगुणिनोर्नानात्वमुपहन्ति—

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं ।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ ११० ॥

द्रव्य बिना कोई गुण, अथवा पर्याय कोइ कुछ नहिं है ।
द्रव्यत्व भाव उसका, अतः द्रव्य है स्वयं सत्ता ॥ ११० ॥

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह वा विना द्रव्यम् । द्रव्यत्वं पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्य स्वयं सत्ता ॥११०॥

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात् । यथा सुवर्णात्पृथग्भूतं तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलत्वादिकमिति वा । अथ तस्य तु द्रव्यस्य स्वरूपवृत्तिभूनमस्तित्वाख्यं यद्द्रव्यत्वं स खलु तद्भावाख्यो गुण एव भवन् किं हि द्रव्यात्पृथग्भूतत्वेन वर्तते । न वर्तत एव । तर्हि द्रव्यं सत्ताऽस्तु, स्वयमेव ॥ ११० ॥

नामसंज्ञ—ण गुण त्ति व कोई पज्जाअ त्ति इह वा विणा दव्व दव्वत्त पुण भाव त दव्व सयं सत्ता । **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां । **प्रातिपदिक**—न गुण इति वा कश्चित् पर्याय इति वा विना द्रव्य द्रव्यत्व पुनर् भाव तत् द्रव्य स्वयं सत्ता । **मूलधातु**—अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—ण न त्ति इति व वा इह वा विणा विना पुण पुन. सय स्वय–अव्यय । गुणो गुण पज्जाओ पर्याय: दव्वत्त द्रव्यत्व भावो भाव. दव्व द्रव्यं सत्ता–प्रथमा एकवचन । दव्व द्रव्य (विना द्रव्य)–द्वितीया एकवचन । अत्थि अस्ति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—गुण्यते भिद्यते द्रव्य प्रतिबोधनाय यैस्ते गुणा. । द्रव्यस्य भाव· द्रव्यत्व, भवनं भाव ॥ ११० ॥

सद्भाव है [तस्मात्] इस कारण [**द्रव्यं स्वयं सत्ता**] द्रव्य स्वयं सत्तारूप है ।

तात्पर्य—गुणपर्यायवान व उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे द्रव्य स्वयं सत्स्वरूप है ।

टीकार्थ—वास्तवमें द्रव्यसे पृथग्भूत गुण या पर्याय ऐसा कुछ भी नही होता; जैसे—सुवर्णसे पृथग्भूत उसका पीलापन आदि या उसका कुण्डलत्वादि नही होता । अब उस द्रव्य का स्वरूपका वृत्तिभूत अस्तित्व नामसे कहा जाने वाला जो द्रव्यत्व है वह वास्तवमें तद्भाव नामसे कहा जाने वाला गुण ही होता हुआ क्या उस द्रव्यसे पृथक्रूपसे रहता है ? नहीं रहता । तब फिर द्रव्य सत्ता होओ स्वयं ही ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सत्ता और द्रव्यमें गुणगुणिभावको सिद्ध किया गया था । अब इस गाथामें गुणगुणीके भेदको नष्ट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्यसे अलग कुछ भी गुण नहीं होता । (२) द्रव्यसे अलग कहीं भी कुछ भी पर्याय नही होता । (३) द्रव्यका स्वरूप वृत्तिभूत जो अस्तित्वसे प्रसिद्ध द्रव्यत्व है वह द्रव्यका भावरूप गुण है । (४) द्रव्यका भावरूप गुण द्रव्यसे पृथक् नहीं रहता । (५)

अथ द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोरविरोधं साधयति—

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि ॥१११॥

द्रव्य स्वभावमें रहकर, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयसे ।
सदसद्भावविगुम्फित, अपने द्रव्यत्वको पाता ॥१११॥

एवविध स्वभावे द्रव्य द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम् । सदसद्भावनिबद्ध प्रादुर्भाव सदा लभते ॥ १११ ॥

एवमेतद्यथोदितप्रकारसाकल्याकलङ्कलाञ्छनमनादिनिधन सत्स्वभावे प्रादुर्भावमास्कन्दति द्रव्यम् । स तु प्रादुर्भावो द्रव्यस्य द्रव्याभिधेयताया सद्भावनिबद्ध एव स्यात् । पर्यायाभिधेयतायां त्वसद्भावनिबद्ध एव । तथाहि—यदा द्रव्यमेवाभिधीयते न पर्यायास्तदा प्रभवावसानवर्जिताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्द्रव्यनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः प्रभवावसानलाञ्छनाः क्रमप्रवृत्ताः पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवत् । तथाहि—यदा हेमैवाभिधीयते नाङ्गदादय पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिरङ्गदादिपर्यायसमानजीविताः क्रमप्रवृत्ता अङ्ग-

---

नामसंज्ञ—एवविह सहाव दव्व दव्वत्थपज्जयत्थ सदसब्भावणिबद्ध पादुब्भाव सदा । **धातुसंज्ञ**—लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—एवविधं स्वभाव द्रव्य द्रव्यार्थ पर्यायार्थ सदसद्भावनिबद्ध प्रादुर्भाव सदा । **मूलधातु**—

द्रव्य ही सत् स्वयमेव है । (६) सत्ता और द्रव्यमे नानापन नही है । (७) गुण और गुणीमे नानापन नही है ।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य अभेद स्वभावमात्र है ।

दृष्टि—१– अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—तीर्थप्रवृत्तिनिमित्त किये गये गुणगुणिव्यपदेशसे परे होकर अपनेको स्वभावमात्र निरखना ॥ ११० ॥

अब द्रव्यके सत्-उत्पाद और असत्-उत्पादमे अविरोधको सिद्ध करते है—[**एवंविधं**] इस प्रकार [**स्वभावे**] स्वभावमें अवस्थित [**द्रव्यं**] द्रव्य [**द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां**] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोके द्वारा [**सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं**] सद्भावनिबद्ध और असद्भावनिबद्ध उत्पादको [**सदा लभते**] सदा प्राप्त करता है ।

तात्पर्य—द्रव्यके द्रव्यार्थिकनयसे सदुत्पाद है व पर्यायार्थिकनयसे असदुत्पाद है ।

टीकार्थ—इस प्रकार पूर्वकथित सर्वप्रकारसे निर्दोष लक्षण वाला अनादिनिधन द्रव्य सत्स्वभावमें उत्पादको प्राप्त होता है । द्रव्यका वह उत्पाद द्रव्यकी कथनीके समय सद्भावनि-

दादिपर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो हेम्नः सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः । यदा तु पर्याया एवाभिधीयन्ते न द्रव्यं तदा प्रभवावसानलाञ्छनाभिः क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिः प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवदेव । तथाहि—यदाङ्गदादिपर्याया एवाभिधीयन्ते न हेम तदाङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभिः क्रमप्रवृत्ताभिरङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिर्हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेमनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः । अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्प-

---

डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपदविवरण**—एवविह एवविध सदा—अव्यय । सहावे स्वभावे—सप्तमी एक० । दव्वं द्रव्य—प्रथमा एक० । दव्वत्थपज्जयत्थेहिं—तृतीया बहु० । द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्या—तृतीया द्विवचन । सद-

---

बद्ध है और पर्यायोंकी कथनोके समय असद्भावनिबद्ध है । स्पष्टीकरण—जब द्रव्य ही कहा जाता है—पर्याये नही, तब उत्पत्ति-विनाशसे रहित, युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्यनिष्पादक अन्वय शक्तियोके द्वारा, उत्पत्तिविनाशलक्षण वाली, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायोंकी निष्पादिका उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियोंको प्राप्त होते जाने वाले द्रव्यके सद्भावनिबद्ध ही उत्पाद है; सुवर्णकी तरह । जैसे—जब सुवर्ण ही कहा जाता है,—बाजूबंध आदि पर्यायें नहीं, तब सुवर्ण जितनी स्थायी, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्णनिष्पादक अन्वयशक्तियोंके द्वारा, बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितनी टिकने वाली क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंकी निष्पादिका उन उन व्यतिरेकव्यक्तियोंको प्राप्त होने वाले सुवर्णका सद्भावनिबद्ध ही उत्पाद है । और जब पर्यायें ही कही जाती है, द्रव्य नही, तब उत्पत्ति-विनाश जिनका लक्षण है ऐसी, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायनिष्पादिका उन उन व्यतिरेकव्यक्तियोके द्वारा, उत्पत्ति-विनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान द्रव्यनिष्पादक अन्वयशक्तियोको प्राप्त होने वाले द्रव्यके असद्भावनिबद्ध ही उत्पाद है; सुवर्णकी ही तरह । जैसे—जब बाजूबंधादि पर्यायें ही कही जाती है—सुवर्ण नही, तब बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितनी टिकने वाली, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंकी निष्पादिका उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियोके द्वारा, सुवर्ण जितनी टिकने वाली, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्णनिष्पादक अन्वयशक्तियोंको प्राप्त सुवर्णके असद्भावनिबद्ध ही उत्पाद है ।

अब पर्यायोंकी कथनोके समय भी असत्-उत्पादमें पर्यायोंको उत्पन्न करने वाली वे वे व्यतिरेकव्यक्तियां युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वय शक्तित्वको प्राप्त होती हुई पर्यायोंको द्रव्य करता है । जैसे कि बाजूबंध आदि पर्यायोंको उत्पन्न करने वाली वे वे व्यतिरेकव्यक्तियां युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तित्वको प्राप्त करती हुई बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंको सुवर्ण

त्तौ पर्यायनिष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रवीकुर्युः, यथाङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाभिरङ्गदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन् । द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तयः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युः । यथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकमापन्नाभिर्हेमाङ्गदादिपर्यायमात्री क्रियेत । ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पादः, पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनवद्यम् ॥१११॥

सब्भावणिबद्ध सदसद्भावनिबद्ध पादुब्भाव प्रादुर्भावं-द्वितीया एकवचन । लभदि लभते-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—प्रादुर्भवनं प्रादुर्भाव । **समास**—द्रव्य अर्थ प्रयोजन यस्य सः द्रव्यार्थः, पर्याय अर्थ. प्रयोजन यस्य सः पर्यायार्थः, द्रव्यार्थश्च पर्यायार्थश्च द्रव्यार्थपर्यायार्थौ ताभ्या द्र०, सच्च असच्च सदसती तयो. भाव सदसद्भाव तेन निबद्ध सदसद्भावनिबद्ध ॥ १११ ॥

करता है । द्रव्यकी अभिधेयताके समय भी सत्-उत्पादमे द्रव्यकी उत्पादक अन्वयशक्तियां क्रमप्रवृत्तिको प्राप्त करके उस उस व्यतिरेकव्यक्तित्वको प्राप्त होती हुई द्रव्यको पर्यायरूप करती है; जैसे कि सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके उस उस व्यतिरेकव्यक्तित्वको प्राप्त होती हुई सुवर्णको बाजूबंधादि पर्यायमात्ररूप करती है । इस कारण द्रव्यार्थिकनयके आदेशसे सत्का उत्पाद है, पर्यायार्थिकनयके आदेशसे असत्का उत्पाद है, यह तथ्य अबाध्य है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे गुणगुणीके नानापनको मिटाया गया था । अब इस गाथामें द्रव्यपरिणामकी सिद्धिके लिये द्रव्यके सदुत्पादमें व उसीके असदुत्पादमें अविरोध सिद्ध करते हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्यार्थिक दृष्टिसे द्रव्यका सदुत्पाद है । (२) पर्यायार्थिक दृष्टिसे द्रव्यका असदुत्पाद है । (३) द्रव्यके ही निरूपणमे अन्वयशक्तियो द्वारा क्रमभावी व्यतिरेकव्यक्तियां ओझल होनेसे द्रव्यका सद्भावनिबद्ध ही प्रादुर्भाव अर्थात् विद्यमानका ही उत्पाद ज्ञात होता है । (४) पर्यायोंके ही निरूपणमें उत्पादविनाशचिह्न वाली व्यतिरेकव्यक्तियों द्वारा अन्वयशक्तियाँ ओझल हो जानेसे द्रव्यका असद्भावनिबद्ध ही प्रादुर्भाव अर्थात् अविद्यमानका ही उत्पाद ज्ञात होता है । (५) पर्यायार्थिकप्रधानतामे असदुत्पाद ज्ञात होनेपर भी वे व्यतिरेकव्यक्तियाँ द्रव्यरूप ही है । (६) द्रव्यार्थिकप्रधानतामें सदुत्पाद ज्ञात होनेपर भी जो द्रव्य है वह पर्यायरूपमे ही है । (७) द्रव्यार्थिकदृष्टिसे सदुत्पाद है । (८) पर्यायार्थिकदृष्टिसे असदुत्पाद है ।

सिद्धान्त—(१) सामान्य दृष्टिमें त्रैकालिक उत्पाद व्ययोंका आधार वही एक सत् है । (२) विशेषदृष्टिमें असत्का उत्पाद है ।

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति —

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ॥११२॥

जीव परिणामके वश, नृसुरादिक हो व अन्य पदमें हो ।
द्रव्यत्वको न तजता, तब फिर वह अन्य कैसे हो ॥ ११२ ॥

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुनः । किं द्रव्यत्वं प्रजहाति न जहदन्य: कथं भवति ॥११२॥

द्रव्यं हि तावद्द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिं नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव । यस्तु द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव । ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः । तथाहि—जीवो द्रव्यं भवन्नार-

---

नामसंज्ञ—जीव भवत णर अमर वा पर पुणो किं दव्वत्त ण जह अण्ण कह । **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां, प जहा त्यागे, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—जीव भवत् नर अमर वा पर पुनर् किं द्रव्यत्व न जहत् अन्य कथ । **मूलधातु**—प्र ओहाक् त्यागे, भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—जीवो जीवः णरो नरः अमरो अमरः परो परः अण्णो अन्य:–प्रथमा एकवचन । भव भवन्–प्रथमा एक० कृदन्त । भविस्सदि भविष्यति–भविष्ये

दृष्टि—१– ऊर्ध्वसामान्यनय (१९९) । २– ऊर्ध्वविशेषनय (२००) ।

प्रयोग—जिस मुझने पहिले अज्ञानचेष्टा की वह मैं आज ज्ञानस्वरूपको निहार रहा हूं और आगामी कालमे योग्य नरभव पाकर जिनदीक्षा ग्रहण कर निश्चयरत्नत्रयजातानन्तानन्दमें तृप्त होऊँगा वह मै एक आत्मद्रव्य हू अन्य नही, हाँ अज्ञान पर्याय अन्य है व रत्नत्रयात्मक पर्याय अन्य है ऐसा जानकर सर्व पर्यायमें गुजरने वाले एक चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्व की उपासना करना ॥ १११ ॥

अब सत्‌उत्पादको सब पर्यायोमें द्रव्यके अनन्यत्वके द्वारा निश्चित करते हैं—[जीवः] जीव [भवन्] परिणमता हुआ [नरः] मनुष्य, [अमरः] देव [वा] अथवा [परः] अन्य कुछ [भविष्यति] होगा, [पुनः] परन्तु [भूत्वा] मनुष्य देवादि होकर [किं] क्या वह [द्रव्यत्वं प्रजहाति] द्रव्यत्वको छोड़ देता है ? [न जहत्] सो द्रव्यत्वको नही छोड़ता हुआ वह [अन्यः कथं भवति] अन्य कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य—अपने अनेक पर्यायोंमें परिणमता हुआ द्रव्य द्रव्यत्वको न छोड़नेके कारण वह वही रहता है, अन्य नहीं हो जाता ।

टीकार्थ—द्रव्य तो द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिको कभी भी न छोड़ता हुआ सत् ही है । और जो द्रव्यके पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्तिका उत्पाद है उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिका अच्युतपना होनेसे द्रव्य अनन्य ही है, इसलिये अनन्यत्वके द्वारा द्रव्यका सदुत्पाद निश्चित

कतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वानामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भविष्यति । स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति । यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितत्रिकोटिसत्ताकः स एव न स्यात् ॥ ११२ ॥

अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । भवीय भूत्वा–असमाप्तिकी क्रिया । वा पुणो पुन: कि ण कह कथ–अव्यय । दव्वत्त द्रव्यत्व–द्वितीया एक० । पजहदि प्रजहाति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जह जहत्–प्रथमा एक० कृदन्त । होदि भवति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति—न मरतीति अमर (आयुष. पूर्व न मरति), द्रव्यस्य भाव. द्रव्यत्वम् ॥ ११२ ॥

होता है । स्पष्टीकरण—जीव द्रव्य परिणमता हुआ नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वमें से किसी एक पर्यायमें अवश्य ही होगा, क्योंकि द्रव्यका पर्यायमें होना अनिवार्य है। परंतु वह जीव उस पर्यायरूप होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिको छोड़ता है ? नही छोडता यदि नही छोड़ता तो वह अन्य कैसे हो सकता है कि जिससे त्रैकालिक अस्तित्व प्रगट है जिसके ऐसा वह जीव वही न हो ?

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्यके सदुत्पाद व असदुत्पादमे अविरोध सिद्ध किया गया था । अब इस गाथामे सदुत्पादका द्रव्यके अनन्यपनेसे निश्चित किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) वास्तवमें द्रव्य सदैव सत् है, क्योंकि वह द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिको कभी भी नहीं छोड़ता । (२) द्रव्यकी अवस्थाके उत्पादमे भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति कभी नही हटती, अतः प्रत्येक पर्यायमें द्रव्य वहीका वही अनन्य है । (३) द्रव्यका सदुत्पाद अनन्यपनेसे ही है । (४) कुछ भी पर्याय हो क्या द्रव्य वह न रहा ? क्या अन्य हो गया ? नही, द्रव्य प्रतिपर्यायमे वही है । (५) द्रव्यान्वयशक्तिरूपसे जो ही सद्भावनिबद्ध उत्पाद द्रव्यसे अभिन्न है ।

सिद्धान्त—(१) जो भी पर्याय होती है वह अन्वित द्रव्यका विशेष है सो वह पर्याय द्रव्यसे अन्य नही है ।

दृष्टि—१– अन्वय द्रव्यार्थिकनय (२७) ।

प्रयोग—संसारअवस्था व मुक्तिअवस्थामें मैं ही होता हूं वह कोई अन्य नहीं, अतः संसारावस्थासे हटकर केवल ही रहूं एतदर्थ अपनेमें केवल चैतन्यस्वरूपकी उपासना करना।११२।

अब असत्के उत्पादको अन्यत्वके द्वारा निश्चित करते है—[**मनुजः**] मनुष्य [**देवः न भवति**] देव नही है, [**वा**] अथवा [**देवः**] देव [**मानुषः वा सिद्धः वा**] मनुष्य या सिद्ध नहीं है; [**एवं अभवन्**] सो ऐसा न होता हुआ वह [**अनन्यभावं कथं लभते**] अनन्यभावको कैसे प्राप्त हो सकता है ?

अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति—

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णा भावं कधं लहदि ॥ ११३ ॥

नर नहिं सुर सिद्धादिक, सुर नहिं नर सिद्ध आदि परिणतिमें ।
इक अन्यमय न होता, तब उनमें एकता कैसे ॥ ११३ ॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा। एवमभवन्ननन्यभाव कथं लभते ॥ ११३ ॥

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव। यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मिन्पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव। ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्योऽपृथग्भूतस्य द्रव्यस्यासदुत्पादः।

नामसंज्ञ—मणुव ण देव वा माणुस व सिद्ध एवं अहोज्जमाण अणण्णभाव कध। **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, लभ प्राप्तौ। **प्रातिपदिक**—मनुज देव न मानुष वा सिद्ध एव अभवत् अनन्यभाव कथ। **मूलधातु**—

तात्पर्य—पर्यायें एक दूसरे रूप नहीं हैं, अतः पर्यायें अन्य अन्य ही हैं, अनन्य नहीं।

टीकार्थ—पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिके कालमें ही विद्यमान होनेसे, उससे अन्य कालोमें अविद्यमान ही हैं। और जो पर्यायोंका द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिके साथ गुथा हुआ क्रमानुपाती स्वकालमें उत्पाद है उसमें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिका पहले असत्त्व होनेसे पर्यायें अन्य है। इस कारण पर्यायोकी अन्यताके द्वारा निश्चित किया जाता है कि पर्यायोके स्वरूपका कर्ता, करण और अधिकरण होनेसे पर्यायोंसे अपृथग्भूत द्रव्यके असदुत्पाद है। स्पष्टीकरण—मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है, और देव, मनुष्य या सिद्ध नहीं है; ऐसा न होता हुआ अनन्य अर्थात् वहीका वही कैसे हो सकता है कि जिससे अन्य हो न हो और जिससे मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती है जिसके ऐसा जीव द्रव्य भी कंकणादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं जिसके ऐसे सुवर्णकी तरह प्रति पर्यायपर अन्य न हो?

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सदुत्पादको द्रव्यसे अनन्य निश्चित किया गया था। अब इस गाथामें असदुत्पादको अन्यपनेरूपसे निश्चित किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) पर्याय अपने परिणमनकालमें ही होती है, पूर्व या पश्चात् अन्य कालमें नहीं, अतः पर्यायका उत्पाद पर्यायदृष्टिमें असत्का उत्पाद कहा जाता है। (२) एक द्रव्यमें होने वाले पर्याय भी एक दूसरेसे अन्य अन्य ही हैं। (३) पर्यायदृष्टिसे अन्य अन्य पर्यायोंका उत्पाद पर्यायसे अपृथग्भूत भी द्रव्यका असदुत्पाद कहा जाता है। (४) चूंकि पर्याय

तथाहि—न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात् न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात्। एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात् येनान्य एव न स्यात्। येन च निष्पद्यमानमनुजादिपर्यायं जायमानवलयादिविकारं काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रतिपदमन्यन्न स्यात्॥ ११३॥

भू सत्तायां, डुलभष् प्राप्तौ। **उभयपदविवरण—**मणुवो मनुज देवो देव: माणुसो मानुष: सिद्धो सिद्ध—प्रथमा एक०। अह्रोज्जमाणो अभवन्–प्रथमा एकवचन कृदन्त। अण्णणभाव अनन्यभाव–द्वितीया एक०। ण न वा व कध कथ–अव्यय। होदि भवति लहृदि लभते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। **निरुक्ति—**मनो जातः मनुजः, दिव्यतीति देवः, सिद्धचतिस्म इति सिद्ध। **समास—**न अन्य अनन्य अनन्यस्य भावः अनन्यभावः त॥ ११३॥

भिन्न वस्तु नही वह उसरूप परिणत द्रव्य ही है, अतः असत्के उत्पादकी दृष्टिमे वह द्रव्य भी अन्य अन्य हुआ समझा जाता है। (५) यह एक परमात्मद्रव्य परमार्थतः मनुष्य व देवादि पर्यायसे विलक्षण है सो सब पर्यायोमें यह परमात्मद्रव्य एक है, तो भी मनुष्य देवादिक नही। (६) किसी एक पर्यायमे दूसरा पर्याय नही पाया जाता। (७) पर्यायें सब भिन्न-भिन्न अपने अपने कालमे होते है। (८) कोई भी पर्याय दूसरे पर्यायके कालमें न होनेसे सब पर्यायें अन्य अन्य ही है। (९) द्रव्यका हुवा असदुत्पाद पूर्वपर्यायसे भिन्न है।

सिद्धान्त—(१) प्रत्येक पर्याय विनाशीक है व अन्य पर्यायोसे भिन्न है।

दृष्टि—१– सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहृ नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (३७)।

प्रयोग—विभावपर्यायको हेय जानकर व स्वाभाविक पर्यायको उपादेय जानकर स्वाभाविक पर्यायके स्रोतभूत चैतन्यस्वभावकी उपासना करना॥ ११३॥

अब एक ही द्रव्यके अन्यत्व और अनन्यत्वके विरोधको दूर करते हैं—[**द्रव्यार्थिकेन**] द्रव्यार्थिक नयसे [**तत् सर्वं**] वह सब [**द्रव्यं**] द्रव्य [**अनन्यत्**] अनन्य है; [**पुनः च**] और [**पर्यायार्थिकेन**] पर्यायार्थिक नयसे [**तत्**] वह (सब द्रव्य) [**अन्यत्**] अन्य-अन्य है, [**तत्काले तन्मयत्वात्**] क्योंकि उस समय द्रव्यकी पर्यायसे तन्मयता है।

तात्पर्य—प्रत्येक एक ही द्रव्य अपने नाना पर्यायोंको क्रमशः करता रहता है, अतः द्रव्यदृष्टिसे वह वही एक है, पर्यायदृष्टिसे वह अन्य अन्य है।

टीकार्थ—वास्तवमें सभी वस्तुओंकी सामान्यविशेषात्मकता होनेसे वस्तुका स्वरूप देखने वालोंके क्रमशः सामान्य और विशेषको जानने वाली दो आंखें—(१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक ये हैं। इनमेसे पर्यायार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब नारकत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व–पर्यायस्वरूप विशेषोमें रहने वाले एक जीवसामान्यको देखने वाले और विशेषोंको न देखने वाले जीवोंको

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिषेधमुद्धुनोति—

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं त पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो॥ ११४॥

द्रव्य द्रव्यार्थनयसे, सब हैं अन्य अन्यान्य पर्ययी नयसे।
क्योंकि उन उन विशेषों—के क्षणमें द्रव्य तन्मय है॥ ११४॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्य तत्पर्यायार्थिकेन पुनः। भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात्॥ ११४॥

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिक चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं

नामसंज्ञ—दव्वट्ठिय सव्व दव्व त पज्जयट्ठिय पुणो ण अण्ण अणण्ण तक्काल तम्मयत्त। **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—द्रव्यार्थिक सर्व द्रव्य तत् पर्यायार्थिक पुनर् च अन्य अनन्य तत्काल तन्मयत्व। मूलधातु—भू सत्तायां। **उभयपदविवरण**—दव्वट्ठिएण द्रव्यार्थिकेन पज्जयट्ठिएण पर्यायार्थिकेन–तृतीया एक०। सव्व सर्व दव्व द्रव्य त तत् अन्यत् अनन्यत्–प्रथमा एकवचन। हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष

'वह सब जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है। और जब द्रव्यार्थिक चक्षुको सर्वथा बंद करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब जीवद्रव्यमें रहने वाले नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप अनेक विशेषोंको देखने वाले और सामान्यको न देखने वाले जीवोंको वह जीवद्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है, क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषोंके समय तन्मय होनेसे उन-उन विशेषोंसे अनन्य है—कंडे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्निकी तरह। और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आंखोंको एक ही साथ खोलकर इनसे अर्थात् द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक चक्षुओंसे देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्यायोंमें रहने वाला जीवसामान्य तथा जीवसामान्यमे रहने वाले नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वपर्यायस्वरूप विशेष एक ही साथ दिखाई देते हैं। वहां एक आंखसे देखा जाना एकदेश अवलोकन है और दोनों आंखोंसे देखना संपूर्ण अवलोकन है। इस कारण सर्वावलोकनमें द्रव्यके अन्यत्व और अनन्यत्व वि घको प्राप्त नहीं होते।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें द्रव्यके असदुत्पादको अन्यरूपसे निश्चित किया गया था। अब इस गाथामें एक ही द्रव्यके अन्यत्व व अनन्यत्वके विरोधका परिहार किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। (२) पदार्थका सामान्य

विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति । यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति । द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत् । यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते । तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं । ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते ॥ ११४ ॥

एकवचन क्रिया । तक्काले तत्काले–सप्तमी एकवचन । तम्मयत्तादो [तन्मयत्वात्–पंचमी एकवचन । निरुक्ति—द्रवतीति द्रव्यं तेन निर्वृत्त तन्मय तस्य भाव. तन्मयत्व तस्मात् । समास—द्रव्य अर्थ: प्रयोजन यस्य स द्रव्यार्थिक: तेन द्र०, पर्याय: अर्थ प्रयोजन यस्य स पर्यायार्थिक तेन प० ॥ ११४ ॥

स्वरूप त्रैकालिक है । (३) पदार्थका विशेषस्वरूप क्षण क्षणमे नया नया है । (४) सामान्य स्वरूपको जानने वाला नेत्र द्रव्यार्थिकनय है । (५) विशेषस्वरूपको जानने वाला नेत्र पर्यायार्थिक नय है । (६) पर्यायार्थिक नेत्रको बंद कर केवल द्रव्यार्थिक नेत्रसे देखनेपर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव सिद्ध पर्यायविशेषोमे एक जीवद्रव्य ही प्रतिभान होता है, क्योंकि यहाँ विशेष देखे नही गये । (७) द्रव्यार्थिक नेत्रको बंद कर केवल पर्यायार्थिक नेत्रसे जीवद्रव्यमें व्यवस्थित नारकादि पर्यायोंको देखनेपर वे सब विशेष अन्य अन्य ही ज्ञात होते है, क्योंकि यहाँ जीवसामान्य देखा नही गया । (८) जब द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दोनो नेत्रोको एक साथ खोलकर देखा जाय तब नारकादि पर्यायोमें व्यवस्थित जीवद्रव्य व जीवद्रव्यमे व्यवस्थित नारकादि पर्यायें एक साथ देखे जाते हैं । (९) एक नय नेत्रसे देखनेपर एकदेश दिखाई देता है । (१०) दोनों नय नेत्रोंसे देखनेपर सब दिखाई देता है । (११) सबके अवलोकनमे द्रव्यका अन्यत्व व अनन्यत्व अविरोध सुविदित होता है । (१२) द्रव्यार्थिक नयसे पर्यायसन्तानरूपमें द्रव्य एक ही विदित होता । (१३) पर्यायार्थिकनयसे द्रव्य पर्यायरूपमें भिन्न-भिन्न विदित होता । (१४) सापेक्षतया दोनों नयोसे एक साथ निरखनेपर द्रव्यका एकत्व व अनेकत्व एक साथ विदित होता ।

सिद्धान्त—(१) एक ही द्रव्य प्रतिसमय अनिवारित विशेषमय निरखा जाता है ।

अथ सर्वविप्रतिषेधनिषेधिकां सप्तभङ्गीमवतारयति—

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ ११५ ॥

द्रव्य कइ दृष्टियोंसे, अस्ति नास्ति अवक्तव्य होता है ।
उभय तीन व त्रयात्मक, यों सब मिल सप्त भंग हुए ॥ ११५ ॥

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम् । पर्यायेण तु केनचित् तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ॥११५॥

स्यादस्त्येव १ स्यान्नास्त्येव २ स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादस्तिनास्त्येव ४ स्यादस्त्यवक्तव्यमेव ५ स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव ६ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव ७ । स्वरूपेण १ पररूपेण २ स्वपररूपयौगपद्येन ३ स्वपररूपक्रमेण ४ स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ५ पररूपस्वपररूपयौग-

---

नामसंज्ञ—त्ति ण य पुणो दु वि वा अवत्तव्व दव्व पज्जाय क तदुभय अदिट्ठ अण्ण । **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां, हव सत्तायां । **प्रातिपदिक**—इति न च पुनर् तु अपि वा अवक्तव्य द्रव्य पर्याय कि तदुभय

दृष्टि—१- अन्वयद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (८३), सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (६४) ।

प्रयोग—जो हो मैं यहां संसारावस्थामें आकुल रहता हूं यही मैं मुक्तावस्थामे शाश्वत अनाकुल रहूगा ऐसे निर्णयपूर्वक मुक्तिके लिये अविकार चैतन्यस्वभावमय अद्वैत अन्तस्तत्त्वकी भावना करना ॥११४॥

अब समस्त विरोधोको दूर करने वाली सप्तभंगीको उतारते हैं— [**द्रव्यं**] द्रव्य [**केनचित् पर्यायेण तु**] किसी पर्यायसे तो [**अस्ति इति च**] 'अस्ति' [**नास्ति इति च**] और किसी पर्यायसे 'नास्ति' [**पुनः**] और [**अवक्तव्यम् इति भवति**] किसी पर्यायसे 'अवक्तव्य' है, [**तदुभयं**] और किसी पर्यायसे 'अस्ति-नास्ति, (दोनों) [**वा**] अथवा [**अन्यत् आदिष्टम्**] किसी पर्यायसे अन्य तीन भंगरूप कहा गया है ।

टीकार्थ—द्रव्य (१) स्यात् अर्थात् स्वरूपसे अस्ति; (२) 'स्यात् अर्थात् पररूपसे नास्ति'; (३) 'स्यात् अर्थात् स्वरूप पररूपके योगपद्यसे अवक्तव्य'; (३) 'स्यात् स्वपररूपक्रमसे अस्ति-नास्ति'; (५) 'स्यात् स्वरूपसे व स्वपररूपयोगपद्यसे अस्ति-अवक्तव्य'; (६) 'स्यात् अर्थात् पररूपसे व स्वपररूपयोगपद्यसे नास्ति अवक्तव्य'; और (७) 'स्यात् स्वरूपसे, पररूप से व स्वपररूपयोगपद्यसे अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य' है ।

स्वरूपसे, पररूपसे, स्वपररूपके योगपद्यसे स्वरूप और पररूपके क्रमशः स्वरूप और स्वरूप-पररूपके योगपद्यसे पररूपसे और स्वरूपपररूपके योगपद्यसे, स्वरूपसे, पररूपसे

पद्याभ्यां ६ स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैरादिश्यमानस्य स्वरूपेण सतः, पररूपेणासतः, स्वपररूपाभ्यां युगपद्वक्तुमशक्यस्य, स्वपररूपाभ्यां क्रमेण सतोऽसतश्च, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां सतो वक्तुमशक्यस्य च, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यामसतो वक्तुमशक्यस्य च, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैः सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभङ्गिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति ।। ११५ ।।

आदिष्ट अन्य । **मूलधातु**—भू सत्तायां, अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—त्ति इति ण न पुणो पुनः तु दु वि अपि वा–अव्यय । अवत्तव्व अवक्तव्य पज्जायेण पर्यायेन–तृतीया एकवचन । केण केन–तृ० ए० । तदुभय आदिट्ठ आदिष्ट अण्ण अन्यं–प्र० एक० । अत्थि अस्ति हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—वक्तु योग्य वक्तव्य न वक्तव्यं इति अवक्तव्य, परि अयन पर्यायः । **समास**—तयो उभय तदुभयम् ।। ११५ ।।

और स्वरूपपररूपके यौगपद्यसे कहे जा रहे स्वरूपसे सत्, पररूपसे असत्, स्वपररूपसे युगपत् कहा जानेके लिये अशक्य, स्वपररूपोंके द्वारा क्रमसे सत् व असत्, स्वरूप और स्वपररूपयौगपद्य द्वारा सत् अवक्तव्य, पररूप व स्वपररूपयौगपद्यके द्वारा असत् अवक्तव्य, स्वरूप व पररूप व स्वपररूपयौगपद्यसे सत्-असत् अवक्तव्य—ऐसे अनन्त धर्मों वाले द्रव्यके एक एक धर्म का आश्रय लेकर विवक्षित-अविविक्षितके विधिनिषेधके द्वारा प्रगट होने वाली सप्तभंगी सतत सम्यक्तया उच्चारण किये जा रहे स्यात्कार रूपी अमोघ मंत्र पदके द्वारा एवकारमे रहने वाले समस्त विरोध-विषके मोहको दूर करती है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे एक द्रव्यके सदुत्पाद व असदुत्पादका विरोध बताया गया था । अब इस गाथामे सर्वविरोधको दूर करने वाली सप्तभंगीका अवतार किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है अतः किसी भी धर्मी वस्तुमे किसी विवक्षासे जो धर्म कहना हो उसमे उसका प्रतिपक्षभूत धर्म भी अन्य दृष्टिसे साधा जाता है । (२) द्रव्यार्थिक दृष्टिसे व पर्यायार्थिक दृष्टिसे जब दो धर्म स्वतंत्र परखे गये तब एक साथ उन्हें न कह सकनेके कारण एक अवक्तव्य धर्म भी हो जाता है । (३) जहां ३ धर्म हो उनके द्विसंयोगी धर्म तीन हो जाते हैं । (४) जहां ३ धर्म हों उनका त्रिसंयोगी धर्म एक हो जाता है । (५) एक एक धर्म ३, द्विसंयोगी धर्म ३ व त्रिसंयोगी धर्म १, इस प्रकार सप्त भंगोंका समूह सप्तभंगी कहलाता है । (६) जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य ही है, युगपदुभय दृष्टिसे अवक्तव्य ही है, क्रमशः द्रव्य पर्यायदृष्टि नित्य और अनित्य ही है क्रमशः

अथ निर्धार्यमाणत्वेनोदाहरणीकृतस्य जीवस्य मनुष्यादिपर्यायाणां क्रियाफलत्वेनान्यत्वं द्योतयति—

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥११६॥

यों नहीं कि संसारी, जीवोंकी क्रिया प्राकृतिक न बने।
क्रिया भवफलरहित नहिं, धन्य परम धर्म यों निष्फल ॥११६॥

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता। क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निःफलः परमः ॥

इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसन्निधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति। ततस्तस्य मनुष्यादिपर्यायेषु न कश्चनाप्येष एवेति

नामसंज्ञ—एत त्ति ण कोई किरिया सहावणिव्वत्ता अफला धम्म जदि णिप्फल परम। धातुसंज्ञ—अस सत्तायां, कर करणे। प्रातिपदिक—एतत् इति न कश्चित् क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता क्रिया हि अफला

द्रव्य युगपदुभय दृष्टिसे नित्य अवक्तव्य ही है, क्रमशः पर्याय युगपदुभयदृष्टिसे अनित्य अवक्तव्य ही है, क्रमशः द्रव्य पर्याय व युगपदुभयदृष्टिसे नित्य अनित्य अवक्तव्य ही है। (७) सप्तभगीके प्रत्येक भगोमे अपेक्षा और निश्चय दोनों होनेसे उनका द्रव्यमें कुछ भी विरोध नहीं है और न रंच संदेह है।

सिद्धान्त—(१) वस्तुकी ज्ञप्ति सात भंगोंमें होती है।

दृष्टि—१-७— अस्तित्वनय, नास्तित्वनय, अवक्तव्यनय, अस्तित्वनास्तित्वनय, अस्तित्वावक्तव्यनय, नास्तित्वावक्तव्यनय, अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनय (१५४-१६०)।

प्रयोग—विविध नयोसे अपना परिचय प्राप्त करके सर्व नयोसे अतीत सहज अन्तस्तत्त्वके अनुभवका पौरुष होने देना ॥ ११५ ॥

अब निर्णय किये जानेके रूपसे उदाहरणरूप किये गये जीवके मनुष्यादि पर्यायोंका क्रियाफलपनेके रूपसे उनका अन्यत्व प्रकाशित करते हैं—[**एषः इति कश्चित् नास्ति**] सदा यही है ऐसी संसारमें कोई पर्याय नही है; [**स्वभाव निर्वृत्ता क्रिया नास्ति न**] और विभाव पर्याय स्वभावसे निष्पन्न अर्थात् प्रकृतिनिष्पन्न क्रिया नही हो सो भी बात नहीं है, [**क्रिया हि अफला नास्ति**] विकारक्रिया नरनारकादि पर्यायरूप फल देनेसे रहित नहीं है, [**यदि हि परमः धर्मः निष्फलः**] जब कि निर्विकार परमात्मकी उपलब्धिरूप धर्म मनुष्यादिपर्यायरूप फल देने वाला नहीं है।

तात्पर्य—विकार क्रियायें नाना सांसारिक पर्यायरूप फलोंको देती हैं और वे पर्यायें

टङ्कोत्कीर्णोऽस्ति, तेषां पूर्वपूर्वोपमर्दप्रवृत्तक्रियाफलत्वेनोत्तरोत्तरोपमर्द्यमानत्वात् । फलमभिलष्येत वा मोहसंवलनाविलयनात् क्रियायाः । क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैतन्यपरिणामात्मिका । सा पुनरणोरण्वन्तरसंगतस्य परिणतिरिवात्मनो मोहसंवलितस्य द्वचणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्य निष्पादकत्वात्सफलैव । सैव मोहसंवलनविलयने पुनरणोरुच्छिन्नाण्वन्तरसंगमस्य परिणतिरिव द्वचणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्यानिष्पादकत्वात् परमद्रव्यस्वभावभूततया परमधर्माख्या भवत्यफलैव ।। ११६ ।।

धर्म यदि परम । **मूलधातु**—अस भुवि, डुकृञ करणे । **उभयपदविवरण**—एसो एष –प्र० एक० । त्ति इति ण न हि जदि यदि–अव्यय । कोई कश्चित्–अव्यय अन्तः प्रथमा एक० । अत्थि अस्ति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । किरिया क्रिया सहावणिव्वत्ता स्वभावनिर्वृत्ता अफला–प्रथमा एकवचन । धम्मो धर्म. णिप्फलो निष्फल परमो परम–प्रथमा एकवचन । **निरुक्ति**—करण क्रिया, भवन भाव, धरण धर्म । **समास**—स्वभावेन निर्वृत्ता स्वभावनिर्वृत्ता, न फलं विद्यते यस्याः सा अफला, निर्गतं फलं यस्मात् स निष्फलः, परा मा विद्यते यत्र सः परम ।। ११६ ।।

नानाविध अन्य अन्य है ।

टीकार्थ—इस विश्वमें अनादिकर्मपुद्गलकी उपाधिके सद्भावके कारणसे जिसके प्रतिक्षण विपरिणमन होता रहता है ऐसे संसारी जीवकी क्रिया वास्तवमे प्रकृति निष्पन्न ही है; इसलिये उसके मनुष्यादि पर्यायोमे से कोई भी पर्याय 'यही' है ऐसी टंकोत्कीर्ण नही है; क्योंकि वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायोके नाशमें प्रवृत्त क्रियाफलरूप होनेसे उत्तर-उत्तर पर्यायोके द्वारा नष्ट होती है अथवा मोहके साथ मिलनका नाश न होनेसे क्रियाका फल तो मानना ही चाहिये । वास्तवमें क्रिया चेतनकी पूर्वोत्तर दशासे विशिष्ट चैतन्यपरिणामस्वरूप है । और, वह क्रिया दूसरे अणुके साथ युक्त अणुकी परिणति द्वचणुक कार्यकी निष्पादक होनेकी तरह मोहके साथ मिलित आत्माकी परिणतिमें, मनुष्यादि कार्यकी निष्पादक होनेसे सफल ही है; और जैसे दूसरे अणुके साथका सम्बन्ध जिसका नष्ट हो गया है, ऐसे अणुकी परिणति द्वचणुक कार्यकी निष्पादक नही है, उसी प्रकार मोहके साथ मिलनका नाश होनेपर द्रव्यकी परमस्वभावभूत होनेसे 'परमधर्म' नामसे कही जाने वाली वही क्रिया मनुष्यादि कार्यकी निष्पादक न होनेसे अफल ही है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें सर्वविरोधपरिहारिणी सप्तभंगीका अवतार किया गया था । अब इस गाथामें यह बताया गया है कि जीवकी मनुष्यादि पर्यायें कर्माधीन होनेके कारण विनश्वर होनेसे शुद्धनिश्चयसे जोवस्वरूप नही है और क्रिया फलपनेके कारण उनका अन्यपना है ।

अथ मनुष्यादिपर्यायाणां जीवस्य क्रियाफलत्वं व्यनक्ति—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११७॥

नामकर्मकी प्रकृती, शुद्धात्मस्वभावको दबा करके ।
मनुज तिर्यञ्च नारक, व देव पर्यायमय करता ॥११७॥

कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन । अभिभूय नरं तिर्यंच नैरयिक वा सुरं करोति ॥ ११७ ॥

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूतायाः प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः । क्रियाऽभावे पुद्गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूतानां तेषामभावात् । **अथ कथं ते कर्मणः कार्य-**

नामसंज्ञ—कम्म णामसमक्ख सहाव अध अप्प सहाव णर तिरिय णेरइय वा सुर । **धातुसंज्ञ**—अभि भव सत्तायां, कुण करणे । **प्रातिपदिक**—कर्मन् नामसमाख्य स्वभाव अथ आत्मन् स्वभाव नर तिर-

तथ्यप्रकाश—(१) संसारी जीवकी पर्याय क्रिया कर्मोपाधिसन्निधिका निमित्त पाकर होनेसे प्रकृतिरचित ही है । (२) ससारी जोवके मनुष्यादि पर्यायोंमें कुछ भी पर्याय परिणमन स्थिर नही है, विनश्वर ही है । (३) संसारी जीवोंके उत्तर उत्तर पर्यायोंसे पूर्व पूर्व पर्याय नष्ट होते जाते है, क्योंकि पूर्व पूर्व पर्यायोका क्रियाफल ही इस प्रकार है । (४) संसारी जीवोकी पर्यायोंकी क्रियाका फल संसारभ्रमण है, क्योंकि वहाँ मोहका मिलन नष्ट नहीं हुआ । (५) संसारी जीवोंकी क्रियायें सफल हैं याने संसारभ्रमणरूप फल देने वाली हैं । (६) निर्मोह रत्नत्रयपरिणत अन्तरात्माका परम धर्म निष्फल है याने संसरणफल देने वाला नहीं है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धनयसे जीव द्रव्य रागादिविभावरूप नही परिणमता है । (२) अशुद्धनिश्चयनयसे जीव मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमता है ।

दृष्टि—१-शुद्धनय, प्रतिषेधक शुद्धनय (४९, ४९ ब) । २-अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—दुःखहेतुभूत, नैमित्तिक, अस्वभावभूत मनुष्यादिपर्यायोंको अनात्मा जानकर केवल चैतन्यस्वरूपमात्र अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्व अनुभवनेका पौरुष होने देना ॥ ११६ ॥

अब मनुष्यादि पर्यायें जीवकी क्रियाके फल हैं, यह व्यक्त करते हैं—**[अथ]** वहाँ **[नामसमाख्यं कर्म]** 'नाम' संज्ञा वाला कर्म **[स्वभावेन]** अपने कर्मस्वभावसे **[आत्मनः स्वभावं अभिभूय]** आत्माके स्वभावको ढककर **[नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं]** मनुष्य, तिर्यंच, नारक अथवा देवरूप **[करोति]** कर देता है ।

भावमायान्ति, कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणत्वात् प्रदीपवत् । तथाहि—यथा खलु ज्योतिःस्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणःप्रदीपो ज्योतिःकार्यं तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम् ।। ११७ ।।

श्च नैरयिक वा सुर । **मूलधातु**—अभि भू सत्तायां, डुकृञ् करणे । **उभयपदविवरण**—कम्म कर्म णाम-समक्खं नामसमाख्य-प्रथमा एकवचन । सहाव स्वभाव-द्वि० एक० । अध अथ वा-अव्यय । अप्पणो आत्मनः-षष्ठी एक० । सहावेण स्वभावेन-तृतीया एक० । अभिभूय-असमाप्तिकी क्रिया । णर नर तिरिय तिर्यंचं णेरइयं नैरयिक सुर-द्वितीया एकवचन । कुणदि करोति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—क्रियते यत् कर्म, नृणाति इति नरः त, तिरः अचातीति तिर्यक् त, सुरति इति सुर त । **समास**—स्वस्य भाव. स्वभाव. त स्वभाव ।। ११७ ।।

तात्पर्य—नामकर्मके उदयसे जीव नर नारकादि पर्यायोंरूप बन जाता है ।

टीकार्थ—क्रिया वास्तवमें आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे कर्म है, उसके निमित्तसे प्राप्त किया है द्रव्यकर्मरूप परिणमन जिसने ऐसा पुद्गल भी कर्म है । उस पुद्गलकर्मकी कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायें मूलकारणभूत जीवकी क्रियासे प्रवर्तमान होनेसे क्रियाफल ही है, क्योंकि क्रियाके अभावमे पुद्गलोंको कर्मत्वका अभाव होनेसे उस पुद्गल कर्मकी कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायोंका अभाव होता है । प्रश्न—वहां वे मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य कैसे है ? उत्तर—वे कर्मस्वभावके द्वारा जीवके स्वभावका पराभव करके की जाती है, दीपककी तरह । जैसे कि ज्योतिके स्वभावके द्वारा तेलके स्वभावको अभिभूत करके किया जाने वाला दीपक ज्योतिका कार्य है, उसी प्रकार कर्मस्वभावके द्वारा जीवके स्वभावको अभिभूत करके की जाने वाली मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि मनुष्यादि पर्यायें जीवका स्वरूप नही है और ये संसारफल देने वाली है । अब इस गाथामें स्पष्ट किया है कि मनुष्यादि पर्यायें जीवकी क्रियाके फल है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्माके द्वारा जो प्राप्य हो सो कर्म है, यह कर्म जीवकी क्रिया है, भावपरिणति है । (२) जीवके विकार क्रियाका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावोंमें कर्मत्व परिणमन होता है सो पुद्गल भी कर्म है । (३) कर्मके कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायें है सो वे मूलकारणभूत जीवविभावक्रियासे प्रवृत्त हुए है अतः ये पर्यायें क्रियाफल हैं । (४) जीवकी विभावक्रियावोंका अभाव होनेपर कार्माणवर्गणावोमें कर्मत्वका अभाव हो जाता है । (५) पुद्गलकार्माणवर्गणावोंमें कर्मत्वका अभाव होनेसे पुद्गलकर्मके कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायें नही होती । (६) जैसे ज्योतिस्वभावसे तैलस्वभावका अभिभव करके वार्तीके आधारसे दीपशिखा-

अथ कुतो मनुष्यादिपर्यायेषु जीवस्य स्वभावाभिभवो भवतीति निर्धारयति—

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥११८॥

नर नारक तिर्यक् सुर, प्राणी हैं नामकर्मसे निर्वृत्त ।
इससे कर्मविपरिणत, आत्मा न स्वभावको पाता ॥११८॥

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवा: खलु नामकर्मनिर्वृत्ता । न हि ते लब्धस्वभावा: परिणममाना: स्वकर्माणि ॥

अमी मनुष्यादय: पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ता: सन्ति तावत् । न पुनरेतावतापि तत्र जीवस्य स्वभावाभिभवोऽस्ति । यथा कनकबद्धमाणिक्यकङ्कणेषु माणिक्यस्य । यत्तत्र नैव जीव:

नामसंज्ञ—णरणारयतिरियसुर जीव खलु णाम कम्मणिव्वत्त ण हित लद्धसहाव परिणाममाण सकम्म । **धातुसंज्ञ**— जीव प्राणधारणे, लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—नरनारकतिर्यक्सुर जीव खलु नामकर्म-

रूपसे परिणमाता है, अतः बना हुआ प्रदीप ज्योतिका कार्य कहलाता है इसी प्रकार कर्म कर्मस्वभावसे जीवस्वभावका अभिभव करके शरीरके आधारसे मनुष्यादि रूपसे परिणमता है अत. बने मनुष्यादि पर्याय कर्मके कार्य कहलाते हैं । (७) कर्म और कर्मकार्य सहज परमात्मतत्त्वसे विपरीत है ।

सिद्धान्त— (१) मनुष्यादि पर्यायें कर्मजनित है ।

दृष्टि—१- अशुद्धनिश्चयनय, विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय, निमित्तदृष्टि, उपादान दृष्टि (४७, ४८, ५३अ, ४६ब) ।

प्रयोग—कर्मजनित पर्यायोको कष्टरूप जानकर उनसे उपेक्षा करके चैतन्यस्वरूप सहजपरमात्मतत्त्वमे उपयुक्त होना ॥११७॥

अब मनुष्यादि पर्यायोंमे जीवके स्वभावका अभिभव किस कारणसे होता है ? यह निर्धारित करते हैं—[**नरनारकतिर्यक्सुराः जीवाः**] मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप जीव [**खलु**] वास्तवमें [**नामकर्म निर्वृत्ताः**] नामकर्मसे निष्पन्न हैं । [**हि**] वास्तवमें [**स्वकर्माणि**] वे अपने कर्मरूप [**परिणममानाः ते**] परिणम रहे वे [**लब्धस्वभावाः न**] लब्धस्वभाव नहीं है अर्थात् उनको स्वभावकी उपलब्धि नही है ।

तात्पर्य—नरनारकादि गतियोंमे जीवके स्वभावका अभिभव तो है, किन्तु जीवका अभाव नहीं है ।

टीकार्थ—ये मनुष्यादि पर्यायें तो नामकर्मसे निष्पन्न है, किन्तु इतनेसे भी वहाँ जीव के स्वभावका अभिभव नही है; जैसे कि सुवर्णमे जड़े हुये माणिकवाले कंकणोंमें माणिकके

स्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात् पयःपूरवत् । यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुमन्दचन्दनादिवनराजी परिणमन्न द्रव्यत्वस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते ॥ ११८ ॥

निर्वृत्त न हि तत् लब्धस्वभाव परिणममान स्वकर्मन् । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपदविवरण**—णरणारयतिरियसुरा नरनारकतिर्यक्सुरा जीवा जीवाः णामकम्मणिव्वत्ता नामकर्मनिर्वृत्ताः ते लद्धसहावा लब्धस्वभावा. परिणममाणा परिणममाना –प्रथमा बहुवचन । सकम्माणि स्वकर्माणि–द्वितीया बहुवचन । **निरुक्ति**—जीवन्तीति जीव । **समास**–नरश्च नारकश्च तिर्यक् च सुरश्च नरनारकतिर्यक्सुराः, नामकर्मणानिर्वृत्ता इति नामकर्मनिर्वृत्ता., लब्ध स्वभाव यैस्ते लब्धस्वभावा ॥११८॥

स्वभावका अभिभव नही है । जो वहाँ जीव स्वभावको उपलब्ध नही करता, अनुभव नही **करता सो स्वकर्मरूप** परिणमन होनेसे है, पानीके पूरकी तरह । जैसे––पानीका पूर प्रदेशसे **और** स्वादसे निम्ब-चन्दनादि वन पंक्तिरूप परिणमता हुआ अपने द्रवत्व और स्वादुत्वरूप **स्वभावको** उपलब्ध नही करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेशसे और भावसे स्वकर्मरूप परिणमन होनेसे अपने अमूर्तत्व और निरूपराग-विशुद्धिमत्वरूप स्वभावको उपलब्ध नही करता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें मनुष्यादि पर्यायोको जीवकी विभावक्रियाका फल बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि मनुष्यादि पर्यायोमे जीवके स्वभाव का अभिभव किस कारण होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ये मनुष्यादि पर्याय नामकर्मके द्वारा रचे गये है । (२) मनुष्यदेह में आत्मा ठहर रहा है इतने मात्रसे जीवके स्वभावका अभिभव नही होता जैसे कि अगूठीमें हीरा जड़ा है इतने मात्रसे हीराकी ज्योतिका अभिभव नही है । (३) जीव वहाँ अपनी विभावक्रियासे परिणम रहा है इस कारण जीवके स्वभावका अभिभव है जैसे कि जलका पूर नीम व चन्दनके पेड़के संगमें पेड़रूप परिणम कर अपने द्रवत्व व स्वादको खो बैठता है । (४) जीव पौद्गलकर्मविपाक प्रतिफलनके प्रसंगमे विभावक्रियारूप परिणमनेसे अविकार स्वच्छ प्रतिभास स्वभावको तिरस्कृत कर देता है । (५) स्वपरभावभेदविज्ञानी जीव पौद्गलकर्मविपाकप्रतिफलनके समय ज्ञानदृष्टिके बल द्वारा बुद्धिपूर्वक विभावक्रियारूप न परिणमनेसे अविकार स्वच्छ प्रतिभास स्वभावका दर्शक होता है जिसकी दृढ़ताके बलसे स्वभावका आविर्भाव होता है ।

सिद्धान्त—(१) कर्मोदयविपाकके सान्निध्यमें जीव स्वभावका अभिभव कर विकार रूप परिणमता है ।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

अथ जीवस्य द्रव्यत्वेनावस्थितत्वेऽपि पर्यायैरनवस्थितत्वं द्योतयति—

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणो कोई ।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ॥११६॥

उपजे नहीं न विनशे, तथापि क्षण हि क्षण सर्ग लय होते ।
जो भव वह लय अथवा संभव लय अन्य अन्य हुए ॥११६॥

जायते नैव न नश्यति क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कश्चित् । यो हि भवः स विलयः संभवविलयाविति तौ नाना ॥

इह तावन्न कश्चिज्जायते न म्रियते च । अथ च मनुष्यदेवतिर्यङ्नारकात्मको जीवलोकः प्रतिक्षणपरिणामित्वादुत्संगितक्षणभङ्गोत्पादः न च विप्रतिषिद्धमेतत्, संभवविलययोरेकत्वनानात्वाभ्याम् । यदा खलु भङ्गोत्पादयोरेकत्वं तदा पूर्वपक्षः, यदा तु नानात्वं तदोत्तरः ।

नामसंज्ञ—ण एव क्षणभगसमुब्भव जण कोई ज हि भव त विलअ सभवविलय त्ति त णाणा । **धातुसंज्ञ**—जा प्रादुर्भावे, नस्स नाशे । **प्रातिपदिक**—न एव क्षणभङ्गसमुद्भव जन कश्चित् यत् हि भव त

प्रयोग—स्वभावघातसे बचनेके लिये स्वभाव विभावका भेदविज्ञान कर स्वभावका दर्शक होनेका अन्तः पौरुष होने देना ॥ ११८ ॥

अब जीवकी द्रव्यरूपसे स्थिरता होनेपर भी पर्यायोंसे अस्थिरताको प्रकाशते है—[**क्षणभङ्गसमुद्भवे जने**] प्रतिक्षण विनाश और उत्पाद वाले जीवलोकमे [**कश्चित्**] कोई [**न एव जायते**] न तो उत्पन्न होता, और [**न नश्यति**] न नष्ट होता है; [**हि**] क्योंकि [**यः भवः सः विलयः**] जो जीव उत्पादरूप है वही विनाशरूप है; [**संभवविलयौ इति तौ नाना**] फिर भी उत्पाद उत्पाद है, विनाश बिनाश ही है । इस प्रकार वे उत्पाद और व्यय नाना है अर्थात् भिन्न-भिन्न है ।

तात्पर्य—द्रव्यदृष्टिसे जीव वही एक अवस्थित है, पर्यायदृष्टिसे अनवस्थित है ।

टीकार्थ—वास्तवमे यहाँ न कोई जन्म लेता है और न मरता है, और ऐसा अवस्थित होनेपर भी मनुष्य-देव-तिर्यंच-नारकात्मक जीवलोक प्रतिक्षण परिणामी होनेसे क्षण-क्षण में होने वाले विनाश और उत्पादके साथ जुड़ा हुआ है । और यह विरोधको प्राप्त नही होता; क्योकि उत्पाद और विलयका एकत्व और अनेकत्व है जब उत्पाद और विलयका एकत्व है तब पूर्वपक्ष है, और जब अनेकत्व है तब उत्तरपक्ष है । इसीका स्पष्टीकरण— जैसे:—'जो घड़ा है वही कुण्ड है' ऐसा कहा जानेपर, घड़े और कुण्डके स्वरूपका एकत्व असम्भव होनेसे उन दोनोंकी आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है, उसी प्रकार 'जो उत्पाद है वही विनाश है' ऐसा कहा जानेपर उत्पाद और विनाशके स्वरूपका एकत्व असम्भव होनेसे उन दोनोंका आधारभूत

तथाहि—यथा य एव घटस्तदेव कुण्डमित्युक्ते घटकुण्डस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूता मृत्तिका संभवति, तथा य एव संभवः स एव विलय इत्युक्ते संभवविलयस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्य संभवति। ततो देवादिपर्याये सभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने च य एव संभवः स एव विलय इति कृत्वा तदुभयाधारभूत ध्रौव्यवज्जीवद्रव्यं संभाव्यत एव। ततः सर्वदा द्रव्यत्वेन जीवष्टङ्कोत्कीर्णोऽवतिष्ठते। अपि च यथाऽन्यो घटोऽन्यत्कुण्डमित्युक्ते तदुभयाधारभूताया मृत्तिकाया अन्यत्वासंभवात् घटकुण्डस्वरूपे सभवतः, तथान्यः सभवोऽन्यो विलय इत्युक्ते तदुभयाधारभूतस्य ध्रौव्यस्यान्यत्वासंभवात्संभवविलयस्वरूपे संभवत। ततो देवादिपर्याये सभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने चान्य संभवोऽन्यो विलय इति कृत्वा संभवविलयवन्तौ देवादिमनुष्यादिपर्यायौ सभाव्येते। ततः प्रतिक्षरण पर्यायैर्जीवोऽनवस्थितः ॥११६॥

विलय सभवविलय इति तत् नाना। **मूलधातु**—जनी प्रादुर्भावे, णश् अदर्शने दिवादि। **उभयपदविवरण**—जायदि जायते णस्सदि नश्यति—वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। ण न एव हि त्ति इति—अव्यय। खणभगसमुब्भवे क्षणभङ्गसमुद्भवे जगे जने—सप्तमी एकवचन। कोई कश्चित्—अव्यय अन्त प्र० एक०। जो य सो सः विलओ विलय—प्रथमा एक०। सभवविलया—प्र० बहु०। सभवविलयो—प्र० द्विवचन। ते—प्र० बहु०। तो—प्रथमा द्विवचन। णाणा नाना—अव्यय। **निरुक्ति**—भज्जन भङ्गः, उद्भवन उद्भवः। **समास**—क्षणे भङ्ग समुद्भव. यस्य स. तस्मिन्, सभवश्च विलयश्च सभवविलयौ ॥ ११६ ॥

ध्रौव्य प्रगट होता है; इसी रीतिसे देवादि पर्यायके उत्पन्न होने और मनुष्यादि पर्यायके नष्ट होनेपर, 'जो उत्पाद है वही विलय है' ऐसा जानकर उन दोनोका आधारभूत ध्रौव्यवान जीवद्रव्य लक्षमे आता है; इसलिये सर्वदा द्रव्यरूपसे जीव टकोत्कीर्ण रहता है। और फिर, जैसे—'अन्य घडा है और अन्य कुण्ड है' ऐसा कहा जानेपर उन दोनोकी आधारभूत मिट्टीका अन्यत्व अर्थात् भिन्न-भिन्नपना असंभव होनेसे घडेका और कुण्डका दोनोका भिन्न-भिन्न स्वरूप प्रगट होता है, उसी प्रकार 'अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है' ऐसा कहा जानेपर उन दोनोके आधारभूत ध्रौव्यका अन्यत्व असंभव होनेसे उत्पाद और व्ययका स्वरूप प्रगट होता है; इसी रीतिसे देवादि पर्यायके उत्पन्न होनेपर और मनुष्यादि पर्यायके नष्ट होनेपर, 'अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है' ऐसा जानकर उत्पाद और व्यय वाली देवादि पर्याय और मनुष्यादि पर्याय लक्षमें आती है, इसलिये प्रतिक्षण पर्यायोसे जीव अनवस्थित रहता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह निर्धारित किया गया था कि मनुष्यादि पर्यायोंमें अपनी विभावक्रियाके परिणमनसे जीवके स्वभावका अभिभव होता है। अब इस गाथामे बताया गया है कि जीव द्रव्यपनेसे अवस्थित होकर भी पर्यायो द्वारा अनवस्थित है।

तथ्यप्रकाश—(१) जीवद्रव्य न जन्म लेता है, न नष्ट होता है, जीवद्रव्य तो वही

अथ जीवस्यानवस्थितत्वहेतुमुद्योतयति—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥१२०॥

इस कारणसे कोई, संसारमें न स्वभावसमवस्थित।
संसरण क्रिया होती, संसरमाण हि द्रव्यकी है ॥१२०॥

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति ससारे। ससार. पुनः क्रिया ससरतो द्रव्यस्य ॥ १२० ॥

यतः खलु जीवो द्रव्यत्वेनावस्थितोऽपि पर्यायैरनवस्थितः, तत. प्रतीयते न कश्चिदपि

नामसंज्ञ—त दु ण कोई सहावसमवट्ठिद त्ति ससार पुण किरिया ससरमाण दव्व। **धातुसंज्ञ**—अस सत्ताया, अव ट्ठा गतिनिवृत्तौ। **प्रातिपदिक**—तत् तु न कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति ससार पुनर् क्रिय१

एक शाश्वत रहता है, अतः जीव द्रव्यपनेसे अवस्थित है। (२) जहाँ मनुष्यपर्याय विलीन हुआ और पर्याय उत्पन्न हुआ तो वहाँ जो उत्पाद है वही विलय है सो दोनोंका आधारभूत ध्रौव्यवान जीवद्रव्य अवस्थित रहा। (३) पर्यायदृष्टिसे देखे जानेपर जहाँ देवपर्याय उत्पन्न हुआ मनुष्यपर्याय विलीन हुआ तो उत्पाद अन्य है, विलय अन्य है सो देवजीव अन्य रहा, मनुष्यजीव अन्य रहा यो जीव पर्यायोसे अनवस्थित रहा। (४) जैसे जीवद्रव्य पर्यायोंसे प्रतिक्षण अनवस्थित है ऐसे ही सभी द्रव्य पर्यायोसे अनवस्थित हैं। (५) जब जीव पुद्गल स्वभावपर्यायमे होते है व धर्मादिक शेष द्रव्य सदैव स्वभावपर्यायमे होते है तो वहाँ समपरिणमन होनेसे पर्यायोसे द्रव्यकी अनवस्थितत्व ज्ञात नही होती है। (६) द्रव्यार्थिकनयसे जीव नित्य है, पर्यायार्थिकनयसे जीव अनित्य है। (७) जहाँ मोक्षपर्यायका उत्पाद है और संसारपर्याय का विनाश है वहाँ उत्पाद विनाश हो भिन्न है, किन्तु उन दोनोका आधारभूत सहज परमात्मद्रव्य वहीका वही एक है।

सिद्धान्त—(१) जीव पर्यायोके रूपसे अनवस्थित है।

दृष्टि—१- सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (३७)।

प्रयोग—पर्यायोसे अन्य अन्य होकर भी पर्यायोके आधारभूत एक आत्मद्रव्यकी दृष्टि द्वारा पर्यायोंको सहज स्वभावानुरूप होने देनेका ज्ञानानुभूतिरूप पौरुष होने देना ॥ ११६ ॥

अब जीवके अनवस्थितपनाका हेतु प्रगट करते हैं—**[तस्मात् तु]** इसी कारण **[संसारे]** संसारमे **[स्वभावसमवस्थितः इति]** स्वभावसे अवस्थित ऐसा **[कश्चित् नास्ति]** कोई नहीं है; **[पुनः]** और **[संसरतः]** संसरण अर्थात् गतियोंमें भ्रमण करते हुये **[द्रव्यस्य]** जीव द्रव्य की **[क्रिया]** क्रिया ही तो **[संसारः]** ससार है।

संसारे स्वभावेनावस्थित इति । यच्चात्रानवस्थितत्वं तत्र ससार एव हेतुः । तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वात् स्वरूपेणैव तथाविधत्वात् । अथ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरित्यागोपादानात्मकः क्रियाख्यः परिणामस्तत्संसारस्य स्वरूपम् ।। १२० ।।

ससरत् द्रव्य । **मूलधातु**—अस भुवि । **उभयपदविवरण**—तम्हा तस्मात्–पचमी एक० । दु तु ण न त्ति इति पुण पुन –अव्यय । अत्थि अस्ति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कोई कश्चित्–अव्यय अन्तः प्रथमा एकवचन । सहावसमवट्ठिदो स्वभावसमवस्थित –प्र० एक० । ससारे–सप्तमी एक० । संसारो ससार –प्र० एक० । किरिया क्रिया–प्र० एक० । ससरमाणस्स ससरत –षष्ठी एक० । दव्वस्स द्रव्यस्य–षष्ठी एक० । **निरुक्ति**—ससरण ससार. । **समास**–स्वभावे समवस्थित इति स्वभावसमवस्थित ।।१२०।।

तात्पर्य—सांसारिक पर्यायोमे भ्रमण करने वाला जीव स्थिर एकरूप नही रह पाता ।

टीकार्थ—वास्तवमे जीव द्रव्यत्वसे अवस्थित होता हुआ भी पर्यायोसे अनवस्थित है; इससे यह प्रतीत होता है कि ससारमें कोई भी स्वभावसे अवस्थित नही है और यहाँ जो अनवस्थितपना है उसमे ससार ही हेतु है; क्योकि वह ससार मनुष्यादि पर्यायात्मक होनेके कारण स्वरूपसे ही वैसा है । और जो परिणमन करते हुये द्रव्यका पूर्वोत्तर दशाका त्याग ग्रहणात्मक क्रिया नामक परिणाम है सो वह संसारका स्वरूप है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि जीव द्रव्यरूपसे अवस्थित होनेपर भी पर्याय रूपसे अनवस्थित है । अब इस गाथामे जीवके अनवस्थितपनेका कारण बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) संसारमे कोई भी जीव स्वभावसे अवस्थित नही है । (२) जीव की अनवस्थितताम कारण ससारभाव ही है । (३) परिणमते हुए जीवद्रव्यका पूर्व विभाव दशाका परित्याग व उत्तरविभावदशाका ग्रहणरूप क्रिया नामक जो परिणाम वही संसारका स्वरूप है । (४) मनुष्यादिविभावपर्यायपरिणतिरूप क्रिया निष्क्रिय निर्विकल्प शुद्धात्मपरिणतिसे विपरीत है । (५) नरनारकादिपर्यायरूप संसार स्वभावविघातका कारण है ।

सिद्धान्त—(१) कर्मविपाकज संसारभावोसे जीवस्वभाव विघातक भाव होते है ।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष नित्याशुद्ध पर्यायार्थिकनय (६१) ।

प्रयोग—अनवस्थित विभावोंसे उपयोग हटाकर सदा अवस्थित चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्वका उपयोग करना ।।१२०।।

अब परिणामात्मक संसारमे किस कारणसे पुद्गलका संबंध होता है कि जिससे वह संसार मनुष्यादि पर्यायात्मक होता है ? इसका यहाँ समाधान अपनेमे निरखते है—[**आत्मा कर्ममलीमसः**] आत्मा कर्मसे मलिन होता हुआ [**कर्मसंयुक्तं परिणामं**] कर्मसंयुक्त परिणामको

अथ परिणामात्मके संसारे कुतः पुद्गलश्लेषो येन तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वमित्यत्र समाधानमुपवर्णयति—

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥१२१॥

कर्ममलीमस आत्मा, कर्मनिबद्ध परिणाम पाता है ।
उससे कर्म सिलिसते, इससे परिणाम कर्म हुआ ॥१२१॥

आत्मा कर्ममलीमस परिणाम लभते कर्मसयुक्तम् । तत. श्लिष्यति कर्म तस्मात् कम, तु परिणामः ॥१२१॥

यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतुः । अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतुः, द्रव्यकर्म हेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसयुक्तत्वेनेवोपलम्भात् । एवं

नामसज्ञ—अत्त कम्ममलीमस परिणाम कम्मसंजुत्त तत्तो कम्म त कम्म तु परिणाम । **धातुसंज्ञ**—लभ प्राप्तौ, सिलीस आलिंगने । **प्रातिपदिक**—आत्मन् कर्ममलीमस परिणाम कर्मसयुक्त तत कर्मन् तत् कर्मन् तु परिणाम । **मूलधातु**—डुलभष् प्राप्तौ, श्लिष आलिङ्गने दिवादि । **उभयपदविवरण**—आदा आत्मा

[लभते] प्राप्त करता है, [ततः] उस कर्मसंयुक्त परिणामके निमित्तसे **[कर्म श्लिष्यति]** कर्म चिपक जाता है । **[तस्मात्]** इस कारण **[परिणामः तु कर्म]** अशुद्ध परिणाम ही कर्म है अर्थात् द्रव्यकर्मके बन्धका निमित्त होनेसे मूलरूप तो अशुद्ध परिणाम ही कर्म है ।

तात्पर्य—भवधारणके कारणभूत द्रव्यकर्मके बन्धका कारण जीवका अशुद्ध परिणाम है ।

टीकार्थ—जो यह 'संसार' नामक आत्माका उस प्रकारका परिणाम है वही द्रव्यकर्मके चिपकनेका हेतु है । अब उस प्रकारके परिणामका भी हेतु कौन है ? द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्यकर्मकी संयुक्ततासे ही उस प्रकारका परिणाम देखा जाता है । प्रश्न—ऐसा होनेसे इतरेतराश्रय दोष आ जायगा । उत्तर—नही आयगा; क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्मके साथ सबद्ध आत्माका जो पूर्वका द्रव्यकर्म है उसको वहाँ हेतुरूपसे स्वीकार किया गया है । इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्माका तथाविधपरिणाम उपचारसे द्रव्यकर्म ही है, और आत्मा भी अपने परिणामका कर्ता होनेसे द्रव्यकर्मका कर्ता भी उपचारसे है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें जीवकी अनवस्थितताका कारण बताया गया था । अब इस गाथामे यह बताया गया है कि परिणामात्मक संसारमें कर्ममलिन यह जीव विकारपरिणाम करता है इससे पुद्गलसम्बंध होता है और इससे मनुष्यादिक पर्याय होते हैं ।

सतीतरेतराश्रयदोषः न हि । अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसबद्धस्यात्मनःप्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात् । एवं कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविधपरिणामो द्रव्यकर्मैव । तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात् ॥१२१॥

कम्ममलिमसो कर्ममलीमस –प्रथमा एक० । परिणाम कम्मसजुत्त कर्मसयुक्त–द्वितीया एक० । तत्तो तत.–अव्यय पचम्यर्थे । लहदि लभते सिलिसदि श्लिष्यति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कम्म कर्म परिणामो परिणाम –प्रथमा एक० । तम्हा तस्मात्–पचमी एक० । **निरुक्ति**–अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा । **समास**–कर्मणा मलीमस. कर्ममलीमस , कर्मणा सयुक्त कर्मसयुक्त त कर्मसयुक्तम् ॥१२१॥

तथ्यप्रकाश – (१) जीवका विकार परिणाम द्रव्यकर्मबन्धका निमित्त है । (२) द्रव्यकर्मका विपाक जीवके विकारपरिणामका निमित्त है । (३) अनादिपरम्परासे जीवविकार व कर्मदशामे निमित्तनैमित्तिक प्रसंग चला आ रहा है । (४) जीवविकारका कार्य (नैमित्तिक) कर्मदशा है, जीवविकारका कारण (निमित्त) कर्मदशा है, इस कारण जीवविकार उपचारसे द्रव्यकर्म ही है । (५) जीवविकारके निमित्तसे द्रव्यकर्मका आस्रव बन्ध होता है अतः जीवविकार उपचारसे द्रव्यकर्मका कर्ता है । (६) द्रव्यकर्मविपाकके निमित्तसे जीवविकार होता है, अतः द्रव्यकर्म उपचारसे जीवविकारका कर्ता है । (७) द्रव्यकर्मविपाकके होनेपर ही जीवविकार होता है, अतः जीवविकार उपचारसे द्रव्यकर्मका कार्य है । (८) जीवविकारके होनेपर ही द्रव्यकर्मका आस्रवबन्ध होता है, अतः द्रव्यकर्म उपचारसे जीवका कार्य है ।

सिद्धान्त—(१) जीवविकार व द्रव्यकर्मदशामे परस्पर निमित्तनैमित्तिक योग है । (२) जीव विभावरूप संसारका कर्ता है । (३) जीव द्रव्यकर्मका कर्ता है । (४) जीवविकार द्रव्यकर्मका कार्य है । (५) द्रव्यकर्म जीवविकारका कर्ता है । (६) द्रव्यकर्म जीवका कार्य है ।

दृष्टि —१– निमित्तदृष्टि (५३अ) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । ३– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार (१२६) । ४– परकर्मत्व असद्भूत व्यवहार (१३०) । ५– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार (१२६) । ६–परकर्मत्व असद्भूत व्यवहार (१३०) ।

प्रयोग—कर्मश्लेषसे मुक्ति पानेके लिये स्वभावविभावका भेदविज्ञान करके आत्मस्वभावमे ही आत्मत्वको अनुभवना ॥ १२१ ॥

अब परमार्थसे आत्मा द्रव्यकर्मका अकर्ता है यह प्रकाशित करते है—**[परिणामः]** परिणाम **[स्वयम्]** स्वयं **[आत्मा]** आत्मा है, **[पुनः सा]** और वह **[क्रिया जीवमयी इति भवति]** क्रिया जीवके द्वारा रची हुई होनेसे "जीवमयी" ऐसी है; **[क्रिया]** और क्रियाको **[कर्म इति मता]** कर्म माना गया है; **[तस्मात्]** इस कारण **[कर्मणः कर्ता तु न]** द्रव्यकर्मका कर्ता तो नहीं है ।

अथ परमार्थादात्मनो द्रव्यकर्माकर्तृत्वमुद्योतयति—

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥१२२॥

परिणाम स्वयं आत्मा, परिणाम जीवमयी क्रिया ही है ।
क्रिया कर्म सो आत्मा, नहीं द्रव्यकर्मका कर्ता ॥ १२२ ॥

परिणाम स्वयमात्मा सा पुन क्रियेति भवति जीवमयी । क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता ॥

आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात् । यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात् । या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म । ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्म-

नामसंज्ञ—परिणाम सय अत्त ता पुण किरिया त्ति जीवमया किरिया कम्म त्ति मदा त कम्म ण दु कत्तार । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, मन्न अवबोधने । **प्रातिपदिक**—परिणाम स्वय आत्मन् तत् पुनर् क्रिया

तात्पर्य—जीवके द्वारा जो किया जाय वह कर्म है, जीवके द्वारा भाव ही किया जाता है, अतः जीवका कर्म द्रव्यकर्म नही अर्थात् द्रव्यकर्मका कर्ता जीव नही ।

टीकार्थ—निश्चयतः आत्माका परिणाम वास्तवमे स्वयं आत्मा ही है, क्योंकि परिणामी परिणामके स्वरूपका कर्ता होनेसे परिणामसे अनन्य है; और जो उस आत्माका तथाविध परिणाम है वह जीवमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्योकी परिणामलक्षणक्रियाके आत्ममयपना स्वीकार किया गया है । और फिर, जो जीवमयी क्रिया है वह आत्माके द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्य होनेसे कर्म है । इस कारण परमार्थतः आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्मका ही कर्ता है, किन्तु पुद्गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्मका नही । प्रश्न—तब फिर द्रव्यकर्मका कर्ता कौन है ? उत्तर—निश्चयतः पुद्गलका परिणाम वास्तवमे स्वयं पुद्गल ही है, क्योंकि परिणामी परिणामके स्वरूपका कर्ता होनेसे परिणामसे अनन्य है; और जो उस पुद्गलका तथाविध परिणाम है वह पुद्गलमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्योकी परिणामस्वरूप क्रियाके निजमयपना स्वीकार किया गया है; और फिर, जो पुद्गलयी क्रिया है वह पुद्गलके द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्य होनेसे कर्म है । इस कारण परमार्थतः पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्मका ही कर्ता है, किन्तु आत्माके परिणामस्वरूप भावकर्मका नही । इससे यह जानना चाहिये कि आत्मा आत्मस्वरूपसे परिणमता है, पुद्गलस्वरूपसे नही परिणमता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि विकारभावके कारण द्रव्य

कस्य द्रव्यकर्मणः । अथ द्रव्यकर्मणः कः कर्तेति चेत् । पुद्गलपरिणामो हि तावत्स्वयं पुद्गल एव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात् । यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा पुद्गलमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात् । या च क्रिया सा पुनः पुद्गलेन स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म । ततस्तस्य परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः । तत आत्मात्मस्वरूपेण परिणमति न पुद्गलस्वरूपेण परिणमति ॥ १२२ ॥

इति जीवमयी क्रिया कर्मन् इति मता तत् कर्मन् न तु कर्तृ । **मूलधातु**–भू सत्तायां, मनु अवबोधने । **उभयपदविवरण**—परिणामो परिणाम आदा आत्मा–प्र० एक० । सय स्वयं पुण पुनः त्ति इति ण न दु तु–अव्यय । सा किरिया क्रिया जीवमया जीवमयी–प्रथमा एक० । होदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कम्म कर्म–प्र० एक० । मदा मता–प्र० एक० । तम्हा तस्मात्–पचमी एक० । कम्मस्स कर्मण –षष्ठी एक० । कत्ता कर्ता–प्र० एक० । **निरुक्ति**—परिणमन परिणाम, जीवेन निर्वृत्ता जीवमयी, करोतीति कर्ता ॥ १२२ ॥

कर्मबन्धन है और इससे नरनारकादिपर्यायात्मक संसार चलता रहता है । अब इस गाथामे जीवको परमार्थतः द्रव्यकर्मका अकर्ता प्रकट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जीवका परिणाम स्वय जीव ही है, क्योकि परिणामी (जीव) अपने परिणामस्वरूपका कर्ता होता है और परिणामी परिणामसे अनन्य होता है । (२) जीवका परिणाम जीवमयी ही क्रिया है, क्योकि प्रत्येक द्रव्यकी परिणामरूप क्रिया उसी द्रव्यमय हुआ करती है । (३) जीवकी परिणामक्रिया मात्र जीवके द्वारा ही प्राप्य होनेसे जीवका कर्म है । (४) निश्चयतः जीव अपने भावकर्मका कर्ता है । (५) जीव पुद्गलपरिणामात्मक द्रव्यकर्मका कर्ता नही है, क्योकि किसी भी द्रव्यका अन्य द्रव्यमे अत्यन्ताभाव होनेसे कर्तृकर्मभाव नही होता । (६) पुद्गल (कर्म) का परिणाम स्वय पुद्गल ही है, क्योकि परिणामी (पुद्गल) अपने परिणामस्वरूपका कर्ता होता है और परिणामी परिणामसे अनन्य होता है । (७) पुद्गलका परिणाम पुद्गलमयी ही क्रिया है, क्योकि प्रत्येक द्रव्यकी परिणामस्वरूप क्रिया उसी द्रव्यमय हुआ करती है । (८) पुद्गलकी कर्मपरिणाम रूप क्रिया मात्र पुद्गलके द्वारा ही प्राप्य होनेसे पुद्गलका कर्म है । (९) निश्चयतः पुद्गलात्मक कार्माणवर्गणास्कध अपने कर्मत्व परिणामका कर्ता है । (१०) पुद्गल कार्माणस्कंध जीवविकारका कर्ता नही है, क्योकि किसी भी द्रव्यका अन्य द्रव्यमें अत्यन्ताभाव होनेसे कर्तृकर्मभाव नही होता । (१०) निश्चयसे जीव जीवस्वरूपसे ही परिणमता है पुद्गलस्वरूपसे नही परिणमता, अतः परमार्थसे जीव द्रव्यकर्मका अकर्ता है ।

अथ किं तत्स्वरूपं येनात्मा परिणमतीति तदावेदयति—

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ।। १२३ ।।

परिणमे चेतनासे, आत्मा अरु चेतना त्रिधा होती ।
ज्ञान कर्म विधिफलमें, होनेसे स्वत्वसंचेतन ।।१२३।।

परिणमति चेतनया आत्मा पुन चेतना त्रिधाभिमता । सा पुन ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ।।१२३।।

यतो हि नाम चैतन्यमात्मनः स्वधर्मव्यापकत्व, तनश्चेतनैवात्मनः स्वरूप तया खल्वात्मा परिणमति । य. कश्चनाप्यात्मनः परिणामः स सर्वोऽपि चेतनां नातिवर्तत इति तात्पर्यम् ।

नामसंज्ञ—चेदणा अत्त पुण तिधा अभिमदा त्व पुण णाण कम्म फल वा कम्म भणिदा । **धातुसंज्ञ**—परि णम प्रह्वत्वे, भण कथने । **प्रातिपदिक**—चेतना आत्मन् पुनर् चेतना त्रिधा अभिमता तत् ज्ञान कर्मन् फल वा कर्मन् भणिता । **मूलधातु**—परि णम प्रह्वत्वे, चिती संज्ञाने, अभि मनु अवबोधने, भण

सिद्धान्त—(१) जीव जीवविकारका कर्ता है । (२) जीव द्रव्यकर्मका अकर्ता है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—मैं अपने परिणामका ही कर्ता हूं अन्य कर्मादिकका नही ऐसा जानकर परविषयक विकल्प छोड़कर अपनेमे अपना ही स्वरूप निरखना ।।१२२।।

अब वह कौनसा स्वरूप है जिस रूपसे आत्मा परिणमता है इसके उत्तरमे उस स्वरूपको अपनी ओर झांकते हैं—[**आत्मा**] आत्मा [**चेतनया**] चेतनारूपसे [**परिणमति**] परिणमता है । [**पुनः**] और [**चेतना**] चेतना [**त्रिधा अभिमता**] तीन प्रकारसे मानी गई है; [**पुनः**] अर्थात् [**सा**] वह चेतना [**ज्ञाने**] ज्ञानमे, [**कर्मणि**] कर्ममे [**वा**] अथवा [**कर्मणः फले**] कर्मफलमे [**भणिता**] कही गई है ।

तात्पर्य—आत्मा ज्ञानचेतना, कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाके रूपसे परिणमता है ।

टीकार्थ—चूंकि निश्चयतः चैतन्य आत्माका स्वधर्मव्यापकत्व है, इस कारण चेतना ही आत्माका स्वरूप है; उसरूपसे वास्तवमे आत्मा परिणमता है । आत्माका जो कुछ भी परिणाम हो वह सब ही चेतनाका उल्लंघन नही करता, यह तात्पर्य है । और चेतना ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूपसे तीन प्रकारकी है । उनमें ज्ञानपरिणति तो ज्ञानचेतना है, कर्मपरिणति कर्मचेतना है और कर्मफलपरिणति कर्मफलचेतना है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे परमार्थसे जीवको द्रव्यकर्मका अकर्ता प्रकट किया गया था । अब इस गाथामें आत्माका वह स्वरूप बताया गया है जिस स्वरूपसे आत्मा परि-

चेतना पुनर्ज्ञानकर्मकर्मफलत्वेन त्रेधा। तत्र ज्ञानपरिणतिर्ज्ञानचेतना, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतना ॥ १२३ ॥

शब्दार्थ । **उभयपदविवरण**—परिणमदि परिणमति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। चेदणाए चेतनया–तृतीया एक०। आदा आत्मा चेदणा चेतना–प्रथमा एक०। तिधा त्रिधा पुण पुन वा–अव्यय। अभिमदा अभिमता–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। सा–प्र० ए०। णाणे ज्ञाने कम्मे कर्मणि फलम्मि फले–सप्तमी एकवचन। कम्मणो कर्मण –षष्ठी एक०। भणिदा भणिता–प्र० एक० कृदन्त क्रिया। **निरुक्ति** -चेत्यते अनया इति चेतना ॥ १२३ ॥

णमता है।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्माका स्वरूप चेतना ही है, क्योंकि चेतना ही आत्माके सब परिणामोंमें व्यापक है। (२) आत्मा चेतनासे ही परिणमता रहता है। (३) चेतना ज्ञान-चेतना कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाके रूपसे तीन प्रकारकी है। (४) यहाँ चेतनाके उक्त तीन प्रकार निश्चयदृष्टिसे कहे गये हैं अतः आत्माकी शुद्ध अशुद्ध सभी स्थितियोमे घटित होगे। (५) ज्ञानकी परिणति ज्ञानचेतना है। (६) ज्ञानके कार्यकी परिणति कर्मचेतना है। (७) ज्ञानके कार्यके फलकी परिणति कर्मफलचेतना है। (८) अशुद्ध स्थितिमे ज्ञानातिरिक्त अन्य भावमे यह मै हू ऐसी चेतनाको अशुद्ध ज्ञानचेतना अथवा अज्ञानचेतना कहते है। (९) अशुद्ध स्थितिमे ज्ञानातिरिक्त अन्य भावमे इसे मै करता हूं ऐसी चेतनाको अशुद्ध कर्मचेतना कहते है। (१०) अशुद्ध स्थितिमे ज्ञानातिरिक्त अन्य भावमे इसे मैं भोगता हू ऐसी चेतनाको अशुद्ध कर्मफलचेतना कहते है।

सिद्धान्त—(१) आत्मा निश्चयत अपने ज्ञानको व ज्ञानवृत्ति व ज्ञानवृत्तिफलको चेतता है।

दृष्टि—१– कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३)।

प्रयोग—मैं अपने ही स्वरूपको अपनी परिणतिको अपनी ही परिणतिके फल आनन्दादिको अनुभवता हू ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर अन्यविषयक विकल्प छोडकर अपनेको अनुभवना व परम विश्राम पाना ॥ १२३ ॥

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफलका स्वरूप अपने समीप निरखते हैं—**[अर्थविकल्पः]** स्व-पर पदार्थोंका अवभासन **[ज्ञानं]** ज्ञान है; **[जीवेन]** जीवके द्वारा **[यत् समारब्धं]** जो किया जा रहा हो **[तत् कर्म]** वह कर्म है, **[अनेकविधं]** और अनेक प्रकारका **[सौख्यं वा दुःखं वा]** सुख अथवा दुःख **[फलं इति भणितम्]** कर्मफल कहा गया है।

तात्पर्य—अर्थप्रतिभास ज्ञान है। शुद्ध, शुभ व अशुभ भावकर्म हैं, निराकुलता या

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपमुपवर्णयति—

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं ।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥१२४॥

ज्ञान अर्थविभासन, कर्म हुआ जीवभावका होना ।
उसका फल है नाना, सुख अथवा दुःखका होना ॥१२४॥

ज्ञानमर्थविकल्पः कर्म जीवेन यत्समारब्धम् । तदनेकविधं भणितं फलमिति सौख्यं वा दुःखं वा ॥ १२४ ॥

अर्थविकल्पस्तावत् ज्ञानम् । तत्र कः खल्वर्थः, स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं, विकल्पस्तदाकारावभासनम् । यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारोऽर्थविकल्पस्तद् ज्ञानम् । क्रियमाणमात्मना कर्म, क्रियमाणः खल्वात्मना प्रतिक्षणं तेन तेन भावेन भवता यः

नामसंज्ञ—णाण अट्ठवियप्प कम्म जीव ज समारद्ध त अणेगविध भणिद फल ति सोक्ख व दुक्ख वा । **धातुसंज्ञ**—रभ आरंभ, भण कथने । **प्रातिपदिक**—ज्ञान अर्थविकल्प कर्मन् जीव यत् समारब्ध तत् अनेकविध भणित फल इति सौख्य वा दुःख वा । **मूलधातु**—रभ राभस्ये, भण शब्दार्थ । **उभयपदविव-**

मुख व दुःख कर्मफल है ।

टीकार्थ—वास्तवमे अर्थविकल्प ज्ञान है । वहाँ अर्थ क्या है ? स्व-परके विभागसे अवस्थित विश्व अर्थ है । उसके आकारोंका अवभासन विकल्प है । सो जो दर्पणके निजविस्तारकी तरह जिसमे एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते है, ऐसा अर्थविकल्प ज्ञान है । जो आत्माके द्वारा किया जाता है वह कर्म है । प्रतिक्षण उस उस भावसे होता हुआ आत्माके द्वारा वास्तवमे किया जाने वाला जो उसका भाव है वही, आत्माके द्वारा प्राप्य होने से कर्म है । और वह कर्म एक प्रकारका होनेपर भी, द्रव्यकर्मरूप उपाधिके सान्निध्यके सद्भाव और असद्भावके कारण अनेक प्रकारका है । उस कर्मसे निष्पाद्य सुख-दुःख कर्मफल है । वहाँ द्रव्यकर्मरूप उपाधिके सान्निध्यके असद्भावके कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्व लक्षण वाला स्वाभाविक सुख है; और द्रव्यकर्मरूप उपाधिके सान्निध्यके सद्भावके कारण जो कर्म होता है, उसका फल सौख्यका लक्षण अनाकुलता न होनेसे विकृतिभूत दुःख है । इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफलके स्वरूपका निर्णय है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आत्मा जिस स्वरूपसे परिणमता है उस स्वरूपको प्रकट किया गया था । अब इस गाथामें ज्ञान, कर्म व कर्मफलका स्वरूप वर्णित किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अर्थविकल्पको ज्ञान कहते हैं । (२) एक स्व और अनन्त पर समस्त सत् पदार्थोंको अर्थ कहते हैं । (३) पदार्थोंके आकारके अवभासनको अर्थात् पदार्थोंके

तद्भावः स एव कर्मात्मना प्राप्यत्वात् । तत्त्वेकविधमपि द्रव्यकर्मोपाधिसन्निधिसद्भावासद्भावाभ्यामनेकविधम् । तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदुःखं तत्कर्मफलम् । तत्र द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्यासद्भावात्कर्म तस्य फलमनाकुलत्वलक्षणं प्रकृतिभूतं सौख्यं, यत्तु द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्यसद्भावात्कर्म तस्य फलं सौख्यलक्षणाभावाद्विकृतिभूतं दुःखम् । एवं ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपनिश्चयः ।। १२४ ।।

रण—णाण ज्ञान अट्ठवियप्पो अर्थविकल्प कम्म कर्म त तत् अणेगविध अनेकविध फल सोक्ख सौख्य दुक्ख दुःखं-प्रथमा एकवचन । जीवेण जीवेन-तृतीया एकवचन । समारद्ध समारब्ध-प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । भणिद भणित-प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—ज्ञप्ति ज्ञानम्, विकल्पन विकल्प, क्रियते इति कर्म । **समास**—अर्थस्य विकल्पः अर्थविकल्पः ।। १२४ ।।

जाननेको विकल्प कहते है । (४) शुद्ध स्थितिमे आत्माके द्वारा किया जाने वाला जानन है वह कर्म है, क्योकि वही आत्माके द्वारा प्राप्य है । (५) शुद्ध स्थितिमे शुद्ध जाननरूप कर्मका जो अनाकुलतास्वरूप सहजानन्दानुभवन है वह कर्मफल है । (६) कर्मोपाधिसहित स्थितिमे जीवका ज्ञानविकल्प है वह अज्ञानपरिणत ज्ञान है । (७) सोपाधि स्थितिमे आत्माके द्वारा किया जाने वाला विकृत कल्पनामय ज्ञानविकल्प है वह कर्म है । (८) सोपाधि स्थितिमे उस उपरक्त ज्ञानविकल्पसे निष्पाद्य विकाररूप सुख दुःखानुभवन है वह कर्मफल है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध निश्चयसे कर्ता, कर्म व कर्मफल शुद्ध आत्मामे घटित होते है । (२) अशुद्ध निश्चयसे कर्ता, कर्म व कर्मफल सोपाधि (अशुद्ध) आत्मामे घटित होते है ।

दृष्टि—१- कारककारकिभेदक सद्भूत व्यवहार (७३) । २- कारककारकिभेदक अशुद्ध सद्भूत व्यवहार (७३अ) ।

प्रयोग—कर्ता, कर्म व कर्मफल निश्चयतः एक आत्मवस्तुमे ही है ऐसा जानकर अन्य पदार्थका विकल्प छोडकर अपनेमे अपनी सहज वृत्ति और सहज आनंदानुभव होने देना ।।१२४।।

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफलको आत्मरूपसे निश्चित करते है-- [**आत्मा परिणामात्मा**] आत्मा परिणामस्वभावी है । [**परिणामः**] परिणाम [**ज्ञानकर्मफलभावी**] ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होने वाला है; [**तस्मात्**] इस कारण [**ज्ञानं, कर्म फलं च**] ज्ञान, कर्म और कर्मफल [**आत्मा ज्ञातव्यः**] आत्मस्वरूप जानना चाहिये ।

तात्पर्य—आत्मा परिणामस्वभावी है । परिणाम ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होने वाला है । आत्माको ज्ञान, कर्म व कर्मफलरूप जानना चाहिए ।

टीकार्थ—नियमतः आत्मा वास्तवमे परिणामस्वरूप ही है, क्योंकि 'परिणाम स्वयं आत्मा है' ऐसा ११२वी गाथामें श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवने स्वयं कहा है; और परिणाम चेतनास्वरूप होनेसे ज्ञान, कर्म और कर्मफलरूप होनेके स्वभाव वाला है, क्योकि चेतना तन्मय

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यात्मत्वेन निश्चिनोति—

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी ।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥१२५॥

आत्मा परिणामात्मक, परिणाम भि ज्ञानकर्मफलभावी ।
इससे ज्ञान कर्म फल, तीनोंको हि आत्मा मानो ॥१२५॥

आत्मा परिणामात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी । तस्मात् ज्ञान कर्म फल चात्मा ज्ञातव्यः ॥ १२५ ॥

आत्मा हि तावत्परिणामात्मैव, परिणामः स्वयमात्मेति स्वयमुक्तत्वात् । परिणामस्तु चेतनात्मकत्वेन ज्ञान कर्म कर्मफलं वा भवितुं शीलः, तन्मयत्वाच्चेतनायाः । ततो ज्ञानं कर्म कर्मफल चात्मैव । एव हि शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसपर्कासंभवात्पर्यायाणां द्रव्यान्तःप्रलया-च्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्ठते ॥ १२५ ॥

नामसंज्ञ—अप्प परिणामप्प परिणाम णाण कम्मफलभावि त णाण कम्म फल च अत्त मुणेदव्व । **धातुसंज्ञ**—मुण ज्ञाने । **प्रातिपदिक**—आत्मन् परिणामात्मन् परिणाम ज्ञान कर्मफलभाविन् तत् ज्ञान कर्मन् फल आत्मन् ज्ञातव्य । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—अप्पा आत्मा परिणामप्पा परिणामात्मा णाणकम्मफलभावी ज्ञानकर्मफलभावी–प्रथमा एक० । तम्हा तस्मात्–पचमी एक० । णाण ज्ञानं कम्म कर्म फल आदा आत्मा–प्रथमा एकवचन । मुणेदव्वो ज्ञातव्य.–प्रथमा एकवचन कृदत क्रिया । **निरुक्ति**– अततीति आत्मा, क्रियते यत्तत् कर्म, ज्ञप्ति ज्ञान, फलन फल, परिणमन परिणाम । **समास**–परिणाम एव आत्मा यस्य स. परिणामात्मा, ज्ञान च कर्म च फल चेति ज्ञानकर्मफलानि तेषु भवितु शील ज्ञानकर्मफलभावो ॥ १२५ ॥

ज्ञानमय, कर्ममय अथवा कर्मफलमय होती है । इसलिये ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है । इस प्रकार वास्तवमे शुद्ध द्रव्यके निरूपणमें परद्रव्यका सम्पर्क असंभव होनेसे और पर्यायों का द्रव्यके भीतर प्रलय हो जानेसे आत्मा शुद्ध द्रव्य हो रहता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे ज्ञान, कर्म व कर्मफलका स्वरूप बताया गया था । अब इस गाथामे ज्ञान, कर्म व कर्मफलको आत्मरूपसे निश्चित किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य होनेके कारण आत्मा परिणामस्वरूप है । (२) आत्माका परिणाम चेतनात्मक है । (३) चेतनात्मक होनेके कारण परिणाम ज्ञान, कर्म व कर्मफलरूप है, क्योकि चेतना चेतनाकर्म व चेतनाकर्मफलसे तन्मय है । (४) चेतनात्मक होनेसे ज्ञान कर्म व कर्मफल आत्मा ही है । (५) एक द्रव्यके निरूपणमे परद्रव्यसे सम्पर्कका अभाव होनेसे व पर्यायोंका द्रव्यमें अन्तः प्रलय होनेसे आत्मा शुद्ध द्रव्य ही ठहरता है ।

सिद्धान्त—(१) ज्ञान, कर्म व कर्मफल आत्मरूप ही हैं ।

अथैवमात्मनो ज्ञेयतामापन्नस्य शुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वसिद्धौ शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसंहरति —

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥१२६॥

कर्ता करण कर्म फल, चारों ही जीवको सुनिश्चित कर ।
परमें न परिणमे जो, वह पाता शुद्ध आत्माको ॥१२६॥

कर्ता करण कर्म कर्मफल चात्मेति निश्चितवान् श्रमण । परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मान लभते शुद्धम् ॥

यो हि नामैवं कर्तार करण कर्म कर्मफल चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्य परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसपर्क द्रव्यान्त.प्रलीनपर्याय च शुद्धमात्मानमुपलभत, न पुनरन्य ।

नामसंज्ञ - कत्तार करण कम्म फल च अप्प त्ति णिच्छिद समण ण एव अण्ण जदि अप्प सुद्ध । **धातुसंज्ञ**—परि नम नम्रीभावे, लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—कर्तृ करण कर्मन् फल च आत्मन् इति निश्चित

दृष्टि—१- उपादानदृष्टि (४९ ब) ।

प्रयोग—परको न मै करता हू, परको न मै भोगता हू, जो कुछ मेरा होता है वह मुझमे ही मुझसे होता है यह जानकर निर्विकल्प होकर जो अपनेमे सहज हो उसे होने देना ॥ १२५ ॥

अब इस प्रकार ज्ञेयत्वको प्राप्त आत्माकी शुद्धताके निश्चयसे ज्ञानतत्त्वकी सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुये द्रव्यसामान्यके वर्णनका उपसहार करते है—[**यदि**] यदि [**कर्ता, करणं, कर्म, कर्मफलं च आत्मा**] 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है' [**इति निश्चितः**] ऐसा निश्चय कर चुका [**श्रमणः**] श्रमण [**अन्यत्**] अन्यरूप [**न एव परिणमति**] नही परिणमता है तो वह [**शुद्धं आत्मानं**] शुद्ध आत्माको [**लभते**] प्राप्त करता है ।

तात्पर्य—आत्मा ही सर्वस्व है, अन्य कुछ नही, ऐसा मानने वाला शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है ।

टीकार्थ—जो आत्मा इस प्रकार कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्माको निश्चय पूर्वक मानकर ही वास्तवमें परद्रव्यरूप नही परिणमता वही आत्मा जिसका परद्रव्यके साथ संपर्क बंद हो गया है, और जिसकी पर्यायें द्रव्यके भीतर प्रलीन हो गई है ऐसे शुद्धात्माको उपलब्ध करता है, परन्तु अन्य कोई नही । इसका स्पष्टीकरण—जब अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्मकी बंधनरूप उपाधिकी संनिधिसे उत्पन्न हुये विकारके द्वारा जिसकी स्वपरिणति रंजित थी ऐसा

तथाहि—यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्ति-र्जपापुष्पसंनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव परारोपितविकारोऽहमासं संसारी तदापि न नाम मम कोऽप्यासीत्, तदाप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तासम्, अह-मेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः कारणमासम, अहमेक एवोपरक्तचित्परिणमनस्वभावे-नात्मना प्राप्यः कर्मासम्, अहमेक एव चोपरक्तचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यं सौख्यविपर्य-स्तलक्षणं दुःखाख्यं कर्मफलमासम् । इदानीं पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसन्निधि-

श्रमण न एव अन्यत् यदि आत्मन् शुद्ध । **मूलधातु**—परि नम नम्रीभावे, डुलभष प्राप्तौ । **उभयपदविव-रण**—कत्ता कर्ता कम्म कर्म फल करण अप्पा आत्मा–प्रथमा एकवचन । णिच्छिदो निश्चितवान्–प्रथमा

मैं जपा कुसुमकी निकटतासे उत्पन्न हुई लालिमासे रंजित स्फटिक मणिकी भांति–परके द्वारा आरोपित विकार वाला होनेसे संसारी था, तब भी (अज्ञानदशामें भी) वास्तवमें मेरा कोई भी नही था । तब भी मैं अकेला ही कर्ता था, क्योंकि मैं अकेला ही विकृत चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतन्त्र कर्ता था; मैं अकेला ही करण था, मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभावके द्वारा साधकतम कारण था; मैं अकेला ही उपरक्त चित्परिणमन स्वभावके कारण अपने द्वारा प्राप्य कर्म था; और मैं अकेला ही उपरक्त चित्परिणमन स्वभावका निष्पाद्य उत्पन्न सौख्यसे विपरीत लक्षण वाला दुःख नामक कर्मफल था । और अब अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्मकी बंधनरूप उपाधिको सन्निधिके नाशसे जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई है ऐसा मैं जपा-कुसुमको निकटताके नाशसे जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई हो ऐसे स्फटिकमणि की भांति जिसका परके द्वारा आरोपित विकार बंद हो गया है, ऐसा केवल मोक्षार्थी हूं । इस मुमुक्षु दशामें भी वास्तवमें मेरा कोई भी नहीं है । अभी भी मैं अकेला हो सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभावसे स्वतन्त्र कर्ता हूं, मैं अकेला ही सुविशुद्ध चित्स्वभावसे साधकतम करण हूं; मैं अकेला ही सुविशुद्ध चित्परिणमन स्वभावसे आत्माके द्वारा प्राप्य कर्म हूं; और मैं अकेला ही सुविशुद्ध चित्परिणमन स्वभावका निष्पाद्य अनाकुलता लक्षण वाला सौख्य नामक कर्मफल हूं । इस प्रकार बंधमार्गमें तथा मोक्षमार्गमे अकेले आत्माको ही भाने वाले, एकत्वपरिणमनके उन्मुख परमाणुकी तरह किसी समय परद्रव्यरूप परिणति नही होती । और एकत्वभावसे परिणत परमाणुकी तरह एकत्वको भाने वाला आत्मा परके साथ संबद्ध नही होता; तदनन्तर परद्रव्य के साथ असंबद्धताके कारण वह सुविशुद्ध होता है । और कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफलको आत्मरूपसे भाता हुआ वह आत्मा पर्यायोंसे संकीर्ण नही होता; और इस कारण पर्यायोंके द्वारा संकीर्ण न होनेसे सुविशुद्ध होता है ।

ध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षुः, इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति, इदानीमप्यहमेक एव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणमस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणामनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुलत्वलक्षणं सौख्याख्यं कर्मफलमस्मि । एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः

एक० कृदन्त क्रिया । समणो श्रमण -प्र० एक० । परिणमदि परिणमति लहदि लभते-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । अण्णं अन्यत्-द्वि० एक० । अप्पाणं आत्मानं सुद्ध शुद्ध-द्वितीया एक० । निरुक्ति—करो-

अब इसी आशयको व्यक्त करनेके लिये काव्य कहते है— द्रव्यान्तर इत्यादि । **अर्थ**—अन्य द्रव्यसे भिन्नताके द्वारा हटा लिया है आत्माको जिसने तथा समस्त विशेषोंके समूहको सामान्यमे लीन किया है जिसने ऐसा जो यह, उद्धत मोहकी लक्ष्मीको लूट लेने वाला शुद्धनय है, उसने उत्कट विवेकके द्वारा आत्मस्वरूपको विविक्त किया है ।

अब शुद्धनयके द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करने वाले आत्माकी महिमा बतानेके लिये काव्य कहते हैं इत्युच्छेदात् इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार परपरिणतिके उच्छेदसे तथा कर्ता कर्म इत्यादि भेदोंकी भ्रांतिके नाशसे भी सुचिरकालसे जिसने शुद्ध आत्मतत्त्वको उपलब्ध किया है, ऐसा विकासमान सहज महिमा वाला यह आत्मा, चैतन्यमात्ररूप निर्मल तेजमे लीन होता हुआ सर्वदा मुक्त ही रहेगा ।

अब द्रव्यविशेषके वर्णनकी सूचनाके लिये श्लोक कहते है, द्रव्य इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार द्रव्यसामान्यका विज्ञान मूलमे है जिसके ऐसा मनोभाव करके, अब द्रव्यविशेषके परिज्ञानका विस्तार किया जाता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे ज्ञान, कर्म व कर्मफलको आत्मरूपसे निश्चित किया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि सर्व स्थितियोंमे व सर्व कारकोंमे शुद्ध (केवल) आत्मतत्त्वकी ही उपलब्धि होती है ।

तथ्यप्रकाश—(१) वस्तुतः कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यको परिणमानेमे असमर्थ है । (२) जो कर्ता करण कर्म व कर्मफल सब आत्मा ही है यह निश्चित कर लेता है वह परद्रव्यको परिणमानेका विकल्प ही नहीं करता । (३) जो अपने सब कारकोंमे स्वको ही निरखता है और विकल्पमें भी परद्रव्यरूप नहीं परिणमता वही परसंपर्करहित विलीन पर्याय

परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते । परमाणुरिवभावितैकत्वश्च परेण नो संपृच्यते । ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति । कर्तृ करणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न संकीर्यते, ततः पर्यायासंकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति ।। द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मासामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः । इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मीलुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः ।।७।। इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेदभ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः । सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ।।८।। द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्नं कृत्वेति मानसम् । तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भारः क्रियतेऽधुना ।।९।। इति द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनम् ।। १२६ ।।

तीति कर्ता, क्रियते अनेनेति करण, क्रियते यत् कर्म ।। १२६ ।।

शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है । (४) ज्ञानीके चिन्तनमें केवल आत्मा ही सब कारकरूप है । (५) जब मैं कर्मविपाकसे आरोपित विकार वाला था तब भी मैं ही अकेला उपरक्तचित्स्वभावसे परिणमता हुआ स्वतंत्र कर्ता था । (६) विकारपरिणमनके समय मैं ही अकेला उपरक्त चित्स्वभावसे साधकतम कारण था । (७) विकारपरिणमनके समय मैं ही विकारपरिणमनरूप हुआ अकेला अपने द्वारा प्राप्य कर्म था । (८) विकारपरिणमनके समय मैं ही अकेला उपरक्तचित्परिणमन स्वभावका निष्पाद्य क्लेशरूप कर्मफल था । (९) अब मैं उपाधिविध्वंससे प्रकट सहजात्मवृत्ति वाला परारोपित विकारसे अनाक्रान्त मोक्षाभिलाषी हुआ हूं सो इस समय भी मैं अकेला ही विशुद्ध चित्स्वभावसे स्वतंत्र कर्ता हूं । (१०) विकारप्रशमनके समय मैं ही अकेला विशुद्धचित्स्वभावसे साधकतम करण हू । (११) विकारप्रशमनके समय मैं ही अकेला विशुद्ध चित्स्वभावरूप परिणमने वाला आत्मा द्वारा प्राप्य कर्म हूं । (१२) विकारप्रशमनके समय मैं ही अकेला विशुद्ध चित्स्वभावका निष्पाद्य अनाकुल स्वरूप सहज आनन्दरूप कर्मफल हूं । (१३) बन्धपद्धति व मोक्षपद्धतिमे कारकभूत यह मैं एक ही आत्मा हूं । (१४) बन्धपद्धति व मोक्षपद्धतिमें एक आत्माको ही निरखने वाले भव्यात्माके परद्रव्य परिणति नही होती है । (१५) एकत्वनिश्चयगत जीवके परद्रव्यसंपर्क नही होता । (१६) आत्मा परद्रव्यसंपर्करहित हो जानेसे शुद्ध हो जाता है । (१७) कर्ता, करण, कर्म व कर्मफल को आत्मरूपसे भाने वाला पर्यायोंसे संकीर्ण नही होता । (१८) पर्यायोंसे संकीर्ण न होने वाला जीव सुविशुद्ध होता है ।

सिद्धान्त––(१) सोपाधि स्थितिमें कर्ता करण कर्म कर्मफल परारोपित विकार वाला यह जीव है । (२) निरुपाधि स्थितिमें कर्ता करण कर्म कर्मफल यह निर्विकार जीव है ।

अथ द्रव्यविशेषप्रज्ञापनं तत्र द्रव्यस्य जीवाजीवत्वविशेषं निश्चिनोति—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अज्जीवं ॥१२७॥

द्रव्य सु जीव अजीव हि, जीव सदा चेतनोपयोगमयी :
पुद्गलद्रव्यादि अचे-तन द्रव्य अजीव कहलाते ॥१२७॥

द्रव्यं जीवोऽजीवो जीवः पुनश्चेतनोपयोगमयः। पुद्गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनो भवति चाजीवः ॥ १२७ ॥

इह हि द्रव्यमेकत्वनिबन्धनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढविशेषलक्षणसद्भावादन्योन्यव्यवच्छेदेन जीवाजीवत्वविशेषमुपढौकते। तत्र जीवस्यात्मद्रव्यमेवैका व्यक्तिः। अजीवस्य पुनः पुद्गलद्रव्यं धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः। विशेषलक्षणं जीवस्य चेतनोपयोगमयत्वं, अजीवस्य पुनरचेतनत्वम्। तत्र यत्र स्वधर्मव्यापकत्वात्स्व-

नामसंज्ञ—दव्व जीव अजीव जीव पुण चेदणोवओगमअ पोग्गलदव्वप्पमुह अचेदण य अजीव। **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—द्रव्य जीव अजीव जीव पुनर् चेतनोपयोगमय पुद्गलद्रव्यप्रमुख अचेतन च अजीव। **मूलधातु**—भू सत्तायां। **उभयपदविवरण**—दव्वं द्रव्यं जीवं जीवः अजीवं अजीवः

दृष्टि—१- अशुद्ध निश्चयनय (४७)। २- शुद्ध निश्चयनय (४६)।

प्रयोग—सर्वत्र अपना एकत्व निरखकर सहज एकत्वमें रमनेका पौरुष होने देना ॥१२६॥

अब द्रव्यविशेषका प्रज्ञापन होता है—उसमे पहिले द्रव्यके जीवाजीवस्वरूप विशेषको निश्चित करते है—[**द्रव्यं**] द्रव्य [**जीवः अजीवः**] जीव और अजीव है। [**पुनः**] उनमें [**चेतनोपयोगमयः**] चेतनास्वरूप ज्ञान दर्शन उपयोग वाला तो [**जीवः**] जीव है, [**च**] और [**पुद्गलद्रव्यप्रमुखः अचेतनः**] पुद्गलद्रव्यादिक चेतनारहित द्रव्य [**अजीवः भवति**] अजीव है।

तात्पर्य—द्रव्यके दो प्रकार है—जीव और अजीव, उनमें चेतन तो जीव है और अचेतन पुद्गल धर्म अधर्म आकाश व काल अजीव है।

टीकार्थ—यहां (इस विश्वमें) द्रव्य, एकत्वके कारणभूत द्रव्यत्वसामान्यको न छोडता हुआ ही उसमें रहने वाले विशेष लक्षणोके सद्भावके कारण एक-दूसरेसे पृथक् किये जानेसे जीवत्वरूप और अजीवत्वरूप भेदको प्राप्त होता है। उसमे, जीवका आत्मद्रव्य ही एक प्रकार है; और अजीवके पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य तथा आकाशद्रव्य—ये पाँच प्रकार हैं। जीवका विशेष लक्षण चेतनोपयोगमयत्व है; और अजीवका अचेतनत्व है। उनमेंसे जिसमें स्वधर्मोंमें व्याप्त होनेसे स्वरूपत्वसे प्रकाशित होती हुई, अविनाशिनी, भगवती, संवेदनरूप चेतनाके द्वारा, तथा चेतनापरिणामलक्षण, द्रव्यपरिणतिरूप उपयोगके द्वारा निष्पन्नत्व अव-

रूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया तत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणोपयोगेन च निर्वृत्तत्वमवतीर्णं प्रतिभाति स जीवः। यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः ॥१२७॥

जीवो जीवः चेदणोवओगमओ चेतनोपयोगमय. पोग्गलदव्वप्पमुह पुद्गलद्रव्यप्रमुखः अचेदणं अचेतनः अजीवं अजीवः–प्रथमा एकवचन। हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। **निरुक्ति**—द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् यदिति द्रव्य, जीवति जीविष्यति अजीवत् योऽसौ जीवः। **समास**—पुद्गलद्रव्यं प्रमुख येषु सः पुद्गलद्रव्यप्रमुखः ॥ १२७ ॥

तरित प्रतिभासता है वह जीव है। और जिसमे उपयोगके साथ रहने वाली, यथोक्त लक्षण वाली चेतनाका अभाव होनेसे बाहर तथा भीतर अचेतनत्व अवतरित प्रतिभासता है, वह अजीव है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे मात्र ज्ञानस्वरूपकी प्राप्ति होनेपर शुद्धात्माकी उपलब्धि होना बताया गया था। अब इस गाथासे द्रव्यविशेषका प्रज्ञापन किया जायगा जिसमे इस गाथामे द्रव्यके जीव व अजीव ये दो प्रकार बताये गये है।

तथ्यप्रकाश—१– द्रव्य द्रव्य सब द्रव्य हैं इस दृष्टिसे द्रव्यमें द्रव्यत्व सामान्य है। २– द्रव्यमे विशेषलक्षणका सद्भाव अवश्य है जिसके कारण एकद्रव्य दूसरे द्रव्यसे अन्य है यह जाना जाता है। ३– द्रव्यमें अन्योन्यव्यवच्छेद होनेसे द्रव्यके मूलमे जीव व अजीव ये दो प्रकार हैं। ४– जीव तो सब आत्मद्रव्य है। ५– अजीवके ५ प्रकार हैं—पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्य। ६– जीवका विशेष लक्षण चेतना एवं उपयोग है, क्योंकि जीवद्रव्य भगवती चेतनाके द्वारा व चेतनाके परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा रचित है। ७– अजीवका विशेष लक्षण अचेतनपना है, क्योंकि उसमे चेतनाका अभाव होनेसे शक्ति व व्यक्ति दोनोंमे अचेतनपना है।

सिद्धान्त—१– लक्षणभेदसे जीव व अजीवमें विलक्षणता ज्ञात होती है।

दृष्टि—१– वैलक्षण्यनय (२०३)।

प्रयोग—अपना लक्षण निरखकर अपनेको पहचानकर अलक्षण अन्य तत्त्वोंसे विविक्त स्वलक्षणमात्र अन्तस्तत्त्वकी उपासना करना ॥१२७॥

अब लोकालोकपनेके विशेषको निश्चित करते हैं [**आकाशे**] आकाशमें [**यः**] जो भाग [**पुद्गलजीवनिबद्धः**] पुद्गल और जीवसे निबद्ध है, तथा [**धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः वर्तते**] धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और कालद्रव्यसे युक्त है, [**सः**] वह [**सर्वकाले तु**] सदा ही

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति—

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥१२८॥

जितने नभमें रहते, धर्म अधर्म काल जीव व पुद्गल ।
लोकाकाश हि उतनी, अवशिष्ट तथा अलोक सदा ॥१२८॥

पुद्गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य । वर्तते आकाशे यो लोक स सर्वकाले तु ॥ १२८ ॥

अस्ति हि द्रव्यस्य लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टत्व स्वलक्षणसद्भावात् । स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्व, अलोकस्य पुन केवलाकाशात्मकत्वम् । तत्र सर्वद्रव्यव्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गतिस्थिती आस्कन्दतस्तद्गति-स्थितिनिबन्धनभूतौ च धर्माऽधर्मावभिव्याप्यावस्थितौ, सर्वद्रव्यवर्तनानिमित्तभूतश्च कालो नित्य-

---

नामसंज्ञ—पोग्गलजीवणिबद्ध धम्माधम्मत्थिक्कायकालड्ढ आगास ज लोग त सव्वकाल दु । **धातुसंज्ञ**–णि बध बंधने, वत्त वर्तने । **प्रातिपदिक** -पुद्गलजीवनिबद्ध धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य आकाश

[लोकः] लोक है ।

तात्पर्य—आकाशके जितने क्षेत्रमे जीव पुद्गल धर्म अधर्म व कालद्रव्य है वह लोक है ।

टीकार्थ—वास्तवमे द्रव्य लोकत्व और अलोकत्वके भेदसे विशेषवान् है, क्योंकि अपने-अपने लक्षणोका सद्भाव है । लोकका स्वलक्षण षड्द्रव्य समवायात्मकत्व (छह द्रव्यो की समुदायस्वरूपता) है, और अलोकका केवल आकाशात्मकत्व (मात्र आकाशस्वरूपत्व) है । वहाँ सर्वद्रव्योमे व्याप्त होने वाले परम महान आकाशमे, जहाँ जितनेमे गति-स्थिति धर्म वाले जीव तथा पुद्गल गतिस्थितिको प्राप्त होते है, (जहाँ जितनेमे) उन्हे, गतिस्थितिमे निमित्तभूत धर्म तथा अधर्म व्याप्त होकर रहते है और (जहाँ जितनेमे) सर्व द्रव्योंके वर्तनामें निमित्तभूत काल सदा वर्तता है, वह उतना आकाश तथा शेष समस्त द्रव्य उनका समुदाय जिसका स्व-रूपतासे स्वलक्षण है, वह लोक है, और जहाँ जितने आकाशमे जीव तथा पुद्गल की गति-स्थिति नही होती, धर्म तथा अधर्म नही रहते, और काल नही पाया जाता, उतना केवल आकाश जिसका स्व-रूपतासे स्वलक्षण है, वह अलोक है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्यके जीवत्व व अजीवत्व विशेष बताये गये थे । अब इस गाथामें लोक और अलोक भेदका निश्चय किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– छह द्रव्योंका समूह लोक है । २– केवल आकाशात्मक अलोक

दुर्ललितस्तत्तावदाकाशं शेषाण्यशेषाणि द्रव्याणि चेत्यमीषां समवाय आत्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य स लोकः यत्र यावति पुनराकाशे जीवपुद्गलयोर्गतिस्थिती न संभवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ न कालो दुर्ललितस्तावत्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य सोऽलोकः ॥१२८॥

यत् लोक तत् सर्वकाल तु । मूलधातु—नि बन्ध बन्धने, वृतु वर्तने । उभयपदविवरण—पोग्गलजीवणिबद्धो पुद्गलजीवनिबद्ध. धम्माधम्मात्थिकायकालड्ढो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः–प्रथमा एकवचन । आगासे आकाशे–सप्तमी एकवचन । जो य· लोगो लोक: सो सः–प्रथमा एकवचन । सव्वकाले सर्वकाले–सप्तमी एकवचन । दु तु–अव्यय । वट्टदि वर्तते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति—पूर्यते गलयते इति पुद्गल·, जीवतीति जीवः, धरति गतौ जीवपुद्गलान् इति धर्मः (द्रव्यम्), कलयति सर्वाणीति काल·, आकाशन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स आकाशः लोक्यन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स लोकः, सरतीति सर्व । समास—पुद्गला जीवाश्चेति पुद्गलजीवाः तैः निबद्धः पुद्गलजीवनिबद्धः, धर्मश्च अधर्मश्च धर्माधर्मौ धर्माधर्मौ च तौ अस्तिकायौ चेति धर्माधर्मास्तिकायौ धर्माधर्मास्तिकायो च कालश्चेति धर्माधर्मास्तिकाला तैः आढ्य इति धर्माधर्मास्तिकाय कालाढ्य ॥ १२८ ॥

है । ३–चेतनालक्षण जीव है । ४–अचेतनालक्षण अजीव है । ५– गतिस्थिति धर्मात्मक जीव पुद्गलकी गतिमे निमित्तभूत द्रव्य धर्मद्रव्य है । ६– गतिस्थितिधर्मात्मक जीव पुद्गलकी स्थितिमें निमित्तभूत द्रव्य अधर्मद्रव्य है । ७– सर्वद्रव्योंके परिणमनमें निमित्तभूत पदार्थ काल द्रव्य है । ८– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल ये द्रव्य जितने आकाशमें अवस्थित हों वह लोक है । ९– जितने आकाशमे जीव पुद्गलको गतिस्थिति संभव नहीं, धर्म, अधर्म, कालद्रव्य अवस्थित नही उतना केवल आकाश अलोक है ।

सिद्धान्त—१– परके संयोग वियोगसे एक ही द्रव्य दो रूप विदित होता है ।

दृष्टि—१– पर संपर्क सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय (२६अ) ।

प्रयोग—आकाशके असीम परिमाण व लोकके विशाल परिमाणको जानकर बिन्दुमात्रके अनुपातसे भी कम परिचित क्षेत्रका व्यामोह न कर आत्मप्रदेशोंमें आत्मस्वरूपका वैभव अनुभवना ॥१२८॥

अब 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप द्रव्यके भावोंका भेद निश्चित करते हैं—[पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य] पुद्गल·जीवात्मक लोकके [परिणामात्] परिणमनसे, और [संघातात् वा भेदात्] मिलने और पृथक् होनेसे [उत्पादस्थितिभंगाः] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय [जायन्ते] होते हैं ।

तात्पर्य—पुद्गल व जीव ये दो प्रकारके द्रव्य क्रियावान व भाववान है, शेषके द्रव्य

अथ क्रियाभावतद्भावविशेषं निश्चिनोति--

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामादो जायंते संघादादो च भेदादो ॥१२६॥

पुद्गलजीवात्मक इस, लोक हि के परिणामप्रवृत्तिसे वा ।
मिलने व बिछुड़नेसे, होते उत्पाद ध्रौव्य विलय ॥१२६॥

उत्पादस्थितिभङ्गा. पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य । परिणामाज्जायन्ते सघाताद्वा भेदात् ॥ १२६ ॥

क्रियाभाववत्त्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेषः । तत्र भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात् । शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चयः । तत्र परिणाममात्रलक्षणो भावः, परिस्पन्दनलक्षणाक्रिया । तत्र सर्वाण्यपि द्रव्याणि परिणामस्वभाव-

---

नामसंज्ञ—उप्पादट्ठिदिभग पोग्गलजीवप्पग लोग परिणाम सघाद व भेद । **धातुसंज्ञ**—जा प्रादुर्भावे । **प्रातिपदिक**—उत्पादस्थितिभङ्ग पुद्गलजीवात्मक लोक परिणाम सघात वा भेद । **मूलधातु**—जनी प्रादुर्भावे । **उभयपदविवरण**— उप्पादट्ठिदिभगा उत्पादस्थितिभङ्गा –प्रथमा बहुवचन । पोग्गलजीवप्पगस्स पुद्गलजीवात्मकस्य लोगस्स लोकस्य–षष्ठी एकवचन । परिणामादो परिणामात् सघादादो सघातात् भेदादो

सब भाववान ही है क्रियावान नही ।

टीकार्थ—क्रियाभावपनेसे व केवल भाववानपनेसे द्रव्यके भेद होते है । उसमे पुद्गल तथा जीव भाव वाले तथा क्रिया वाले है, क्योंकि परिणाम द्वारा, तथा संघात और भेदके द्वारा वे उत्पन्न होते है, टिकते है और नष्ट होते है । परन्तु शेष द्रव्य भाव वाले ही है, क्योंकि वे परिणामके द्वारा ही उत्पन्न होते है, टिकते है और नष्ट होते हैं; ऐसा निश्चय है । उनमे भावका लक्षण परिणाममात्र है; और क्रियाका लक्षण परिस्पद है । इनमें समस्त ही द्रव्य भाव वाले है, क्योंकि परिणामस्वभाव वाले होनेसे परिणामके द्वारा अन्वय और व्यतिरेकोको प्राप्त होते हुये वे उत्पन्न होते है, टिकते है और नष्ट होते है । परन्तु पुद्गल भाव वाले तो है ही क्रिया वाले भी होते है, क्योंकि परिस्पदस्वभाव वाले होनेसे परिस्पंदके द्वारा पृथक् हुए, संघातके द्वारा एकत्रित होते हुए और एकत्रित पुद्गल पुनः पृथक् होते हुए उत्पन्न होते है, टिकते हैं और नष्ट होते है । तथा जीव भी भाववान तो हैं ही, क्रिया वाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाव वाले होनेसे परिस्पदके द्वारा नवीन कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलोंसे भिन्न जीव उनके साथ एकत्रित हुए कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलोके साथ एकत्रित हुये जीव बादमें

त्वात् परिणामेनोपात्तान्वयव्यतिरेकाण्यवतिष्ठमानोत्पद्यमानभज्यमानानि भाववन्ति भवन्ति । पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति । तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति ॥ १२६ ॥

भेदात्–पचमी एकवचन । जायते जायन्ते–वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । निरुक्ति–उत्पादन उत्पादः, स्थान स्थिति, भञ्जन भङ्गः, सहननं सघातः, भेदन भेदः । समास–उत्पादश्च स्थितिश्च भङ्गश्च उत्पादस्थितिभङ्गाः ॥ १२६ ॥

पृथक् हुए, वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्यका लोक अलोकपनेका विशेष निश्चित किया था । अब इस गाथामे द्रव्यके भावोका क्रियारूप व भावरूप भेद निश्चित किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सर्व द्रव्योंमें कुछ द्रव्य तो क्रियावान व भाववान हैं और कुछ द्रव्य क्रियावान नही, किन्तु केवल भाववान हैं । (२) जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य क्रियावान भी है व भाववान भी है, क्योकि इन द्रव्योमे परिस्पन्द भी है और परिणाम भी है । (३) धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य केवल भाववान है, क्योकि इनमें परिस्पन्द नही है, केवल परिणमन ही है ।

सिद्धान्त—(१) पदार्थोंकी क्रियाका आधार क्रियावती शक्ति है । (२) भावरूप परिणमनका आधार भाववती शक्ति है ।

दृष्टि—१– क्रियावती शक्ति दर्शक अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२७ अ) । २– भाववती शक्ति दर्शक अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२७ ब) ।

प्रयोग—निर्विकल्प आनन्दकी प्राप्तिके लिये भाववती शक्तिका आश्रय कर अपनेको भावमात्र निरखना ॥ १२६ ॥

अब यह बतलाते है कि गुणोके भेदसे द्रव्योंका भेद होता है—[**यैः लिंगैः**] जिन लिंगोसे [**द्रव्यं**] द्रव्य [**जीवः अजीवः च**] जीव और अजीवके रूपमें [**विज्ञातं भवति**] ज्ञात होता है, [**ते**] वे [**तद्भावविशिष्टाः**] तद्भाव विशिष्ट उस उस स्वरूपसे युक्त [**मूर्तामूर्ताः**] मूर्त-अमूर्त [**गुणाः**] गुण [**ज्ञेयाः**] जानने चाहियें ।

तात्पर्य—जिन जिन लक्षणोंसे जीवादिक पदार्थ ज्ञात होते हैं उन लक्षणोंरूप वे गुण कहलाते हैं ।

टीकार्थ—द्रव्यका आश्रय लेकर और परके आश्रयके बिना प्रवर्तमान जिनके द्वारा

अथ द्रव्यविशेषो गुणविशेषादिति प्रज्ञापयति—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
ते तब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ १३० ॥

जिन चिह्नोंसे जाना, जाता जीव व अजीव द्रव्योंको।
वे तद्भावविशेषित, मूर्त अमूर्त गुण वहां जानो ॥१३०॥

लिंगैर्यैर्द्रव्यं जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम्। ते तद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेया. ॥ १३० ॥

द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः। ते च यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति, ये गुणा भवन्ति ते न द्रव्यं भवतीति द्रव्यादतद्भावेन

नामसंज्ञ—लिंग ज दव्व जीव अजीव च विण्णाद त तब्भावविसिट्ठ मुत्तामुत्त गुण णेय। **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां, ञा अवबोधने। **प्रातिपदिक**—लिङ्ग यत् द्रव्य जीव अजीव च विज्ञात तत् तद्भावविशिष्ट मूर्तामूर्त गुण ज्ञेय। **मूलधातु**—भू सत्तायां, ज्ञा अवबोधने। **उभयपदविवरण**—लिंगेहिं लिङ्गैः जेहिं यैः—

द्रव्य पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण है। वे (गुण), 'जो द्रव्य है वे गुण नहीं है और जो गुण है वे द्रव्य नहीं है' इस अपेक्षासे द्रव्यसे अतद्भावके द्वारा भिन्न रहते हुये, लिंग और लिंगीके रूपमे परिचयके समय द्रव्यके लिंगत्वको प्राप्त होते है। अब वे द्रव्यका 'यह जीव है, यह अजीव है' ऐसा भेद उत्पन्न करते है, क्योंकि स्वयं भी तद्भावके द्वारा विशिष्ट होनेसे विशेषको प्राप्त है। जिस जिस द्रव्यका जो जो स्वभाव हो उस उसका उस उसके द्वारा विशिष्टत्व होनेसे उनके भेद हैं; और इसीलिये मूर्त तथा अमूर्त द्रव्योंका मूर्तत्व-अमूर्तत्वरूप तद्भावसे विशिष्टता होनेसे उनमें 'यह मूर्त गुण है और यह अमूर्त गुण है' इस प्रकार उनका भेद निश्चित करना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे क्रियावान व भाववान पदार्थोंका विशेषपना ज्ञात कराया गया था। अब इस गाथामे जीव अजीव द्रव्योंके अपनी-अपनी विशेषताके कारण मूर्त व अमूर्त गुण ज्ञात कराये गये हैं।

तथ्यप्रकाश—(१) परका आश्रय किये बिना विवक्षित द्रव्यमें ही रहने वाला विवक्षित द्रव्यका परिचायक चिन्हको लिङ्ग अथवा लक्षण कहते हैं। (२) द्रव्य और गुण भिन्न न होनेपर भी उनमें भावभेदसे अतद्भाव है। उसीसे यह समझा जाता है कि जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है। (३) अतद्भावविशिष्ट गुण द्रव्यके लिङ्ग अर्थात् लक्षण हो जाते हैं। (४) जिस जिस द्रव्यका जो जो स्वभाव है उस उस द्रव्यकी उस उस भावसे विशिष्टता है। (५) भावविशिष्टतासे ही द्रव्योमे विशेष जाना जाता है। (६) मूर्त

विशिष्ट ? सन्तो लिङ्गलिङ्गिप्रसिद्धौ तल्लिङ्गत्वमुपढौकन्ते। अथ ते द्रव्यस्य जीवोऽयमजीवोऽय-मित्यादिविशेषमुत्पादयन्ति, स्वयमपि तद्भावविशिष्टत्वेनोपात्तविशेषत्वात्। यतो हि यस्य यस्य द्रव्यस्य यो यः स्वभावस्तस्य तस्य तेन तेन विशिष्टत्वात्तेषामस्ति विशेषः। अत एव च मूर्ता-नाममूर्तानां च द्रव्याणां मूर्तत्वेनामूर्तत्वेन च तद्भावेन विशिष्टत्वादिमे मूर्ता गुणा इमे अमूर्ता इति तेषां विशेषो निश्चेयः ॥ १३० ॥

तृतीया बहु०। दव्वं द्रव्य जीव जीव अजीव अजीव –प्रथमा एक०। हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। विण्णादं विज्ञात–प्रथमा एक० कृदन्त। ते तब्भावविसिट्ठा तद्भावविशिष्ठाः मुत्ता-मुत्ता मूर्तामूर्ता गुणा गुणा –प्रथमा बहुवचन। णेया ज्ञेयाः–प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया रूपे। **निरुक्ति**–लिङ्गन लिङ्गः। **समास**—तस्य भावः तद्भावः तेन विशिष्टाः तद्भावविशिष्टाः, मूर्ताश्च अमूर्ताश्च मूर्ता-मूर्ताः ॥ १३० ॥

द्रव्योमे मूर्तत्वसे विशिष्टता है अतः ये मूर्त गुण हैं ऐसा जाना जाता है। (७) अमूर्त द्रव्योमें अमूर्तत्वसे विशिष्टता है, अतः ये अमूर्त गुण हैं ऐसा जाना जाता है।

सिद्धान्त—(१) मूर्त पर्यायोंका आधार मूर्तत्व गुण है। (२) अमूर्त पर्यायोंका आधार अमूर्तत्व गुण है।

दृष्टि—१– मूर्तत्वशक्तिदर्शक अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय (२३ अ)। २– अमूर्तत्वशक्ति-दर्शक अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३ ब)।

प्रयोग—मूर्त द्रव्योंसे व अमूर्त परद्रव्योसे उपयोग हटाकर निज अमूर्त चैतन्यस्वरूप मे उपयोग लगाना ॥१३०॥

अब मूर्त और अमूर्त गुणोंका लक्षण तथा संबंध कहते हैं:— [**इन्द्रियग्राह्याः**] इन्द्रि-य ग्राह्य [**पुद्गलद्रव्यात्मकाः**] पुद्गल द्रव्यात्मक [**अनेक विधाः**] अनेक प्रकारके [**गुणा मुत्ता मुणेदव्वा**] गुण मूर्त जानना चाहिये और [**अमूर्तानां द्रव्याणां**] अमूर्त द्रव्योंके [**गुणाः**] गुण [**अमूर्ताः ज्ञातव्याः**] अमूर्त जानना चाहिये।

तात्पर्य—पुद्गलद्रव्योके गुण मूर्त और शेष सभी द्रव्योंके गुण अमूर्त जानना चाहिये।

टीकार्थ—मूर्त गुणोंका लक्षण इन्द्रियग्राह्यत्व है; और अमूर्त गुणोंका लक्षण उससे विपरीत है और वे मूर्त गुण पुद्गलद्रव्यके हैं, क्योंकि पुद्गल ही एक मूर्त है; और अमूर्त गुण शेष द्रव्योके हैं, क्योंकि पुद्गलके अतिरिक्त शेष सभी द्रव्य अमूर्त हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें गुणविशेषसे द्रव्यविशेषका ज्ञापन कराया गया था। अब इस गाथामें मूर्त अमूर्त गुणोंका लक्षण तथा सम्बन्ध बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) जिनकी पर्याय इन्द्रियों द्वारा ग्रहणमें आ सकने योग्य हों वे गुण

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धमाख्याति—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणोगविधा ।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥१३१॥

मूर्त ग्राह्य इन्द्रियसे, वे हैं पुद्गल पदार्थ नानाविध ।
द्रव्य अमूर्तोंके गुण, अमूर्त इन्द्रियाग्राह्य कहे ॥१३१॥

मूर्ता इन्द्रियग्राह्या पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा । द्रव्याणाममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्याः ॥ १३१ ॥

मूर्तानां गुणानामिन्द्रियग्राह्यत्वं लक्षणम् । अमूर्तानां तदेव विपर्यस्तम् । ते च मूर्ताः पुद्गलद्रव्यस्य, तस्यैवैकस्य मूर्तत्वात् । अमूर्ताः शेषद्रव्याणां, पुद्गलादन्येषां सर्वेषामप्यमूर्तत्वात् ॥१३१॥

नामसंज्ञ—मुत्त इंदियगेज्झ पोग्गलदव्वप्पग अणेगविध दव्व अमुत्त गुण अमुत्त मुणेदव्व । **धातुसंज्ञ**—मुण ज्ञाने । **प्रातिपदिक**—मूर्त इन्द्रियग्राह्य पुद्गलद्रव्यात्मक अनेकविध द्रव्य अमूर्त गुण अमूर्त ज्ञातव्य । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—मुत्ता मूर्ता इंदियगेज्झा इन्द्रियग्राह्याः पोग्गलदव्वप्पगा पुद्गलद्रव्यात्मका. अणेगविधा अनेकविधा गुणा गुणा अमुत्ता अमूर्ता –प्रथमा बहुवचन । दव्वाण द्रव्याणां अमुत्ताण अमूर्तानां–षष्ठी बहुवचन । मुणेदव्वा ज्ञातव्या –प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—इन्दन इन्द्र. इन्द्रस्येदं लिंग इन्द्रिय । **समास**–इन्द्रियेण ग्राह्या इन्द्रियग्राह्या., पुद्गल द्रव्य एव आत्मा येषां ते पुद्गलद्रव्यात्मकाः ॥ १३१ ॥

मूर्त है । (२) जिनकी पर्याय कभी भी इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न हो सके वे गुण अमूर्त है । (३) मूर्त गुण पुद्गलद्रव्यके है । (४) अमूर्त गुण पुद्गलको छोडकर शेष पाच प्रकारके द्रव्योंके है ।

सिद्धान्त—१– पुद्गलद्रव्यके मूर्त गुण है । २– जीव, धर्म, अधर्म, आकाश व काल-द्रव्यके अमूर्त गुण है ।

दृष्टि—१, २– भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५०) ।

प्रयोग—शाश्वत शान्तिके लिये इन्द्रियग्राह्य अर्थोंका उपयोग हटाकर अमूर्त शुद्ध चिद्ब्रह्ममें उपयुक्त होना ॥ १३१ ॥

अब मूर्त पुद्गल द्रव्यके गुणोंको कहते है:—**[सूक्ष्मात्]** सूक्ष्मसे लेकर **[पृथिवीपर्यंतस्य]** पृथ्वी पर्यन्तके **[पुद्गलस्य]** सर्व पुद्गलके **[वर्णरसगंधस्पर्शाः]** वर्ण, रस, गंध और स्पर्श गुण **[विद्यन्ते]** होते है; **[च चित्रः शब्दः]** और जो विविध प्रकारका शब्द है **[सः]** वह **[पौद्गलः]** पौद्गलिक पर्याय है ।

तात्पर्य—पुद्गलके वर्ण गन्ध रस स्पर्श तो गुण हैं और शब्द पुद्गलकी द्रव्यव्यंजन पर्याय है ।

अथ मूर्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य गुणान् गृणाति—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो ।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥१३२॥

सूक्ष्म व बादर पुद्गल-के वर्ण स्पर्श गंध रस होते ।
क्षित्यादिक सब ही के, शब्द विविध पुद्गलवशायें ॥१३२॥

वर्णरसगंधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मात् । पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्दः स पौद्गलश्चित्रः ॥ १३२ ॥

इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगन्धवर्णास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणोः आ अनेकद्रव्यात्मकस्थूल-

नामसंज्ञ—वण्णरसगंधफास पुग्गल सुहुम पुढवीपरियंत य सद्द त पोग्गल चित्त । **धातुसंज्ञ**—विज्ज सत्तायां । **प्रातिपदिक**—वर्णरसगंधस्पर्श पुद्गल सूक्ष्म पृथ्वीपर्यन्त च शब्द तत् पौद्गल चित्र । **मूलधातु**—विद सत्तायां । **उभयपदविवरण**—वण्णरसगंधफासा वर्णरसगन्धस्पर्शाः–प्रथमा बहुवचन । विज्जंते

टीकार्थ—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य है क्योंकि वे इन्द्रियोंके विषय हैं और इन्द्रियग्राह्यताकी व्यक्ति और शक्तिके वशसे इन्द्रियोंके द्वारा गृह्यमाण या अगृह्यमाण वे गुण एक द्रव्यात्मक सूक्ष्मपर्याय वाले परमाणुसे लेकर अनेकद्रव्यात्मक स्थूल पर्यायरूप पृथ्वी स्कंध तकके समस्त पुद्गलके, अविशेषतया विशेष गुणोंके रूपमे होते हैं; और मूर्तपना होनेके कारण ही पुद्गलके अतिरिक्त शेष द्रव्योंके न होनेसे वे गुण पुद्गलका परिचय कराते है । यहाँ ऐसी आशंका नही करनी चाहिये कि इन्द्रियग्राह्यपना होनेसे शब्द गुण होगा; क्योंकि प्रसिद्ध किया है विविधताके द्वारा अपना नानापन जिसने ऐसे शब्दको भी अनेकद्रव्यात्मक पुद्गलपर्यायके रूपमें स्वीकार किया जाता है । **प्रश्न**—यदि शब्दको गुण माना जाय, तो वह क्यों योग्य नहीं है ? **उत्तर**—(१) शब्द अमूर्त द्रव्यका गुण नहीं है, क्योंकि गुण गुणीमें अभिन्न प्रदेशपना होनेसे, वे गुण-गुणी एकवेदनसे वेद्य होनेसे अमूर्त द्रव्य भी श्रवणेन्द्रियका विषयभूत बन बैठेगा । (२) पर्यायके लक्षणसे गुणका लक्षण उखड़ जानेसे शब्द मूर्त द्रव्यका गुण भी नहीं है । पर्यायका लक्षण अनित्यत्व है, और गुणका लक्षण नित्यत्व है; इस कारण अनित्यत्वसे नित्यत्वके उखड़ जानेसे शब्द गुण नही है । और जो वहाँ नित्यत्व है वह (शब्द को उत्पन्न करने वाले पुद्गलोंका और उनके स्पर्शादिक गुणोका ही है, शब्द पर्या का नही, इस प्रकार अति दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना चाहिये । "यदि शब्द पुद्गलकी पर्याय हो तो वह पृथ्वीस्कंधकी तरह स्पर्शनादिक इन्द्रियोंका विषय होना चाहिये" ऐसा भी नही है; क्योंकि पुद्गलकी पर्याय होनेपर भी जल घ्राणेन्द्रियका विषय नही है; अग्नि घ्राणेन्द्रिय तथा रस-

पर्यायात्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते । ते च मूर्तत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन्तः पुद्गलमधिगमयन्ति । शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्वं न खल्वाशङ्कनीयं, तस्य वैचित्र्यप्रपञ्चितवैश्वरूपस्याप्यनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात् । गुणत्वे वा न तावदमूर्तद्रव्यगुणः शब्दः गुणगुणिनोरविभक्तप्रदेशत्वेनैकवेदनवेद्यत्वादमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्तेः । पर्यायलक्षणेनोत्खातगुणलक्षणत्वान्मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति । पर्यायलक्षणं हि कादाचित्कत्वं गुणलक्षणं तु नित्यत्वम् । ततः कादाचित्कत्वोत्खातनित्यत्वस्य न शब्दस्यास्ति गुणत्वम् । यत्तु तत्र नित्यत्वं तत्तदारम्भकपुद्गलानां तद्गुणानां च स्पर्शादीनामेव न शब्दपर्यायस्येति दृढतरं ग्राह्यम् । न च पुद्गलपर्यायत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रियविषयत्वम् । अपां घ्राणेन्द्रियाविषयत्वात्, ज्योतिषो घ्राणरसनेन्द्रियाविषयत्वात्, मरुतो घ्राणरसनचक्षुरिन्द्रियाविषयत्वाच्च । न चागन्धागन्धरसागन्धरसवर्णाः, एवमप्ज्योतिर्मारुतः, सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युपगमात् । व्यक्तस्पर्शादिचतुष्कानां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धाव्यक्तगन्धरसाव्यक्तगन्धरसवर्णा-

विद्यन्ते—वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । पुग्गलस्स पुद्गलस्य—षष्ठी एकवचन । सुहुमादो सूक्ष्मात्—पचमी एक० । पुढवीपरियतस्स पृथ्वीपर्यन्तस्य—षष्ठी एक० । सद्दो शब्द सो स पोग्गलो पौद्गल चित्तो चित्र'—प्रथमा एकवचन । निरुक्ति— वर्ण्यते वर्णन वा वर्णः, रस्यते रसन वा रस , गन्ध्यते गन्धन वा

नेन्द्रियका विषय नही है और वायु घ्राण, रसना तथा चक्षुइन्द्रियका विषय नही है । और ऐसा भी नही है कि—पानी गंधरहित है अग्नि गंध तथा रसरहित है और वायु गंध, रस तथा वर्ण रहित है, क्योकि सभी पुद्गल स्पर्शादिचतुष्कयुक्त स्वीकार किये गये है । क्योकि जिनके स्पर्शादिचतुष्क व्यक्त हैं ऐसे चन्द्रकान्तमणि, अरणि और जवाके आरंभक पुद्गलोंके द्वारा जिसकी गंध अव्यक्त है ऐसे पानीकी, जिसकी गंध तथा रस अव्यक्त है ऐसी अग्निकी, और जिसकी गंध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है ऐसी उदरवायुकी उत्पत्ति होती देखी जाती है । और कही किसी गुणका कादाचित्क परिणामकी विचित्रताके कारण होने वाला व्यक्तपना या अव्यक्तपना नित्यद्रव्यस्वभावका प्रतिघात नही करता । इस कारण शब्द पुद्गलपर्याय ही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे मूर्त व अमूर्त गुणोंका लक्षण व सम्बन्ध बताया गया था । अब इस गाथामे मूर्त पुद्गलद्रव्यके गुणोको बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– इन्द्रियोके विषयभूत होनेसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इन्द्रियग्राह्य कहलाते है । २–स्पर्श रस गंध वर्ण ये गुण पुद्गलोके होते है । ३–किन्ही पुद्गलोंके स्पर्शादि गुणोमे इन्द्रियग्राह्यत्वकी व्यक्ति भी हो गई है अत. वे गृह्यमाण है । ४– किन्ही पुद्गलोंके स्पर्शादि गुणोंमें इन्द्रियग्राह्यत्वकी शक्ति मात्र है, अतः वे अगृह्यमाण हैं । ५– स्पर्शादिक गुण

नामप्ज्योतिरुदरमरुतामारम्भदर्शनात् । न च क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वं कादाचित्कपरिणामवैचित्र्यप्रत्ययं नित्यद्रव्यस्वभावप्रतिघाताय । ततोऽस्तु शब्दः पुद्गलपर्याय एवेति ॥१३२॥

गन्धः, स्पृश्यते स्पर्शन वा स्पर्श, पृथयतीति पृथ्वी, पुद्गलस्य अय पौद्गल.। समास—वर्णश्च रसश्च गन्धश्च स्पर्शश्चेति वर्णरसगन्धस्पर्शा. ॥ १३२ ॥

चाहे गृह्यमाण हों चाहे अगृह्यमाण, होते है एक द्रव्यात्मक परमाणुसे लेकर बड़ेसे बड़े पुद्गलस्कंध तकमे । ६–स्पर्शादिक गुण पुद्गलातिरिक्त अन्य द्रव्योंमे नहीं होते, ये गुणरूप लक्षण लक्ष्यरूप पुद्गलका परिचय कराते है । ७– शब्द इन्द्रियग्राह्य तो है, किन्तु गुण नही है, शब्द तो अनेकद्रव्यात्मक पुद्गलपर्याय है । ८–कोई शब्दको गुण माननेकी जबर्दस्ती भी करे तो भी शब्द अमूर्तद्रव्यका गुण तो सिद्ध हो ही नही सकता, क्योंकि शब्दको अमूर्त द्रव्यका गुण माना जाय तो वह अमूर्त द्रव्य कर्णइन्द्रियका विषय हो बैठेगा, किन्तु ऐसा है ही नही। ९–शब्द तो पर्याय है, अध्रुव है अनेकद्रव्यात्मक द्रव्यव्यञ्जनपर्याय है, अतः शब्द मूर्तद्रव्यका भी गुण नही है। १०–शब्द भाषावर्गणा नामक पौद्गलिक स्कंधकी पर्याय है । ११–शब्दोके उपादानमें जो नित्यपना है सो वह नित्यपना पुद्गलद्रव्यका व स्पर्शादि गुणोंका है । १२– शब्द पुद्गलकी पर्याय होनेपर भी कर्णइन्द्रियका ही विषयभूत है, क्योंकि अन्य इन्द्रियका विषय अन्य इन्द्रिय द्वारा गम्य नही होता । १३– काला पीला आदि रूप पुद्गलके पर्याय होनेपर भी चक्षुइन्द्रिय का ही विषयभूत है । १४– सुगंध दुर्गन्ध पुद्गलकी पर्याय होनेपर भी घ्राणेन्द्रियका विषयभूत है । १५– खट्टा, मीठा आदि रस पुद्गलका पर्याय होनेपर भी रसनाइन्द्रियका विषयभूत है । १६– शीत, उष्ण आदि पुद्गलका पर्याय होनेपर भी स्पर्शनइन्द्रियका विषयभूत है । १७– जलमें गन्ध, अग्निमें गंध रस, वायुमें गंध रस वर्ण व्यक्त न होनेपर उन सबमें स्पर्श रस गध वर्ण चारों ही सदा है, क्योंकि अव्यक्त भाव पर्यायान्तरमे व्यक्त हो जाते हैं । १८– पर्यायें व्यक्त अव्यक्त हों इससे पुद्गलद्रव्यकी नित्यतापर कोई चोट नही आती । १९– जैसे ज्ञानादि चतुष्टय यथासंभवविकासयुक्त सर्व जीवोमें साधारण है, इसी प्रकार स्पर्शादि चतुष्टय यथासंभवपर्यायरूपसे सर्व पुद्गलोमें साधारण हैं अर्थात् सब पुद्गलोमें होते ही हैं । २०– जैसे मुक्त जीवमें अनन्त ज्ञानादिचतुष्टय अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य, अनुमानगम्य व आगमगम्य हैं, इसी प्रकार शुद्ध परमाणु द्रव्यमें स्पर्शादिचतुष्टय अतीन्द्रियज्ञानगम्य, अनुमानगम्य व आगमगम्य है । २१– जैसे संसारी जीवमें रागादिस्नेहनिमित्तक कर्मबन्धनके वशसे अनंतज्ञानादिचतुष्टयकी अशुद्धता है, इसी प्रकार स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तक स्कंध अवस्थामें स्पर्शादिचतुष्टयकी

अथामूर्तानां शेषद्रव्याणां गुणान् गृणाति—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं ।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥१३३॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो ।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥१३४॥ जुगलं ।

नभका गुण अवगाहन, धर्मद्रव्यका गमनहेतुपना ।
अधर्मद्रव्यका थानक-हेतुपना गुण कहे इनके ॥१३३॥
कालका वर्तना गुण, उपयोग गुण कहा है आत्माका ।
जानो संक्षेप तथा, गुण उक्त अमूर्त द्रव्योंके ॥१३४॥

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम् । धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुण पुन स्थानकारणता ॥ १३३ ॥
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणितः । ज्ञेया सक्षेपाद्गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥१३४॥
युगलम् ।

अशुद्धता है । २२—जैसे रागादि स्नेहरहित चैतन्यस्वरूपमात्र शुद्धात्मतत्वके ध्यानसे ज्ञानादिचतुष्टयकी शुद्धता होती है, इसी प्रकार स्निग्धगुणके अभावमे बन्धनके न होनेपर परमाणुपुद्गलावस्थामे स्पर्शादिचतुष्टयकी शुद्धता होती है । २३—जैसे जीवकी नर नारक आदि पर्यायें विभाव पर्यायें हैं, इसी प्रकार शब्द पुद्गलद्रव्योंकी बिभावपर्याय है । २४— शब्द भाषात्मक व अभाषात्मक तथा उनके अनेक भेदोंसे नाना प्रकारके होते हैं ।

सिद्धान्त—(१) भाषावर्गणात्मबद्ध अनेक पुद्गलोंकी पर्याय होनेसे शब्द समानजातीय विभाव द्रव्यव्यञ्जन पर्याय है ।

दृष्टि—१— समानजातीयविभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय (२१५) ।

प्रयोग—स्थिर शान्तिमय उपयोग रखनेके लिये दृश्य अदृश्य समस्त पुद्गलो व पुद्गलपर्यायोंसे उपयोग हटाकर ध्रुव चिद्ब्रह्ममे उपयोग लगाना ॥ १३२ ॥

अब शेष अमूर्त द्रव्योके गुणोको कहते हैं—**[आकाशस्यावगाहः]** आकाशका अवगाह, **[धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं]** धर्मद्रव्यका गमनहेतुत्व **[धर्मेतरद्रव्यस्य]** अधर्मद्रव्यका **[स्थानकारणता]** स्थितिहेतुत्व **[कालस्य]** कालका **[वर्तना स्यात्]** वर्तना **[गुणः]** गुण है । **[तु पुनः]** और **[आत्मनः गुणः]** आत्माका गुण **[उपयोगः भणितः]** उपयोग कहा है । **[इति मूर्तिप्रहीणानां गुणाः हि]** इस प्रकार अमूर्त द्रव्योके गुण **[संक्षेपात्]** संक्षेपसे **[ज्ञेयाः]** जानना चाहिये ।

विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य, सकृत्सर्वेषां गमनपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गमनहेतुत्वं धर्मस्य, सकृत्सर्वेषां स्थानपरिणामिनां जीवपुद्गलानां स्थानहेतुत्वमधर्मस्य, अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कालस्य, चैतन्यपरिणामो जीवस्य। एवममूर्तानां विशेषगुणसंक्षेपाधिगमे लिङ्गम्। तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसंपादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवदाकाशमधिगमयति। तथैकवारमेव गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकाद्गमनहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्यासंभवद्धर्ममधिगमयति। तथैकवारमेव स्थितिपरिणत समस्तजीवपुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः, समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येय भागमात्रत्वाज्जीवस्य, लोकालोक

नामसंज्ञ—आगास अवगाह धम्मदव्व गमणहेदुत्त धम्मेदरदव्व दु गुण पुणो ठाणकारणदा काल वट्टणा गुणो उवओगो त्ति अप्प भणिद णेय सखेव गुण हि मुत्तिप्पहीण। **धातुसंज्ञ**—भण कथने, ञा अवबोधने। **प्रातिपदिक**—आकाश अवगाह धर्मद्रव्य गमनहेतुत्व धर्मेतरद्रव्य तु गुण पुनर् स्थानकारणता काल वर्तना गुण उपयोग इति आत्मन् भणित ज्ञेय सक्षेप गुणहि मूर्तिप्रहीण। **मूलधातु**—भण शब्दार्थः, ज्ञा अवबोधने। **उभयपदविवरण**—आगासस्स आकाशस्य धम्मदव्वस्स धर्मद्रव्यस्य धम्मेदरदव्वस्स धर्मेतरद्रव्यस्य कालस्स

तात्पर्य—अमूर्त द्रव्योंमें आकाशका अवगाह, धर्मद्रव्यका गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्यका स्थितिहेतुत्व, कालद्रव्यका परिवर्तना।

टीकार्थ—युगपत् सर्वद्रव्योंके साधारण अवगाहका हेतुत्व आकाशका विशेष गुण है। एक ही साथ सर्व गतिरूप परिणमन करने वाले जीव-पुद्गलोंके गमनका हेतुत्व धर्मका विशेष गुण है। एक ही साथ सर्व स्थितिरूप परिणमन करने वाले जीव-पुद्गलोंके स्थिर होनेका हेतुत्व अधर्मका विशेष गुण है। शेष समस्त द्रव्योंकी प्रति-पर्यायमें समय-समयकी परिणतिका निमित्तत्व कालका विशेष गुण है। चैतन्यपरिणाम जीवका विशेष गुण है। इस प्रकार अमूर्त द्रव्योंके विशेष गुणोका संक्षिप्त ज्ञान होनेमें चिन्ह, प्राप्त होते हैं; वहाँ एक ही कालमे समस्त द्रव्योंको साधारण अवगाहका संपादन आकाशको बतलाता है; क्योंकि शेष द्रव्योके सर्वगत न होनेसे उनके वह संभव नहीं है। इसी प्रकार एक ही कालमें गतिपरिणत समस्त जीव पुद्गलोके लोक तक गमनका हेतुत्व धर्मद्रव्यको बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं इसलिये उनके गमनहेतुत्व संभव नहीं है; जीव समुद्घातको छोड़कर लोक के असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिये उसके वह संभव नहीं है, लोक अलोककी सीमा अचलित होनेसे आकाशके वह संभव नही है और विरुद्ध कार्यका हेतु होनेसे अधर्मके वह संभव नहीं है। इसी प्रकार एक ही कालमें स्थितिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलोंके लोक तक स्थिति

सीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वाद्धर्मस्य चासंभवदधर्ममधिगमयति । तथा अशेष-शेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायसमयवृत्तिहेतुत्वं कारणान्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्तेः स्वतस्तेषा-मसंभवत्कालमधिगमयति । तथा चैतन्यपरिणामश्चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन् जीवमधि-गमयति । एवं गुणविशेषाद्द्रव्यविशेषोऽधिगन्तव्यः ॥१३३ १३४॥

कालस्य-षष्ठी एकवचन । अवगाहो अवगाह गमणहेदुत्त गमनहेतुत्व गुणो गुण ठाणकारणदा स्थानकार-णता वट्टणा वर्तना गुणो गुण उवओगो उपयोग. दु तु पुणो पुन त्ति इति हि–अव्यय । अप्पणो आत्मन – षष्ठी एकवचन । भणिदो भणित –प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । णेया ज्ञेया –प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया । सखेवादो सक्षेपात्–पचमी एकवचन । गुणा गुणा –प्रथमा बहुवचन । मुत्तिप्पहीणाण मूर्तिप्रही-नाना–षष्ठी बहुवचन । **निरुक्ति**–आकाशन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स आकाश, अवगाहन अवगाह, हिनो-तीति हेतु. सक्षेपन सक्षेप । **समास**—गमनस्य हेतु गमनहेतु तस्य भाव गमनहेतुत्वम्. स्थानस्यकारणं स्थानकारण तस्य भाव स्थानकारणता ॥ १३३-१३४ ॥

का हेतुत्व अधर्मद्रव्यको बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी है, इसलिय उनके वह संभव नही है; जीव समुद्घातको छोडकर लोकके असख्यातवे भाग मात्र है, इसलिये उनके वह संभव नही है, लोक और अलोककी सीमा अचलित होनेसे आकाशके वह सभव नहीं है, और विरुद्ध कार्यका हेतु होनेसे धर्मके वह संभव नही है । इसी प्रकार शेष समस्त द्रव्योंके, प्रत्येक पर्यायमे समयवृत्तिका हेतुत्व कालको बतलाता है, क्योकि उनके, समयविशिष्टवृत्ति कारणान्तरसे साध्य होनेसे स्वतः उनके समयवृत्तिहेतुत्व सभवित नही है । इसी प्रकार चैतन्य परिणाम जीवको बतलाता है, क्योकि वह चेतन है, इसलिये शेष द्रव्योके वह सभव नही है । इस प्रकार गुण विशेषसे द्रव्यविशेष जानना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे पुद्गलद्रव्यके गुणो आदिका कथन किया था । अब इन दो गाथावोमे अमूर्त द्रव्योके गुणोको (लक्षणोको) बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–सर्वद्रव्योके साधारण अवगाहका हेतुपना होना आकाशद्रव्यका असाधारण लिङ्ग है । २–गतिक्रियापरिणत सर्व जीव पुद्गलोके गमनमे निमित्तपना होना धर्मद्रव्यका असाधारण लिङ्ग है । ३–स्थितिरूप परिणमन करने वाले जीव पुद्गलोंके ठहरने मे निमित्तपना होना अधर्मद्रव्यका असाधारण लिङ्ग है । ४–सर्व द्रव्योंकी प्रतिपर्यायमें समय समयकी परिणतिका निमित्तपना होना कालद्रव्यका असाधारण लिङ्ग है । ५–चैतन्यका परि-णाम अर्थात् उपयोग जीवद्रव्यका असाधारण लिङ्ग है । ६–असाधारण लिङ्गसे ही द्रव्यविशेष का परिचय होता है ।

सिद्धान्त— पदार्थ अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही सत् है ।

अथ द्रव्याणां प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वविशेषं प्रज्ञापयति—

जीवा पोग्गलकाया धम्माऽधम्मा पुणो य आगासं ।
सपदेसेहिं असंखादा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥ १३५ ॥

जीव व पुद्गल धर्म व, अधर्म आकाश है बहुप्रदेशी ।
किस ही कालाणु के एकाधिक भी प्रदेश नहीं ॥ १३५ ॥

जीवा पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् । स्वप्रदेशैरसख्याता न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य ॥१३५॥

प्रदेशवन्ति हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि अनेकप्रदेशवत्त्वात् । अप्रदेशः कालाणुः प्रदेशमात्रत्वात् । अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य द्रव्येण प्रदशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेश-त्वात्पुद्गलस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वात् धर्मस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येय-

---

नामसज्ञ—जीव पोग्गलकाय धम्माधम्म पुणो य आगास सपदेस असंखाद ण पदेस त्ति काल । **धातु-संज्ञ**—अस सत्तायां । **प्रातिपदिक**—जीव पुद्गलकाय धर्माधर्म पुन: च आकाश स्वप्रदेश असख्यान न प्रदेश इति काल । **मूलधातु**—अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—जीवा जीवाः पोग्गलकाया पुद्गलकाया.—प्रथमा बहुवचन । धम्माधम्मा–प्र० बहु० । धर्माधर्मौ–प्र० द्वि० । पुणो पुन य च ण न त्ति इति–अव्यय ।

दृष्टि—स्वद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८) ।

प्रयोग—असाधारण लक्षणोसे स्वद्रव्य परद्रव्यका भेद जान कर पर द्रव्योंसे उपयोग हटा कर स्वसहजतत्त्वमें ही उपयुक्त रहना ॥१३३–१३४॥

अब द्रव्योके प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्वरूप विशेषको बतलाते हैं— [**जीवाः**] जीव [**पुद्गलकायाः**] पुद्गलकाय [**धर्माधर्मौ**] धर्म, अधर्म [**पुनः च**] और [**आकाश**] आकाश [**स्वप्रदेशैः**] स्वप्रदेशोकी अपेक्षासे [**असंख्याताः**] असंख्यात अर्थात् अनेक हैं; [**कालस्य**] काल के [**प्रदेशाः इति**] प्रदेश [**न सन्ति**] नही है ।

तात्पर्य—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म व आकाश, ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय है, काल-द्रव्य अस्तिकाय नहीं ।

टीकार्थ— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश अनेक प्रदेश वाले होनेसे प्रदेशवान है । कालाणु एकप्रदेशी होनेसे अप्रदेशी है । संकोच-विस्तारके होनेपर भी जीव लोकाकाशतुल्य असंख्य प्रदेशोको नहीं छोड़ता, इसलिये वह प्रदेशवान है । पुद्गल, यद्यपि द्रव्य अपेक्षासे एकप्रदेशी होनेसे अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशोंसे लेकर संख्यात, असख्यात और अनन्तप्रदेशोंवालो पर्यायोंकी अपेक्षासे अनिश्चित प्रदेश वाला होनेसे प्रदेशवान है; सकल

प्रदेशप्रस्ताररूपत्वादधर्मस्य, सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादाकाशस्य च प्रदेशवत्त्वम् । कालाणोस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासंभवादप्रदेशत्वमेवास्ति । ततः कालद्रव्यमप्रदेशं शेषद्रव्याणि प्रदेशवन्ति ॥ १३५ ॥

आगास आकाश–प्र० एक० । सपदेसेहिं स्वप्रदेशैः–तृतीया बहु० । असखादा असख्याताः–प्रथमा बहु० । णत्थि संति–वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । पदेसा प्रदेशा–प्रथमा बहु० । कालस्स कालस्य–षष्ठी एक० । निरुक्ति–चीयते इति काय । समास–धर्मश्च अधर्मश्च धर्माधर्मौ, स्वस्य प्रदेशा स्वप्रदेशा तैः स्वप्रदेशैः ॥ १३५ ॥

लोकव्यापी असंख्य प्रदेशोके विस्ताररूप होनेसे धर्मद्रव्य प्रदेशवान है, सकल लोकव्यापी असख्य प्रदेशोंके विस्ताररूप होनेसे अधर्मद्रव्य प्रदेशवान है, और सर्वव्यापी अनन्त प्रदेशोंके विस्तार रूप होनेसे आकाशद्रव्य प्रदेशवान है । कालाणु तो द्रव्यत. प्रदेशमात्र होनेसे और पर्यायतः परस्पर संपर्क न होनेसे अप्रदेशी ही है । इस कारण कालद्रव्य अप्रदेशी है और शेष द्रव्य प्रदेशवान हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमे अमूर्तद्रव्योके असाधारण गुण बताये गये थे । अब इस गाथामें द्रव्योंका एकप्रदेशीपने व बहुप्रदशोपनेकी विशेषता बताई गई है ।

तथ्यप्रकाश–१–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये अस्तिकाय है, क्योकि ये अनेक प्रदेश वाले है । २– सभी प्रत्येक कालद्रव्य अस्तिकाय नही है, क्योकि काल द्रव्य (कालाणु) एकप्रदेशी मात्र है । ३–जीवके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार होनेपर भी जीव लोकाकाशप्रदेश प्रमाण असंख्यात प्रदेश वाला सतत है । ४– पुद्गल (परमाणु) स्वद्रव्यतः मात्र एकप्रदेशी होनेसे अप्रदेशी है (अस्तिकाय नही), फिर भी दो आदि अनन्त परमाणुवोके स्कन्धपर्यायकी दृष्टिसे दो आदि अनन्त अणु वाला तक होनेसे बहुप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय है । ५–धर्मद्रव्य समस्त लोक में व्यापक असंख्यातप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय है । ६– अधर्म द्रव्य समस्त लोकमे व्यापक असख्यातप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय है । ७– असीम व्यापक अनन्तप्रदेशी होनेसे आकाश अस्तिकाय है । ८– कालद्रव्य परस्पर कभी संयुक्त हो ही नही सकता सो वह उपचारसे भी अस्तिकाय नही है । ९–जीव, धर्म, अधर्म व आकाशद्रव्य वस्तुतया अस्तिकाय हैं । १०–पुद्गलद्रव्य व्यवहारसे अस्तिकाय है । ११–कालद्रव्य किसी भी प्रकारसे, उपचारसे भी अस्तिकाय नही है ।

सिद्धान्त—१–पुद्गलपरमाणु योग्यताके कारण अस्तिकाय है । २–पुद्गलस्कन्ध उपचारसे द्रव्य व अस्तिकाय है ।

दृष्टि—१– स्वजात्यसद्भूत व्यवहार (६७) । २– स्वजातिपर्याये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (१२०) ।

अथ क्वामी प्रदेशिनोऽप्रदेशाश्चावस्थिता इति प्रज्ञापयति—

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥१३६॥

लोक अलोकमें गगन, लोकमें धर्म अधर्म सर्वत्र।
काल लोकमें नाना, नानाकृत जीव पुद्गल भी ॥१३६॥

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामाततो लोकः। शेषौ प्रतीत्य कालो जीवाः पुनः पुद्गलाः शेषौ ॥१३६॥

आकाशं हि तावत् लोकालोकयोरपि षड्द्रव्यसमवायासमवाययोरविभागेन वृत्तत्वात्। धर्माधर्मौ सर्वत्र लोके तन्निमित्तगमनस्थानानां जीवपुद्गलानां लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च गमनस्थानासंभवात्। कालोऽपि लोके जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्, स तु लोकैकप्रदेश एवाप्रदेशत्वात्। जीवपुद्गलौ तु युक्तित एव लोके षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वाल्लोकस्य।

नामसंज्ञ—लोगालोग णभ धम्माधम्म आदद लोग सेस काल जीव पुण पोग्गल सेस। धातुसंज्ञ—पडि इ गतौ, आ तण विस्तारे। प्रातिपदिक—लोकालोक नभस् धर्माधर्म आतत लोक शेष काल जीव पुनर् पुद्गल शेष। मूलधातु—प्रति इण् गतौ, आ तनु विस्तारे। उभयपदविवरण—लोगालोगेसु लोकालोकेषु—

प्रयोग—एकप्रदेशी बहुप्रदेशी समस्त परस्वरूपसत्से उपयोग हटाकर निजस्वरूपसत् चिद्ब्रह्ममें उपयुक्त होना ॥१३५॥

अब प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं यह ज्ञान कराते हैं—[नभः] आकाशद्रव्य [लोकालोकयोः] लोकालोकमें है, [लोकः] लोक [धर्माधर्माभ्याम् आततः] धर्म और अधर्मद्रव्यसे व्याप्त है, [शेषौ प्रतीत्य] शेष जीव, पुद्गल इन दो द्रव्योंका आश्रय लेकर [कालः] काल है, [पुनः] और [शेषौ] वे शेष दो द्रव्य [जीवाः पुद्गलाः] जीव और पुद्गल हैं।

तात्पर्य—अस्तिकाय और अकाय सभी द्रव्य लोकमें ही रहते हैं।

टीकार्थ—आकाश तो लोक तथा अलोकमें है, क्योंकि वह छह द्रव्योंके समवाय और असमवायमें बिना विभागके रहता है। धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वत्र लोकमें है, क्योंकि उनके निमित्तसे जिनकी गति और स्थिति होती है ऐसे जीव और पुद्गलोंकी गति या स्थिति लोकसे बाहर नहीं होती, और न लोकके एक-देशमें होती है। काल भी लोकमें है, क्योंकि जीव और पुद्गलोंके परिणामोंके द्वारा कालकी समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं; और वह काल लोकके एकप्रदेशमें ही है, क्योंकि वह अप्रदेशी है। जीव और पुद्गल तो अवशेष न्यायसे ही लोकमें है, क्योंकि लोक छह द्रव्योंका समवायस्वरूप है। और क्या कि जीवका प्रदेशसंकोच-

किंतु जीवस्य प्रदेशसवर्तविस्तारधर्मत्वात् पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरूक्षगुणधर्मत्वाच्च तदेकदेशसर्वलोकनियमोनास्ति कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ।। १३६ ।।

सप्तमी बहु० । णभो नभः-प्र० एक० । धम्माधम्मेहि-तृतीया बहु० । धर्माधर्माभ्या-तृतीया द्विवचन । आददो आततः लोगो लोकः कालो कालः-प्रथमा एक० । पडुच्च प्रतीत्य-असमाप्तिकी क्रिया । जीवा जीवा पोग्गला पुद्गला -प्रथमा बहु० । सेसा-प्र० बहु० । शेषौ-प्रथमा द्विवचन । **निरुक्ति**—लोक्यन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स लोक , नह्यन्ति पदार्था यत्र तत् नभ. । **समास**--लोकश्च अलोकश्च लोकालोकौ तयो , धर्मश्च अधर्मश्च धर्माधर्मौ ताभ्याम् ।। १३६ ।।

विस्तार धर्म होनेसे और पुद्गलका बधहेतुभूत स्निग्ध रूक्ष गुण धर्म होनेसे जीव और पुद्गल का समस्त लोकमे या उसके एकदेशमे रहनेका नियम नही है । और, काल, जीव तथा पुद्गलोका एक द्रव्यकी अपेक्षासे लोकके एकदशमे और अनेक द्रव्योकी अपेक्षासे काजलसे भरी हुई डिबियाके न्यायानुसार समस्त लोकमे ही अवस्थान है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्योंकी एकप्रदेशित्व व बहुप्रदेशत्व विषयक विशेषता बताई गई थी । अब इस गाथामे यह बताया गया है कि ये एकप्रदेशी व बहुप्रदेशी द्रव्य कहां अवस्थित हैं ।

तथ्यप्रकाश—१- आकाश द्रव्य लोक व अलोकमे है । २- आकाश तो असीम एक अखण्ड द्रव्य है । ३- आकाशके जितने भागमे पुद्गल धर्म अधर्म व कालद्रव्य अवस्थित है उतने भागको लोक कहते है, शेष समस्त छहो ओरका असीम आकाशको अलोक कहते है । ४- धर्म व अधर्म द्रव्य एक एक ही हैं और वे समस्त लोकमे व्यापक है । ५- जीव और पुद्गल द्रव्य लोकमे ही है और उनकी गति व स्थितिके निमित्तभूत धर्म व अधर्म द्रव्य है, सो धर्म अधर्मद्रव्य भी लोकमे ही है । ६- कालद्रव्य लोकमे ही है और उनकी समय घडी आदि पर्याय जीव व पुद्गलोकी नई पुरानी परिणतियोसे प्रकट विदित होती है । ७- सभी पदार्थ निश्चयसे अपने अपने स्वरूपमे ही रहते है जैसे कि सिद्ध भगवान केवलज्ञानादिके आधारभूत लोकाकाश प्रमाण निज प्रदेशोमे ही रहते है । ८- व्यवहारसे समस्त पदार्थ लोकमे रहते हैं जैसे कि सिद्ध भगवान व्यवहारसे सिद्धक्षेत्रमे रहते है । ९- यद्यपि जीव अनन्तानन्त हैं व पुद्गल जीवोंसे भी अनन्तगुणे हैं तो भी विशिष्ट अवगाह शक्ति होनेसे सब लोकमें ही समाये रहते है । १०- जीवमे प्रदेशोका संकोच विस्तार होनेकी शक्ति है, उसके कारण प्रदेशसकोचकी स्थितिमे लोकके यथायोग्य एकदेशमे जीव रहता है, लोकपूरण समुद्घातमें प्रदेशविस्तारकी स्थितिसे समग्र लोकमे रहता है । ११- पुद्गल द्रव्य एकप्रदेशी होनेसे लोक

अथ प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वसंभवप्रकारमासूत्रयति—

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं ।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥१३७॥

नभमें प्रदेश जैसे, प्रदेश त्यों हैं समस्त द्रव्योंके ।
परमाणु अप्रदेशी, भी प्रोद्भवसे सकाय कहा ॥१३७॥

यथा ते नभःप्रदेशास्तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम् । अप्रदेशः परमाणुस्तेन प्रदेशोद्भवो भणितः ॥ १३७ ॥

सूत्रयिष्यते हि स्वयमाकाशस्य प्रदेशलक्षणमेकाणुव्याप्यत्वमिति । इह तु यथाकाशस्य प्रदेशास्तथाशेषद्रव्याणामिति प्रदेशलक्षणप्रकारैकत्वमासूत्र्यते । ततो यथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानस्याकाशस्यानन्तांशत्वादनन्तप्रदेशत्वं तथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानानां धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयांशत्वात् प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वम् । यथा चावस्थितप्रमाणयोर्धर्माधर्मयोस्तथा

नामसंज्ञ—जध त णभप्पदेस तधपदेस सेस अपदेस परमाणु त पदेसुब्भव भणिय । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां, भण कथने । **प्रातिपदिक**—यथा तत् नभःप्रदेश तथा प्रदेश शेष अप्रदेश परमाणु तत् प्रदेशोद्भव भणित । **मूलधातु**—भू सत्तायां, भण शब्दार्थः । **उभयपदविवरण**—जध यथा तध तथा–अव्यय । णभप्पदेसा नभःप्रदेशाः पदेसा प्रदेशाः–प्रथमा बहु । हवंति भवन्ति–वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । सेसाणं

के एक प्रदेशमे रहता है, किन्तु स्निग्धत्व रूक्षत्वके कारण बन्ध हो जाने व बद्धोंके घनिष्ट सम्बन्ध हो जानेसे स्कन्धरूपमे आकर वह स्कन्ध लोकके बहुत प्रदेशोमे रहता है ।

सिद्धान्त—१– प्रत्येक पदार्थ अपने अपने प्रदेशोमे रहते है । २– सर्व पदार्थ लोकाकाशमे रहते हैं ।

दृष्टि—१– कारककारकिभेदक सद्भूत व्यवहार (७३) । २– पराधिकरण असद्भूत व्यवहार (१३४) ।

प्रयोग—अन्य समस्त पदार्थोंको व उनके अवधारको न देखकर अपने आत्मप्रदेशोमें अपने सहज स्वरूपको निरखकर इस स्वयंमें ही आत्मत्व अनुभवना ॥ १३६ ॥

अब प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्वकी संभवताका प्रकार आसूत्रित करते है—[**यथा**] जैसे [**ते नभः प्रदेशा**] वे आकाशप्रदेश हैं [**तथा**] उसी प्रकार [**शेषाणां**] शेष द्रव्योके [**प्रदेशाः भवन्ति**] प्रदेश है । [**परमाणुः**] परमाणु [**अप्रदेशः**] अप्रदेशी है; [**तेन**] उसके द्वारा [**प्रदेशोद्भवः भणितः**] प्रदेशोद्भव कहा गया है ।

तात्पर्य—सभी द्रव्योंमे प्रदेश होते है, काल द्रव्य एकप्रदेशी है, परमाणु भी एकप्रदेशी है, किन्तु उनके मिलनेसे पिण्ड अनेकप्रदेशी हो जाते हैं ।

संवर्तविस्ताराभ्यामनवस्थितप्रमाणस्यापि शुष्कार्द्रत्वाभ्यां चर्मण इव जीवस्य स्वांशाल्पबहुत्वाभावादसंख्येयप्रदेशत्वमेव। अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमारशरीरव्यापित्वादस्ति स्वसंवेदनसाध्यैव। पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति। ततः पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि संभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य ॥१३७॥

शेषाणाम्–षष्ठी बहु०। अपदेसो अप्रदेशः परमाणू परमाणु –प्रथमा एक०। तेण तेन–तृतीया एक०। पदेसुब्भवो प्रदेशोद्भवः–प्रथमा एक०। भणिदो भणित –प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया। **निरुक्ति**–शेषयन्तं शेषः, अण्यते इति अणु। **समास**–नभसः प्रदेशा इति नभःप्रदेशा, प्रदेशानां उद्भवः इति प्रदेशोद्भवः ॥१३७॥

टीकार्थ—ग्रन्थकार स्वयं ही १४० वी गाथा द्वारा कहेंगे कि आकाशके प्रदेशका लक्षण एक परमाणुसे व्याप्त होना है, और इस गाथामें 'जिस प्रकार आकाशके प्रदेश हैं उसी प्रकार शेष द्रव्योंके प्रदेश हैं' इस प्रकार प्रदेशके लक्षणकी एक प्रकारता कही जाती है। इसलिये, जैसे एक परमाणुसे व्याप्य हो ऐसे अंशके द्वारा गिने जानेपर आकाशके अनन्त अंश होनेसे आकाश अनन्तप्रदेशी है, उसी प्रकार एकाणुव्याप्य अंशके द्वारा गिने जानेपर धर्म अधर्म और एक जीवके असंख्यात अंश होनेसे वे प्रत्येक असंख्यातप्रदेशी हैं और जैसे अवस्थित प्रमाण वाले धर्म तथा अधर्म असंख्यातप्रदेशी हैं, उसी प्रकार संकोच-विस्तारके कारण अनवस्थित प्रमाण वाले जीवके-सूखे-गीले चमड़ेकी तरह निज अंशोंका अल्पबहुत्व नहीं होनेसे असंख्यातप्रदेशित्व ही है। अमूर्तके संकोच-विस्तारकी सिद्धि तो चूंकि जीव स्थूल तथा कृश शरीरमें तथा बालक और कुमारके शरीरमें व्याप्त होता है, अतः अपने अनुभवसे ही साध्य है। परंतु पुद्गल द्रव्यतः एकप्रदेशमात्र होनेसे यथोक्त (पूर्वकथित) प्रकारसे अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशादिके उद्भवके हेतुभूत उस प्रकारके स्निग्ध-रूक्ष गुणरूप परिणमनेकी शक्तिरूप स्वभावके कारण उसके प्रदेशोंका उद्भव है। इस कारण पर्यायतः अनेकप्रदेशित्व भी संभव होनेसे पुद्गलको द्विप्रदेशित्वसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशित्व भी न्याययुक्त है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह बताया गया था कि एक प्रदेशी व बहुप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं। अब इस गाथामें प्रदेशवानपना व अप्रदेशवानपनाकी संभावनाका प्रकार सूचित किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१–प्रदेशका माप मुख्यतया आकाशके अविभागी अंशसे किया जाता है। २– एक परमाणु आकाशकी जितनी जगहको रोकता है, व्यापता है उतने क्षेत्रांशको एक

अथ कालाणोरप्रदेशत्वमेवेति नियमयति—

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥१३८॥

काल है अप्रदेशी, उसका पर्याय समय यों जानो ।
जितनेमें अणु नभका, प्रदेश इक लांघ जाता है ॥१३८॥

समयस्त्वप्रदेश प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य । व्यतिपतत स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य ॥ १३८ ॥

अप्रदेश एव समयो द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात् न च तस्य पुद्गलस्येव पर्यायेणाप्यनेकप्रदे·

नामसंज्ञ—समअ दु अप्पदेस पदेसमत्त दव्वजाद वदिवदन्त त पदेस आगास दव्व । **धातुसंज्ञ**—वत्त वर्तने । **प्रातिपदिक**—समय तु अप्रदेश प्रदेशमात्र द्रव्यजात व्यतिपतत् तत् प्रदेश आकाशद्रव्य । **मूलधातु**—वृतु वर्तने । **उभयपदविवरण**—समओ समयः अप्पदेसो अप्रदेशः–प्रथमा एकवचन । पदेसमेत्तस्स प्रदेश-

---

प्रदेश कहते है । ३–जैसे विस्तृत आकाशके अविभागी अंशको प्रदेश कहते हैं, ऐसे ही विस्तृत अन्य द्रव्योंके अविभागी अंशको भी प्रदेश कहते हैं । ४–आकाशद्रव्यके प्रदेश एकाणुव्याप्यांश से गणना करने पर अनन्त है, इस कारण आकाश बहुप्रदेशी (अनन्तप्रदेशी) है । ५–धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य, एक जीव द्रव्यके प्रदेश एकाणुव्याप्यांशसे गणना करनेपर असंख्यात प्रदेश हैं, अतः ये भी बहुप्रदेशी असंख्यात प्रदेशी हैं । ६–जीवद्रव्यके प्रदेश धर्म व अधर्मद्रव्यकी तरह अवस्थित नही है, जीव प्रदेशोमे संकोच विस्तार होता है, तथापि प्रत्येक जीव द्रव्य असंख्या· तप्रदेशी ही है उसके प्रदेश कम या अधिक नही होते । ७– पुद्गल द्रव्य वस्तुतः द्रव्यसे एक प्रदेशी है, किन्तु स्कन्धपर्यायकी दृष्टिसे बहुप्रदेशी अर्थात् संख्यातप्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी व अनन्तप्रदेशी है, क्योकि परमाणुवोमें द्विप्रदेशी आदि स्कंध होनेके कारणभूत उस प्रकारके स्निग्ध रूक्ष गुणके परिणमनेकी शक्ति होती है ।

सिद्धान्त—१–परमाणु स्कंधपर्यायकी दृष्टिसे बहुप्रदेशी है । २–धर्म, अधर्म, आकाश व प्रत्येक जीवद्रव्य बहुप्रदेशी है । ३–परमाणु व कालद्रव्य एक प्रदेशी हैं ।

दृष्टि—१–स्वजात्यसद्भूतव्यवहार (६७) । २–प्रदेशविस्तार दृष्टि । (२१७) ।

प्रयोग—सर्वद्रव्योका परिचय पाकर निज परमात्मद्रव्यसे अतिरिक्त सर्व पदार्थोंसे उपयोग हटा कर निजपरमात्मद्रव्यमे उपयोग लगाना ॥१३७॥

अब 'कालाणु अप्रदेशी ही है' यह नियम कहते हैं—[समयः तु] काल तो [अप्रदेशः] अप्रदेशी है, [प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य] प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु [आकाशद्रव्यस्य प्रदेशं] आकाश द्रव्यके प्रदेशको [व्यतिपततः] मंदगतिसे उल्लंघन कर रहा हो तब [सः

शत्वं यतस्तस्य निरन्तरं प्रस्तारविस्तृतप्रदेशमात्रासख्येयद्रव्यत्वेऽपि परस्परसपर्कासंभवादेकैक-माकाशप्रदेशमभिव्याप्य तस्थुष.प्रदेशमात्रस्य परमाणोस्तदभिव्याप्तमेकमाकाशप्रदेशं मन्दगत्या व्यतिपततएव वृत्ति: ॥१३८॥

मात्रस्य दव्वजादस्स द्रव्यजातस्य–षष्ठी एकवचन । वदिवददो व्यतिपतत –षष्ठी एक० । सो स –प्र० ए० । पदेस प्रदेश–द्वि० ए० । आगासदव्वस्स आकाशद्रव्यस्य–षष्ठी एक० । वट्टदि वर्तते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**–सम् एति इति समय , आकाशन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स आकाश । **समास**–न प्रदेश विद्यते यस्य स अप्रदेश रूढिना एकप्रदेशा , आकाश च तत् द्रव्य चेति आकाशद्रव्य तस्य आकाशद्रव्यस्य ॥१३८॥

वर्तते] वह वर्तता है, अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होना है ।

तात्पर्य—काल द्रव्य एकप्रदेशी है, उसके समय नामक परिणमन होता है, वह समय इतना है जितना कि आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर परमाणुके गमनमे लगता है ।

टीकार्थ—द्रव्यत: प्रदशमात्र होनेसे अप्रदेशी ही है । और कालद्रव्यके पुद्गलकी तरह पर्यायतः भी अनेक प्रदशीपना नही है, क्योकि परस्पर अन्तरके बिना प्रस्ताररूप विस्तृत प्रदेशमात्र असख्यात कालद्रव्य होने पर भी परस्पर सपर्क न होनेसे एक एक आकाश-प्रदेशको व्याप करके रहने वाले कालद्रव्यकी वृत्ति कालाणु से व्याप्त एक आकाशप्रदेशको मन्दगतिसे उल्लंघन करते हुए प्रदेशमात्र परमाणुकी घटनासे प्रकट होती है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्योके बहुप्रदेशित्व व एकप्रदेशित्वका कथन किया था । अब इस गाथामे "कालद्रव्य (कालाणु) के एक ही प्रदेश होता है" यह बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) कालद्रव्य (कालाणु) एकप्रदेशी ही होता है । (२) कालद्रव्य अनेक मिलकर स्कधको तरह बहुप्रदेशी कभी नही हो सकता, क्योकि कालद्रव्य लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक ही निष्क्रिय नित्य अवस्थित रहते है । (३) कालद्रव्यकी पर्याय एक एक समयमात्र परिणमनरूप है । (४) कालद्रव्यकी समयमात्र परिणमन वृत्ति परमाणु की उस घटनासे प्रकट होती है कि परमाणु मदगतिसे एक आकाशप्रदेशसे अनन्तरके आकाश-प्रदेशपर गमन करे । (५) प्रत्येक कालद्रव्यका पर्याय अविभागी एक समय है, तभी समयोके चिन्तित समूहका नाम सेकण्ड, मिनट, घटा, दिन, माह, वर्ष, पूर्व, पल्य, सागर आदि समझ मे आता है ।

सिद्धान्त—(१) कालद्रव्य एकप्रदेशी है ।

दृष्टि—१– प्रदेशविस्तारदृष्टि (२१५) ।

अथ कालपदार्थस्य द्रव्यपर्यायौ प्रज्ञपयति—

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥१३९॥

नभका प्रदेश लंघने, के समय सम कहा समय पर्याय ।
काल द्रव्य त्रैकालिक, समय समुत्पन्नप्रध्वंसी ॥ १३९ ॥

व्यतिपततस्त देश तत्सम. समयस्तत. पर पूर्व: । योऽर्थ स काल: समय उत्पन्नप्रध्वसी ॥ १३९ ॥

यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्त प्रदेशं मन्दगत्यातिक्रमत· परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो य: कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमय:

नामसंज्ञ—वदिवदन्त त देस तस्सम समअ तदो पर पुव्व त अत्थ त काल समअ उप्पणपद्धसि । **धातुसंज्ञ**—उव पज्ज गतौ, प ध्वस नाशने । **प्रातिपदिक**—व्यतिपतत् तत् देश तत्सम समय तदो पर पूर्व

प्रयोग—समस्त आश्रयभूत कारणोसे उपयोग हटाकर साधारण निमित्तभूत कालद्रव्य वृत्तिका निमित्त पाकर जो स्वयंमे सहज परिणमन बने सो होवे ऐसे खुदके अत्यन्त उदास्त रहनेका पोरुष होने देना ॥१३८॥

अब काल पदार्थके द्रव्य और पर्यायका ज्ञान कराते है—[**तं देशं व्यतिपततः**] परमाणुके एक आकाशप्रदेशको उलघन करते हुएके [**तत्समः**] कालके बराबर जो काल है वह [**समयः**] 'समय' है; [**ततः पूर्वः परः**] उस समयसे पूर्व तथा पश्चात् रहने वाला [**यः अर्थः**] जो पदार्थ है [**सः कालः**] वह कालद्रव्य है [**समयः उत्पन्नप्रध्वंशी**] 'समय' उत्पन्न और प्रध्वस वाला है ।

तात्पर्य—एक समय उतना समय है जितना समय परमाणुको एक आकाशप्रदेश उल्लघन करनेमे लगता है, कालद्रव्य नित्य है समय अनित्य है ।

टीकार्थ—प्रदेशमात्र जिस काल पदार्थके द्वारा आकाशका जो प्रदेश व्याप्त हो उस प्रदेशको मन्दगतिसे उल्लघन करते हुए परमाणुके उस प्रदेशमात्र अतिक्रमणके परिमाणके बराबर जो काल पदार्थकी सूक्ष्मवृत्तिरूप 'समय' है, वह उस काल पदार्थकी पर्याय है । और ऐसी उस पर्यायसे पूर्वकी तथा बादकी वृत्तिरूपसे वर्तित होनेसे जिसका नित्यत्व प्रगट होता है, ऐसा पदार्थ द्रव्य है । इस प्रकार द्रव्यसमय अर्थात् कालद्रव्य अनुत्पन्न-अविनष्ट है और पर्यायसमय उत्पत्ति-विनाश वाली है । यह समय निरंश है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाशके प्रदेशका निरंशत्व न बनेगा । और एक समयमें परमाणुका लोकपर्यन्त गमन होने पर भी समयके अंश नहीं होते; क्योंकि परमाणुके विशेष प्रकारका अवगाह परिणाम होनेकी

स तस्य कालपदार्थस्य पर्यायस्ततः एवंविधात्पर्यायात्पूर्वोत्तरवृत्तिवृत्तत्वेन व्यञ्जितनित्यत्वे योऽर्थः तत्तु द्रव्यम्। एवमनुत्पन्नाविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमयः। अनंशः समयोऽयमाकाशप्रदेशस्यानंशत्वान्यथानुपपत्तेः। न चैकसमयेन परमाणोरालोकान्तगमनेऽपि समयस्य सांशत्वं विशिष्टगतिपरिणामाद्विशिष्टावगाहपरिणामवत्। तथाहि—यथा विशिष्टावगाहपरिणामादेकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्धः परमाणोरनंशत्वात् पुनरप्यनन्तांशत्वं न साधयति तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नेनैकसमयेनैकस्माल्लोकान्ताद्द्वितीयं लोकान्तमाक्रामतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणवः समयस्यानंशत्वादसंख्येयांशत्वं न साधयन्ति ॥१३६॥

यत् अर्थ तत् काल समय उत्पन्नप्रध्वसिन्। **मूलधातु**—उत् पद गतौ, प्र ध्वंसु अवस्रंसने। **उभयपदविवरण**—वदिवददो व्यतिपततः–षष्ठी एक०। त देस देश–द्वि एक०। तस्सम तत्सम· समओ समयः–प्र० एक०। तदो तत –अव्यय पचम्यर्थे, परो पर पुव्वो पूर्व जो य अत्थो अर्थ सो स अत्थो अर्थ· कालो काल. समओ समयः उप्पण्णपद्धसी उत्पन्नप्रध्वंसी–प्रथमा एकवचन। **निरुक्ति**–अर्यते इति अर्थ। **समास**–तस्य सम तत्सम· ॥१३६॥

तरह विशिष्ट गतिपरिणाम होता है। स्पष्टीकरण—जैसे विशिष्ट अवगाहपरिणामके कारण एक परमाणुके परिमाणके बराबर अनन्त परमाणुओंका स्कंध परमाणुकी अंशरहितता होनेसे परमाणुके फिर और अनन्त अंशोको सिद्ध नही करता, उसी प्रकार एक कालाणुसे व्याप्त एक आकाशप्रदेशके अतिक्रमणके मापके बराबर एक 'समय' मे परमाणु विशिष्ट गतिपरिणाम के कारण लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक जाता है तब उस परमाणुके द्वारा उलंघित होने वाले असंख्य कालाणु 'समय' के असंख्य अंशोको सिद्ध नही करते, क्योकि 'समय' निरंश है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे कालद्रव्यको एकप्रदेशी बताया गया था। अब इस गाथामें काल पदार्थके द्रव्य और पर्यायका ज्ञान कराया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) एक एक समयरूप परिणमन जिस द्रव्यसे निकलता है वह कालद्रव्य है और वह अनादि अनन्त है। (२) कालद्रव्य असंख्यात है। (३) कालद्रव्यकी प्रतिसमयकी समय नामक पर्याय उत्पन्न होती है और नष्ट हो जाती है। (४) आकाशका एक एक प्रदेश अनंश है, उनपर स्थित प्रत्येक कालद्रव्य अनंश है, प्रत्येक काल पदार्थोंकी समय समय ही समय नामक पर्याय भी अनंश है। (५) अनेक परमाणु एक प्रदेशपर ठहर जाय तो इससे प्रदेशकी अनंशता समाप्त नही होती, क्योकि अनेक परमाणुवोंका कभी एक आकाशप्रदेशपर रहना बने तो वह विशिष्ट अवगाह शक्तिका प्रताप है। (६) परमाणु एक समयमें लोकपर्यन्त गमन कर जाय अर्थात् ७ राजू या १४ राजू गमन कर जाय तो इससे समय पर्यायकी अनं-

अथाकाशस्य प्रदेशलक्षणं सूत्रयति—

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥१४०॥

जितना नभ अणु रोके, उतना नभका प्रदेश इक होता ।
उस प्रदेशमें शक्ती, सब अणु अवगाहनेकी है ॥ १४० ॥

आकाशमणुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम् । सर्वेषां चाणूनां शक्नोति तद्दातुमवकाशम् ॥ १४० ॥

आकाशस्यैकाणुव्याप्योऽशः किलाकाशप्रदेशः, स खल्वेकोऽपि शेषपञ्चद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां चावकाशदानसमर्थः । अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यं-

नामसंज्ञ—आगास अणुणिविट्ठ आगासपदेससण्णा भणिद सव्व च अणु त अवगास । **धातुसंज्ञ**—सक्क सामर्थ्ये । **प्रातिपदिक**—आकाश अणुनिविष्ट आकाशप्रदेशसंज्ञा भणित सर्व च अणु तत् अवकाश ।

शता समाप्त नहीं होती, क्योकि परमाणुका कभी एक समयमे ७ या १४ राजू गमन बने तो वह परमाणुकी विशिष्ट गतिका प्रताप है ।

सिद्धान्त—(१) कालद्रव्य नित्य है । (२) समय नामक पर्याय उत्पन्नप्रध्वंसी है ।

दृष्टि—१- उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२२) । २- शुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय नामक पर्यायार्थिकनय (३४) ।

प्रयोग—कालद्रव्यके अविभागी समय पर्यायकी तरह अपने अविभागी परिणमनका चिन्तन कर गुप्त होकर अपने अविभागी चित्स्वरूपमात्र स्वद्रव्यको निहारना ॥१३९॥

अब आकाशके प्रदेशका लक्षण सूचित करते है—[**अणुनिविष्टं आकाशं**] एक परमाणुके द्वारा घेरा गया आकाश [**आकाशप्रदेशसंज्ञया**] 'आकाशप्रदेश' के नामसे [**भणितम्**] कहा गया है । [**च**] और [**तत्**] वह [**सर्वेषां अणूनां**] समस्त परमाणुओंको [**अवकाशं दातुं शक्नोति**] अवकाश देनेके लिये समर्थ है ।

तात्पर्य—एक परमाणु जितने आकाशपर ठहरता है वह एक प्रदेश है, यह प्रदेश सर्वपरमाणुवोंको स्थान देनेमें समर्थ है ।

टीकार्थ—आकाशका एक परमाणुसे व्याप्य अंश आकाशप्रदेश है; और वह एक आकाशप्रदेश भी शेष पाँच द्रव्योके प्रदेशोंकी तथा परम सूक्ष्मतारूपसे परिणत अनन्त परमाणुओंके स्कंधोंको अवकाश देनेमें समर्थ है । अखंड एक द्रव्यपना होनेपर भी उसमें प्रदेशरूप अंशकल्पना है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओंको अवकाश देना नहीं बन सकेगा । यदि 'आकाशके अंश नहीं होवे ऐसी किसीकी मान्यता हो तो आकाशमें दो उंगलियाँ फैलाकर

शकल्पनमाकाशस्य, सर्वेषामणूनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः । यदि पुनराकाशस्यांशा न स्यु-रिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम् । एकं चेत्किम-भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन किं वा भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन । अभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् येनांशेनैकस्या अङ्गुलेः क्षेत्रं तेनांशेनेतरस्या इत्यन्यतरांशाभावः । एवं द्व्यद्यंशानामभावा-दाकाशस्य परमाणोरिव प्रदेशमात्रत्वम् । भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांश-कल्पनमायातम् । अनेकं चेत् किं सविभागानेकद्रव्यत्वेन किं वाऽविभागैकद्रव्यत्वेन । सविभागा-नेकद्रव्यत्वेन चेत् एकद्रव्यस्याकाशस्यानन्तद्रव्यत्वं, अविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्य-स्यांशकल्पनमायातम् ॥ १४० ॥

मूलधातु—शक्लृ शक्तौ । **उभयपदविवरण**—आगास आकाशं अणुणिविट्ठ अणुनिविष्ट– प्रथमा एक० । आगासपदेसण्णया आकाशप्रदेशसंज्ञया–तृ० एक० । भणिद भणित–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । सव्वेसिं सर्वेषां अणूण अणूनां–षष्ठी बहु० । त तत्–प्र० एक० । अवगास अवकाश– द्वि० एक० । सक्कदि शक्नोति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । देदु दातु–अव्यय हेत्वर्थे कृदंत । **निरुक्ति**—सं ज्ञायते अनया इति संज्ञा, अव काशनं अवकाशः । **समास**–अणुना निविष्टं अणुनिविष्टम्, आकाशस्य प्रदेशः आकाशप्रदेशः तस्य संज्ञा तया ॥१४०॥

बताइये कि दो 'उंगलियोंका एक क्षेत्र है या अनेक ?' यदि एक है तो अभिन्न अंशो वाला अविभाग एक द्रव्यपना होनेसे दो अगुलियोंका एक क्षेत्र है या भिन्न अंशो वाला अविभाग एकद्रव्यपना होनेसे यदि 'अभिन्न अंश वाला अविभाग एकद्रव्यपना होनेसे दो अगुलियोंका एक क्षेत्र है' ऐसा कहा जाय तो जो अंश एक अगुलिका क्षेत्र है वही अंश दूसरी अगुलिका भी है, इसलिये दो में से एक अंशका अभाव हो गया । इस प्रकार एकसे अधिक अंशोका अभाव होनेसे आकाश परमाणुकी तरह प्रदेशमात्र सिद्ध होगा । यदि यह कहा जाय कि 'आकाश भिन्न अंशो वाला अविभाग एक द्रव्य है' इसलिये दो अगुलियोंका एक क्षेत्र है तो ठीक ही है, अविभाग एक द्रव्यमे अंश-कल्पना बन ही गई । यदि यह कहा जाय कि दो अंगुलियोंके 'अनेक क्षेत्र है' अर्थात् एकसे अधिक क्षेत्र है, एक नही तो बतायें कि 'आकाश खंडरूप अनेक द्रव्य है' इस कारण दो अगुलियोके अनेक क्षेत्र है या आकाशके अविभाग एकद्रव्यपना होनेपर भी दो अगुलियोके अनेक क्षेत्र है ? यदि सविभाग अनेक द्रव्य होनेसे माना जाय तो आकाश के अनन्तद्रव्यपना प्रसक्त हो जायगा । यदि अविभाग एक द्रव्य होनेसे माना जाय तो अवि-भाग एकद्रव्यमे अंशकल्पना आ ही गई ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे काल पदार्थके द्रव्य व पर्यायका ज्ञान कराया गया था । अब इस गाथामे कालद्रव्यके बाह्य आधारभूत आकाशप्रदेशका लक्षण बताया गया

अथ तिर्यगूर्ध्वप्रचयावावेदयति—

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य ।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥१४१॥

एक दो बहु असंखे, तथा अनन्ते प्रदेशद्रव्योंके ।
काल है इकप्रदेशी, समयप्रचय मात्र इसके ॥१४१॥

एको वा द्वौ बहव संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च । द्रव्याणां च प्रदेशा सन्ति हि समया इति कालस्य ।१४१।

प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः । तत्राकाशस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मयोरवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वाज्जीवस्यानवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य

नामसंज्ञ—एक्क व दुग बहुग सखातीद तदो अणत य दव्व च पदस हि समय त्ति काल । **धातुसंज्ञ**–अस सत्तायां । **प्रातिपदिक**—एक वा द्वि बहु सख्यातीत तत अनन्त च द्रव्य च प्रदेश हि समय इति

है ।

तथ्यप्रकाश—(१) एक परमाणु जितनी जगहमें स्थित हो उसे आकाशका एक प्रदेश कहते है । (२) आकाशके एक प्रदेशसे अधिकमे परमाणु अवस्थित नही हो सकता, किन्तु आकाशके उस प्रदेशमे अनन्तपरमाणु व अन्य अनेक द्रव्य रह सकते हैं, क्योंकि आकाशप्रदेश मे सबको अवकाश देनेका सामर्थ्य है । (३) आकाश द्रव्य यद्यपि अखण्ड एकद्रव्य है, तथापि आकाशका असीम विस्तार होनेसे उसमे अंशकल्पना हो जाती है । (४) आकाशके अंश हैं ही, तभी दो अंगुलियां भिन्न स्थानोमे पाई जाती है, दृश्यमान सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पाये जा रहे हैं ।

सिद्धान्त—(१) आकाश एक अखण्ड द्रव्य है । (२) विस्तृत आकाशमे अंशकल्पना से प्रदेशका परिचय होता है ।

दृष्टि—१– अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय (४४) । २– भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (८२) ।

प्रयोग—आकाशकी भांति अपनेको अमूर्त अखण्ड, किन्तु ज्ञानाधिक अनुभवनेका पौरुष करना ॥१४०॥

अब तिर्यक्प्रचय तथा ऊर्ध्वप्रचयका परिचय कराते है— [**द्रव्याणां च**] द्रव्योंके [**एकः**] एक, [**द्वौ**] दो, [**बहवः**] बहुत, [**संख्यातीताः**] असंख्य, [**वा**] अथवा [**ततः अनन्ताः च**] अनन्त [**प्रदेशाः**] प्रदेश [**सन्ति**] है । [**हि कालस्य**] किन्तु कालके [**समयाः इति**] 'समय' ही हैं, अनेक प्रदेश नही ।

द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः । न पुनः कालस्य शक्त्या व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात् । ऊर्ध्वप्रचयस्तु त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद्द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव । अयं तु विशेषः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः । शेषद्रव्याणां वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वादस्ति समयविशिष्टत्वम् । कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति ॥१४१॥

काल । **मूलधातु**—अस भुवि । **उभयपदविवरण**—एक्को एक –प्र० एक० व वा य च च हि त्ति इति–अव्यय । दुगे–प्र० बहु० । द्वौ–प्र० द्विवचन । बहुगा बहव सखातीदा सख्यातीता अणता अनन्ता पदेसा प्रदेशाः–प्रथमा बहुवचन । दव्वाण द्रव्याणा–षष्ठी बहु० । समओ समय –प्र० एक० । कालस्स कालस्य–षष्ठी एक० । सति–वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन । **निरुक्ति**—एति इति एक , बहून बहुः । **समास**—संख्या अतीताः सख्यातीता., न अन्त. येषा ते अनन्ता ॥१४१॥

तात्पर्य—कालद्रव्यके अनेक प्रदेश न होनेसे तिर्यक्प्रचय नही है, समय होनेसे ऊर्ध्व-प्रचय ही है ।

टीकार्थ—प्रदेशोका समूह तिर्यक्प्रचय और समयविशिष्ट वृत्तियोका समूह ऊर्ध्वप्रचय कहलाता है । वहाँ आकाशके अवस्थित अनन्तप्रदेश होनेसे धर्म तथा अधर्मके अवस्थित असंख्य प्रदेश होनेसे जीवके अनवस्थित असंख्यप्रदेश होनेसे और पुद्गलके द्रव्यत. अनेक प्रदेशित्वकी शक्तिसे युक्त एकप्रदेश वाला होनेसे तथा पर्यायतः दो अथवा बहुत प्रदेश वाला होनेसे उन सबके तिर्यक्प्रचय है; परन्तु कालके तिर्यक्प्रचय नही है, क्योकि वह शक्ति तथा व्यक्तिकी अपेक्षासे एक प्रदेश वाला है । ऊर्ध्वप्रचय तो सर्वद्रव्योके अनिवार्य ही है, क्योकि द्रव्यकी वृत्ति भूत, वर्तमान और भविष्य, ऐसे तीनों कालोंको स्पर्श करती है, इसलिये अंशोंसे युक्त है । परन्तु इतना अन्तर है कि समयविशिष्ट वृत्तियोंका प्रचय कालको छोड़कर शेष द्रव्योका ऊर्ध्वप्रचय है, और समयोका प्रचय कालद्रव्यका ऊर्ध्वप्रचय है, क्योकि शेष द्रव्योंकी वृत्ति समयसे अन्य है, इस कारण शेष द्रव्योंकी वृत्ति समयविशिष्ट है, परन्तु कालद्रव्यकी वृत्ति तो स्वतः समयभूत होनेसे समयविशिष्ट नही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे कालद्रव्यके बाह्य आधारभूत आकाशप्रदेशका लक्षण कहा गया था । अब इस गाथामें तिर्यक्प्रचय व ऊर्ध्वप्रचयका दिग्दर्शन कराते हुए बताया गया है कि कालद्रव्यके तिर्यक्प्रचय नही होता, क्योंकि कालद्रव्य एकप्रदेशी ही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रदेशोंका समूह तिर्यक्प्रचय कहलाता है । (२) समय समयमें होने वाली पर्यायोंका समूह ऊर्ध्वप्रचय कहलाता है । (३) आकाशद्रव्यके अवस्थित अनन्त प्रदेश होनेसे तिर्यक्प्रचय है । (४) धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्यके असंख्यातप्रदेश होनेसे तिर्यक्प्रचय

अथ कालपदार्थोर्ध्वप्रचयनिरन्वयत्वमुपहन्ति—

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्हि ।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥१४२॥

संभव विनाश होता, यदि कालका एक समयमें तो वह ।
द्रव्य समयवृत्तिग ध्रुव, स्वभावसमवस्थ है शाश्वत ॥१४२॥

उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि यस्यैकसमये । समयस्य सोऽपि समयः स्वभावसमवस्थितो भवति ॥ १४२ ॥

समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंशः तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात् । तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव किं यौगपद्येन किं क्रमेण, यौगपद्येन चेत् नास्ति यौगपद्यं सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात् । क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः, वृत्त्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात् । ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः, स च समयपदार्थ

नामसंज्ञ—उप्पाद पद्धंस जदि ज एकसमय समय त वि समअ सभावसमवट्ठिद । **धातुसंज्ञ**—विज्ज सत्तायां, हव सत्तायां । **प्रातिपदिक**—उत्पाद प्रध्वंस यदि यत् एकसमय समय तत् अपि समय स्वभावसमवस्थित । **मूलधातु** विद सत्तायां, भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—उप्पादो उत्पादः पद्धंसो प्रध्वंसः-प्रथमा

है । (५) जीव चाहे अनवस्थित है, परन्तु असंख्यातप्रदेश होनेसे जीवके भी तिर्यक्प्रचय है । (६) पुद्गलके द्रव्यसे अनेकप्रदेश शक्ति शक्तियुक्त एक प्रदेशपना होनेसे, किन्तु पर्यायसे बहुप्रदेशी होनेसे तिर्यक्प्रचय है । (७) कालद्रव्यके शक्तिरूपसे भी एकप्रदेशपना होनेसे व व्यक्तरूपसे भी एकप्रदेशपना होनेसे तिर्यक्प्रचय नहीं है । (८) ऊर्ध्वप्रचय समस्त द्रव्योंमे होता ही है, क्योंकि समय समयमे पर्यायोंका होना निरन्तर न रहे तो द्रव्यकी सत्ता ही नहीं । (९) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाशद्रव्यके समय-समयपर होने वाले परिणमनोंके समूहरूप ऊर्ध्वप्रचय है । (१०) कालद्रव्यके समय नामक परिणमनोंके समूहरूप ऊर्ध्वप्रचय है ।

सिद्धान्त—(१) अनेकप्रदेशी द्रव्यके तिर्यक्प्रचय होता है ।

दृष्टि—१- प्रदेशविस्तारदृष्टि (२१७) ।

प्रयोग—तिर्यक्प्रचय व ऊर्ध्वप्रचयसे अपने आत्मद्रव्यको पहिचानकर प्रचयके विकल्पों को छोड़कर अखण्ड शुद्ध चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वको अनुभवना ॥१४१॥

अब कालपदार्थका ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय है, इस शंकाको दूर करते है—**[यस्य समयस्य]** जिस कालका **[एक समये]** एक समयमें **[उत्पादः प्रध्वंसः]** उत्पाद और विनाश **[यदि]** यदि **[विद्यते]** पाया जाता है, **[सः अपि समयः]** तो वह भी कालाणु **[स्वभावसमवस्थितः]** स्वभावमें अवस्थित अर्थात् ध्रुव **[भवति]** होता है ।

एव । तस्य खल्वेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे समुत्पादप्रध्वंसौ सभवत । यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन् वृत्त्यंशे तद्वृत्त्यंशविशिष्टत्वेनोत्पादः । स एव तस्यैव वृत्तिमतस्तस्मिन्नेव वृत्त्यंशे पूर्ववृत्त्यशविशिष्टत्वेन प्रध्वंसः । यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्त्यशे सभवतः समयपदार्थस्य कथ नाम नि-

एक० । जदि यदि वि अपि–अव्यय । जस्स यस्य–षष्ठी एक० । एकसमयम्हि एकसमये–सप्तमी एक० । समयस्स समयस्य–षष्ठी एक० । सो स समओ समय सहावसमवट्ठिदो स्वभावसमवस्थित –प्रथमा एक-

तात्पर्य—कालद्रव्य भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है ।

टीकार्थ—समय कालपदार्थका वृत्यंश है; उस वृत्यंशमे किसीके भी अवश्य उत्पाद तथा विनाश संभवित हैं; क्योंकि परमाणुके अतिक्रमणके द्वारा उत्पन्न होनेसे वह समयरूपी वृत्यंश कारणपूर्वक है । यदि उत्पाद और विनाश वृत्यंशके ही माने जायें तो, वे युगपद् है या क्रमशः ? यदि 'युगपत्' कहा जाय तो युगपतपना घटित नही होता, क्योंकि एक ही समय एकके दो विरोधी धर्म नही होते । यदि 'क्रमश' कहा जाय तो क्रम नही बनता, क्योंकि वृत्यंशके सूक्ष्म होनेसे उसमे विभागका अभाव है । इस कारण कोई वृत्तिमान् अवश्य ढूढना चाहिये । और वह वृत्तिमान काल पदार्थ ही है । उसके वास्तवमे एक वृत्यशमे भी उत्पाद और विनाश सभव है; क्योकि जिस वृत्तिमानके जिस वृत्यशमे उस वृत्त्यंशकी अपेक्षासे जो उत्पाद है, वही, उसी वृत्तिमानके उसी वृत्यंशमे पूर्व वृत्यंशकी अपेक्षामे विनाश है । यदि इस प्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्यंशमे भी संभवते है तो काल पदार्थ निरन्वय कैसे हो सकता है जिससे कि पूर्व और पश्चात् वृत्यशकी अपेक्षासे युगपत् विनाश और उत्पादको प्राप्त होता हुआ भी स्वभावसे अविनष्ट और अनुत्पन्न होनेसे वह काल पदार्थ अवस्थित न हो ? इस प्रकार एक वृत्यंशमे काल पदार्थके उत्पादव्ययध्रौव्यवानपना सिद्ध हुआ ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे तिर्यक्प्रचय व ऊर्ध्वप्रचयका दिग्दर्शन कराते हुए कालद्रव्यके ऊर्ध्वप्रचयका विधान व तिर्यक्प्रचयका निषेध किया गया था । अब इस गाथा मे यह बताया गया है कि कालद्रव्यका ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय नही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) कालद्रव्यका अविभागी परिणमन समय है । (२) प्रत्येक समय परिणमन एक एक समय ही रहता है, अतः समय परिणमन तो उत्पन्न और नष्ट होता रहता है, किंतु समय पर्यायका अपादानभूत कालद्रव्य ध्रुव ही रहता । (३) समय परिणमन तो वृत्यंश है और कालद्रव्य वृत्तिमान है, तभी एक कालद्रव्यमे समय नामक वृत्यशोंका उत्पाद व्यय संभव है । (४) एक ही समयमे कालद्रव्यके वर्तमान समय परिणमनकी अपेक्षा उत्पाद है व पूर्वसमयपरिणमनकी अपेक्षा विनाश है । (५) यदि कालद्रव्य न माना जाय, मात्र समय

रन्वयत्वं, यतः पूर्वोत्तरवृत्त्यंशविशिष्टत्वाभ्यां युगपदुपात्तप्रध्वंसोत्पादस्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्ता नुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत्। एवमेकस्मिन् वृत्त्यंशे समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं सिद्धम् ॥ १४२ ॥

वचन। विज्जदि विद्यते हवदि भवति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। **निरुक्ति**—उत् पादन उत्पाद, प्र ध्वसन प्रध्वस। **समास**—स्वस्य भाव स्वभाव· स्वभावे समवस्थित· इति स्वभावसमवस्थितः ॥१४२॥

परिणमन माना जाय तो किसी भी एक समयका उत्पाद व्यय एक समयमे सभव नहीं, क्योकि उत्पाद व व्यय परस्पर विरुद्ध धर्म है, किसी भी एक समयका उत्पाद व्यय क्रमसे भी सभव नही, क्योकि अविभागी एक वृत्त्यंश क्रम नही बन सकता। (६) जब कालद्रव्यके वर्तमान समयपरिणमनका उत्पाद है पूर्व समयपरिणमनका व्यय है तब दोनोका आधारभूत कालद्रव्य निरन्वय कैसे कहा जा सकता, कालद्रव्य ध्रुव है और उसके समय नामक परिणमनोकी सतति चलती रहती है। (७) कालद्रव्य वृत्तिमान है और समय नामक परिणमन वृत्यश है, तथा वृत्त्यंश वृत्तिमानसे भिन्नप्रदेशी नही हैं, अतः कालद्रव्य भी सर्व द्रव्योंकी भाँति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

सिद्धान्त—(१) कालद्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् है।

दृष्टि—१- सत्तासापेक्ष नित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय (६०)।

प्रयोग—समय नामक परिणमनोंके उपादानभूत कालद्रव्यके परिचयकी तरह अपने अर्थपर्यायोके अपादानभूत स्वात्मद्रव्यका परिचय करके पर्यायोका विकल्प छोडकर उनके अपादानभूत कारणसमयसारस्वरूप निज परमात्मद्रव्यकी आराधना करना ॥१४२॥

अब सर्व वृत्यशोमे कालपदार्थका उत्पादव्ययध्रौव्यवानपना सिद्ध करते है—[**एकस्मिन् समये**] एक एक समयमे [**संभवस्थितिनाशसंज्ञिताः अर्थाः**] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय से संज्ञित धर्म [**समयस्य**] कालके [**सति**] होते है। [**एषः हि**] यही [**सव्व कालं**] सदा [**कालाणुसद्भावः**] कालाणुका सद्भाव है; अर्थात् यही कालाणुके अस्तित्वकी सिद्धि है।

तात्पर्य—कालद्रव्य प्रतिसमय उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, यो इसका सदा अस्तित्व है।

टीकार्थ—काल पदार्थके सभी वृत्यंशोमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं, क्योकि एक वृत्यंशमें वे उत्पादव्ययध्रौव्य देखे जाते है। और यह युक्त ही है, क्योंकि विशेष अस्तित्व सामान्य अस्तित्वके बिना नही हो सकता। यही कालपदार्थके सद्भावकी सिद्धि है। (क्योंकि) यदि विशेष और सामान्य अस्तित्व सिद्ध होते हैं तो वे अस्तित्वके बिना किसी भी प्रकारसे

अथ सर्ववृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं साधयति--

एगम्हि संति समये संभवठिदिणासमण्णिदा अट्ठा ।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥१४३॥

एक समयमे होते, संभव व्यय ध्रौव्य सर्वद्रव्योंके ।
कालाणुमें भी ऐसा, स्वभाव है सर्वदा निश्चित ॥१४३॥

एकस्मिन् सन्ति समये सभवस्थितिनाशसज्ञिता अर्था । समयस्य मर्वकाल एष हि कालाणुसद्भाव ।१४३।

अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्त्यशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्त्यशे तस्य दर्शनात्, उपपत्तिमच्चैतत् विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः । अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्धयति सद्भावः । यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्धयतस्तदा त अस्तित्वमन्तरेण न सिद्धयतः कथंचिदपि ॥ १४३ ॥

नामसंज्ञ—एग समय सभवठिदिणाससण्णिद अट्ठ समय सव्वकाल एत हि कालाणुसब्भाव । **धातुसंज्ञ** – अस सत्ताया । **प्रातिपदिक**—एक समय सभवस्थितिनाशसज्ञित अर्थ समय सर्वकाल एतत् हि कालाणुसद्भाव । **मूलधातु**—अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—एगम्हि एकस्मिन् समये–सप्तमी एक० । सभवठिदिणाससण्णिदा सभवस्थितिनाशसज्ञिता. अट्ठा अर्थाः–प्रथमा बहु० । समयस्स समयस्य–षष्ठी एक० । सव्वकालं–अव्यय विशेषण, एस एष कालाणुसब्भावो कालाणुसद्भाव –प्रथमा एकवचन । **निरुक्ति**—स भवन सभवः, स्थान स्थिति, नशन नाश । **समास**—सभवश्च स्थितिश्च नाशश्च सभवस्थितिनाशा. तै. सज्ञिता इति स० ॥ १४३ ॥

सिद्ध नहीं होते ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे कालद्रव्यके ऊर्ध्वप्रचयकी निरन्वयताका निराकरण किया था । अब इस गाथामे कालपदार्थका उत्पादव्ययध्रौव्यपना सिद्ध किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) समयनामक परिणमन विशेष अस्तित्व है । (२) विशेष अस्तित्व सामान्य अस्तित्वके बिना नही होता । (३) समय नामक परिणमनविशेषका अपादानभूत सामान्य कालद्रव्य है । (४) कालद्रव्य समस्त समयोमे उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है ।

सिद्धान्त—(१) समयपरिणमन विनश्वर है । (२) समस्त वृत्त्यंशोमे कालद्रव्यके उत्पादव्ययध्रौव्यपना है ।

दृष्टि—१- सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (३७) । २- सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (३८) ।

प्रयोग—समय नामक परिणमनविशेषसे अविनाभावी कालद्रव्यका परिचय पानेकी भांति भावरूप परिणमनविशेषसे अविनाभावी निज आत्मद्रव्यका परिचय पाकर परिणमन-

अथ कालपदार्थस्यास्तित्वान्यथानुपपत्त्या प्रदेशमात्रत्वं साधयति—

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥१४४॥

जिसका प्रदेश नहिं हो, वह शून्य हुआ पदार्थ कैसे हो ।
क्योंकि प्रदेशरहित तो, सत्तासे भिन्न कुछ न रहा ॥ १४४ ॥

यस्य न सन्ति प्रदेशाः प्रदेशमात्रं वा तत्त्वतो ज्ञातुम् । शून्यं जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ॥१४४॥

अस्तित्वं हि तावदुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः । न खलु सा प्रदेशमन्तरेण सूत्र्यमाणा कालस्य संभवति, यतः प्रदेशाभावे वृत्तिमदभावः । स तु शून्य एव, अस्तित्वसंज्ञाया

नामसंज्ञ—ज ण पदेस पदेसमेत्त व तच्चदो सुण्ण त अत्थ अत्थतरभूद अत्थि । **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां, जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—यत् न प्रदेश प्रदेशमात्र वा तत्त्वतः शून्य तत् अर्थ अर्थान्तरभूत अस्तित्व । **मूलधातु**—अस् भुवि, ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—जस्स यस्य-षष्ठी एक० । ण न व वा-अव्यय । पदेसा प्रदेशा -प्रथमा बहु० । पदेसमत्त प्रदेशमात्र-प्र० एक० । तच्चदो तत्त्वत.-अव्यय पचम्यर्थे ।

विशेषोंका विकल्प छोडकर निज परमात्मद्रव्यमें उपयोगको लगाना व रमाना ॥१४३॥

अब कालपदार्थके अस्तित्वकी अन्यथा अनुपपत्तिके द्वारा कालपदार्थका प्रदेशमात्रत्व सिद्ध करते हैं—[**यस्य**] जिस पदार्थके [**प्रदेशाः**] प्रदेश [**प्रदेशमात्रं वा**] अथवा एकप्रदेश भी [**तत्त्वतः**] परमार्थतः [**ज्ञातुम् न संति**] जाननेके लिये नही है, [**तं अर्थं**] उस पदार्थको [**शून्यं जानीहि**] शून्य जानो [**अस्तित्वात् अर्थान्तरभूतम्**] क्योकि वह अस्तित्वसे अर्थान्तरभूत अर्थात् अन्य है ।

तात्पर्य—जिसके प्रदेश नही वह पदार्थ ही नही है ।

टीकार्थ—अस्तित्व तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी ऐक्यरूपवृत्ति है । वह प्रदेशके बिना ही कालके होती है यह कथन संभवता नही है, क्योकि प्रदेशके अभावमें वृत्तिमान्का अभाव होता है । सो अस्तित्व नामक वृत्तिसे अर्थान्तरभूत होनेसे वह तो शून्य हो है और मात्र वृत्ति ही काल हो नही सकती, क्योंकि वृत्तिमान्के बिना वृत्ति नही हो सकती । यदि यह कहा जाय कि वृत्तिमान्के बिना भी वृत्ति हो सकती है तो, अकेली वृत्ति उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी एकतारूप कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि—'अनादि अनन्त निरन्तर अनेक अंशोंके कारण एकात्मकता होती है इसलिये, पूर्व पूर्व अंशोंका नाश होता है, और उत्तर उत्तरके अंशोंका उत्पाद होता है तथा एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है, इस प्रकार मात्र अकेली वृत्ति भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी एकतास्वरूप हो सकती है' तो ऐसा नहीं है । क्योंकि

वृत्तेरर्थान्तरभूतत्वात् । न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमर्हति, वृत्तेर्हि वृत्तिमन्तमन्तरेणानुपपत्तेः । उपपत्तौ वा कथमुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मकत्वम् । अनाद्यन्तनिरन्तरानेकांशवशीकृतैकात्मकत्वेन पूर्वपूर्वांशप्रध्वंसादुत्तरोत्तरांशोत्पादादेकात्मध्रौव्यादिति चेत् । नैवम् । यस्मिन्नंशे प्रध्वंसो यस्मिंश्चोत्पादस्तयो. सहप्रवृत्त्यभावात् कुतस्त्यमैक्यम् । तथा प्रध्वस्तांशस्य सर्वथास्तमितत्वादुत्पद्यमानांशस्य वासंभवितात्मलाभत्वात्प्रध्वंसोत्पादैक्यवर्तिध्रौव्यमेव कुतस्त्यम् । एव सति नश्यति त्रैलक्षण्य, उल्लसति क्षणभङ्गः, अस्तमुपैति नित्य द्रव्य, उदीयन्ते क्षणक्षयिणो भावा । ततस्तत्त्वविप्लवभयात्कश्चिदवश्यमाश्रयभूतो वृत्तेर्वृत्तिमाननुसर्तव्यः । स तु प्रदेश

णादु ज्ञातु–अव्यय हेत्वर्थे कृदन्त । सुण्ण शून्य–द्वितीया एक० । जाण जानीहि–आज्ञार्थे मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया । सति–वर्तमान अन्य पुरुष बहु० क्रिया । त अत्थं अर्थम्–द्वितीया एक० । अत्थतरभूद

जिस अंशमे नाश है और जिस अंशमे उत्पाद है वे दो अंश एक साथ प्रवृत्त नही होते, इसलिये उत्पाद और व्ययका ऐक्य कहाँसे हो सकता है ? तथा नष्ट अंशके सर्वथा अस्त होनेसे और उत्पन्न होने वाला अंश अपने स्वरूपको प्राप्त न होनेसे नाश और उत्पादकी एकतामे प्रवर्तमान ध्रौव्य कहाँसे हो सकता है ? ऐसा होनेपर त्रिलक्षणता अर्थात् उत्पादव्ययध्रौव्यता नष्ट हो जाती है, क्षणभंग उल्लसित हो उठता है, नित्य द्रव्य अस्त हो जाता है, और क्षणविध्वसी भाव उत्पन्न होते है । इस कारण तत्त्वविप्लवके भयसे अवश्य ही वृत्तिका आश्रयभूत कोई वृत्तिमान् स्वीकार करना योग्य है । वह तो प्रदेश ही है अर्थात् वह वृत्तिमान् सप्रदेश ही होता है, क्योकि अप्रदेशके अन्वय तथा व्यतिरेकका अनुविधायित्व असिद्ध है । **प्रश्न**—जब कि इस प्रकार काल सप्रदेश है तो उसके एकद्रव्यके कारणभूत लोकाकाश तुल्य असख्यप्रदेश क्यो न मानने चाहियें ? **उत्तर**—पर्यायसमयकी असिद्धि होनेसे कालद्रव्यके असख्य प्रदेश मानना योग्य नही है । परमाणुके द्वारा प्रदेशमात्र द्रव्य समयका उल्लघन करनेपर पर्यायसमय प्रसिद्ध होता है । यदि द्रव्यसमय लोकाकाशतुल्य असख्यप्रदेशी हो तो पर्यायसमयकी सिद्धि कहाँसे होगी ? **प्रश्न**—लोकाकाश जितने असख्य प्रदेश वाला एकद्रव्य होनेपर भी परमाणुके द्वारा उसका एकप्रदेश उलंघित होनेपर पर्यायसमयकी सिद्धि हो जायगी ? **उत्तर**—ऐसा नही है । एकप्रदेशकी वृत्तिको सम्पूर्ण द्रव्यकी वृत्ति माननेमे विरोध होनेसे । सम्पूर्ण काल पदार्थका जो सूक्ष्म वृत्यंश है वह समय है, परन्तु उसके एकदेशका वृत्यंश समय नही । दूसरी बात यह है कि तिर्यक्प्रचयको ऊर्ध्वप्रचयत्वका प्रसग आता है । **स्पष्टीकरण**—पहिले कालद्रव्य एकप्रदेशसे वर्ते, फिर दूसरे प्रदेशसे वर्ते और फिर अन्यप्रदेशसे वर्ते ऐसा प्रसंग आनेसे तिर्यक्प्रचय ऊर्ध्वप्रचय बनकर द्रव्यको प्रदेशमात्र स्थापित करता है । अर्थात् तिर्यक्प्रचयका ही ऊर्ध्वप्रचय बन बैठने

एवाप्रदेशस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वासिद्धेः । एवं सप्रदेशत्वे हि कालस्य कुत एकद्रव्यनिबन्धनं लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वं नाभ्युपगम्येत । पर्यायसमयाप्रसिद्धेः । प्रदेशमात्रं हि द्रव्यसमयमतिक्रामतः परमाणोः पर्यायसमयः प्रसिद्धयति । लोकाकाशतुल्यासख्येयप्रदेशत्वे तु द्रव्यसमयस्य कुतस्त्या तत्सिद्धिः । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशैकद्रव्यत्वेऽपि तस्यैकं प्रदेशमतिक्रामतः परमाणोस्तत्सिद्धिरिति चेन्नैव । एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात् । सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्त्यशः स समयो न तु तदेकदेशस्य । तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वप्रसंगाच्च । तथाहि— प्रथममेकेन प्रदेशेन वर्तते ततोऽन्येन ततोऽप्यन्यतरेणेति तिर्यक्प्रचयोऽप्यूर्ध्वप्रचयीभूय प्रदेशमात्रं द्रव्यमवस्थापयति । ततस्तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वमनिच्छता प्रथममेव प्रदेशमात्रं कालद्रव्यं व्यवस्थापयितव्यम् ।। १४४ ।।

अर्थान्तरभूत–द्वितीया एक० । अत्थीदो अस्तित्वात्–पचमी एकवचन । **निरुक्ति**–तत्त्वात् इति तत्त्वतः तद्धिते तसल् ।। १४४ ।।

का प्रसंग आता है, इसलिये कालद्रव्य प्रदेशमात्र ही सिद्ध होता है । अतः तिर्यक्प्रचयको ऊर्ध्वप्रचयत्व न चाहने वालेको पहिले ही कालद्रव्यको प्रदेशमात्र निश्चय करना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे कालद्रव्यकी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता बताई गई थी । अब इस गाथामे कालद्रव्यका एकप्रदेशित्व सिद्ध किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) उत्पादव्ययध्रौव्यकी ऐक्यरूप वृत्ति ही अस्तित्व है । (२) यदि कालद्रव्यके प्रदेश न हो तो अस्तित्व ही संभव नही । (३) प्रदेशके अभावमे वृत्तिमानका ही अभाव है, फिर वृत्ति तो सम्भव हो नही । (४) केवल वर्तनाको ही काल नही कहा जा सकता, क्योकि वृत्तिमानके बिना वृत्ति हो ही नहीं सकती । (५) केवल एक एक समय परिणमनको ही काल पदार्थ नही माना जा सकता, क्योकि एक एक समय परिणमनमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी एकता नही है । (६) किसी प्रकारका परिणमन हो उसका अपादान व आधार ध्रुव द्रव्य ही होता । (७) समय भी विनश्वर एक परिणमन है उसका अपादान व आधार कोई द्रव्य है उसका नाम यहाँ रखा गया है कालद्रव्य । (८) किसी भी परिणमनका आधार प्रदेशवान ही होता है सो कालद्रव्य भी प्रदेशवान है । (९) कालद्रव्य प्रदेशवान तो है, किन्तु वह एक प्रदेश वाला ही है । (१०) कालको अनेकप्रदेशी कल्पित करनेपर उससे समय परिणमन निष्पन्न नही हो सकता । (११) एकप्रदेशमात्र कालद्रव्यको उल्लंघ कर निकटके द्वितीय कालद्रव्यपर पहुंचे हुए परमाणुसे समय पर्यायकी प्रसिद्धि होती है । (१२) समग्र

अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहारजीवत्वहेतुमालोचयति—

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो ।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो ॥१४५॥

सप्रदेश अर्थोंसे, समग्र यह लोक नित्य निष्ठित है ।
उसका ज्ञाता जीव हि, वह जगमें प्राणसंयोगी ॥१४५॥

सप्रदेशैः समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्यः । यस्तं जानाति जीवः प्राणचतुष्काभिसंबद्धः ॥ १४५ ॥

एवमाकाशपदार्थादाकालपदार्थाच्च समस्तैरेव संभावितप्रदेशसद्भावैः पदार्थैः समग्र एव यः समाप्तिं नीतो लोकस्तं खलु तदन्तःपातित्वेऽप्यचिन्त्यस्वपरपरिच्छेदशक्तिसंपदा जीव एव जानीते नत्वितरः । एवं शेषद्रव्याणि ज्ञेयमेव, जीवद्रव्यं तु ज्ञेयं ज्ञानं चेति ज्ञानज्ञेयविभागः । अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूत-

नामसंज्ञ—सपदेस समग्ग लोग अट्ठ णिट्ठिद णिच्च ज त जीव पाणचदुक्काहिसबद्ध । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, अण प्राणने । **प्रातिपदिक**—सप्रदेश समग्र लोक अर्थ निष्ठित नित्य यत् तत् जीव प्राण-

कालद्रव्यका एक परिणमन समय है, कालद्रव्यका एकदेशमे परिणमन समय नही है, अतः काल एकप्रदेशी है । (१३) कालद्रव्यमे तिर्यक्प्रचय नही होता, क्योकि कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं । (१४) यदि कोई कालद्रव्यको लोकाकाश बराबर असंख्यातप्रदेशी माने तो वहाँ कालद्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर दूसरेसे तीसरेपर यो परमाणुकी गतिसे समय संतति मानी जायगी सो यह तिर्यक्प्रचय भी ऊर्ध्वप्रचय बन गया, तिर्यक्प्रचय न रहा । (१५) जहाँ तिर्यक्प्रचय नही वहाँ बहुत प्रदेश नही होते, सो कालद्रव्य एकप्रदेशी ही है ।

सिद्धान्त—(१) उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे कालद्रव्य सत् है । (२) समयमात्र परिणमन होता रहनेसे कालद्रव्य एकप्रदेशी है ।

दृष्टि—१–उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५४) । २–उपादानदृष्टि (४६ब) ।

प्रयोग—समयपरिणमनसे उसके आधारका परिचय पानेकी तरह अपने आत्मपरिणमनसे उसके आधारका याने निजपरमात्मद्रव्यका परिचय पाकर सर्व विकल्पोको छोड़कर चैतन्यस्वरूप निज परमात्मपदार्थमे ही मग्न होनेका पौरुष होने देना ॥१४४॥

अब इस प्रकार ज्ञेयतत्त्वको कहकर, ज्ञान और ज्ञेयके विभाग द्वारा आत्माको निश्चित करते हुये, आत्माकी अत्यन्त विभक्तता करनेके लिये व्यवहारजीवत्वके हेतुका विचार करते हैं—[सप्रदेशैः अर्थैः] सप्रदेश पदार्थोंके द्वारा [निष्ठितः] भरा हुआ [समग्रः लोकः] सम्पूर्ण

तया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति ॥१४५॥

चतुष्काभिसबद्ध । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, अन प्राणने । **उभयपदविवरण**—सपदेसेहिं सप्रदेशै. अट्ठेहिं अर्थैः—तृतोया बहुवचन । समग्गो समग्र· लोगो लोक णिच्चो नित्य: जो य: जीवो जीव. पाणचदुक्काभिसबद्धो प्राणचतुष्काभिसंबद्ध —प्रथमा एकवचन । त—द्वितीया एक० । जाणदि जानाति—वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । णिट्ठिदो निष्ठित.—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—सम सकल यथा स्यात्तथा गृह्यते इति समग्र, नियमेन भव· नित्य प्राणिति जीवति अनेन इति प्राण । **समास**—प्रदेशेन सहिता: सप्रदेशा तै, प्राणाना चतुष्क प्राणचतुष्क तेन अभिसबद्ध. प्रा० ॥१४५॥

लोक **[नित्यः]** नित्य है, **[तं]** उसे **[यः जानाति]** जो जानता है **[जीवः]** वह जीव है, **[प्राणचतुष्काभिसंबद्धः]** जो कि ससार दशामे चार प्राणोसे संयुक्त है ।

तात्पर्य—जो जाने यह जीव है और संसारी जीव इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोसे सयुक्त है ।

टीकार्थ— इस प्रकार प्रदेशका सद्भाव है जिनके ऐसे आकाशपदार्थसे लेकर काल पदार्थ तकके सभी पदार्थोंसे सपूर्णताको प्राप्त जो समस्त लोक है उसको वास्तवमे, उसमे अन्तर्भूत होनेपर भी, स्वपरको जाननेकी अचिन्त्य शक्तिरूप सम्पत्तिके द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नही । इस प्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही है, परन्तु जीवद्रव्य ज्ञेय तथा ज्ञान है, इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयका विभाग है । अब इस जीवके सहजरूपसे (स्वभावसे ही) प्रगट अनन्तज्ञानशक्ति हेतु है जिसका और तीनों कालमे अवस्थायित्व लक्षण है जिसका ऐसा, वस्तुका स्वरूपभूत होनेसे सर्वदा अविनाशी निश्चयजीवत्व होनेपर भी, संसारावस्थामें अनादिप्रवाहरूपसे प्रवर्तमान पुद्गलसंश्लेषके द्वारा स्वयं दूषित होनेसे उसके चार प्राणोसे संयुक्तता व्यवहारजीवत्वका हेतु है, और विभक्त करने योग्य है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कालद्रव्यविषयक वर्णन कर चुकनेपर ज्ञेयतत्त्व का वर्णन समाप्त कर दिया गया । अब ज्ञानज्ञेयविभाग द्वारा अपने विविक्त सहज स्वरूपका निश्चय करनेके लिये व्यवहार जीवत्वके कारणका इस गाथामे विचार किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) समग्र द्रव्योमें केवल जीव ही जाननहार पदार्थ है, क्योंकि जीवमें ही स्वपरका परिच्छेदन (विभाग, जानन) की शक्ति है । (२) जीवद्रव्य ज्ञान है व ज्ञेय भी है । (३) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये ५ प्रकारके द्रव्य ज्ञेय ही है । (४) जीव स्वरूपतः अनन्तज्ञानशक्तिका हेतुभूत सहजज्ञानस्वभावमय है । (५) जीवमे संसारावस्थामें अनादिप्रवाहसे चले आये पुद्गलोसे संश्लिष्ट होनेसे चार प्राणोंसे संयुक्त है । (६) यही प्राण-

अथ के प्राणा इत्यावेदयति—

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ १४६ ॥

इन्द्रिय बल आयु तथा, श्वासोच्छ्वास युत प्राण चारो ये ।
संसारी जीवोंके, होते है जीवते जिनसे ॥ १४६ ॥

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायु प्राणश्च । आनपानप्राणो जीवाना भवन्ति प्राणास्ते ॥ १४६ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्रपञ्चकमिन्द्रियप्राणाः, कायवाङ्मनस्त्रयं बलप्राणाः, भवधा-

नामसंज्ञ—इदियपाण य तधा बलपाण तह य आउपाण य आणप्पाणप्पाण जीव पाण ते । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—इन्द्रियप्राण च तथा बलप्राण तथा च आयु प्राण च आनपानप्राण जीव प्राण तत् । **मूलधातु**—भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—इंदियपाणो इन्द्रियप्राण बलपाणो बलप्राण आउपाणो आयु.प्राण आणप्पाणप्पाणो आनपानप्राण —प्रथमा एकवचन । य च तधा तथा तह तथा—अव्यय ।

चतुष्काभिसंबद्धता व्यवहारजीवत्वका हेतु है । (७) व्यवहार जीवत्वके हेतुवोका व व्यवहार जीवत्वका अभाव होनेसे प्रकट निश्चयजीवत्व ही प्रभुता है ।

सिद्धान्त—(१) कर्मोपाधि विपाकवश जीव सविकार हो रहा है । (२) स्वरूपदृष्टिसे निर्विकार शुद्ध परिणमन होता है ।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । २– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब, २४अ) ।

प्रयोग—व्यवहारजीवत्वहेतुवोसे व व्यवहारजीवत्वसे सदाके लिये विविक्त होनेके लिये परसंयोग व परभावको न निरखकर केवल सहज परमात्मतत्त्वकी उपासना करना ॥१४५॥

अब प्राण कौनसे है, यह बतलाते है—[**इन्द्रियप्राणः च**] इन्द्रियप्राण [**तथा बलप्राणः**] तथा बलप्राण, [**तथा च आयुःप्राणः**] तथा आयुप्राण [**च**] और [**आनपानप्राणः**] श्वासोच्छ्वास प्राण; [**ते**] ये [**जीवानां**] जीवोके [**प्राणाः**] प्राण [**भवन्ति**] हैं ।

तात्पर्य—ससारी जीवोके इन्द्रियबल आयु व श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते है ।

टीकार्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—ये पाँच इन्द्रियप्राण है । काय, वचन, और मन—ये तीन बलप्राण है । भव धारणका निमित्त आयुप्राण है । नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है ऐसी वायु (श्वास) श्वासोच्छ्वास प्राण है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे चार प्रकारोके प्राणोकी अभिसम्बद्धताको व्यवहारजीवत्वका हेतु बताया गया था । अब इस गाथामे उन प्राणोका निर्देश किया गया है ।

रणनिमित्तमायुःप्राणः । उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानपानप्राणः ।। १४६ ।।

जीवाणं जीवाना-षष्ठी बहुवचन । होंति भवन्ति-वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । पाणा प्राणाः ते-प्रथमा बहुवचन । **निरुक्ति**—इन्द्रस्य लिङ्ग इन्द्रिय, बलन बल, एति भव इति आयुः, अणन आनः । **समास**—प्रकृष्ट. आन· प्राण· ।।१४६।।

तथ्यप्रकाश—(१) प्राण चार है—इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयुप्राण व श्वासोच्छ्‌वास प्राण । (२) उक्त चार प्राण संसारी जीवोके पाये जाते है, किन्तु अपर्याप्त अवस्थामें श्वासोच्छ्‌वास प्राण बिना ३ प्राण पाये जाते है । (३) प्राणोके प्रभेद होनेसे प्राण १० होते हैं—५ इन्द्रियप्राण, ३ बलप्राण, १ आयुप्राण, १ श्वासोच्छ्‌वास प्राण । (४) इन प्राणोंमे ५ भावेन्द्रियोको इन्द्रियप्राण कहा गया है । (५) मन, वचन, कायके अवलम्बनसे प्रकट हुई जीवशक्तिको बलप्राण कहा गया है । (६) आयुकर्मके उदयको आयुप्राण कहा गया है । (७) श्वास के आने निकलनेको श्वासोच्छ्‌वास प्राण कहा गया है । (८) उक्त प्राणोंमे से किसीका वियोग होनेपर इन सभी प्राणोका वियोग हो जाता है, किन्तु अनन्तर समयमें ही अन्य प्राणोका सयोग मिल जाता है । (९) रत्नत्रयके तेजसे इन प्राणोंका वियोग होनेपर फिर ये कभी नही मिलते, एक शुद्ध चैतन्यप्राणसे ही सदाके लिये अनन्त ज्ञानानन्दमय अवस्था रहती है ।

सिद्धान्त—(१) जीवका व्यवहार प्राणमय होना अशुद्धावस्था है । (२) निरुपाधि शुद्ध चैतन्यप्राणविकासरूप होना जीवकी शुद्धावस्था है । (३) जीव स्वयं सहज शुद्ध चैतन्यप्राणमय है ।

दृष्टि—१- अशुद्ध निश्चयनय (४७) । २- शुद्ध निश्चयनय (४६) । ३- अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—व्यवहारप्राणोकी दशाकी आकुलता दूर करनेके लिये सहज चैतन्यप्राणमात्र अन्तस्तत्त्वका अनुभव करना ।।१४६।।

अब निरुक्ति द्वारा प्राणोको जीवत्वका हेतुत्व और उनका पौद्गलिकत्व सूचित करते हैं— [**यः हि**] जो [**चतुर्भिः प्राणैः**] चार प्राणोसे [**जीवति**] जीता है, [**जीविष्यति**] जियेगा, [**पूर्वं जीवितः**] और पहले जीता था, [**सः जीवः**] वह जीव है । [**पुनः**] और [**प्राणाः**] वे प्राण [**पुद्गलद्रव्यैः निर्वृत्ताः**] पुद्गल द्रव्योसे रचित है ।

तात्पर्य—संसारमे जीव पौद्गलिक प्राणोके सम्बन्धसे उस उस भवमें जीता है, किन्तु यह जीवका स्वभाव नही ।

टीकार्थ—जो प्राणसामान्यसे जीता है, जियेगा, और पहले जीता था वह जीव है ।

अथ प्राणानां निरुक्त्या जीवत्वहेतुत्वं पौद्गलिकत्वं च सूत्रयति—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥१४७॥

जीवित थे जीवेंगे, जीवते है जो चार प्राणोसे।
वे जीव किन्तु प्राण हि, निर्वृत्त पौद्गलिक द्रव्योसे ॥१४७॥

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवित पूर्वम्। स जीव प्राणा पुन पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ता ॥१४७॥

प्राणसामान्येन जीवति जीविष्यति जीवितवाश्च पूर्वमिति जीवः। एवमनादिसंतानप्रवर्तमानतया त्रिसमयावस्थत्वात्प्राणसामान्य जीवस्य जीवत्वहेतुरस्त्येव तथापि तन्न जीवस्य स्वभावत्वमवाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात् ॥१४७॥

नामसंज्ञ—पाण चतु ज हि जीविद पुव्व त जीव पाण पुण पुग्गलदव्व णिव्वत्त। **धातुसंज्ञ**—जीव प्राणधारणे। **प्रातिपदिक**—प्राण चतुर् यत् हि जीवित पूर्वम् तत् जीव प्राण पुनर् पुद्गलद्रव्य, निर्वृत्त। **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे। **उभयपदविवरण**—पाणेहि प्राणै चदुहि चतुर्भि पुग्गलदव्वेहि पुद्गलद्रव्यः—तृतीया बहुवचन। जीवदि जीवति—वर्त० अन्य० एक० क्रिया। जीविस्सदि जीविष्यति—भविष्यत् अन्य० एक० क्रिया। जीविदो जीवित:—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। जो य. सो स जोवो जीव —प्रथमा एक०। हि पुव्व पूर्वं पुण पुनः—अव्यय। पाणा प्राणा—प्रथमा बहु०। णिव्वत्ता निर्वृत्ता—प्रथमा बहुवचन। **निरुक्ति**—पूर्वण पूरयण वा पूर्वम्, पूरति गलति इति पुद्गल। **समास**—पुद्गलाश्च तानि द्रव्याणि चेति पुद्गलानि च तानि द्रव्याणि चेति वा पुद्गलद्रव्याणि तै ॥१४७॥

इस प्रकार अनादि संतानरूपसे प्रवर्तमान होनेसे ससार दशामे त्रिकाल स्थायी होनेसे प्राण-सामान्य जीवके जीवत्वका हेतु है ही, तथापि वह जीवका स्वभाव नही है, क्योकि प्राण पुद्गलद्रव्यसे रचित हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे व्यवहारजीवत्वके हेतुभूत प्राणोका निर्देश किया गया था। अब इस गाथामे उन प्राणोकी निरुक्ति करके उन्हे पुद्गलद्रव्योसे रचा गया बतलाया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) जो प्राणसे जीता है, जीवेगा व जीवता था वह जीव है। (२) अनादिसंतानसे प्रवर्तमान रूपसे तीन समयोंमे रहनेसे प्राणसामान्य जीवके जीवत्वका हेतु है ही। (३) यद्यपि प्राण थे व हैं व होंगे, या प्राण थे व है, या प्राण थे, यह सब जीवके जीवत्वका लिङ्ग है तो भी प्राण जीवका स्वभाव नही है। (४) चूंकि प्राण पुद्गलद्रव्यसे रचा गया है, अतः प्राण जीवका स्वभाव नही है। (५) निश्चयतः जीवका अनादि अनन्त अहेतुक एक चैतन्यस्वरूप ही परमार्थ प्राण है।

अथ प्राणानां पौद्गलिकत्वं साधयति—

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंज कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥१४८॥

प्राणनिबद्ध जीव यह, मोहादिक कर्मसे बँधा होकर ।
भोगता कर्मफलको, बंध जाता द्रव्यकर्मोंसे ॥१४८॥

जीव प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकैः कर्मभिः । उपभुजानः कर्मफल बध्यतेऽन्यैः कर्मभिः ॥ १४८ ॥

यतो मोहादिभिः पौद्गलिककर्मभिर्बद्धत्वाज्जीवः प्राणनिबद्धो भवति । यतश्च प्राण-

---

नामसंज्ञ—जीव पाणणिबद्ध बद्ध मोहादिअ कम्म उवभुजतार कम्मफल अण्ण कम्म । **धातुसंज्ञ**—बध बधने । **प्रातिपदिक**—जीव प्राणनिबद्ध बद्ध मोहादिक कर्मन् उपभुजान कर्मफल अन्य कर्मन् । **मूलधातु**—

सिद्धान्त—(१) पुद्गलकर्म उपाधिके सान्निध्यमें जीव चार प्राणोसे जीता है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३) ।

प्रयोग—इन्द्रिय, बल, आयु, आनपान प्राणोको पौद्गलिक जानकर इनसे भिन्न अपने शाश्वत चैतन्यप्राणमय अपनी आराधना करना ॥१४७॥

अब प्राणोका पौद्गलिकपना सिद्ध करते हैं—**[मोहादिकैः कर्मभिः]** मोहनीय आदिक कर्मोंसे **[बद्धः]** बँधा हुआ **[जीवः]** जीव **[प्राणनिबद्धः]** प्राणोंसे संयुक्त होता हुआ **[कर्मफलं उपभुंजानः]** कर्मफलको भोगता हुआ **[अन्यैः कर्मभिः]** नवीन कर्मोंसे **[बध्यते]** बँधता है ।

तात्पर्य—यह संसारी जीव मोहनीयादि कर्मसे बँधा हुआ प्राणसंयुक्त होकर कर्मफल को भोगता हुआ नवीन कर्मोंसे बँधता रहता है ।

टीकार्थ—चूंकि मोहादिक पौद्गलिक कर्मोंसे बँधा हुआ होनेसे जीव प्राणोंसे संयुक्त होता है, और चूंकि प्राणोसे संयुक्त होनेके कारण पौद्गलिक कर्मफलको भोगता हुआ फिर भी अन्य पौद्गलिक कर्मोंसे बँधता है, इस कारण पौद्गलिक कर्मका कार्यपना होनेसे और पौद्गलिक कर्मका कारणपना होनेसे प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे जीवके जीवत्वव्यवहारका हेतु चार प्राणोंको बताया गया था । अब इस गाथामे प्राणोकी पौद्गलिकता सिद्ध की गई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मोहादिक पौद्गलिक कर्मोंसे बद्ध होनेके कारण जीव चार प्राणो से संयुक्त होता है । (२) प्राणसंयुक्त होनेसे पौद्गलिक कर्मफलोंको भोगता हुआ यह जीव अन्य पौद्गलिक कर्मोंसे बँध जाता है । (३) इन्द्रिय बल आदि प्राण पौद्गलिक कर्मके कार्य हैं व पौद्गलिक कर्मके कारण है, अतः प्राण पौद्गलिक है । (४) मोहादिकर्मबन्धनबद्ध

निबद्धत्वात्पौद्गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्गलिककर्मभिर्बध्यते । ततः पौद्गलिक-कर्मकार्यत्वात्पौद्गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्गलिका एव प्राणा निश्चीयन्ते ।।१४८।।

बन्ध बन्धने । उभयपदविवरण—जीवो जीव पाणणिबद्धो प्राणनिबद्ध बद्धो बद्ध–प्रथमा एकवचन । मोहादिएहिं मोहादिकै: कम्मेहिं कर्मभि अण्णेहिं अन्यैः–तृतीया बहु० । उवभुज उपभुजान –प्रथमा एक० कृदन्त । कम्मफल कर्मफल–द्वितीया एकवचन । बज्झदि बध्यते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन भावकर्म-प्रक्रियाया । **निरुक्ति**—फलन फल्यते इति वा फलम् । **समास**– प्राणै निबद्ध प्राणनिबद्ध , कर्मण. फल इति कर्मफलम् ।। १४८ ।।

ही जीव प्राणसंयुक्त होता है, कर्मबन्धरहित जीव प्राणसयुक्त नही होता । (५) प्राणी चित्स्वभावावलम्बन समुत्पन्न विशुद्ध आनन्दको न पाता हुआ कर्मफलको भोगता है ।

सिद्धान्त—(१) प्राण पौद्गलिक है ।

दृष्टि—१– विवक्षितैकदेश शुद्धनिश्चयनय (४८) ।

प्रयोग—पौद्गलिक प्राणोंका लगाव न रखकर सहज चित्स्वभावमय आत्मसत्त्वहेतु-भूत चैतन्यप्राणमय अपनेको अनुभवना ।।१४८।।

अब प्राणोंके पौद्गलिक कर्मका कारणपना प्रगट करते है—[यदि] यदि [जीवः] जीव [**मोहप्रद्वेषाभ्यां**] मोह और द्वेषसे [**जीवयोः**] स्व तथा पर जीवोके [**प्राणाबाध करोति**] प्राणोका घात करता है [**हि**] तो अवश्य ही [**ज्ञानावरणादिकर्मभिः सः बंधः**] ज्ञानावरणा-दिक कर्मोंसे प्रकृति स्थिति आदि रूप बँध [**भवति**] होता है ।

तात्पर्य—मोह रागद्वेषवश स्व पर प्राणोका घात करने वाला जीव अवश्य ही कर्मोसे बँधता है ।

टीकार्थ—प्राणोसे तो जीव कर्मफलको भोगता है, उसे भोगता हुआ मोह तथा द्वेष को प्राप्त होता है; और उनसे स्वजीव तथा परजोवके प्राणोका घात करता है । तब कदाचित् दूसरेके द्रव्य प्राणोको बाधा पहुंचाकर और कदाचित् बाधा न पहुचाकर, अपने भावप्राणोंको तो मलिनतासे अवश्य ही बाधा पहुंचाता हुआ जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंको बांधता है । इस प्रकार प्राण पौद्गलिक कर्मोंके कारणपनेको प्राप्त होते है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे इन्द्रियादि प्राणोकी पौद्गलिकता सिद्ध की गई थी । अब इस गाथामे प्राणोका पौद्गलिक कर्मकारणपना प्रकट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जीव प्राणोके द्वारा कर्मफलोको भोगता है । (२) कर्मफलोंको भोगता हुआ जीव मोह रागद्वेषको प्राप्त होता है । (३) मोह रागद्वेषसे यह प्राणी अपने व परजीवके प्राणोंका घात करता है । (४) कभी दूसरेके प्राणोको बाधा पहुंचे अथवा न पहुंचे, अपने प्राणोंका घात करता हुआ यह प्राणी ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे बँध जाता है । (५) उक्त

अथ प्राणानां पौद्गलिककर्मकारणत्वमुन्मीलयति—

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ।।१४६।।

मोह राग द्वेषों वश, जीव स्वपरप्राणघात करता यदि ।
तो ज्ञानावरणादिक, कर्मोंसे बन्ध हो जाता ।। १४६ ।।

प्राणाबाधं जीवो मोहप्रद्वेषाभ्या करोति जीवयो. । यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभिः ।।१४६।।

प्राणैर्हि तावज्जीवः कर्मफलमुपभुंक्ते, तदुपभुञ्जानो मोहप्रद्वेषावाप्नोति ताभ्यां स्वजीवपरजीवयोः प्राणाबाधं विदधाति । तदा कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादीनि कर्माणि बध्नाति । एवं प्राणाः पौद्गलिककर्मकारणतामुपयान्ति ।। १४६ ।।

नामसंज्ञ—पाणाबाध जीव मोहपदेस जीव जदि त हि बध णाणावरणादिकम्म । **धातुसंज्ञ**—कुण करणे, हव सत्ताया । **प्रातिपदिक**–प्राणाबाध जीव मोहप्रद्वेष जीव यदि तत् हि बन्ध ज्ञानावरणादिकर्मन् । **मूलधातु**– डुकृञ् करणे, भू सत्ताया । **उभयपदविवरण**—पाणाबाध प्राणाबाध–द्वितीया एक० । जीवो जीव. सो सः बधो बन्धः–प्रथमा एक० । मोहपदोसेहि–तृतीया बहु० । मोहप्रद्वेषाभ्या–तृतीया द्विवचन । कुणदि करोति हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जीवाण–षष्ठी बहु० । जीवयोः–षष्ठी द्विवचन । जदि यदि हि–अव्यय । णाणावरणादिकम्मेहि ज्ञानावरणादिकर्मभि –तृतीया बहुवचन । **निरुक्ति**– मुह्यते अनेन भावेन इति मोह. । **समास**—प्राणाना आबाध. प्राणाबाध. त, मोहश्च प्रद्वेषश्च मोहप्रद्वेषौ ताभ्या ।। १४६ ।।

प्रकारसे प्राण पौद्गलिक कर्मोंके कारणभूत होते है ।

सिद्धान्त—१– प्राणपौद्गलिककर्मबन्धके कारणभूत होते हैं ।

दृष्टि—१– निमित्तदृष्टि, निमित्तपरम्परादृष्टि (५३अ, ५३ब) ।

प्रयोग—आत्मरक्षाके लिये सहजात्मस्वरूपके ज्ञानबल द्वारा प्राणप्रेरित भावोसे अप्रभावित होते हुए अपनेको शाश्वत सहज चैतन्यप्राणमय अनुभवना ।।१४६।।

अब पौद्गलिक प्राणोकी परम्पराकी प्रवृत्तिका अन्तरंगहेतु सूचित करते हैं—[**कर्ममलीमसः आत्मा**] कर्मसे मलीन आत्मा [**पुनः पुनः**] तब तक पुनः पुनः [**अन्यान् प्राणान्**] अन्य नवीन प्राणोको [**धारयति**] धारण करता है । [**यावत्**] जब तक [**देहप्रधानेषु विषयेषु**] देहप्रधान विषयोमे [**ममत्वं**] ममत्वको [**न त्यजति**] नही छोड़ता ।

तात्पर्य—कर्मसे मलिन जीव विषयोंमें ममत्व करके अन्य अन्य प्राणोंको धारण करता है अर्थात् जन्म लेता रहता है ।

अथ पुद्गलप्राणसन्ततिप्रवृत्तिहेतुमन्तरङ्गमासूत्रयति—

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥१५०॥

कर्ममलीमस आत्मा, पुनः पुनः अन्य प्राण धरता है ।
देह विषय भोगोंमें, जब तक न ममत्व यह तजता ॥१५०॥

आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुन पुनरन्यान् । न त्यजति यावन्ममत्व देहप्रधानेसु विषयेषु ।१५०।

येयमात्मनः पौद्गलिकप्राणानां सतानेन प्रवृत्तिः तस्या अनादिपौद्गलकर्ममूल, शरीरादिममत्वरूपमुपरक्तत्वमन्तरङ्गो हेतुः ॥ १५० ॥

नामसंज्ञ—अत्त कम्ममलीमस पाण पुणो अण्ण ण जाव ममत्त देहपधाण विसय । **धातुसंज्ञ**—धर धारणे, च्चय त्यागे । **प्रातिपदिक**—आत्मन् कर्ममलीमस प्राण पुनर् अन्य न यावत् ममत्व देहप्रधान विषय । **मूलधातु**—धर् धारणे, त्यज त्यागे । **उभयपदविवरण**— आदा आत्मा कम्ममलिमसो कर्ममलीमस - प्रथमा एकवचन । धरेदि धारयति चयदि त्यजति—वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । पाणे प्राणान् अण्णे अन्यान्—द्वितीया बहुवचन । पुणो पुन ण न जाव यावत्—अव्यय । ममत्त ममत्व—द्वि० एक० । देहपधाणेसु देहप्रधानेषु विसयेसु विषयेषु—सप्तमी बहुवचन । **निरुक्ति**— मलते धारयते दुर्दशा इति मलम् मलेन युक्त मलीमसः । **समास**—कर्मणा मलीमस कर्ममलीमस , देह. प्रधान येषु ते देहप्रधाना· तेषु देहप्रधानेसु ॥ १५० ॥

टीकार्थ—आत्माकी पौद्गलिक प्राणोकी सतानरूप जो यह प्रवृत्ति है, उसका अन्तरंगहेतु शरीरादिका ममत्वरूप उपरक्तपना है, जिसका मूल निमित्त अनादि पौद्गलिक कर्म है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें प्राणोका पौद्गलिककर्मकारणपना बताया गया था । अब इस गाथामे यह बताया गया है कि पौद्गलिक प्राणोकी परम्पराकी प्रवृत्ति क्यो होती आई है उसका अन्तरङ्ग कारण क्या है ?

तथ्यप्रकाश—१– यह आत्मा स्वभावतः कर्ममलसे विविक्त होनेसे अत्यन्त निर्मलस्वरूप वाला है । २– यह जोव पर्यायतः अनादि कर्मबन्धनवश होनेसे मलिन है । ३– रागद्वेषमोहविकारसे मलिन यह जीव बार बार अन्य अन्य पौद्गलिक प्राणोको धारण करता रहता है । ४– इन पौद्गलिकप्राणोकी संतानसे जो प्रवृत्ति चली आ रही है उसका मूल निमित्त कारण अनादिप्रवृत्त पौद्गलिक कर्म है, किन्तु शरीरादिसे ममत्वरूप उपराग अन्तरङ्ग कारण है । ५– जब तक देहादिक विषयोमे ममत्वरूप उपराग नही छूटेगा तब तक पौद्गलिक प्राणोंकी संतति बनी रहेगी । ६– सर्व क्लेशोका मूल यह पौद्गलिक प्राणसंयोग है ।

सिद्धान्त—१– इन्द्रियप्राण व बलप्राण पुद्गलका निमित्त पाकर होनेसे पौद्गलिक

अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति—

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥१५१॥

जो इन्द्रियादि विजयी, हो निज उपयोगमात्रको ध्याता ।
नहिं कर्मरक्त होता, उसको फिर प्राण नहिं लगते ॥१५१॥

य इन्द्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमात्मक ध्यायति । कर्मभि. स न रज्यते कथ त प्राणा अनुचरन्ति ॥१५१॥

पुद्गलप्राणसततिनिवृत्तेरन्तरङ्गो हेतुर्हि पौद्गलिककर्ममूलस्योपरक्तत्वस्याभावः । स तु समस्तेन्द्रियादिपरद्रव्यानुवृत्तिविजयिनो भूत्वा समस्तोपाश्रयानुवृत्तिव्यावृत्तस्यस्फटिकमणेरि-

---

नामसंज्ञ—ज इंदियादिविजइ उवओग अप्पग कम्म त ण किह त पाण । **धातुसंज्ञ**—ज्झा ध्याने, रज्ज रागे, जय जये । **प्रातिपदिक**—यत् इन्द्रियादिविजयिन् उपयोग आत्मक कर्मन् तत् न कथं तत् प्राण । **मूलधातु**—ध्यै ध्याने, रज रागे, जि जये, इदि परमैश्वर्ये । **उभयपदविवरण**—जो यः इंदियादिविजयी इन्द्रियादिविजयी सो स –प्रथमा एकवचन । भवीय भूत्वा–असमाप्तिकी क्रिया । उवओग उपयोगं अप्पग

है । २– आयुप्राण व श्वासोच्छ्वासप्राण योग्य जीवके सान्निध्यमे कर्मवर्गणा व आहारवर्गणा का परिणमन होनेसे पौद्गलिक है ।

दृष्टि—१– निमित्तदृष्टि (५३अ) । २– उपादानदृष्टि (४६ब) ।

प्रयोग—समस्त पौद्गलिक प्राणोंको भिन्न दुःखहेतु जानकर उनसे ममत्व हटाना व सहजसिद्ध चैतन्यप्राणमे अपना उपयोग लगाना ॥१५०॥

अब पौद्गलिक प्राणोकी संततिकी निवृत्तिका अन्तरङ्ग हेतु ग्रहण कराते हैं—[**यः**] जो [**इन्द्रियादिविजयीभूत्वा**] इन्द्रियादिको जीतने वाला होकर [**उपयोगं आत्मकं**] उपयोग मात्र आत्माको [**ध्यायति**] ध्याता है, [**सः**] वह [**कर्मभिः**] कर्मोंके द्वारा [**न रज्यते**] रंजित नही होता; [**तं**] उसे [**प्राणाः**] प्राण [**कथं**] कैसे [**अनुचरंति**] लग सकते है ?

तात्पर्य—जो विषयोंको जीतकर ज्ञानदर्शनस्वरूप स्वका ध्यान करता है, प्राण उसका पीछा न करेंगे ।

टीकार्थ—वास्तवमें पौद्गलिक प्राणोंकी संततिकी निवृत्तिका अंतरङ्ग हेतु पौद्गलिक कर्म है कारण जिसका ऐसे उपरक्तपनेका अभाव है और उस उपरक्तताका कारण (निमित्त) पौद्गलिक कर्म है । और वह अभाव, समस्त इन्द्रियादिक परद्रव्योंकी अनुवृत्तिका विजयी होकर, आश्रयानुसार सारी परिणतिसे पृथक् हुये स्फटिक मणिकी तरह अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र अकेले आत्मामे सुनिश्चलतया रहने वाले जीवके होता है । यहां यह तात्पर्य है कि

वात्यन्तविशुद्धमुपयोगमात्रमात्मानं सुनिश्चलं केवलमधिवसतः स्यात् । इदमत्र तात्पर्यं आत्मनोऽत्यन्तविभक्तसिद्धये व्यवहारजीवत्वहेतवः पुद्गलप्राणा एवमुच्छेत्तव्याः ।। १५१ ।।

आत्मकं त–द्वितीया एकवचन । झादि ध्यायति रजदि रज्यते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कम्मेहिं कर्मभि.–तृतीया बहुवचन । ण न किह कथं–अव्यय । पाणा प्राणा.–प्रथमा बहुवचन । अणुचरंति अनुचरन्ति–वर्तमान अन्य० बहुवचन क्रिया । **निरुक्ति**–इन्द्रस्य संसारिण आत्मन लिङ्ग इन्द्रियम् । **समास**–इन्द्रियादीनां विजयी इन्द्रियविजयी ।।१५१।।

आत्माकी अत्यन्त विभक्तताकी सिद्धि करनेके लिये व्यवहारजीवत्वके हेतुभूत पौद्गलिक प्राण इस प्रकार हटाने योग्य हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे पौद्गलिक प्राणोंकी सततिकी प्रवृत्तिका अन्तरङ्ग कारण बताया गया था । अब इस गाथामे पौद्गलिक प्राणोंकी सतति हटे उसका उपायभूत अन्तरङ्ग कारण ग्रहण कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) पुद्गलप्राणसततिकी प्रवृत्तिका अन्तरङ्ग कारण देहादिविषयक ममत्व है । (२) पुद्गलप्राणसंततिकी निवृत्तिका अन्तरङ्ग कारण मोह राग द्वेषरूप उपराग का बिल्कुल हट जाना है । (३) देहादिविषयक उपरागका अभाव इन्द्रियविजयी आत्माके हो सकता है । (४) इन्द्रियविजय कषायविजय होनेपर ही संभव है । (५) कषायविजय अकषाय आत्मस्वभावके अवलम्बनसे होता है । (६) इन्द्रियविजय व कषायविजयकी प्रक्रियाका प्रारम्भ अतीन्द्रिय आत्मीय आनन्दामृतसे संतोष पानेके बलपर होता है । (७) सर्वक्लेशके कारणभूत पौद्गलप्राणोंके विनाशका उपाय कषायविजय व इन्द्रियविजय है ।

सिद्धान्त—१– विषयकषायविजयरूप चारित्रसे पौद्गलिकप्राणशून्य आत्माकी सहज परिणति प्रकट होती है । २– ज्ञानमात्र आत्मामे आत्मसर्वस्वताके मननसे इन्द्रियकषायविजय पूर्वक प्राणोपाधिरहित स्थिति होती है ।

दृष्टि—१– क्रियानय (१६३) । २– ज्ञाननय (१६४) ।

प्रयोग—प्राणसयोगमूलक सर्व क्लेशोसे छुटकारा पानेके लिये अविकार सहजानन्दमय सहजज्ञानस्वरूपको आराधना करना ।।१५१।।

अब फिर भी, आत्माकी अत्यन्त विभक्तताकी सिद्धिके लिये, व्यवहारजीवत्वकी हेतुभूत देव-मनुष्यादि गतिविशिष्ट पर्यायोका स्वरूप अपने समीप जांचते है—[**अस्तित्वनिश्चितस्य अर्थस्य हि**] सहजस्वरूपके अस्तित्वसे निश्चित परमात्म पदार्थका [**अर्थान्तरे सम्भूतः**] पुद्गलके संयोगमे उत्पन्न हुआ [**अर्थः**] भाव [**पर्यायः**] पर्याय है [**सः**] वह [**संस्थानादिप्र-**

अथ पुनरप्यात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वसिद्धये गतिविशिष्टव्यवहारजीवत्वहेतुपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्प भेदेहिं ॥ १५२ ॥

स्वास्तित्वसे सुनिश्चित, द्रव्यका अन्य द्रव्यमें बँधना।
है संस्थानादि सहित पर्याय अनेकद्रव्यात्मक ॥१५२॥

अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे सभूत । अर्थ. पर्याय: स सस्थानादिप्रभेदै. ॥ १५२ ॥

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया संभावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः। स खलु पुद्गलस्य पुद्गलान्तर इव जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमान: संभाव्यत एव।

नामसंज्ञ—अत्थित्तणिच्छिद हि अत्थ अत्थतर सभूद अत्थ पज्जाअ त सठाणादिप्पभेद। धातुसंज्ञ—अस सत्ताया, भव सत्ताया। प्रातिपदिक—अस्तित्वनिश्चित हि अर्थ अर्थान्तर सभूत अर्थ पर्याय तत् सस्थानादिप्रभेद। मूलधातु—अस् भुवि, भू सत्तायां। उभयपदविवरण—अत्थित्तणिच्छिदस्स अस्तित्वनिश्चितस्य अत्थस्स अर्थस्य–षष्ठी एकवचन। अत्थतरम्मि अर्थान्तरे–सप्तमी एकवचन। सभूदो संभूतः अत्थो

भेदैः] संस्थानादि भेदोसे बनी है।

तात्पर्य—नर नारकादिक असमानजातीय विभावद्रव्य व्यञ्जन पर्याय है।

टीकार्थ—स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्वसे निश्चित एक द्रव्यका, स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्वसे ही निश्चित अन्य अर्थमें विशिष्ट रूपसे उत्पन्न होता हुआ अर्थ (भाव) अनेकद्रव्यात्मक पर्याय है। वह वास्तवमे, पुद्गलकी अन्य पुद्गलमें उत्पन्न होनेकी तरह जीवकी, पुद्गल में संस्थानादिसे विशिष्टतया उत्पन्न होती हुई परिचयमें आती ही है। और ऐसी पर्याय योग्य घटित है; क्योंकि केवल जीवकी व्यतिरेकमात्र अस्खलित एक द्रव्य पर्याय ही अनेक द्रव्योंकी संयोगात्मकतासे बुद्धिमे प्रतिभासित होती है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें पौद्गलिक प्राणसंततिकी निवृत्तिका उपाय बताया गया था। अब इस गाथामें आत्माको अत्यन्त विविक्त सिद्ध करनेके लिये व्यवहार-जीवत्वकी कारणभूत देव मनुष्यादि गतियुक्त पर्यायोका स्वरूप कहा गया है।

तथ्यप्रकाश—१– प्रत्येक द्रव्यका स्वरूपास्तित्व अपने-अपने द्रव्यके ही प्रदेशोंमे स्वरूपमें है, अन्य सब द्रव्योसे भिन्न है। २– अपने अपने स्वरूपसे सत् होनेपर भी निमित्तनैमित्तिकयोगवश पुद्गल पुद्गलोका स्कन्धरूप विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय हो जाता है। ३– अपने अपने स्वरूपसे सत् होनेपर भी निमित्तनैमित्तिक योगवश जीव पुद्गलोंका देवादिक भावरूप

उपपन्नश्चैवंविधः पर्यायः, अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्या-स्खलितस्यान्तरवभासनात् ॥ १५२ ॥

अर्थ: पज्जाओ पर्याय सो स – प्रथमा एकवचन। सठाणादिप्पभेदेहि संस्थानादिप्रभेदैः – तृतीया बहुवचन। **निरुक्ति**—अर्यते निश्चीयते यः स अर्थ.। **समास**—अस्तित्वेन निश्चित अ० तस्य, संस्थानादीनां प्रभेदा संस्थानादिप्रभेदा तैः संस्थानादिप्रभेदैः ॥१५२॥

विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय हो जाता है। ४–पुद्गल पुद्गलोंके बन्धनसे समानजातीय विभाव-द्रव्यव्यञ्जन पर्याय होता है। ५– जीव पुद्गलोंके बन्धनसे असमानजातीय विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय होता है। ६– अनेक द्रव्योंका संयोग होनेपर जीव कही पुद्गलोंके साथ एकरूप पर्याय नहीं करता। ७– विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्यायके समय भी एक द्रव्यकी दृष्टिसे देखनेपर पुद्गल पर्यायसे भिन्न जीवकी अपनी एक द्रव्यपर्याय सदैव प्रवर्तमान रहती है। ८–पुद्गलकर्मोपाधिसे रहित होनेपर जीवका स्वभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय प्रकट होता है। ९– जीवका स्वरूपास्तित्व चिदानन्दैकरूप है।

सिद्धान्त—(१) जीव व कर्म नोकर्मरूप पुद्गलोंके बन्धनसे नर नारकादि पर्याय प्रकट होता है।

दृष्टि—१– असमानजातीय विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायदृष्टि (२१६)।

प्रयोग– क्लेशमूल व्यवहारजीवपनासे छुटकारा पानेके लिये सहजचिदानन्दमय सहज स्वरूपमें आत्मत्वका मनन करना ॥१५२॥

अब पर्यायके भेदोंको दिखाते हैं—[**नामकर्मणः उदयादिभिः**] नामकर्मके उदयादिक के कारण [**नरनारकतिर्यक्सुराः**] मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव [**जीवानां पर्यायाः**] जीवों की पर्यायें है, [**संस्थानादिभिः**] जो कि संस्थानादिके द्वारा [**अन्यथा जाताः**] अन्य-अन्य प्रकारकी ही हुई हैं।

तात्पर्य—नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ये असमानजातीय द्रव्यव्यञ्जन पर्यायें है।

टीकार्थ—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव जीवोंकी पर्यायें हैं। वे नामकर्मरूप पुद्गलके विपाकके कारण अनेक द्रव्यसंयोगात्मक होनेसे तुषकी अग्नि और अंगार इत्यादि अग्नि की पर्यायें चूरा और डली इत्यादि आकारोंसे अन्य-अन्य प्रकारकी होनेकी तरह संस्थानादिके द्वारा अन्यान्य प्रकारकी ही हुई हैं।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें व्यवहारजीवत्वके हेतुभूत पर्यायोंको बताया गया था। अब इस गाथामें उन पर्यायोंके प्रकार बताये गये हैं।

अथ पर्यायव्यक्तीर्दर्शयति—

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥१५३॥

नर नारक तिर्यक् सुर, नाना संस्थान आदि रूपोंमें।
हुई जीव पर्यायें, नामकर्मोदयाविसे ये ॥ १५३ ॥

नरनारकतिर्यक्सुराः संस्थानादिभिरन्यथा जाताः। पर्याया जीवानामुदयादिभिर्नामकर्मणः ॥ १५३ ॥

नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देव इति किल पर्याया जीवानाम्। ते खलु नामकर्मपुद्गलविपाककारणत्वेनानेकद्रव्यसंयोगात्मकत्वात् कुकूलाङ्गारादिपर्याया जातवेदसः क्षोदखिल्वसंस्थानादिभिरिव संस्थानादिभिरन्यथैव भूता भवन्ति ॥१५३॥

नामसंज्ञ—णरणारयतिरियसुर सठाणादि अण्णहा जाद पज्जाय जीव उदयादि णामकम्म। **धातुसंज्ञ**—जा प्रादुर्भावे। **प्रातिपदिक**—नरनारकतिर्यक्सुर संस्थानादि अन्यथा जात पर्याय जीव उदयादि नामकर्मन्। **मूलधातु**—जनी प्रादुर्भावे। **उभयपदविवरण**—णरणारयतिरियसुरा नरनारकतिर्यक्सुराः पज्जाया पर्याया—प्रथमा बहुवचन। सठाणादीहिं संस्थानादिभिः उदयादिहि उदयादिभि—तृतीया बहुवचन। अण्णहा अन्यथा—अव्यय। जादा जाताः—प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया। जीवाण जीवाना—षष्ठी बहुवचन। णामकम्मस्स नामकर्मण—षष्ठी एकवचन। **निरुक्ति**—नरान् कायन्ति इति नारकाः कै शब्दे भ्वादि, तिरः अचतीति तिर्यक्, सुरति इति सुर. षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः, उद् अयनं उदय. इण् गतौ। **समास**—नरश्च नारकश्च तिर्यक् च सुरश्चेति नरनारकतिर्यक्सुराः ॥१५३॥

तथ्यप्रकाश—१– नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य व देव ये ४ जीवकी असमानजातीय विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय है। २– जीव व अनेक पुद्गलोके बन्धसे नारकादि पर्याय होनेपर भी वे जीवकी अशुद्ध पर्याय कहलाती हैं, क्योकि इस संयोगके होनेमें जीवविभाव मुख्यतया कारण है। ३– विभिन्न पौद्गलिक नामकर्मके उदयविपाकके अनुसार इन जीवभवोंमे भिन्न-भिन्न प्रकारके संस्थान हो जाते हैं जैसे कि लकड़ी कोयला आदि भिन्न भिन्न ईंधनोके संयोगसे अग्निका आकार भिन्न भिन्न हो जाता है। ४– भिन्न भिन्न सस्थान होनेपर भी यह भगवान आत्मद्रव्य अपने सहजज्ञानानन्दस्वरूपको नहीं छोड़ता जैसे कि भिन्न आकार होनेपर अग्नि अपने औष्ण्यस्वरूपको नही छोड़ती। ५– नरनारकादि पर्यायें कर्मोदयके निमित्तसे होती हैं, इस कारण ये पर्यायें आत्माका स्वभाव नहीं है।

सिद्धान्त—(१) नर नारक आदि व्यवहारसे जीव कहे जाते है।

दृष्टि—१– विकल्पनय, स्थापनानय, विशेषनय, अनियतिनय, एकजातिपर्याये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, एकजातिद्रव्ये अन्यजाति द्रव्योपचारक असद्भूत व्यव-

अथात्मनोऽन्यद्रव्यसंकीर्णत्वेऽप्यर्थनिश्चायकमस्तित्वं स्वपरविभागहेतुत्वेनोद्योतयति—

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥१५४॥

निजसद्भावकनिबन्धक, त्रिधा द्रव्यका स्वभाव बतलाया।
सविशेष जानता जो, वह परमें मुग्ध नहिं होता ॥१५४॥

तं सद्भावनिबद्ध द्रव्यस्वभाव त्रिधा समाख्यातम्। जानाति यः सविकल्प न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये ॥१५४॥

यत्खलु स्वलक्षणभूतं स्वरूपास्तित्वमर्थनिश्चायकमाख्यात स खलु द्रव्यस्य स्वभाव एव, सद्भावनिबद्धत्वाद्द्रव्यस्वभावस्य। यथासौ द्रव्यस्वभावो द्रव्यगुणपर्यायत्वेन स्थित्युत्पाद-

---

नामसंज्ञ—त सब्भावणिबद्ध दव्वसहाव तिहा समक्खाद ज सवियप्प ण त अण्णदविअ। **धातुसंज्ञ**—**क्खा प्रकथने**, जाण अवबोधने, कप्प सामर्थ्ये, मुज्झ मोहे। **प्रातिपदिक**—तत् सद्भावनिबद्ध द्रव्यस्वभाव त्रिधा समाख्यात यत् सविकल्प न तत् अन्यद्रव्य। **मूलधातु**—ख्या आख्याने क्लृप् सामर्थ्ये, मुह वैचित्ये।

द्वार (१६१, १६४, १६८, १७८, १२१, १०६)।

प्रयोग—पुद्गलकर्मोदयजनित नर नारकादि पर्यायोको आत्मस्वभावसे भिन्न जानकर उनसे उपेक्षा करके सहज ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्वमे उपयुक्त होना ॥१५३॥

अब आत्माके अन्य द्रव्यके साथ सयुक्तपना होनेपर भी अर्थनिश्चायक अस्तित्वको स्व-पर विभागके हेतुके रूपमे समझाते हैं—[**यः**] जो जीव [**तं**] उस पूर्वकथित [**सद्भावनिबद्ध**] स्वरूपास्तित्वसे निष्पन्न [**त्रिधा समाख्यातं**] तीन प्रकारसे कथित, [**सविकल्पं**] भेदों वाले [**द्रव्यस्वभावं**] द्रव्यस्वभावको [**जानाति**] जानता है, [**सः**] वह [**अन्य द्रव्ये**] अन्य द्रव्यमें [**न मुह्यति**] मोहको प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य—जो अपने स्वरूपास्तित्वको यथार्थ जानता है वह परपदार्थोंमे मोह नही करता।

टीकार्थ—द्रव्यको निश्चित करने वाला, स्वलक्षणभूत जो स्वरूपास्तित्व कहा गया है वह वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव ही है; क्योंकि द्रव्यका स्वभाव अस्तित्वनिष्पन्न है। द्रव्य-गुण-पर्याय रूपसे तथा ध्रौव्य-उत्पाद व्ययरूपसे त्रयात्मक भेदभूमिकामे आरूढ द्रव्यस्वभाव ज्ञात होता हुआ चूँकि परद्रव्यके प्रतिके मोहको दूर करके स्व-परके विभागका हेतु होता है, इस कारण स्वरूपास्तित्व ही स्व-परके विभागकी सिद्धिके लिये पद पदपर लक्ष्यमे लेना चाहिये। **स्पष्टीकरण**—चेतनत्वका अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा जो द्रव्य, चेतनाविशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा जो गुण, और चेतनत्वका व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी जो पर्याय

व्ययत्वेन च त्रितयी विकल्पभूमिकामधिरूढः परिज्ञायमानः परद्रव्ये मोहमपोह्य स्वपरविभाग-हेतुर्भवति ततः स्वरूपास्तित्वमेव स्वपरविभागसिद्धये प्रतिपदमवधार्यम् । तथाहि—यच्चेतन-त्वान्वयलक्षणं द्रव्यं यश्चेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो यश्चेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रया-त्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिना चेतनत्वेन स्थितिर्योवुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेन चेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वं यस्य नु स्वभावोऽहं स खल्वयमन्यः । यच्चाचेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं योऽचेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो योऽचेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वो-त्तरव्यतिरेकस्पर्शिनाचेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेनाचेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वम् यस्य तु स्वभावः पुद्गलस्य स खल्वयमन्यः । नास्ति मे मोहोऽस्ति स्वपर-विभागः ।।१५४।।

उभयपदविवरण—तं सब्भावणिबद्ध सद्भावनिबद्ध दव्वसहाव द्रव्यस्वभाव समक्खाद समाख्यात सवियप्प सविकल्प–द्वितीया एकवचन । जो य. सो सः–प्रथमा एक० । अण्णदवियम्हि अन्यद्रव्ये, तिहा त्रिधा ण न–अव्यय । अण्णदवियम्हि अन्यद्रव्ये–सप्तमी एकवचन । **निरुक्ति**—विशेषेण कल्पन विकल्प । **समास**—सद्भावेन निबद्ध. सद्भावनिबद्धं त, द्रव्यस्य स्वभावः द्रव्यस्वभाव. तं द्रव्यस्वभावम् ।।१५४।।

वह त्रयात्मक स्वरूप-अस्तित्व तथा पूर्व और उत्तर व्यतिरेकको स्पर्श करने वाले चेतनस्वरूप से जो ध्रौव्य और चेतनके उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूपसे जो उत्पाद और व्यय,–वह त्रया-त्मक स्वरूप-अस्तित्व जिसका स्वभाव है ऐसा मैं वास्तवमें यह अन्य हूं । और, अचेतनत्वका अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा जो द्रव्य, अचेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा जो गुण, और अचेतनत्वका व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी जो पर्याय, वह त्रयात्मक स्वरूपास्तित्व तथा पूर्व और उत्तर व्यतिरेकको स्पर्श करने वाले अचेतनत्वरूपसे जो ध्रौव्य और अचेतनके उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूपसे जो उत्पाद और व्यय, वह त्रयात्मक स्वरूपास्तित्व जिस पुद्-गलका स्वभाव है वह वास्तवमे अन्य है । मुझे मोह नहीं है और सही स्वपरका विभाग है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे जीवकी गतिविशिष्ट पर्यायोके प्रकार बताये गये थे । अब इस गाथामें बताया गया है कि अन्य द्रव्योंके साथ संयुक्तपना होनेपर भी स्वरूपा-स्तित्व स्वपरविभागका हेतु होता है ।

तथ्यप्रकाश—१– स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व उस लक्ष्य पदार्थका निश्चायक होता है । २– स्वरूप द्रव्यका स्वभाव ही है । ३– द्रव्यस्वभाव सब द्रव्योंका अपना अपना जुदा जुदा है । ४– सर्वद्रव्य स्वद्रव्यगुणपर्यायात्मक हैं, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं । ५– किसी द्रव्य के द्रव्य गुण पर्यायका अन्य द्रव्यसे कुछ सम्बन्ध नहो है । ६– सब द्रव्योंका स्वरूपास्तित्व स्वपर विभागका कारण होता है । ७– जिसमें स्वचेतनत्वका अन्वय है विशेष है परिणमन

अथात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय परद्रव्यसंयोगकारणस्वरूपमालोचयति—

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥१५५॥

आत्मा उपयोगात्मक, उपयोग कहा ज्ञानदर्शनात्मक।
शुद्ध अशुद्ध द्विविध वह, होता उपयोग **आत्माका** ॥१५५॥

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शन भणित । सोऽपि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति ॥१५५॥

आत्मनो हि परद्रव्यसंयोगकारणमुपयोगविशेषः उपयोगो हि तावदात्मनः **स्वभावश्चै-तन्यानुविधायिपरिणामत्वात्** । स तु ज्ञानं दर्शनं च साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाच्चैतन्यस्य

नामसंज्ञ—अप्प उवओगप्प उवओग णाणदसण भणिद त वि सुह असुह वा उवओग अप्प । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां, भण कथने । **प्रातिपदिक**—आत्मन् उपयोगात्मन् उपयोग ज्ञानदर्शन भणित तत् अपि शुभ अशुभ वा उपयोग आत्मन् । **मूलधातु**—भण शब्दार्थ, भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—अप्पा आत्मा

है वह मैं हूं । ८– जिसमे परचेतनत्वका या अचेतनत्वका अन्वय है विशेष है परिणमन है वह **अन्य है** । ९– अन्य मेरा कुछ नही है इस परिज्ञानमे मोह नही रहता, क्योंकि स्व व परका **स्पष्ट** विभाग हो गया है । १०–स्वपरभेदविज्ञानी आत्मा अन्य द्रव्यमे मुग्ध नही हो सकता ।

सिद्धान्त—१– लक्षणभेदसे द्रव्योंमे परस्पर विलक्षणता विदित होती है ।

दृष्टि—१– वैलक्षण्यनय (२०३) ।

प्रयोग—सर्व परद्रव्य व परभावोसे विविक्त निज चैतन्यस्वभावमे स्वत्व अनुभव कर **सहज आनन्दमय** रहना ॥१५४॥

अब आत्माको अत्यन्त विभक्त करनेके लिये परद्रव्यके सयोगके कारणके स्वरूपकी **आलोचना करते है**—[**आत्मा उपयोगात्मा**] आत्मा उपयोगस्वरूप है, [**उपयोगः**] उपयोग [**ज्ञानदर्शनं भणितः**] ज्ञान-दर्शन कहा गया है; [**अपि**] और [**आत्मनः**] आत्माका [**सः उपयोगः**] वह उपयोग [**शुभः अशुभः वा**] शुभ अथवा अशुभ [**भवति**] होता है ।

तात्पर्य—परद्रव्यके सयोगका कारण जीवका शुभ अथवा अशुभ उपयोग है ।

टीकार्थ—वास्तवमे परद्रव्यके संयोगका कारण आत्माका उपयोगविशेष है । उपयोग तो वास्तवमे आत्माका स्वभाव है, क्योकि वह चैतन्यका अनुसरण करके होने वाला परिणाम है । और वह ज्ञान तथा दर्शन है, क्योंकि चैतन्य साकार और निराकार रूप होनेसे उभयरूप है । अब यह उपयोग दो प्रकारसे विशेषित होता है शुद्ध और अशुद्ध । उसमेसे शुद्ध उपयोग निर्विकार है; और अशुद्ध उपयोग सविकार है । वह अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ–दो प्रकार

अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन । तत्र शुद्धो निरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः । स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ॥१५५॥

उवओगप्पा उपयोगात्मा उवओगो उपयोग णाणदसणं ज्ञानदर्शनं सो सः सुहो शुभः असुहो अशुभः उवओगो उपयोगः–प्रथमा एकवचन । अप्पणो आत्मन.–षष्ठी एकवचन । वि अपि वा–अव्यय । हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । भणिदो भणित.–प्रथमा एकवचन क्रिया कृदन्त । **निरुक्ति**–उपयोजन उपयोग. युभिर् योगे युज् सयमने युज् समाधौ । **समास**—उपयोगः आत्मा यस्य स उपयोगात्मा, ज्ञान च दर्शन चेति ज्ञानदर्शन तयो समाहार. ज्ञानदर्शनम् ॥१५५॥

का है, क्योकि उपराग विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप दो प्रकारका है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे स्वपरविभागके कारणभूत स्वरूपास्तित्वका संकेत किया गया था । अब इस गाथामे आत्माको अत्यत विभक्त करनेके लिये परद्रव्यसंयोगके कारणका स्वरूप विचारा गया है ।

तथ्यप्रकाश— १– आत्माके साथ कर्म नोकर्मरूप परद्रव्यके संयोगका कारण आत्मा का शुभाशुभ उपयोग है । २– उपयोग तो आत्माका स्वभाव है, क्योकि वह चैतन्यका अनुसरण करने वाला परिणाम है । ३–उपयोग निराकार व साकार दो रूप होता है । ४–साकार उपयोग ज्ञान है । ५– निराकार उपयोग दर्शन है । ६– इस आत्माके साथ उपाधि अनादिकालसे चली आ रही है, जिससे आत्मापर उपराग लदा है । ७– उपराग शुभ व अशुभ दो प्रकारका है । ८– शुभ उपरागके सम्बन्धसे उपयोग शुभोपयोग होता है । ९– अशुभ उपराग के सम्बधसे उपयोग अशुभोपयोग होता है । १०–जब उपराग नही रहता तब उपयोग शुद्धोपयोग होता है । ११– मात्र शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहना शुद्धोपयोग है । १२– धर्मानुरागरूप उपयोग शुभोपयोग है । १३– विषयानुरागरूप व द्वेष मोहरूप उपयोग अशुभोपयोग है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धोपयोग स्वाभाविक अवस्था है । २– शुभोपयोग व अशुभोपयोग वैभाविक अवस्था है ।

दृष्टि— १– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, स्वभाव गुणव्यञ्जनपर्याय (२४अ, २९२) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, विभावगुणव्यञ्जनपर्याय (२४, २१३) ।

प्रयोग—शाश्वत पवित्र व निराकुल रहनेके लिये सोपरागोपयोग न करके मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेका पौरुष करना ॥१५५॥

अब कौनसा उपयोग परद्रव्यके संयोगका कारण है यह बताते हैं—**[उपयोगः]** उपयोग **[यदि हि]** यदि **[शुभः]** शुभ हो तो **[जीवस्य]** जीवका **[पुण्यं]** पुण्य **[संचयं याति]** संचयको प्राप्त होता है, **[तथा वा अशुभः]** और यदि अशुभ हो तो **[पापं]** पाप संचयको

अथात्र क उपयोगः परद्रव्यसंयोगकारणमित्यावेदयति—

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ।।१५६।।

उपयोग यदि अशुभ हो, तो हो जीवके पापका संचय ।
शुभसे हि पुण्यसंचय, नहिं बन्ध उभय अभावोंमें ।।१५६।।

उपयोगो यदि हि शुभ पुण्य जीवस्य सचय याति । अशुभो वा तथा पाप तयोरभावे न चयोऽस्ति ।।१५६।।

उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसयोगकारणमशुद्ध. । स तु विशुद्धिसक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः पुण्यपापत्वेनोपात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य सं ोगकारणत्वेन निवर्तयति । यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते । स पुनरकारणमेव परद्रव्यसंयोगस्य ।।१५६।।

नामसंज्ञ—उवओग जदि हि सुह पुण्ण जीव सचय असुह वा तध पाव त अभाव ण चय । धातुसंज्ञ—जा गतौ, अस सत्तायां । प्रातिपदिक—उपयोग यदि हि शुभ पुण्य जीव सचय अशुभ वा तथा पाप स अभाव ण चय । मूलधातु—पूञ् पवने क्र्यादि, चि चयने, या प्रापणे, अस् भुवि । उभयपदविवरण—उवओगो उपयोगः सुहो शुभ पुण्ण पुण्य असुहो अशुभ. पाव पाप चय चय –प्रथमा एकवचन । जदि यदि हि वा तध तथा ण न–अव्यय । जीवस्स जीवस्य–षष्ठी एक० । सचय–द्वितीया एक० । जादि याति अत्थि अस्ति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । तेसि–षष्ठी बहु० । तयो –षष्ठी द्विवचन । अभावे–सप्तमी एकवचन । निरुक्ति– पुनाति आत्मान इति पुण्य, पाति रक्षति आत्मान शुभात् इति पाप । चयन चय., शोभन शुभः ।।१५६।।

प्राप्त होता है । [तयोः अभावे] उन दोनोके अभावमे [चयः नास्ति] संचय नही होता ।

तात्पर्य—शुभोपयोगसे पुण्य, अशुभोपयोगसे पाप संचित होता है, किन्तु शुभ अशुभ दोनोंके अभावमें पुण्य पाप दोनोका सचय नही ।

टीकार्थ—परद्रव्यके सयोगका कारण जीवका अशुद्ध उपयोग है । और वह विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपरागके कारण शुभ और अशुभरूपसे द्विविधताको प्राप्त होता हुआ, पुण्य और पापरूपसे द्विविधताको प्राप्त होते हुए परद्रव्यके संयोगके कारणरूपसे काम करता है । किन्तु जब दोनों प्रकारके अशुद्धोपयोगका अभाव किया जाता है तब वास्तवमें उपयोग शुद्ध ही रहता है; और वह परद्रव्यके संयोगका अकारण ही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे परद्रव्यसंयोगके कारणका विचार किया गया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि कौनसा उपयोग परद्रव्य संयोगका कारण है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जीवका अशुद्ध उपयोग परद्रव्यके संयोगका कारण है । (२)

अथ शुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥१५७॥

परमेश्वर अर्हंतों, सिद्धों व साधुवोंकी भक्तीमें।
जीवदयामें तत्पर, है शुभ उपयोग वह उसका ॥१५७॥

यो जानाति जिनेन्द्रान् पश्यति सिद्धास्तथैवानागारान्। जीवेषु सानुकम्प उपयोगः स शुभस्तस्य ॥ १५७ ॥

विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीतशोभ-

---

नामसंज्ञ—ज जिणिंद सिद्ध तह एव अणगार जीव साणुकंप उवओग त सुह त। **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, दरिस दर्शनायां। **प्रातिपदिक**—यत् जिनेन्द्र सिद्ध तथा एव अनगार जीव सानुकम्प उपयोग तत् शुभ तत्। **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, दृशिर् प्रेक्षणे। **उभयपदविवरण**—जो यः. साणुकंपो सानुकम्पः

अशुद्धोपयोग दो प्रकारका है--शुभोपयोग व अशुभोपयोग। (३) शुभोपयोगमे विशुद्धि भाव रूप उपराग है, अतः शुभोपयोग पुण्यकर्मके बन्धनका कारण है। (४) अशुभोपयोगमें संक्लेश भावरूप उपराग है, अतः अशुभोपयोग पापकर्मके बन्धनका कारण है। (५) शुद्धोपयोगमें विशुद्धिरूप व सक्लेशरूप दोनों ही अशुद्ध उपरागका अभाव है, अतः शुद्धोपयोग परद्रव्यके संयोगका याने बन्धका कारण नही है। (६) अविकार निजपरमात्मद्रव्यकी भावनासे शुभाशुभ उपयोगका अभाव होकर शुद्धोपयोग प्रकट होता है।

सिद्धान्त—(१) पुण्यबन्धका निमित्तकारण विशुद्धोपरागयुक्त उपयोग है। (२) पापबन्धका निमित्त कारण संक्लेशोपरागयुक्त उपयोग है।

दृष्टि—१, २- निमित्तदृष्टि, निमित्तपरम्परादृष्टि (५३अ, ५३ब)।

प्रयोग—संसारविपदाके निमित्तभूत कर्मविपाकसे छुटकारा पानेके लिये मूल उपायभूत निज सहज परमात्मतत्त्वकी अभेदोपासनाका पुरुषार्थ होने देना ॥१५६॥

अब शुभोपयोगके स्वरूपका प्ररूपण करते हैं—[यः] जो [जिनेन्द्रान्] जिनेन्द्रोंको [जानाति] जानता है, [सिद्धान् तथैव अनागारान्] सिद्धों तथा अनगारोंको [पश्यति] देखता है, [जीवेषु सानुकम्पः] और जीवोंके प्रति अनुकम्पायुक्त है, [तस्य] उसके [सः] वह [शुभः उपयोगः] शुभ उपयोग है।

तात्पर्य—पूज्य आत्मावोंकी भक्ति तथा जीवदयाका भाव होना शुभोपयोग है।

टीकार्थ—विशिष्ट क्षयोपशमदशामें रहने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलोंके अनुसार परिणतिमें लगा होनेसे शुभ उपरागका ग्रहण करनेसे, परमभट्टारक

नोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोगः ।। १५७ ।।

उवओगो उपयोगः सो स सुहो शुभ –प्रथमा एकवचन। जाणादि जानाति पेच्छदि पश्यति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। जिणिंदे जिनेन्द्रान् सिद्धे सिद्धान् अणगारे अनगारान्–द्वितीया बहुवचन। जीवेसु जीवेषु–सप्तमी बहुवचन। तस्स तस्य–षष्ठी एकवचन। **निरुक्ति**– षे सेधतिस्म इति सिद्ध षिध गतौ गतौ भ्वादि। **समास**––जिनाना इन्द्रा जिनेन्द्रा तान्, न अगार येषा ते अनगारा. तान्, अनुकम्पया सहित. इति सानुकम्प ।।१५७।।

महादेवाधिदेव, परमेश्वर-अर्हंत, सिद्धकी और साधुकी श्रद्धा करनेमे तथा समस्त जीवसमूहकी अनुकम्पाका आचरण करनेमे **प्रवृत्त** हुआ उपयोग शुभोपयोग है।

प्रसङ्गविवरण––अनन्तरपूर्व गाथामे परद्रव्यके सयोगका कारणभूत उपयोगविशेषका निर्देश किया गया था। अब इस गाथामे उन उपयोगविशेषोंमे से शुभोपयोगके स्वरूपका प्ररूपण किया गया है।

तथ्यप्रकाश––(१) अरहंत, सिद्ध, साधुकी श्रद्धामे प्रवृत्त तथा समस्त जीवोके प्रति अनुकम्पाके आचरणमे प्रवृत्त हुआ उपयोग शुभोपयोग कहलाता है। (२) शुभोपयोगमे शुभ उपरागका प्रवर्तन है। (३) शुभ उपरागका निमित्त कारण मोहनीय कर्मकी क्षयोपशमदशा है। (४) अनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहित सकलपरमात्माके गुणोमे विनय आस्था अनुराग भक्ति होना अर्हद्भक्ति है। (५) ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मसे रहित, सम्यक्त्वादिक अष्ट गुणमे अन्तर्भूत अनन्त गुणोसे सहित आत्मज्योतिके प्रति भक्ति होना सिद्धभक्ति है। (६) निष्परिग्रह, ज्ञानाचारादि पाँच आचारोंके धारणहार साधुजनोके गुणोमे भक्ति होना साधुभक्ति है। (७) त्रस स्थावर जीवोके प्रति दयाभाव होना अनुकम्पा है।

सिद्धान्त––(१) शुभोपयोग आत्माका विभाव परिणमन है। (२) शुभोपयोगका निमित्त विशिष्ट क्षयोपशमदशामे रहने वाला मोहनीयकर्म है। (३) शुभोपयोगका आश्रयभूत कारण देव शास्त्र गुरु आदि होनेसे उनमे भक्ति होनेको शुभोपयोग कहा जाता है।

दृष्टि––१– अशुद्धनिश्चयनय (४७)। २–उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, निमित्तदृष्टि (२४, ५३अ)। ३– पराधिकरणत्व असद्भूत व्यवहार (१३४)।

प्रयोग––विशुद्ध निराकुल होनेके लिये अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगके भावोंसे गुजरकर शुद्धोपयोगी होनेका पौरुष होने देना ।।१५७।।

अब अशुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं [**यस्य उपयोगः**] जिसका उपयोग [**विषयकषायावगाढः**] विषय-कषायमे मग्न है, [**दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुतः**] कुश्रुति, कुविचार और

अथाशुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति--

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥१५८॥

विषयकषायविरंजित, चिन्तन सेवन श्रवण मलीमस हो ।
उग्र उन्मार्गगामी, उपयोग अशुभ जीवका है ॥ १५८ ॥

विषयकषायावगाढो दु श्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुत । उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभ ॥ १५८ ॥

विशिष्टोदयदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीताशोभनोपरागत्वात्परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुभ्योऽन्यत्रोन्मार्गश्रद्धाने विषयकषायदुःश्रवणदुराशयदुष्टसेवनोग्रताचरणे च प्रवृत्तोऽशुभोपयोगः ॥१५८॥

नामसंज्ञ--विसयकसाओगाढ दुस्सुदिदुच्चित्त दुट्ठगोट्ठिजुद उग्ग उम्मग्गपर उवओग ज त असुह । **धातुसंज्ञ**– कस तन् करणे । **प्रातिपदिक**—विषयकषायावगाढ दु.श्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुत उग्र उन्मार्गपर उपयोग यत् तत् अशुभ । **मूलधातु**– वि सिञ् बन्धने, कष तन् करणे । **उभयपदविवरण**—विसयकसाओगाढो विषयकषायावगाढ दुस्सुदिदुश्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो दु श्रुतिदुश्चित्तदुष्ठगोष्ठियुतः उग्गो उग्रः उम्मग्गपरो उन्मार्गपर उवओगो उपयोग सो स· असुहो अशुभः–प्रथमा एकवचन । जस्स यस्य–षष्ठी एकवचन । **निरुक्ति**– विषिण्वन्ति सबध्नन्ति स्वात्मकतया विषयिण इति विषया·, कषन्ति आत्मान ये इति कषाया·, गोष्ठन गोष्ठ· स्त्रिया ङीप् गोष्ठ समूहे भ्वादि, ओचन उग्र· उच् प्रचण्डे दिवादि उच्+रक गादेश. । **समास**—विषयाश्च कषायाश्च इति विषयकषाया· तेषु अवगाढः इति विषयकषायावगाढ ॥१५८॥

कुसंगतिमे लगा हुआ है, **[उग्रः]** उग्र है तथा **[उन्मार्गपरः]** उन्मार्गमे लगा हुआ है, **[सः अशुभः]** वह उपयोग अशुभोपयोग है ।

तात्पर्य—विषयकषायमे लोन उपयोग अशुभोपयोग है ।

टीकार्थ—विशिष्ट उदयदशामे रहने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलोके अनुसार परिणतिमे लगा होनेसे अशुभरागको ग्रहण करनेसे, परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर–अर्हंत सिद्ध और साधुको छोडकर अन्य-उन्मार्गकी श्रद्धा करनेमें तथा विषय, कषाय, कुश्रवण, कुविचार और कुसंग और उग्रताका आचरण करनेमे प्रवृत्त हुआ उपयोग अशुभोपयोग है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे शुभोपयोगका स्वरूप बताया गया था । अब इस गाथामे अशुभोपयोगके स्वरूपका प्ररूपण किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) विपरीत मार्गके श्रद्धानमे प्रवृत्त हुआ उपयोग अशुभोपयोग है । (२) विषय, कषाय, कुशास्त्रश्रवण— खोटा श्रवण, अपध्यानादिक खोटा आशय, कुसंग व

अथ परद्रव्यसंयोगकारणविनाशमभ्यस्यति—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए॥ १५६॥

अशुभोपयोगविरहित, शुभोपयोगी न हो परार्थोमें।
मैं मध्यस्थ रहूं अरु, ज्ञानात्मक आपको ध्याऊँ॥१५६॥

अशुभोपयोगरहित. शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये। भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि॥ १५६॥

यो हि नामायं परद्रव्यसंयोगकारणत्वेनोपन्यस्तोऽशुद्ध उपयोगः स खलु मन्दतीव्रोदयदशाविश्रान्तपरद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वादेव प्रवर्तते न पुनरन्यस्मात्। ततोऽहमेषसर्वस्मिन्नेव परद्रव्ये

नामसंज्ञ— असुहोवओगरहिद सुहोवजुत्त ण अण्णदविय मज्झत्थ णाणप्पग अप्पग। **धातुसंज्ञ**—हो सत्ताया, ज्झा ध्याने। **प्रातिपदिक**—अशुभोपयोगरहित शुभोपयुक्त न अन्यद्रव्य मध्यस्थ ज्ञानात्मक आत्मक। **मूलधातु**—भू सत्ताया, ध्यै ध्याने रह त्यागे भ्वादि। **उभयपदविवरण**— असुहोवओगरहिओ अशुभोपयोग-

उग्रताके आचरणमे प्रवृत्त हुआ उपयोग अशुभोपयोग है। (३) सहजात्मस्वरूप व उसके साधनों साधको व सिद्धोके अतिरिक्त अन्य जीवोमे देवत्व व गुरुत्वका श्रद्धान विपरीत मार्ग है। (४) अशुभोपयोगमे अशुभ उपरागका ग्रहण है। (५) अशुभ उपराग होनेका निमित्त कारण मोहनीयकर्मका उदयविशेष है। (६) आत्मस्वभाव विषयकषाय आदि विभावोसे रहित शुद्ध चित्प्रकाश है उसके विरुद्ध है उक्त सर्वचेष्टायें, अतः ये सब विपरीत मार्ग है।

सिद्धान्त—(१) अशुभोपयोगके परिणाम औपाधिक व विकृत भाव हैं।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, उपचरित अशुद्ध असद्भूत व्यवहार (२४, ७५)।

प्रयोग—आत्मरक्षाके लिये अत्यंत हेय अशुभोपयोगसे पूर्णतया हटकर शुभोपयोगमें रहकर शुद्धोपयोगके लाभके लिये पौरुष करना॥१५८॥

अब परद्रव्यके संयोगके कारणके विनाशका अभ्यास करते है—**[अन्य द्रव्ये]** अन्य द्रव्यमें **[मध्यस्थः]** मध्यस्थ **[भवन्]** होता हुआ **[अहम्]** मैं **[अशुभोपयोगरहितः]** अशुभोपयोगसे रहित हुआ, तथा **[शुभोपयुक्तः न]** शुभोपयुक्त न होता हुआ **[ज्ञानात्मकम्]** ज्ञानस्वरूप **[आत्मकं]** आत्माको **[ध्यायामि]** ध्याता हू।

तात्पर्य—अशुद्धोपयोगसे रहित होकर ज्ञानस्वरूप आत्माको आराधनासे परद्रव्यसंयोग हटता है।

टीकार्थ—जो यह १५६वी गाथामे परद्रव्यके सयोगके कारणरूपमे कहा गया अशुद्धो-

मध्यस्थो भवामि । एवं भवंश्चाहं परद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वाशुद्धोपयोगेन निर्मुक्तो भूत्वा केवलस्वद्रव्यानुवृत्तिपरिग्रहात् प्रसिद्धशुद्धोपयोग उपयोगात्मनात्मन्येव नित्यं निश्चलमुपयुक्तस्तिष्ठामि । एषं मे परद्रव्यसंयोगकारणविनाशाभ्यासः ॥१५९॥

रहित. सुहोवजुत्तो शुभोपयुक्त मज्झत्थो मध्यस्थ अह-प्रथमा एकवचन । ण न-अव्यय । अण्णदवियम्हि अन्यद्रव्ये-सप्तमी एकवचन । होज्ज भूत्वा-असमाप्तिकी क्रिया कृदन्त । णाणप्पग ज्ञानात्मक अप्पगं आत्मक-द्वितीया एकवचन । झाये ध्यायामि-वर्तमान उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**- शोभनं शुभः, द्रवति द्रोरयति अदुद्रुवत् पर्यायान् इति द्रव्य । **समास**-अशुभश्चासौ उपयोगः अशुभोपयोग. तेन रहितः अ०, मध्ये तिष्ठति इति मध्यस्थ , शुभे उपयुक्त. शुभोपयुक्त ॥१५९॥

पयोग है यह वास्तवमे मन्द तीव्र उदयदशामें रहने वाले परद्रव्यानुसार परिणतिके आधीन होनेसे ही प्रवर्तता है, अन्य कारणसे नही । इसलिये यह मैं समस्त परद्रव्यमें मध्यस्थ होऊँ और इस प्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्यानुसार परिणतिके आधीन न होनेसे शुभ अथवा अशुभ-अशुद्धोपयोगसे मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणतिको ग्रहण करनेसे प्रसिद्ध हुआ है शुभोपयोग जिसको ऐसा यह मैं उपयोगस्वरूप निजस्वरूपके द्वारा आत्मामें ही सदा निश्चलतया उपयुक्त रहता हू । यह मेरा परद्रव्यके संयोगके कारणके विनाशका अभ्यास है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे अशुभोपयोगके स्वरूपका प्ररूपण किया गया था। अब इस गाथामे परसंयोगके कारणके विनाशका अभ्यास कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अशुभोपयोग व शुभोपयोग दोनोंको अशुद्धोपयोग कहते हैं । (२) अशुद्धोपयोग कर्मोदयके निमित्तसे एवं परद्रव्योके अवलम्बनसे प्रकट होता है, अत. समस्त परद्रव्योमें मध्यस्थ होनेपर अशुद्धोपयोगसे छुटकारा मिलेगा । (३) जब किसी परपरिणतिके आधीन यह आत्मा न होगा तो अशुद्धोपयोगसे मुक्त होकर केवल स्वद्रव्यमे मग्न रहेगा । (४) मात्र स्वद्रव्यमें मग्न होनेको शुद्धोपयोग कहते हैं । (५) अशुद्धोपयोगसे छूटकर निज सहज चैतन्यस्वरूपमें आत्मत्वको अनुभवना, यह परद्रव्यके संयोगके कारणका विनाश करनेका अमोघ तन्त्र है । (६) परविषयक समस्त विकल्प छोड़कर स्वरसतः ज्ञानसे रचे ज्ञानात्मक निज परमात्मद्रव्यको ज्ञानदृष्टिसे निरखना शुद्ध उपयोग है ।

सिद्धान्त—(१) उपाधिका अभाव होनेपर शुद्धोपयोग प्रकट होता है ।

दृष्टि—१- उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४अ) ।

प्रयोग—शरीर आदि सब पदार्थोंमें राग द्वेष न कर, सहजानन्दमय ज्ञानस्वरूप निज परमात्मद्रव्यमें उपयुक्त होना ॥१५९॥

अथ शरीरादावपि परद्रव्ये माध्यस्थं प्रकटयति--

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥१६०॥

देह न मन नहिं वाणी, उनका कारण भि हूं नहीं मैं यह ।
कर्ता न कारयिता, कर्ताका हूं न अनुमोदक ॥ १६० ॥

नाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारणं तेषाम् । कर्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम् ॥१६०॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति । सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । तथाहि--न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि, तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति । ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवंति भवन्ति । ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातम-

---

नामसंज्ञ– ण अह देह ण मण ण च एव वाणी ण कारण त कत्तार ण ण कारयितार अणुमतार

अब शरीरादि परद्रव्यमें भी माध्यस्थ भाव प्रगट करते है--[**अहं न देहः**] मैं न देह हूं, [**न मनः**] न मन हूं, [**च**] और [**न एव वाणी**] न वाणी ही हू; [**तेषां कारणं न**] उनका कारण नही हू [**कर्ता न**] कर्ता नही हू. [**कारयिता न**] कराने वाला नही हूं; [**कर्तृणां अनुमन्ता न एव**] और कर्ताका अनुमोदक भी नही हू ।

तात्पर्य--मैं परद्रव्यसे अत्यंत निराला हू ।

टीकार्थ--मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यके रूपसे समझता हूं, इसलिये मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नही है । मैं उन सबके प्रति अत्यत मध्यस्थ हूं । **स्पष्टीकरण**--वास्तवमे मै शरीर, वाणी और मनके स्वरूपका आधारभूत अचेतन द्रव्य नही हूं; वे वास्तव मे मुझ स्वरूपाधारके बिना ही अपने स्वरूपको धारण करते है । इसलिये मैं शरीर, वाणी और मनका पक्षापत छोडकर अत्यन्त मध्यस्थ हू । और मेरे शरीर, वाणी तथा मनका कारण भूत अचेतनद्रव्यपना नही है । वे निश्चयतः मुझके कारण हुए बिना ही कारणवान् हैं । इस कारण उनके कारणत्वका पक्षपात छोडकर यह मै अत्यन्त मध्यस्थ हू । और मेरे स्वतत्र शरीर, वाणी तथा मनका कर्ताभूत अचेननद्रव्यपना नही है, वे निश्चयतः मुझके कारण हुए बिना ही किये जाते है । इस कारण उनके कर्तृत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हू । और मेरे स्वतन्त्र शरीर, वाणी तथा मनका कारकभूत अचेतन द्रव्यका प्रयोजकपना नही है । वे निश्चयतः मुझ कारक प्रयोजकके बिना ही अर्थात् मैं उनके कर्ताका प्रयोजक हुये बिना

पास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थ: । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मन:कारकाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थ: । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मन:कारकाचेतन द्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थ: । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मन:कारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थ: ।। १६० ।।

ण एव कत्तार । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, मन्न अवबोधने । **प्रातिपदिक**—न अस्मत् देह न मनस् न च एव वाणी न कारण तत् कर्तृ न न कारयितृ अनुमतृ न एव कर्तृ । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, मनु अवबोधने । **उभयपदविवरण**—ण न एव–अव्यय । अहं देहो देह मणो मन वाणी कारणं कत्ता कर्ता कारयिदा कारयिता अणुमता अनुमंता–प्रथमा एकवचन । तेसिं तेषा कत्तीणं कर्तृणाम्–षष्ठी बहुवचन । **निरुक्ति**—दिह्यते य: स देह दिह उपचये, मन्यते बुध्यते अनेन इति मन:, वणनं वाणी वण शब्दे ।। १६० ।।

ही वे वास्तवमे किये जाते हैं । इस कारण यह मैं उनके कर्ताके प्रयोजकत्वका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूं । और मेरे स्वतन्त्र शरीर, वाणी तथा मनका कारकभूत अचेतनद्रव्य का अनुमोदकपना नही है । निश्चयत: वे मुझ कारक-अनुमोदकके बिना ही अर्थात् उनके कर्ताका अनुमोदक हुये बिना ही किये जाते हैं । इस कारण उनके कर्ताके अनुमोदक होनेका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे परद्रव्यके संयोगके कारणभूत अशुद्धोपयोगके विनाशका अभ्यास कराया गया था । अब इस गाथामें शरीरादिक परद्रव्यके विषयमें माध्यस्थ्य भाव प्रकट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मेरा शरीर आदि सर्व परद्रव्योमे माध्यस्थ्य भाव है । (२) शरीर, वचन, मनको मैं परद्रव्यरूपसे जानता हूं । (३) परद्रव्यरूप शरीर वचन मन आदि समस्त पदार्थोंमें किसीमे भी मेरा कुछ भी पक्षपात नहीं है । (४) मैं शरीर वचन मनके स्वरूपका आधारभूत नही हूं, वे सब मुझसे भिन्न ही अपने स्वरूपको धारण करते हैं । (५) मैं शरीर वचन मनका कारणभूत नही हूं, वे मुझ उपादानसे भिन्न ही अपने कारण वाले है । (६) मैं शरीर वचन मनका कर्ता नही हूं, वे मुझ कर्ताके बिना ही अपने उपादानभूत अचेतन द्रव्य के द्वारा ही किये जाने वाले हैं । (७) मैं शरीर वचन मनका प्रयोजक नही हूं, वे मेरे प्रयोजनके बिना ही अपने उपादानभूत अचेतन द्रव्यके सत्त्वके प्रयोजनसे क्रियमाण हैं । (८) मैं शरीर वचन मनका अनुमोदक भी नही हूं, वे मुझ अनुमोदकके बिना ही क्रियमाण हैं । (९)

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥१६१॥

देह तथा मन वाणी, ये पुद्गलद्रव्यमय हैं बताये ।
पुद्गलद्रव्य अचेतन, अणुवोंका पिण्ड यह सब है ॥१६१॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टा । पुद्गलद्रव्यमपि पुन पिण्ड परमाणुद्रव्याणाम् ॥१६१॥

शरीरं च वाक् च मनश्च त्रीण्यपि परद्रव्यं पुद्गलद्रव्यात्मकत्वात् । पुद्गलद्रव्यत्वं तु तेषां पुद्गलद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितत्वात् । तथाविधपुद्गलद्रव्य त्वनेकपरमाणु-

---

नामसंज्ञ—देह य मण वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठ पोग्गलदव्व हि पुणो पिंड परमाणुदव्व । धातुसंज्ञ—निर् दिस पेक्षणे दाने च । प्रातिपदिक—देह च मनस् वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक इति निर्दिष्ट पुद्गलद्रव्य हि पुनर् पिण्ड परमाणुद्रव्य । मूलधातु– निर् दिश् अतिसर्जने । उभयपदविवरण—देहो देहः मणो मनः वाणी पोग्गलदव्व पुद्गलद्रव्य पिंडो पिण्ड –प्रथमा एकवचन । पुग्गलदव्वप्पगे–प्रथमा बहु० ।

मैं शरीर वचन मनका न कर्ता हू, न कराने वाला हू, न करने वालेको अनुमोदने वाला हूं, अतः शरीरादि समस्त परद्रव्यके प्रति मैं अत्यन्त मध्यस्थ हू ।

सिद्धान्त—आत्मा शरीरादिका कर्ता आदि नही है ।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुभनय (४६अ) ।

प्रयोग—किसी भी परद्रव्यसे आत्माका किसी भी कारकरूप सम्बन्ध नही, अतः समस्त परद्रव्योको अप्रयोजक मानकर किसी भी परद्रव्यमे रागद्वेष न करना, मध्यस्थ रहना ॥ १६० ॥

अब शरीर, वाणी और मनका परद्रव्यपना निश्चित करते है—[देहः मनः च वाणी] देह, मन और वाणी [पुद्गल द्रव्यात्मकाः] पुद्गल द्रव्यात्मक [इति निर्दिष्टाः] है, ऐसा सर्वज्ञ देवने कहा है [अपि पुनः] और [पुद्गल द्रव्यं] वे पुद्गल द्रव्य [परमाणुद्रव्याणां पिण्डः] परमाणुद्रव्योंका पिण्ड है ।

तात्पर्य—शरीर वचन व मन पुद्गलद्रव्यात्मक है और आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं ।

टीकार्थ—शरीर वाणी और मन तीनो ही परद्रव्य है क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यात्मक हैं । उनके पुद्गलद्रव्यपना है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्यके स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वमे निश्चित हैं । और उस प्रकारका पुद्गलद्रव्य अनेक परमाणुद्रव्योका एक पिण्ड पर्यायरूपसे परिणाम है, क्योंकि अनेक परमाणुद्रव्योके स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व अनेक होनेपर भी कथंचित् अर्थात् स्निग्धत्व-रूक्षत्वकृत बन्ध परिणामकी अपेक्षासे एकत्वरूप अवभासित होते हैं ।

द्रव्याणामेकपिण्डपर्यायेण परिणामः। अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथंचिदेकत्वेनावभासनात् ॥१६१॥

य च त्ति इति हि—अव्यय। निर्दिष्टा—प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया। परमाणुदव्वाण परमाणुद्रव्याण—षष्ठी बहु०। **निरुक्ति**—पिण्डन पिण्ड पिडि संघाते भ्वादि। **समास**—पुद्गलद्रव्य आत्मकं येषा ते पुद्गलद्रव्यात्मकाः॥ १६१॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शरीरादिके प्रति अत्यन्त माध्यस्थ्य भाव प्रकट किया गया था। अब इस गाथामे शरीरादिका परद्रव्यपना सुदृढ़ निश्चित किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) शरीर, वचन और मन तीनों ही पुद्गलद्रव्यरूप होनेसे परद्रव्य हैं। (२) यद्यपि व्यवहारसे जीवके साथ शरीर वचन मनका एकत्व है, किन्तु निश्चयतः परम चैतन्यप्रकाशवृत्तिलक्षण वाले जीवमे शरीरादि अत्यन्त भिन्न हैं। (३) शरीर, वचन, मन पुद्गलद्रव्यके स्वरूपास्तित्वसे निश्चित हैं, अतः पुद्गलद्रव्यरूप हैं। (४) शरीर वचन मनकी ऐसी पिण्डरूप रचना अनेक परमाणुद्रव्योंके एक पिण्डरूप पर्यायसे बनी है। (५) शरीरादि की इस पिण्डरूप एक स्कन्धकी दशामें भी अपने-अपने स्वरूपास्तित्वसे अनेक परमाणुवोंका अपना-अपना सत्त्व है। (६) ये शरीरादि मुझसे अत्यन्त पृथक् हैं।

सिद्धान्त—(१) आत्मा अपने चैतन्यमय स्वरूपास्तित्वसे ही है। (२) आत्मा अचेतनद्रव्यके स्वरूपसे नही है। (३) आत्माका स्वरूप अखण्ड चैतन्यप्रकाश है।

दृष्टि—१– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८)। २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय (२९)। ३– परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (३०)।

प्रयोग—समस्त परद्रव्योंसे उपयोग हटाकर अपने स्वरूपमें ही उपयुक्त होना ॥१६१॥

अब आत्माके परद्रव्यपनेका अभाव और परद्रव्यके कर्तापनका अभाव सिद्ध करते हैं—[अहं पुद्गलमयः न] मैं पुद्गलमय नही हूं, और [ते पुद्गलाः] वे पुद्गल [मया] मेरे द्वारा [पिण्डं न कृताः] पिण्डरूप नही किये गये हैं; [तस्मात् हि] इस कारण निश्चयतः [अहं न देहः] मैं देह नहो हूं, [वा] तथा [तस्य देहस्य कर्ता] उस देहका कर्ता नहीं हूं।

तात्पर्य—मैं देह नहीं हूँ और न देहका कर्ता हूं, क्योंकि देह पुद्गलमय है।

टीकार्थ—जिसके भीतर वाणी और मनका समावेश हो जाता है ऐसा जो यह प्रकरणमें निर्धारित पुद्गलात्मक शरीर नामक परद्रव्य है, वह मैं नही हूं; क्योंकि मुझ अपुद्गलात्मकका पुद्गलात्मक शरीररूप होनेमें विरोध है। और इसी प्रकार उस शरीरके कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कर्ताके प्रयोजक द्वारा या कर्ताके अनुमोदक द्वारा शरीरका कर्ता मैं नही हूं, क्योंकि

अथात्मनः परद्रव्यत्वाभाव परद्रव्यकर्तृत्वाभावं च साधयति—

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥१६२॥

मै पुद्गलमय नहि हूँ, न वे किये पिण्ड पौद्गलिक मैंने।
इससे मैं देह नहीं, नहि हूं उस देहका कर्ता॥ १६२॥

नाह पुद्गलमयो न ते मया पुद्गला. कृता पिण्डम्। तस्माद्धि न देहोऽह कर्ता वा तस्य देहस्य ॥ १६२ ॥

यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं पुद्गलात्मकमन्तर्नीतवाङ्मनोद्वैतं शरीरं नाम परद्रव्यं न तावदहमस्मि, ममापुद्गलमयस्य पुद्गलात्मकशरीरत्वविरोधात्। न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजकद्वारेण कर्त्रनुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तुरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात् ॥१६२॥

नामसंज्ञ—ण अम्ह पोग्गलमइअ ण त अम्ह पोग्गल कय पिड त हि ण देह अम्ह कत्तार व त देह। **धातुसंज्ञ**—कर करणे। **प्रातिपदिक**– न अस्मत् पुद्गलमय न तत् अस्मत् पुद्गल कृत पिण्ड तत् हि न देह अस्मत् कर्तृ वा तत् देह। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे। **उभयपदविवरण**—ण न हि वा–अव्यय। अह पोग्गलमइओ पुद्गलमय. देहो देह अहं कत्ता कर्ता–प्रथमा एकवचन। ते पोग्गला पुद्गला –प्रथमा बहु०। मया–तृतीया एक०। कृता –प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया। पिंड पिण्ड–क्रियाविशेषण पिण्ड यथा स्यात्तथा। तम्हा तस्मात्–पचमी एक०। तस्स तस्य देहस्स देहस्य–षष्ठी एकवचन। **निरुक्ति**–पूरयन्ति गलन्ति इति पुद्गलाः पूरी आप्यायने गल स्रवणे, दिह्यते उपचीयते असौ इति देह दिह उपचये, पुद्गलेन निर्वृत्त. इति पुद्गलमय· ॥१६२॥

अनेक परमाणु द्रव्योके एकपिण्ड पर्यायरूप परिणामका न करने वाले मेरेके अनेक परमाणु **द्रव्योके एकपिण्ड पर्यायरूप** परिणामात्मक शरीरका कर्ता होनेमे सर्वथा विरोध है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शरीर वचन मनका परद्रव्यत्व निश्चित किया गया था। अब इस गाथामे बताया गया है कि आत्मामे न तो परद्रव्यपना है और न परद्रव्य का कर्तापना है।

तथ्यप्रकाश—(१) मैं आत्मा हूं, चैतन्यस्वरूप हूं। (२) मैं पुद्गलात्मक शरीररूप नहीं हूं। (३) जब मैं शरीररूप नही तो वचन व मनरूप तो हो ही कैसे सकता हू, वचन व मनका तो शरीरमें ही समावेश हो जाता है। (४) पुद्गल और मैं परस्पर अत्यन्त भिन्न भिन्न है। (५) मैं पुद्गलात्मक शरीरका न कर्ता हू, न कारण हू, न कराने वाला हू, न शरीरके कर्ताका अनुमोदक हूं। (६) मैं अमूर्त चैतन्यमात्र अनेकपरमाणुद्रव्यैक पिण्डपर्यायरूप देहका

अथ कथं परमाणुद्रव्याणां पिण्डपर्यायपरिणतिरिति संदेहमपनुदति—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥१६३॥

परमाणु अप्रदेशी, एकप्रदेशी [स्वयं अशब्द कहा।
स्निग्धत्व रूक्षतावश, द्विप्रदेशादित्व अनुभवता ॥१६३॥

अप्रदेशः परमाणुः प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो य.। स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥१६३॥

परमाणुर्हि द्वयादिप्रदेशानामभावादप्रदेशः, एकप्रदेशसद्भावात्प्रदेशमात्रः, स्वयमनेकपरमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च। यतश्चतुःस्पर्शपञ्चरसद्विगन्धपञ्चवर्णानाम-

---

नामसंज्ञ—अपदेस परमाणु पदेसमेत्त य सय असद्द ज णिद्ध वा लुक्ख वा दुपदेसादित्त। धातुसंज्ञ—अणु हव सत्ताया, सद्द आह्वाने। प्रातिपदिक—अप्रदेश परमाणु प्रदेशमात्र च स्वय अशब्द यत् स्निग्ध वा रूक्ष द्विप्रदेशादित्व। मूलधातु—अनु भू सत्ताया, शप शब्दे। उभयपदविवरण—अपदेसो अप्रदेशः परमाणू परमाणुः पदेसमेत्तो प्रदेशमात्र असद्दो अशब्द. जो य णिद्धो स्निग्धः लुक्खो रूक्ष –प्रथमा एकवचन। य

त्रिकाल भी कर्ता नहीं हो सकता। (७) पुद्गलपिण्ड परिणामात्मक शरीरके कर्ता निश्चयतः पुद्गलद्रव्य ही है।

सिद्धान्त—(१) आत्मा शरीरका कर्ता कारयिता कारण आदि कुछ भी नहीं है। (२) जीवको शरीरका कर्ता आदि कहना उपचार है।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुद्धनय (४६अ)। २– परकर्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार (१२६)।

प्रयोग—परद्रव्यसे अत्यन्त विविक्त आत्माको मात्र अपने परिणमनका कर्ता निरखना ॥१६२॥

अब "परमाणुद्रव्योंकी पिण्डपर्यायरूप परिणति कैसे होती है" इस संदेहको दूर करते हैं—[परमाणुः] परमाणु [यः अप्रदेशः] जो कि अप्रदेश है, [प्रदेशमात्रः] एक प्रदेशमात्र है, [च] और [स्वयं अशब्दः] स्वयं शब्दरहित है, [स्निग्धः वा रूक्षः वा] वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ [द्विप्रदेशादित्वम् अनुभवति] द्विप्रदेशादित्वका अनुभव करता है।

तात्पर्य—एकप्रदेशी परमाणु संघातयोग्य स्निग्धता व रूक्षताके कारण द्वयणुक आदि स्कन्ध हो जाता है।

टीकार्थ—वास्तवमें परमाणु दो-तीन आदि प्रदेशोंका अभाव होनेसे अप्रदेश है, एक प्रदेशका सद्भाव होनेसे प्रदेशमात्र है, और स्वयं अनेक परमाणु द्रव्यात्मकशब्दपर्यायकी प्रगटता

विरोधेन सद्भावात् स्निग्धो वा रूक्षो वा स्यात् । तत एव तस्य पिण्डपर्यायपरिणतिरूपा द्विप्रदेशादित्वानुभूतिः । अथैवं स्निग्धरूक्षत्वं पिण्डत्वसाधनम् ॥१६३॥

च सय स्वय वा–अव्यय । दुपदेसादित्त द्विप्रदेशादित्व–द्वितीया एकवचन । अणुहवदि अनुभवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**– शपन शब्द , शप्यते य. स शब्द , प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसपसामर्थ्येन अण्यते शब्द्यते इति अणु: अण शब्दे । **समास**––न प्रदेश (एकेनाधिक· प्रदेश.) यस्य स अप्रदेश·, न शब्द: इति अशब्द. ॥१६३॥

का असंभव होनेसे अशब्द है । चूंकि वह परमाणु चार स्पर्श, पांच रस, दो गध और पांच वर्णोंके अविरोधपूर्वक सद्भावके कारण स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है, इस कारण उसके पिण्ड-पर्याय-परिणतिरूप द्विप्रदेशादित्वकी अनुभूति होती है । अब इस प्रकार स्निग्धरूक्षत्व पिण्ड-पनेका कारण हुआ ।

प्रसंगविवरण––अनन्तरपूर्व गाथामे आत्मामे परद्रव्यपनेका अभाव व परद्रव्यके कर्तृत्वका अभाव बताया गया था । अब इस गाथामे यह बतलाया गया है कि परमाणुद्रव्योंकी पिण्डपर्यायपरिणति कैसे होती है ।

तथ्यप्रकाश––(१) परमाणु एकप्रदेशी होता है । (२) परमाणु शब्दरहित है, क्योंकि शब्दकी व्यक्ति स्कन्धमें ही हो सकती है, परमाणुमे नही । (३) परमाणुवोमे चार स्पर्श, पांच रस, दो गन्ध व पांच रूप अविरोधरूपसे रहते है, सो स्निग्धत्व व रूक्षत्व तो परमाणुमे होता ही है । (४) परमाणुमे होने वाले स्निग्धत्व व रूक्षत्व गुणके ही कारण परमाणुवोंको पिण्ड-पर्यायरूप परिणति होती है, जैसे कि अशुद्ध जीवके राग द्वेषके कारण कर्मबन्ध होकर नरना-रकादिक पर्याय होती है । (५) परमाणुवोंकी पिण्डपर्यायरूप परिणति होनेसे द्विप्रदेशीसे लेकर अनन्तप्रदेशी तकके स्कन्ध हो जाते है । (६) परमाणुवोंके पिण्डपना होनेका कारण परमाणुवों का स्निग्धपना व रूक्षपना है । (७) पिण्ड परिणमनविधिसे ही इन शरीर वचन मन आदि स्कन्धोंको रचना बनी है, इनका मैं कर्ता आदि नही हूं ।

सिद्धान्त––(१) शरीर, वचन, मन पौद्गलिक है । (२) पौद्गलिक स्कन्धोका कर्ता कर्म करण आदि कारकपना पुद्गलोमे ही है ।

दृष्टि––१– उपादान दृष्टि (४६ब) । २– कारककारकिभेदक शुद्ध सद्भूत व्यवहार (७३) ।

प्रयोग––पौद्गलिक पिण्डोका कर्तृत्व आदि पुद्गलोमे ही है ऐसा निरखकर उनका अकर्तृत्व अपनेमें निश्चित कर उनका विकल्प छोड़ना और अपनेमें अपनेको ज्ञानमात्र निहार-कर परम विश्राम पाना ॥१६३॥

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वं परमाणोरित्यावेदयति—

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥१६४॥

एकादिक एकोत्तर, अणुके स्निग्धत्व रूक्षता होती ।
परिणतिस्वभाववशसे, जब तक भि अनन्तता होती ॥१६४॥

एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वम् । परिणामाद्भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति ॥ १६४ ॥

परमाणोर्हि तावदस्ति परिणामः तस्य वस्तुस्वभावत्वेनानतिक्रमात् । ततस्तु परिणामादुपात्तकादाचित्कवैचित्र्य चित्रगुणयोगित्वात्परमाणोरेकाद्येकोत्तरानन्तावसानाविभागपरिच्छेदव्यापि स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं वा भवति ॥१६४॥

नामसंज्ञ—एगुत्तर एगादि अणु णिद्धत्तण च लुक्खत्त परिणाम भणिद जाव अणतत्त । **धातुसंज्ञ**—अणु भव सत्तायां । **प्रातिपदिक**– एकोत्तर एकादि अणु स्निग्धत्व वा रूक्षत्व परिणाम भणित यावत् अनंतत्व । **मूलधातु**—अनु भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—एगादि एकादि एगुत्तर एकोत्तरं णिद्धत्तण स्निग्धत्व लुक्खत्त रूक्षत्व–प्रथमा एकवचन । अणुस्स अणो –षष्ठी एक० । परिणामादो परिणामात्–पंचमी एक० । भणिद भणित–प्र० एक० कृदन्त क्रिया । च जाव यावत्–अव्यय । अणतत्त अनन्तत्व–द्वितीया एकवचन । अणुभवदि अनुभवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**– स्निह्यति स्म यः सः स्निग्धः ष्णिह प्रीतौ दिवादि ष्णिह स्नेहने चुरादि ॥१६४॥

अब परमाणुके वह स्निग्ध रूक्षत्व किस प्रकारका होता है, यह बतलाते हैं—

[अणोः] परमाणुके **[परिणामात्]** परिणमनके कारण **[एकादि]** एक अविभाग प्रतिच्छेदसे लेकर **[एकोत्तरं]** एक-एक बढ़ता हुआ **[स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं]** स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व **[भणितम्]** कहा गया है । **[यावत्]** जब तक कि **[अनन्तत्वं अनुभवति]** अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेदपनेको प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—परमाणु एक डिग्रीसे अनन्त डिग्री तकके स्निग्ध रूक्ष होते हैं ।

टीकार्थ—वास्तवमे परमाणुके परिणमन होता है, क्योकि वस्तुस्वभावपनेसे उसका उल्लंघन नही होता । इस कारण अनेक प्रकारके गुणो वाले परमाणुके परिणमनके कारण प्राप्त किया है क्षणिक वैचित्र्य जिसने ऐसा, एकसे लेकर एक-एक बढ़ते हुये अनन्त अविभागी-प्रतिच्छेदों तक व्याप्त होने वाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व होता है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे परमाणुवोका पिण्डरूप होनेका कारण परमाणुमें होने वाला स्निग्धत्व व रूक्षत्वको बताया गया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि परमाणुवोको वह स्निग्धत्व रूक्षत्व पिण्डरूप होनेका अर्थात् परस्पर बन्ध होनेका कारण कैसे

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वात्पिण्डत्वमित्यावेदयति—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा ॥१६५॥

रूक्ष हो स्निग्ध हो अणु-के वे परिणाम सम व विषम हो ।
समसे द्व्यधिक हो यदि, बंधते है किन्तु आदि रहित ॥१६५॥

स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामा समा वा विषमा वा । समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीना ॥१६५॥

समतो द्व्यधिकगुणाद्धि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्युत्सर्ग, स्निग्धरूक्षद्व्यधिकगुणत्वस्य हि परिणामकत्वेन बन्धसाधनत्वात् । न खल्वेकगुणात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्यपवादः एकगुण-

नामसंज्ञ—णिद्ध वा लुक्ख अणुपरिणाम सम विसम समदो दुराधिग जदि हि आदिपरिहीण। **धातुसंज्ञ** - बध बन्धने । **प्रातिपदिक**—स्निग्ध वा रूक्ष वा अणुपरिणाम सम वा विषम वा समत द्व्यधिक

होता है ?

तथ्यप्रकाश—(१) परमाणुके परिणमन तो होता ही रहता है, क्योकि परिणमन (पर्याय) होते रहना प्रत्येक वस्तुका स्वभाव है । (२) परमाणुवोमे स्निग्धत्व, रूक्षत्व, शीत, उष्ण ये चार प्रकारके पर्याय होते है । (३) परमाणुके वे चार गुणपर्यायके एकसे लेकर अनंत तक अविभागप्रतिच्छेदोमे होते है । (४) पुद्गलके उन चार पर्यायोमे स्निग्धत्व व रूक्षत्व ये दो ही परिणमन परमाणुवोके परस्पर बन्धके कारणभूत है ।

सिद्धान्त—(१) परमाणु परस्पर बँध बँधकर शरीरादि पिण्डरूपमे बहुप्रदेशी स्कन्ध हो जाते हैं ।

दृष्टि—१– स्वजात्यसद्भूत व्यवहार, अशुद्ध स्थूल ऋजुसूत्र (३१) ।

प्रयोग—शरीरादि पिण्डोका कर्तृत्व पुद्गलोमे ही देखकर अपनेको अकर्ता जानकर समस्त पिण्ड आदि परपदार्थोसे ममत्व पूर्णतया दूर करना और उनकी किसी भी परिणति मे रागद्वेष न कर मध्यस्थ रहना ॥१६४॥

अब यहाँ किस प्रकारके स्निग्धत्व-रूक्षत्वसे पिण्डपना होता है, यह बतलाते हैं— **[अणुपरिणामाः]** परमाणुके परिणाम अर्थात् पर्याय **[स्निग्धाः वा रूक्षाः वा]** स्निग्ध हों या रूक्ष हो **[समाः वा विषमाः वा]** सम अंश वाले हो या विषम अंश वाले हो **[यदि आदिपरिहीनः समतः द्व्यधिकाः]** यदि जघन्य अंशसे रहित व समानतासे दो अधिक अंश वाले हों तो **[बध्यन्ते हि]** बंधते हैं ।

स्निग्धरूक्षत्वस्य हि परिणम्यपरिणामकत्वाभावेन बन्धस्यासाधनत्वात् ।।१६५।।

यदि हि आदिपरिहीन । **मूलधातु**—बन्ध बन्धने । **उभयपदविवरण**—णिद्धा स्निग्धाः लुक्खा रूक्षा अणु-परिणामा अणुपरिणामा समा समाः विसमा विषमाः दुराधिगा द्व्यधिका. आदिपरिहीणा आदिपरि-हीणा.-प्रथमा बहुवचन । बज्झंति बध्यन्ते-वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन भावकर्मप्रक्रिया । **निरुक्ति**—रूक्ष पारुष्ये, परिणमन परिणाम. । **समास**- अणो. परिणामाः अणुपरिणामाः ।।१६५।।

तात्पर्य—दो व अधिक डिग्रीके स्निग्ध या रूक्ष परमाणु अपनेसे दो अधिक डिग्रीके स्निग्ध या रूक्ष परमाणुके साथ बंध जाते हैं ।

टीकार्थ—समानसे दो अंश अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व होनेसे बंध होता है, यह उत्सर्ग है; क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्वकी द्विगुणाधिकता निश्चयसे परिणामक होनेसे बंधका कारण है । निश्चयतः एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व होनेसे बंध नहीं होता, यह अपवाद है; क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्वके परिणम्य परिणामकताका अभाव होनेसे बंधके कारण पनेका अभाव है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें परमाणुवोंके पिण्डत्वके साधनभूत स्निग्धत्व व रूक्षत्वके अनेक अविभाग प्रतिच्छेदोंके रूपमे परिणमन बताया गया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि किस प्रकारके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें परिणत परमाणुवोंका स्निग्धत्व रूक्षत्व परस्पर बन्धका कारण होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) एक अविभागप्रतिच्छेदमें परिणत स्निग्धत्व व रूक्षत्व बन्धका कारण नही होता, जैसे कि जघन्य गुण वाला स्नेह मोह परिणाम मोहनीय प्रकृतिके बन्धका कारण नही होता । (२) दो आदि अविभाग प्रतिच्छेदोमे परिणत स्निग्धत्व व रूक्षत्व बन्ध का कारण हो सकता है । (३) जिन परमाणुवोंमें स्निग्धत्व व रूक्षत्व एकसे दूसरेमें दो अधिक अविभागप्रतिच्छेद वाला हो, उन परमाणुवोका परस्पर बन्ध होता है, वे परमाणु पर-स्पर चाहे स्निग्ध स्निग्ध हों या रूक्ष रूक्ष हों या स्निग्ध रूक्ष हो या रूक्ष स्निग्ध हो ।

सिद्धान्त—(१) परमाणुवोका पिण्डरूप पर्यायमें आनेका कारण विशिष्ट स्निग्धत्व रूक्षत्व युक्त परमाणु ही हैं ।

दृष्टि—१- उपादानदृष्टि (४६ब) ।

प्रयोग—आत्मा शरीरादि पिण्डरूप बनानेका कर्ता आदि रंच मात्र भी नही है, अतः इन समस्त परपदार्थोंको अपनेसे अत्यन्त भिन्न जानकर उनसे उपयोग हटाना और अपने स्व-रूपमे उपयोग लगाना ।।१६५।।

अब परमाणुओंके पिण्डपनेका यथोक्त हेतु दृढतासे निश्चित करते हैं—[स्निग्धत्वेन

अथ परमाणूनां पिण्डत्वस्य यथोदितहेतुत्वमवधारयति—

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥१६६॥

स्निग्ध द्विगुण परमाणु, बद्ध चतुगुणी स्निग्धसे होता ।
त्रिगुण रूक्षसे बँधता, पञ्चगुणी अन्य परमाणू ॥१६६॥

स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बन्धमनुभवति । रूक्षेण वा त्रिगुणितोऽणुर्बध्यते पचगुणयुक्त ॥१६६॥

यथोदितहेतुकमेव परमाणूनां पिण्डत्वमवधार्यं द्विचतुर्गुणयोस्त्रिपञ्चगुणयोश्च द्वयोः स्निग्धयोः द्वयो रूक्षयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा परमाण्वोर्बन्धस्य प्रसिद्धेः । उक्त च "णिद्धा

नामसंज्ञ—णिद्धत्तण दुगुण चदुगुणणिद्ध बध लुक्ख वा तिगुणिद अणु पचगुणजुत्त । **धातुसंज्ञ**—अणु हव सत्ताया, बध बधने । **प्रातिपदिक**—स्निग्धत्व द्विगुण चतुर्गुणस्निग्धत्व बन्ध वा रूक्ष वा त्रिगुणित अणु पंचगुणयुक्त । **मूलधातु**—अनु भू सत्तायां, बन्ध बन्धने । **उभयपदविवरण**—णिद्धत्तणेण स्निग्धत्वेन चदुगुणणिद्धेण चतुर्गुणस्निग्धेन लुक्खेण रूक्षेण—तृतीया एकवचन । दुगुणो द्विगुण तिगुणिदो त्रिगुणितः

द्विगुणः] स्निग्धरूपसे दो अंश वाला परमाणु [**चतुर्गुणस्निग्धेन**] चार अंश वाले स्निग्ध [**वा रूक्षेण**] अथवा रूक्ष [**बंधं अनुभवति**] बंधको प्राप्त होता है । [**त्रिगुणितः अणुः**] तथा तीन अंश वाला परमाणु [**पंचगुणयुक्तः**] पांच अंश वालेके साथ युक्त होता हुआ [**बध्यते**] **बंधता है** ।

तात्पर्य—परमाणु अपनेसे दो अंश अधिक स्निग्ध रूक्ष परमाणुसे बँध जाता है, किन्तु एक अंशके स्निग्ध रूक्ष अणुका बंध नही होना ।

टीकार्थ—यथोक्त हेतुसे ही परमाणुओंके पिण्डत्व होता है, यह करना चाहिये; क्योंकि दो और चार गुण वाले तथा तीन और पाँच गुण वाले दो स्निग्ध परमाणुओंके अथवा दो रूक्ष परमाणुओंके अथवा दो स्निग्ध-रूक्ष परमाणुओंके बधकी प्रसिद्धि है । कहा भी है— "णिभा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला । णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥" "णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण । णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥"

प्रसंगविवरण—अनतरपूर्व गाथामे बताया गया था कि कैसे स्निग्ध रूक्षपनेसे पिण्डपना होता है । अब इस गाथामें परमाणुवोंके पिण्डपनेका पूर्व गाथाकथित हेतुपनेका सोदाहरण दृढ़तासे निश्चय किया गया है :

तथ्यप्रकाश—(१) परमाणुवोंके पिण्डपना होनेका कारण जघन्यगुण रहित व एक

णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला । णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥"
णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण । णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जह-
ण्णवज्जे विसमे समे वा ॥१६६॥

अणु अणुः पंचगुणजुत्तो पचगुणयुक्तः–प्रथमा एकवचन । अणुहवदि अनुभवति–वर्तमान अन्य पुरुष एक-
वचन क्रिया । बज्झदि बध्यते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन भावकर्मप्रक्रिया । निरुक्ति—गुणयन गुणः
गुण आमन्त्रणे चुरादि । समास—द्वे गुणे यस्मिन् स द्विगुणः चत्वारः गुणाः यस्मिन् स चतुर्गुणः चतुर्गु-
णश्चासौ स्निग्धश्चेति चतुर्गुणस्निग्ध तेन च०, पचभि. गुणैः युक्तः इति पच० ॥१६६॥

से दूसरेका दो अधिक अविभाग प्रतिच्छेद वाला स्निग्धपना व रूक्षपना है । (२) जैसे दो
गुण वाले व चार गुण वाले स्निग्ध स्निग्ध या रूक्ष रूक्ष या स्निग्धरूक्ष या रूक्षस्निग्ध परमा-
णुवोंका बन्ध हो जाता है । (३) यहां गुण शब्दका वाच्य अविभागप्रतिच्छेद है । (४) यहां
परमाणुवोके बन्धके प्रसगमे २ अविभागप्रतिच्छेद वाले स्निग्ध रूक्षसे लेकर अनन्त अविभाग-
प्रतिच्छेद वाले स्निग्ध रूक्ष तक घटित करना । (५) दो से अधिक कितने ही अविभागप्रति-
च्छेद हो, परस्पर एकसे दूसरेके दो अविभाग प्रतिच्छेद होनेपर ही बन्ध होता है ।

सिद्धान्त—(१) पुद्गलपरमाणुवोंका परस्पर बन्ध होनेपर एक पिण्डरूपता हो जाती
है ।

दृष्टि—१– समानजातीयविभावद्रव्यव्यञ्जन पर्यायदृष्टि (२१५) ।

प्रयोग—शरीर आदि पौद्गलिक पिण्डोसे विविक्त निज आत्माको किन्ही भी व्यक्त
पर्यायोमे न निरखकर अर्थपर्यायको दृष्टिसे अन्तः निहारकर उससे भी परे परमशुद्ध चित्स्वरूप
में उपयोग करना ॥१६६॥

अब आत्माके, पुद्गलपिण्डकर्तृत्वका अभाव निश्चित करते हैं—[**सूक्ष्मा वा बादराः**]
सूक्ष्म अथवा बादर और [**ससंस्थानाः**] आकारों सहित [**द्विप्रदेशादयः स्कंधाः**] दो से लेकर
अनन्तप्रदेश तकके स्कन्ध [**पृथिवी जलतेजोवायवः**] पृथ्वी, जल, तेज और वायुरूप [**स्वकप-
रिणामैः जायन्ते**] अपने परिणामोसे उत्पन्न होते हैं ।

तात्पर्य—पुद्गलपिण्डोंके कर्ता पुद्गल ही हैं, आत्मा उनका कर्ता नही ।

टीकार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे ये उत्पन्न होने वाले द्विप्रदेशादिक स्कंध–जिनने कि विशिष्ट
अवगाहनकी शक्तिके वश सूक्ष्मता और स्थूलतारूप भेद ग्रहण किये हैं, और विशिष्ट आकार
धारण करनेकी शक्तिके वश होकर विचित्र संस्थान ग्रहण किये हैं वे अपनी योग्यतानुसार
स्पर्श रस गंध वर्णके आविर्भाव और तिरोभावकी स्वशक्तिके वश होकर पृथ्वी, जल, अग्नि
और वायुरूप अपने परिणामोसे ही होते हैं । इससे निश्चित होता है कि द्वयणुकसे लेकर

अथात्मनः पुद्गलपिण्डकर्तृत्वाभावमवधारयति—

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥१६७॥

द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध, सूक्ष्म व बादर विचित्रसंस्थानी।
क्षिति सलिल अग्नि वायू, निज परिणामोंसे उपजें सब ॥१६०॥

द्विप्रदेशादय: स्कन्धाः सूक्ष्मा वा बादराः ससंस्थानाः। पृथिवीजलतेजोवायवः स्वकपरिणामैर्जायन्ते ॥१६७॥

एवममी समुपजायमाना द्विप्रदेशादयः स्कन्धा विशिष्टावगाहनशक्तिवशादुपात्तसौक्ष्म्यस्थौल्यविशेषा विशिष्टाकारधारणशक्तिवशाद्गृहीतविचित्रसंस्थानाः सन्तो यथास्वं स्पर्शादिचतुष्कस्याविर्भावतिरोभावस्वशक्तिवशमासाद्य पृथिव्यप्तेजोवायवः स्वपरिणामैरेव जायन्ते। अतोऽवधार्यते द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तपुद्गलानां न पिण्डकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥१६७॥

नामसंज्ञ—दुपदेसादि खंध सुहुम वा बादर ससंठाण पुढविजलतेउवाउ सगपरिणाम। **धातुसंज्ञ**—जा प्रादुर्भावे। **प्रातिपदिक**—द्विप्रदेशादि स्कन्ध सूक्ष्म वा बादर ससंस्थान पृथिवीजलतेजोवायु स्वकपरिणाम। **मूलधातु**—जनी प्रादुर्भावे। **उभयपदविवरण**—दुपदेसादी द्विप्रदेशादयः खंधा स्कन्धाः सुहुमा सूक्ष्माः बादरा बादराः ससंठाणा ससंस्थानाः पुढविजलतेउवाऊ पृथिवीजलतेजोवायवः–प्रथमा बहुवचन। सगपरिणामेहिं स्वकपरिणामैः–तृतीया बहुवचन। जायंते जायन्ते–वर्तमान पुरुष बहुवचन भावकर्मप्रक्रिया। **निरुक्ति**–स्कन्द्यते य: स: स्कन्धः, लिङ्गेन आत्मानं सूचयति सूच्यते अनेन सूचनमात्र वा सूक्ष्मं। **समास**–पृथिवी च जलं च तेजश्च वायुश्चेतिपृथिवीजलतेजोवायवः–प्रथमा बहुवचन। द्विप्रदेश: आदि येषां ते द्विप्रदेशादयः, संस्थानेन सहिताः इति ससंस्थानाः ॥१६७॥

अनन्तानन्त पुद्गलो तकके पिण्डका कर्ता आत्मा नहीं है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे परमाणुवोके बन्धकी प्रक्रियाका सोदाहरण दृढ़ निश्चय किया था। अब इस गाथामे यह अवधारण किया गया है कि आत्मा पुद्गलपिण्डका कर्ता नहीं है।

तथ्यप्रकाश—(१) दो परमाणु वाले पिण्डसे लेकर अनन्तानन्त परमाणु तक पिण्डों का कर्ता आत्मा नहीं है। (२) ये पुद्गलपरमाणुपिण्ड ही अपने परिणमनसे पृथ्वी, जल, अग्नि वायुरूप परिणम जाते हैं। (३) यहाँ अन्य दार्शनिकोके मन्तव्यके अनुसार पृथ्वी कहने से वनस्पति आदि सब कुछ दृश्य पिण्डका ग्रहण कर लेना है। (४) पृथ्वीमे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण चारों व्यक्त है, जलमें स्पर्श रस वर्ण व्यक्त हैं, अग्निमे स्पर्श व वर्ण व्यक्त है, वायुमें मात्र स्पर्श व्यक्त है सो यह भिन्नता परमाणुपिण्डकी आविर्भाव तिरोभावकी अपनी शक्तिके कारण है। (५) पृथ्वी आदिका जो विभिन्न आकार है वह भी परमाणुपिण्डकी विशिष्टाकार-

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानेतृत्वाभावमवधारयति—

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहि य अप्पा ओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥१६८॥

अवगाढ गाढ संभृत, पुद्गल कायोंसे लोक संपूरण।
सूक्ष्म व बादरोंसे, योग्य अथवा अयोग्योंसे ॥१६८॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः। सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यः॥ १६८ ॥

यतो हि सूक्ष्मत्वपरिणतैर्बादरपरिणतैश्चानतिसूक्ष्मत्वस्थूलत्वात् कर्मत्वपरिणमनशक्ति-

---

नामसंज्ञ—ओगाढगाढनिचिद पुग्गलकाय सव्वदो लोग सुहुम बादर अप्पाओग्ग जोग्ग। **धातुसंज्ञ**—गाह स्थापनाग्रहणप्रवेशेषु। **प्रातिपदिक**—अवगाढगाढनिचित पुद्गलकाय सर्वत. लोक. सूक्ष्म बादर अप्रायोग्य योग्य। **मूलधातु**—गुहू प्रवेशने। **उभयपदविवरण**—ओगाढगाढणिचिदो अवगाढगाढनिचितः लोगो लोक –प्रथमा एकवचन। पुग्गलकायेहिं पुद्गलकायैः सुहुमेहिं सूक्ष्मैः बादरेहिं बादरैः अप्पाओग्गेहिं अप्रा-

---

धारणशक्तिके कारण है। (६) पृथ्वी आदिमे जो पतलापन मोटापनकी विशेषता है वह उन परमाणुपिण्डोकी विशिष्ट अवगाहन शक्तिके कारण है। (७) निश्चयतः टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैक-रूपसे शुद्ध बुद्ध एकस्वभाव आत्मा है। (८) व्यवहारसे अनादिकर्मबन्धनवश शुद्धात्मस्वभाव को न पाते हुए जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु कायिकोमे उत्पन्न होते हैं। (६) पृथ्वी आदि कायिकोमे उत्पन्न होकर भी जीव अपने सुख दुःख ज्ञान विकल्प आदि परिणतियोका ही उपादान कारण है, पृथ्वी आदि कायाकार परिणतिका नही। (१०) पृथ्वी कायाकारपरिणति का उपादान कारण तो पुद्गलस्कन्ध ही है। (११) शरीर आदि किसी भी पुद्गलपिण्डका कर्ता जीव नहीं है।

सिद्धान्त—जीव शरीर आदि पौद्गलिक पिण्डोका कर्ता नही है।

दृष्टि—प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ)।

प्रयोग—आत्मा शरीरादि पुद्गलपिण्डका व अन्य भी किसी द्रव्यका कर्ता हो ही नहीं सकता, अतः कर्तृत्वका विकल्प छोड़कर अपने स्वद्रव्यमें उपयुक्त होकर सत्य विश्राम करना ॥१६७॥

अब आत्मा पुद्गलपिण्डका लाने वाला नही है, यह निश्चित करते है—[**लोकः**] लोक [**सर्वतः**] सर्वतः [**सूक्ष्मैः च बादरैः**] सूक्ष्म तथा बादर [**अप्रायोग्यैः योग्यैः**] एवं कर्मत्व के अयोग्य तथा योग्य [**पुद्गलकायैः**] पुद्गल स्कंधोके द्वारा [**अवगाढगाढनिचितः**] अवगाहित होकर गाढ़ भरा हुआ है।

योगिभिरतिसूक्ष्मस्थूलतया तदयोगिभिश्चावगाहविशिष्टत्वेन परस्परमबाधमानैः स्वयमेव सर्वत एव पुद्गलकायैर्गाढं निचितो लोकः। ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानामानेता पुरुषोऽस्ति ।१६८।

योग्यैः जोग्गेहिं योग्यै–तृतीया बहुवचन । निरुक्ति—अवगाहतेस्म असौ इति अवगाढः, चीयते यः स कायः चिञ् चयने, योगाय प्रभवति यः स योग्य.। समास—गाढं निचित इति अवगाढनिचितः अवगाढश्चासौ गाढनिचितश्चेति अवगाढगाढनिचितः ।।१६८।।

तात्पर्य—लोक विविध पुद्गलस्कंधोंसे सारा भरा हुआ है, उनका लाने वाला आत्मा नहीं ।

टीकार्थ—सूक्ष्मरूप परिणत तथा वादररूप परिणत, अतिसूक्ष्म अथवा अतिस्थूल न होनेसे कर्मरूप परिणत होनेकी शक्ति वाले, तथा अति सूक्ष्म अथवा अति स्थूल होनेसे कर्मरूप परिणत होनेकी शक्तिसे रहित अवगाहकी विशिष्टताके कारण परस्पर बाधा न करने वाले सूक्ष्मरूप परिणत व वादररूप परिणत पुद्गल स्कन्धोंके द्वारा स्वयमेव यह लोक सर्वतः गाढ भरा हुआ है । इसमें निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डोका लाने वाला आत्मा नही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मा पुद्गलपिण्डका कर्ता नही है । अब इस गाथामे बताया गया है कि आत्मा पुद्गलपिण्डका लाने वाला भी नही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) यह लोक सब ओरसे स्वयं ही सूक्ष्मरूप परिणत व वादररूप परिणत पुद्गल कायोंसे भरा हुआ है । (२) उन पुद्गलकायोमे ऐसा ही परस्पर अवगाह विशेष है जिस कारण उनके एकत्र रहनेमें परस्पर कोई बाधा नही आती । (३) इन सब पौद्गलिक कायोंमें (पिण्डोंमें) अनेक तो कर्मत्वपरिणमनशक्ति वाले है जो कि न अतिसूक्ष्म है और न अतिस्थूल हैं । (४) उन सब पुद्गलकायों (पिण्डों) मे अनेक ऐसे है जो कर्मरूप परिणमन शक्तिसे रहित है जो कि अतिसूक्ष्म हैं व अतिस्थूल हैं । (५) इस लोकमे सभी जगह जीव हैं और कर्मबन्धके योग्य कार्माणवर्गणा नामक पुद्गलपिण्ड भी सभी जगह है । (६) प्रत्येक संसारी जीवके साथ भी एक क्षेत्रावगाही विस्रसोपचय वाली कार्माणवर्गणायें भी स्वयं हैं । (७) जब जीव पूर्वबद्ध पुद्गलकर्मविपाकोदयका निमित्त पाकर शुभ अशुभ भावसे परिणत होता है तब तत्काल ही ये कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणत हो जाती है । (८) इन कार्माणवर्गणारूप या कर्मरूप पुद्गलपिण्डोको किसी बाहरके स्थानसे जीव नही लाता । (९) ऐसा भी नही है कि जीव किसी बाहरके स्थानसे कर्मयोग्य पुद्गल लाकर उनका बन्ध करता हो । (१०) सो जैसे आत्मा पुद्गलपिण्डोका कर्ता नही है, इसी प्रकार आत्मा किन्ही भी पुद्गलपिण्डोंका आनेता अर्थात् लाने वाला भी नही है । (११) हाथ आदिके संयोगका निमित्त

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्तृत्वाभावमवधारयति—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥१६९॥

कर्मत्वयोग्य पुद्गल, जीवपरिणामका निमित्त पाकर ।
कर्मरूप परिणमते, जीव उन्हें परिणमाता नहीं ॥१६९॥

कर्मत्वप्रायोग्या. स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य । गच्छन्ति कर्मभावं न हि ते जीवेन परिणमिताः ॥१६९॥

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढजीवपरिणाममात्रं बहिरङ्गसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितार-

---

नामसंज्ञ—कम्मत्तणपाओग्ग खध जीव परिणइ कम्मभाव ण हि त जीव परिणमिद । **धातुसंज्ञ**—प अप्प अर्पणे, गच्छ गतौ । **प्रातिपदिक**—कर्मत्वप्रायोग्य स्कन्ध जीव परिणति कर्मभाव न हि तत् जीव

पाकर कुछ पुद्गलोका क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमे अवस्थान देखकर निमित्तपरम्परामे आत्माके योग उपयोगका स्वातन्त्र्य न देखकर उन स्कन्धोंका जीवको लाने वाला कहना कोरा उपचार है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा पुद्गलपिण्डोका लाने वाला नही है ।

दृष्टि—१- प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—आत्मा द्वारा पुद्गलपिण्डोके लानेका प्रश्न तो दूर ही रहो, यह आत्मा समस्त पुद्गलोसे अत्यन्त भिन्न मात्र अपने चैतन्यस्वरूपास्तित्व वाला है ऐसा जानकर समस्त परपदार्थविषयक विकल्पको तजकर अपने विशुद्ध स्वरूपमे उपयुक्त होकर परम विश्राम पाना ॥१६८॥

अब आत्मा पुद्गलपिण्डोको कर्मरूप नही करता, यह निश्चित करते है—[**कर्मत्वप्रायोग्याः स्कंधाः**] कर्मत्वके योग्य स्कंध [**जीवस्य परिणतिं प्राप्य**] जीवकी परिणतिको प्राप्त करके [**कर्मभावं गच्छन्ति**] कर्मभावको प्राप्त होते है; [**न हि ते जीवेन परिणमिताः**] निश्चयतः वे जोवके द्वारा परिणमाये गये नही हैं ।

तात्पर्य—जीवपरिणामका निमित्तमात्र पाकर कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूप परिणमते हैं ।

टीकार्थ—कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्ति वाले पुद्गल स्कंध, तुल्य क्षेत्रावगाही जीवके परिणाममात्र बहिरंग साधनका आश्रय लेकर, जीवके परिणमयिता हुए बिना ही स्वयमेव कर्मभावसे परिणमित होते है । इससे निश्चित होता है कि पुद्गल पिण्डोंको कर्मरूप करने वाला आत्मा नही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि आत्मा पुद्गलपिण्डोंका लाने वाला भी नही है । अब इस गाथामें बता । गया है कि आत्मा पुद्गलपिण्डोंके कर्मपनेका भी

मन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति । ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥१६९॥

परिणमित । **मूलधातु**—प्र आप्लृ व्याप्तौ, गम्लृ गतौ । **उभयपदविवरण**—कम्मत्तणपाओग्गा कर्मत्वप्रायोग्याः खधा स्कन्धा.-प्रथमा बहुवचन । जीवस्स जीवस्य-षष्ठी एक० । परिणइ परिणति-द्वि० एक० । पप्पा प्राप्य-असमाप्तिकी क्रिया कृदन्त । गच्छति गच्छन्ति-वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । कम्मभाव कर्मभाव-द्वितीया एकवचन । ण न हि-अव्यय । ते-प्र० बहु० । जीवेण जीवेन-तृतीया एक० । परिणमिदा परिणमिताः-प्रथमा बहुवचन कृदत क्रिया । **निरुक्ति**—क्रियते यत्तत्कर्म । **समास**—कर्मत्वस्य प्रायोग्याः कर्मत्वप्रायोग्या, विग्रह—कर्मण. भाव· कर्मत्वं, कर्मण· भाव· कर्मभाव· त कर्मभाव ॥१६९॥

करने वाला नही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) समान क्षेत्रमें अवगाही जीवके विभाव परिणामको निमित्तमात्र पाकर कार्माणवर्गणायें स्वयं ही कर्मरूप परिणम जाते है । (२) वे कार्माणवर्गणायें अपनी परिणतिसे ही कर्मरूप परिणमती हैं वहाँ उसरूप जीव रंच भी परिणममान नही है । (३) जीव कार्माण पिण्डोको कर्मरूप नही परिणमाता और न कार्माणपिण्डोके परिणमनमे साथ जुटता है । (४) आत्मा पुद्गलपिण्डोंके कर्मपनेका कर्ता नही है । (५) प्रत्येक पदार्थोंका परिणमन अपने अपने प्रदेशोमे अपनी अपनी परिणतिसे होता है ।

सिद्धान्त—(१) कार्माण परद्रव्यकी कर्मत्व परिणतिका कर्ता आत्मा नहीं है ।

दृष्टि—१- परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, प्रतिषेधक शुद्धनय (२९, ४९अ) ।

प्रयोग—कर्म आदि समस्त परद्रव्यसे निराले अपने आपके आत्मामे ज्ञानवृत्तिका ही सहज कर्तृत्व निरखना ॥१६९॥

अब आत्मा कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीरका भी कर्ता नही यह निश्चित करते हैं—**[कर्मत्वगताः]** कर्मरूप परिणत **[ते ते]** वे वे **[पुद्गलकायाः]** पुद्गल पिंड **[देहान्तरसंक्रमं प्राप्य]** देहान्तररूप परिवर्तनको प्राप्त करके **[पुनः अपि]** पुनः पुनः **[जीवस्य]** जीव के **[देहाः]** शरीर **[संजायन्ते]** बनते है ।

तात्पर्य—शरीरोका कर्ता भी पुद्गल ही है, जीव नही ।

टीकार्थ—जिस जीवके परिणामको निमित्तमात्र करके जो जो ये पुद्गल पिंड स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते है, वे वे पुद्गलपिण्ड जीवके अनादिसंततिसे प्रवर्तमान देहान्तररूप परिवर्तनका आश्रय लेकर स्वयमेव शरीर बनते है । इससे निश्चित होता है कि कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीरका कर्ता आत्मा नही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मा पुद्गलपिण्डोंका कर्ता

अथात्मनः कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्तृत्वाभावमवधारयति—

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ १७० ॥

वे वे कर्मविपरिणत, पुद्गलपिण्ड देहान्यसंक्रम पा ।
बार बार परिवर्तित, जीवोंके देह बनते हैं ॥१७०॥

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकायाः पुनरपि जीवस्य । संजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ॥ १७० ॥

ये ये नामामी यस्य जीवस्य परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य पुद्गलकायाः स्वयमेव कर्मत्वेन परिणमन्ति, अथ ते ते तस्य जीवस्यानादिसंतानप्रवृत्तिशरीरान्तरसंक्रान्तिमाश्रित्य स्वयमेव च शरीराणि जायन्ते । अतोऽवधार्यते न कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ १७० ॥

नामसंज्ञ—त त कम्मत्तगद पोग्गलकाय पुणो वि जीव देह देहंतरसंकम । **धातुसंज्ञ**—सं जा प्रादुर्भावे, प अप्प अर्पणे । **प्रातिपदिक**—तत् तत् कर्मत्वगत पुद्गलकाय पुनर् अपि जीव देह देहान्तरसंक्रम । **मूलधातु**—स जनी प्रादुर्भावे, प्र आप्लृ व्याप्तौ । **उभयपदविवरण**—ते ते कम्मत्तगदा कर्मत्वगताः पोग्गलकाया पुद्गलकायाः देहा देहः—प्रथमा बहुवचन । पुणो पुन. वि अपि—अव्यय । जीवस्स जीवस्य—षष्ठी एकवचन । सजायते सजायन्ते—वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । पप्पा प्राप्य—सम्बधार्थप्रक्रिया कृदन्त । देहंतरसकम देहान्तरसक्रम—द्वितीया एकवचन । **निरुक्ति**—सं क्रमण संक्रम. क्रमु पादविक्षेपे । **समास**—देहान्तरस्य सक्रमः देहान्तरसक्रम तं देहान्तरसक्रमं ॥१७०॥

नही है । अब इस गाथामे बताया गया है कि आत्मा कर्मरूपपरिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर का भी कर्ता नही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जीवके परिणामको निमित्तमात्र करके पुद्गलकाय स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमते है । (२) अब वे पुद्गलकाय उस जीवके शरीरान्तरके संक्रमणका आश्रय करके स्वयं ही शरीर हो जाते हैं, शरीरके बननेमें निमित्तरूप हो जाते हैं । (३) शरीररूप जो पुद्गलपिण्ड है, चूंकि वे ही शरीररूप होते हैं, अतः शरीरका कर्ता पुद्गलपिण्ड ही है । (४) आत्मा पुद्गल कर्मके उदयसे होने वाले पुद्गलद्रव्यात्मक शरीरका कर्ता नही है । (५) आत्मा अपने ही परिणमनका कर्ता है, अन्यका नहीं ।

सिद्धान्त—(१) पुद्गलपिण्ड ही शरीरका कर्ता है । (२) आत्मा परद्रव्यात्मक शरीरका कर्ता नही है ।

दृष्टि—१– उपादानदृष्टि (४६ब) । २– प्रतिषेधक शुद्धनय (४६अ) ।

प्रयोग—शरीरका कर्ता पुद्गलपिण्डको ही निश्चित कर शरीरसे अत्यन्त विविक्त

अथात्मनः शरीरत्वाभावमवधारयति—

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥१७१॥

औदारिक वैक्रियक, आहारक तैजस कार्माण तथा ।
ये सब शरीर पांचों है पुद्गलद्रव्यरूपी जड़ ॥१७१॥

औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तैजसः । आहारक कार्मण पुद्गलद्रव्यात्मका सर्वे ॥ १७१ ॥

यतो ह्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि सर्वाण्यपि पुद्गलद्रव्यात्मकानि । ततोऽवधार्यते न शरीरं पुरुषोऽस्ति ॥ १७१ ॥

नामसंज्ञ—ओरालिअ य देह देह वेगुव्विअ य तेजइअ आहारय कम्मइअ पुग्गलदव्वप्पग सव्व । **धातुसंज्ञ**—आ हर हरणे । **प्रातिपदिक**—औदारिक च देह देह वैक्रियक च तैजस आहारक कार्मण पुद्गलद्रव्यात्मक सर्व । **मूलधातु**—आ हृञ् हरणे । **उभयपदविवरण**—ओरालिओ औदारिक देहो देह. वेगुव्विओ वैक्रियकः तेजइओ तैजस आहारय आहारक कम्मइओ कार्मण –प्रथमा एकवचन । पुग्गलदव्वप्पगा पुद्गलद्रव्यात्मका सव्वे सर्वे–प्रथमा बहुवचन । **निरुक्ति**— उदारे भवं औदारिक, विविधकरणं विक्रिया विक्रिया प्रयोजन यस्य तत् वैक्रियक आह्रियते निर्वर्त्यते यत्तत् आहारक, तेजसि भव तैजस, कर्मणामिदं कार्मणम् । **समास**—पुद्गलद्रव्यं आत्मक येषा ते पुद्गलद्रव्यात्मका ॥१७१॥

ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वमे रमकर सतुष्ट रहना ॥१७०॥

अब आत्माके शरीरपनेका अभाव निश्चित करते है—[**औदारिकः देहः च**] औदारिक शरीर और [**वैक्रियिकः देहः**] वैक्रियिक शरीर, [**तैजसः**] तैजस शरीर [**आहारकः**] आहारक शरीर [**च**] और [**कार्मणः**] कार्माण शरीर [**सर्वे**] सब [**पुद्गलद्रव्यात्मकाः**] पुद्गलद्रव्यात्मक है ।

तात्पर्य—औदारिकादि सभी शरीर पुद्गलद्रव्यात्मक है जीवरूप नही ।

टीकार्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण सभी शरीर पुद्गलद्रव्यात्मक है । इससे निश्चित होता है कि आत्मा शरीररूप नही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि आत्मा शरीरका कर्ता भी नही है । अब इस गाथामे बताया गया है कि आत्माके तो ऊपर ही नही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शरीर पाँच प्रकारके है—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण । (२) पाँचो ही शरीर पुद्गलद्रव्यात्मक है, अतः शरीर पृथक् रहा, आत्मा पृथक् रहा । (३) औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर व आहारकशरीर आहारवर्गणा नामक पुद्गलस्कन्धोंसे बनता है । (४) तैजस शरीर तैजस वर्गणा नामक पुद्गलस्कन्धोसे बनता है । (५)

अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्यावेदयति—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१७२॥

अरस अरूप अगंधी अव्यक्त अशब्द चेतनागुणमय ।
चिह्नाग्रहण अरु स्वयं असंस्थान जीवको जानो ॥१७२॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्त चेतनागुणमशब्दम् । जानीह्यलिङ्गग्रहण जीवमनिर्दिष्टसस्थानम् ॥ १७२ ॥

आत्मनो हि रसरूपगन्धगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्दपर्यायाभावस्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिङ्गग्राह्यत्वात्सर्वसस्थानाभावस्वभावत्वाच्चपुद्गलद्रव्यविभागसाधनमरसत्वमरूपत्वमगन्धत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिङ्गग्राह्यत्वमसस्थानत्वं चास्ति । सकलपुद्गलापुद्गलाजीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति । तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्यमा-

---

नामसंज्ञ—अरस अरूव अगध अव्वत्त चेदणागुण असद्द अलिगग्गहण जीव अणिद्दिट्ठसठाण । **धातुसंज्ञ**— जाण अवबोधने, लिग आलिंगने चित्रीकरणे । **प्रातिपदिक**—अरस अरूप अगन्ध अव्यक्त चेतनागुण

कार्माणशरीर कार्माणवर्गणात्मक पुद्गलस्कन्धोंसे बनता है । (६) आत्मा अमूर्त चैतन्यस्वरूप है । (७) आत्मा शरीर नही है, आत्माके शरीरपना नही है । (८) आत्माका सत्त्व शरीरसे अत्यन्त भिन्न है, अतः निश्चयतः आत्माके शरीरकर्तृत्वकी चर्चा बेतुकी है ।

सिद्धान्त—१– शरीरको देखकर उसे जीव कहना उपचार है । २– जीवको शरीर का कर्ता कहना लोकोपचार है ।

दृष्टि—१– एकजातिपर्याये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (१२१) । २– परकर्तृत्व उपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६ब) ।

प्रयोग—पवित्र शुद्ध आनन्दमय होनेके लिये शरीरसे विविक्त सहजानन्दमय आत्मतत्त्वरूप अपनेको निरखना ॥१७१॥

तब फिर जीवका, शरीरादि सर्वपरद्रव्योंसे विभागका साधनभूत असाधारण स्वलक्षण क्या है ? यह कहते हैं—[**जीवम्**] जीवको [**अरसम्**] रसरहित, [**अरूपम्**] रूपरहित, [**अगंधम्**] गन्धरहित, [**अव्यक्तम्**] अव्यक्त, [**चेतनागुणम्**] चेतनागुणमय, [**अशब्दम्**] शब्दरहित, [**अलिंगग्रहणम्**] लिग द्वारा ग्रहण न होने योग्य, और [**अनिर्दिष्टसंस्थानम्**] जिसका कोई संस्थान नही कहा गया ऐसा [**जानीहि**] जानो ।

तात्पर्य—जीव स्पर्शरसगंधवर्णरहित अमूर्त चैतन्यस्वभावमय है ।

टीकार्थ—आत्मा रस, रूप व गंधगुणके अभावरूप स्वभाव वाला होनेसे, स्पर्शगुणरूप

आश्रितत्वेन स्वलक्षणतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति । अलिङ्गग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये । तथाहि—न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः । न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राह्यतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वस्य । न लिंगादिन्द्रियगम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषयत्वस्य । न लिंगादेव परैः ग्रहणं यस्येत्यनुमेयमात्रत्वाभावस्य । न लिंगादेव परेषां ग्रहणं यस्येत्यनुमातृमात्रत्वाभावस्य । न लिंगात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य । न लिंगेनोपयोगाख्यलक्षणेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बनज्ञानाभावस्य । न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरणं यस्येत्यनाहार्यज्ञानत्वस्य । न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं यस्येत्यहार्यज्ञानत्वस्य । न लिंगे उपयोगाख्यलक्षणे ग्रहणं सूर्य इवोपरागो यस्येति शुद्धोपयोगस्वभावस्य । न लिंगादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादानं

अशब्द अलिङ्गग्रहण जीव अनिर्दिष्टसस्थान । मूलधातु—ज्ञा अवबोधने, लिगि चित्रीकरणे, रस आस्वादे, रूप प्रेक्षणे, घ्रा गधोपादाने, वि अजि शब्दार्थ. । उभयपदविवरण—अरस अरूव अरूप अगध अगन्ध

व्यक्तताके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, शब्दपर्यायके अभावरूप स्वभाव वाला होनेसे तथा इन सबके कारण लिंगके द्वारा अग्राह्य होनेसे, और सर्व संस्थानोंके अभावरूप स्वभाव वाला होनेसे, आत्माके, पुद्गलद्रव्यसे विभागका साधनभूत अरसत्व, अरूपत्व, अगधत्व, अव्यक्तत्व, अशब्दत्व, अलिंगग्राह्यत्व, और असंस्थानत्व है । पुद्गल तथा अपुद्गल समस्त अजीव द्रव्योंसे विभागका साधन तो चेतनागुणमयपना है; और वही, मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित होनेसे स्वलक्षणपनेको धारण करता हुआ, आत्माका शेष द्रव्योंसे भेद सिद्ध करता है ।

यहाँ 'अलिंगग्राह्य' ऐसा कहना योग्य होनेपर भी जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह बहुत से अर्थोंकी प्रतिपत्ति करनेके लिये है । वह इस प्रकार है—(१) लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्राहकपनेको प्राप्त हो इस रूपका ग्रहण जिसका नही होता वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार आत्माके अतीन्द्रियज्ञानमयपनेकी जानकारी होती है । (२) लिंगोके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य हो इस रूपका ग्रहण जिसका नही होता वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षका विषय नही है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (३) जैसे धुंवेंसे अग्निका ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार लिंगसे अर्थात् इन्द्रियगम्य चिह्नसे जिसका ग्रहण नही होता वह अलिंगग्रहण है । इस प्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमानका विषय नहीं है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (४) मात्र लिंगसे ही दूसरोंके द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा अनुमेय मात्र नही है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (५) जिसका लिंगसे ही ग्रहण नही होता वह अलिंगग्रहण है;

यस्येति द्रव्यकर्मासंपृक्तत्वस्य । न लिंगेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य । न लिंगात्मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्‌ग्रहणं जीवस्य धारणं यस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य । न लिंगस्य मेहनाकारस्य ग्रहणं यस्येति लौकिकसाधनमात्रत्वाभावस्य । न लिंगेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्धसाधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य । न लिंगानां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुन्नपुंसकद्रव्यभावाभावस्य । न लिंगानां

अव्वत्त अव्यक्त चेदणागुण चेतनागुण असद्द अशब्द अलिंग्गहण अलिङ्गग्रहण जीव अणिद्दिट्ठसंठाण अनिर्दिष्टसंस्थान-द्वितीया एकवचन । जाण जानीहि-आज्ञार्थे मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—

इस प्रकार 'आत्मा अनुमाता मात्र नही है, इस अर्थको जानकारी होती है । जिसका लिंगसे नही किन्तु स्वभावके द्वारा ग्रहण होता है वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (७) लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा जिसका ग्रहण नही है अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंका आलम्बन नही है, वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्माके बाह्य पदार्थोंका आलम्बन वाला ज्ञान नही है', इस अर्थकी जानकारी होती है । (८) लिंगका अर्थात् उपयोग नामक लक्षणका ग्रहण अर्थात् स्वयं कही बाहरसे लाया जाना नही है जिसका सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्माके अनाहार्य ज्ञानपनेकी जानकारी होती है । (९) लिंगका अर्थात् उपयोग नामक लक्षणका ग्रहण अर्थात् परसे हरण नही हो सकता जिसका सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्माका ज्ञान हरण नही किया जा सकता', ऐसे अर्थकी जानकारी होती है । (१०) लिंगमें अर्थात् उपयोग नामक लक्षणमें ग्रहण अर्थात् सूर्य की भांति उपराग नही है जिसके वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (११) लिंगसे अर्थात् उपयोग नामक लक्षणसे ग्रहण अर्थात् पौद्‌गलिक कर्मका ग्रहण जिसके नही है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्मसे असंपृक्त है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (१२) लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयोंका उपभोग नही है जिसके सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा विषयोका उपभोक्ता नही है' इस अर्थको जानकारी होती है । (१३) लिङ्गात्मक इन्द्रियादि लक्षणके द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्वको धारण कर रखना जिसके नही है वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा शुक्र और रजके अनुसार होने वाला नही है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (१४) लिंगका अर्थात् मेहनाकारका ग्रहण जिसके नही है सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है, इस अर्थकी जानकारी होती है । (१५) लिंगके द्वारा अर्थात् अमेहनाकारके द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोकमें व्यापकत्व नही है सो अलिंगग्रहण

धर्मध्वजानां ग्रहणयस्येति बरिहङ्गयतिलिंगाभावस्य । न लिग गुणो ग्रहणमर्थावबोधो यस्येति गुणविशेषानालीदशुद्धद्रव्यत्वस्य । न लिंगं पर्यायो ग्रहणमर्थावबोधविशेषो यस्येति पर्यायविशे·

रस्यते यः स रसः, व्यंजतेस्म असौ व्यक्त, लिङ्गन लिङ्ग । समास– चेतना गुण यस्मिन् स. चे० त०,

है; इस प्रकार 'आत्मा पाखण्डियोंके प्रसिद्ध साधनरूप आकार वाला लोकव्याप्तिपना नही है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (१६) लिगोका, अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदोंका ग्रहण नही है जिसके वह अलिगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा द्रव्यसे तथा भावसे स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नही है, इस अर्थकी जानकारी होती है । (१७) लिंगोका अर्थात् धर्मचिह्नोका ग्रहण जिसके नही है वह अलिगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्माके बहिरग यतिलिगोका अभाव है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (१८) लिग अर्थात् गुणग्रहण अर्थात् अर्थावबोध जिसके नही है सो अलिगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा गुण-विशेषसे आलिगित न होने वाला शुद्ध द्रव्य है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (१९) लिग अर्थात् पर्यायग्रहण अर्थात् अर्थावबोध-विशेष जिसके नही है सो अलिगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा पर्यायविशेषसे आलिगित न होने वाला शुद्ध द्रव्य है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (२०) लिग अर्थात् प्रत्यभिज्ञानका कारणरूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नही है वह अलिगग्रहण है, इस प्रकार आत्माके द्रव्यसे अनालिङ्गित शुद्ध पर्यायपनेकी जानकारी होती है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे आत्माके शरीरत्वका अभाव बताया गया था । तब इस पर यह जिज्ञासा हो सकती है । फिर जीवका असाधारण स्वरूप क्या है जिससे जीवको सर्वपरद्रव्योंसे विविक्त जाना जा सके, इसी जिज्ञासाका समाधान इस गाथामे किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– आत्मा अरस है, क्योंकि आत्मामे रसगुणका अभाव है । २– आत्मा अरूप है, क्योकि आत्मामे रूप गुणका अभाव है । ३–आत्मा अगध है, क्योंकि आत्मा मे गंध गुणका अभाव है । ४– आत्मा अव्यक्त है अर्थात् अस्पर्श है, क्योकि आत्मामे स्पर्श गुण नही है और न पिण्डरूप होकर कठोरादि स्पर्श व्यक्तियां सभव है । ५– आत्मा अशब्द है, क्योंकि आत्मामे शब्दपर्यायकी असभवता है । ६– इन्द्रियो (लिङ्गो) द्वारा ग्राहकरूपमे भी आत्माका ग्रहण न होनेसे आत्माका अतीन्द्रियज्ञानमयपना ज्ञात होता है । ७– इन्द्रियोंके (लिङ्गोंके) द्वारा ग्राह्यरूपमे भी आत्माका ग्रहण न होनेसे आत्माका इन्द्रियप्रत्यक्षका विषय-भूत नही है यह ज्ञात होता है । ८– इन्द्रियगम्य लिङ्गसे (साधनसे) आत्माका ग्रहण न होने से "यह आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमानका विषयभूत नही है" यह ज्ञात होता है । ९–

षानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य । न लिगं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थावबोधसामान्यं यस्येति द्रव्यानालीढ-शुद्धपर्यायत्वस्य ॥१७२॥

अनिर्दिष्टं सस्थान यस्य स अ० त, (अलिङ्गग्रहणकी निरुक्ति आत्मख्याति टीकामे) ॥१७२॥

अलिङ्गसे अर्थात् स्वभावसे आत्माका ग्रहण होनेसे आत्मा प्रत्यज्ञाता होता है" यह ज्ञात होता है । १०– दूसरोके द्वारा लिङ्गसे (साधनसे) ही आत्माका ग्रहण नही है, अतः "आत्मा अनुमेयमात्र हो ऐसा नही है" यह विदित होता है । ११– लिङ्ग (साधन) से ही किसीके ग्रहणमें आत्मा आये ऐसा नही है अतः "आत्मा अनुमाता मात्र ही नही है" यह विदित होता है । १२– उपयोगरूप लिङ्गसे ज्ञेय अर्थका आलम्बनरूप ग्रहण आत्माके नही है, अतः बाह्य अर्थ के आलम्बन वाला ज्ञान होनेके अभावकी जानकारी होती है । १३– उपयोगरूप लिङ्ग कही बोहरसे नही हरा जाता, अतः "आत्माका अनाहार्य ज्ञानपना ज्ञात होता है । १४–उपयोगरूप लिङ्गका दूसरेके द्वारा हरण नही होता अतः आत्माका अहार्य ज्ञानपना ज्ञात होता है । १५– उपयोगरूप लिङ्गमे ग्रहण (सूर्यग्रहणकी तरह) अर्थात् उपराग नही होता, अतः आत्माके शुद्ध उपयोग स्वभावकी जानकारी होती है । १६– उपयोगरूप लिङ्गके द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्मोका ग्रहण नही होता, अतः "आत्मा द्रव्यकर्मसे विविक्त है" यह जाना जाता है । १७– इन्द्रियरूप लिङ्गोके द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयोंका उपभोग नही होता, अतः "आत्मा विषयोका उपभोक्ता नही है" यह ज्ञात होता है । १८– आत्मामे स्त्री पुरुष नपुंसक इन लिङ्गोका ग्रहण नही है, अतः "आत्माके स्त्रीपना पुरुषपना व नपुंसकपना नही है" यह ज्ञात होता है । १९– आत्मामे धर्ममुद्रारूप लिङ्गोंका ग्रहण नही है, अतः आत्माके बाह्य द्रव्य मुनिलिङ्गका अभाव है यह जाना जाता है । २०– लिङ्ग अर्थात् गुणका ग्रहण याने अवबोध आत्माके नही है, अतः आत्मा गुणविशेषसे अनालिङ्गित है" यह ज्ञात होता है । २१– लिङ्ग अर्थात् पर्यायका ग्रहण आत्माके नही है, अतः आत्मा पर्यायविशेषसे अनालिङ्गित है" यह ज्ञात होता है । २२– लिङ्ग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान कारणभूत ग्रहण आत्माके नही है, अतः द्रव्यसे अनालिङ्गि शुद्ध (केवल) पर्यायपनेका ज्ञान होता है । २३– आत्मा स्वतःसिद्ध अनादि अनंत अहेतुक चेतनागुणमय है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा स्वभावसे सत् है । (२) आत्मा परभावसे असत् है ।

दृष्टि—१– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८) । २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय (२९) ।

प्रयोग—आत्मसिद्धिके लिये परसे विविक्त स्वभावमय अपनेको ज्ञानमे लेना ॥१७२॥

अथ कथममूर्तस्यात्मनः स्निग्धरूक्षत्वाभावाद्बन्धो भवतीति पूर्वपक्षयति—

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥१७३॥

रूपादिगुणी मूर्तिक, अन्योन्यस्पर्शोंसे बँध जाते ।
कैसे अमूर्त आत्मा, बांधे पौद्गलिक कर्मोंको ॥१७३॥

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः । तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म ॥ १७३ ॥

मूर्तयोहि तावत्पुद्गलयो रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षस्पर्शविशेषादन्योन्यबन्धोऽवधार्यते एव । आत्मकर्मपुद्गलयोस्तु स कथमवधार्यते । मूर्तस्य कर्मपुद्गलस्यरूपादिगुण-

---

नामसंज्ञ—मुत्त रूवादिगुण फास अण्णमण्ण तव्विवरीद अप्प किध पोग्गल कम्म । **धातुसंज्ञ**—बध बन्धने । **प्रातिपदिक**—मूर्त रूपादिगुण स्पर्श अन्योन्य तद्विपरीत आत्मन् कथ पौद्गल कर्मन् । **मूलधातु**—बन्ध बन्धने । **उभयपदविवरण**—मुत्तो मूर्तः रूवादिगुणो रूपादिगुण तव्विवरीदो तद्विपरीत अप्पा आत्मा—

अब अमूर्त आत्माके, स्निग्धरूक्षत्वका अभाव होनेसे बंध कैसे होता है ? इस प्रकार पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैं—[**रूपादिगुणः**] रूपादिगुणयुक्त [**मूर्तः**] मूर्त पुद्गल [**अन्योन्यैः स्पर्शैः**] परस्पर स्निग्ध रूक्ष स्पर्शोंसे [**बध्यते**] बंधता है; लेकिन [**तद्विपरीतः आत्मा**] उससे विपरीत अमूर्त आत्मा [**पौद्गलिकं कर्म**] पौद्गलिक कर्मको [**कथं**] कैसे [**बध्नाति**] बांधता है ।

तात्पर्य—अमूर्त आत्मा मूर्त पुद्गलकर्मोंको कैसे बांध लेता है ? यह यहाँ प्रश्न हुआ ।

टीकार्थ—मूर्त पुद्गलोंका तो रूपादि गुणयुक्तपना होनेसे यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेषके कारण उनका पारस्परिक बंध अवश्य निश्चित किया जा सकता है, किन्तु आत्मा और कर्मपुद्गलका बंध कैसे समझा जा सकता है ? क्योंकि मूर्त कर्मपुद्गलके रूपादिगुणयुक्तपना होनेसे यथोक्त स्निग्ध-रूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष संभव होनेपर भी अमूर्त आत्माके रूपादिगुणयुक्तताका अभाव होनेसे यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष असंभव होनेसे वहाँ एक अंग की विकलता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें जीवका स्वलक्षण बताया गया था । अब इस गाथामें प्रश्न किया गया है कि स्निग्धपने व रूक्षपनेका अभाव होनेसे अमूर्त आत्माके बन्ध कैसे हो सकता है ?

तथ्यप्रकाश—(१) मूर्त पुद्गल पुद्गलोंमें सो स्निग्धपना रूक्षपनाके कारण परस्पर बन्ध होना असंदिग्ध है । (२) प्रश्न—अमूर्त आत्मामें मूर्तकर्मपुद्गलका बन्ध कैसे हो सकता

युक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषसंभवेऽप्यमूर्तस्यात्मनो रूपादिगुणयुक्तत्वाभावेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभावनया चैकाङ्गविकलत्वात् ॥१७३॥

प्रथमा एकवचन। बज्झदि बध्यते–वर्त० अन्य० एक० भावकर्मप्रक्रिया। फासेहि स्पर्शैः. अण्णमण्णेहि अन्योन्यैः –तृतीया बहु०। बज्झदि बध्नाति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया। किध कथ–अव्यय। पोग्गलं पौद्गल कम्म कर्म–द्वितीया एकवचन। निरुक्ति– स्पर्शन स्पर्शः स्पृश्यते यः सः स्पर्शः, विपर्ययतेस्म यः स विपरीत. वि परि इण् गतौ। समास– तस्माद् विपरीतः तद्विपरीतः ॥१७३॥

है, क्योंकि कर्ममे स्निग्धरूक्षपना रहा आओ, किन्तु आत्मामें तो स्निग्धरूक्षपना असंभव ही है। (३) प्रश्न—दोनो मूर्तोंमें तो बन्ध हो सकता है, किन्तु एक अमूर्त हो व दूसरा मूर्त हो उनका परस्पर बन्ध कैसे हो सकता है ?

सिद्धान्त— १– अमूर्त आत्मामे मूर्त कर्मोंका बध कहना मात्र उपचार कथन है।

दृष्टि— १– एक जात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार (१४२)।

प्रयोग—आत्मा व कर्ममें निमित्तनैमित्तिक बन्ध होनेपर भी आत्मसत्त्वको दृष्टि करके आत्माको समस्त परतत्त्वोसे पृथक् देखना ॥१७३॥

अब यह अमूर्त होनेपर भी आत्माके इस प्रकार बध होता है यह सिद्धान्त निर्धारित करते है—[**रूपादिकैः रहितः**] रूपादिकसे रहित आत्मा [**यथा**] जैसे [**रूपादीनि**] रूपादि को [**द्रव्याणि च गुणान्**] रूपी द्रव्योको और उनके गुणोंको [**पश्यति जानाति**] देखता है और जानता है [**तथा**] उसी प्रकार [**तेन**] रूपीके साथ [**बंधः जानीहि**] बध होता है ऐसा जानो।

तात्पर्य—अरूपी आत्मा जैसे रूपी द्रव्यको जानता है वैसे जीव रूपी पुद्गलकर्मको बांधता है।

टीकार्थ—जिस प्रकारसे रूपादिरहित जीवरूपी द्रव्योको तथा उनके गुणोको देखता है तथा जानता है, उसी प्रकार रूपादिरहित जीव रूपी कर्मपुद्गलोंके साथ बंधता है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अमूर्त मूर्तको कैसे देखता-जानता है ? इस प्रकार यहां भी प्रश्न अनिवार्य है। और ऐसा भी नही है कि अरूपीका रूपीके साथ बंध होनेकी बात अत्यन्त दुर्घट होनेसे उसे दार्ष्टान्तिरूप बनाया है, परन्तु दृष्टान्त द्वारा आबालगोपाल सभीको स्पष्ट समझाया गया है। **स्पष्टीकरण**—जैसे बाल-गोपालका पृथक् रहने वाले मिट्टीके बैलको अथवा सच्चे बैलको देखने और जाननेपर बैलके साथ संबंध नही है तो भी विषयरूपसे रहने वाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उपयोगमे भासित वृषभाकार दर्शन-ज्ञानके साथका संबध बैलके साथके संबंधरूप व्यवहारका साधक अवश्य है; इसी प्रकार आत्माका अरूपी होनेके कारण स्पर्शशून्यपना होनेसे कर्मपुद्गलोंके साथ संबंध नही है तो भी एकावगाहरूपसे रहने वाले कर्म पुद्गल जिनके

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति—

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥१७४॥

रूपादिरहित आत्मा, रूपी मूर्तीक द्रव्य व गुणोंको ।
देखता जानता ज्यों, बन्धनकी विधि भी त्यों जानो ॥१७४॥

रूपादिकै रहित पश्यति जानाति रूपादीनि । द्रव्याणि गुणाश्च यथा तथा बन्धस्तेन जानीहि ॥१७४॥

येन प्रकारेण रूपादिरहितो रूपीणि द्रव्याणि तद्गुणाश्च पश्यति जानीति च, तेनैव प्रकारेण रूपादिरहितो रूपिभि. कर्मपुद्गलै किल बध्यते । अन्यथा कथममूर्तो मूर्तं पश्यति जानाति चेत्यत्रापि पर्यनुयोगस्यानिवार्यत्वात् । न चैतदत्यन्तदुर्घटत्वाद्दार्ष्टान्तिकीकृत, किंतु दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम् । तथाहि—यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थित मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति संबन्ध:, विषयभावावस्थित-बलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसंबधो बलीवर्दसबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नोरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति संबन्ध., एकावगाहभावाव-स्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसबन्धः कर्मपुद्गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्व-स्त्येव ॥१७४॥

नामसंज्ञ—रूवादिअ रहिद ,रूवमादि दव्व गुण य जधा तह बध त । **धातुसंज्ञ**—प इक्ख दर्शने व्यक्तायां वाचि च तृतीयगणी, जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—रूपादिक रहित रूपादि दव्व गुण जधा तह बंध त । **मूलधातु**—दृशिर् दर्शने, ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—रूवादिएहि रूपादिकै.–तृतीया बहु० । रहिदो रहित –प्रथमा एक० । पेच्छदि पश्यति जाणादि जानाति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । रूवमादीणि रूपादीनि–द्वि० बहु० । दव्वाणि द्रव्याणि–द्वि० ब० । गुणे गुणान्–द्वि० ब० । य च जधा यथा तह तथा–अव्यय । बंधो बन्ध –प्र० एक० । तेण तेन–तृतीया एक० । जाणीहि जानीहि–आज्ञार्थे मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—रूप्यते य स रूप ॥१७४॥

निमित्त है ऐसे उपयोगमे भासित रागद्वेषादिभावोके साथका संबध कर्मपुद्गलोके साथके बंध रूप व्यवहारका साधक अवश्य है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे प्रश्न किया गया था कि स्निग्धपना व रूक्षपना होनेसे अमूर्त आत्माके बध कैसे हो सकता है ? अब इस गाथामे उक्त प्रश्नका समाधान दिया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जैसे अरूपी आत्मा रूपी द्रव्यो और गुणोंको जान देख लेता है ऐसे ही अरूपी आत्मा रूपी कर्मपुद्गलोसे बँध जाता है । (२) जैसे वास्तवमें बालक पृथक्

अथ भावबन्धस्वरूपं ज्ञापयति--

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥१७५॥

उपयोगमयी आत्मा-का नाना विषयभावको पाकर ।
मोही रागी द्वेषी, होना ही भावबन्धन है ॥ १७५ ॥

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि । प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः संबन्धः ॥१७५॥

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः । तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः

नामसंज्ञ—उवओगमअ जीव विविध विसय ज हि पुणो त सबध । **धातुसंज्ञ**—मुज्झ मोहे, रज्ज रागे, प दुस वैकृत्ये अप्रीतौ च, प अप्प अर्पणे । **प्रातिपदिक**—उपयोगमय जीव विविध विषय यत् हि

सत्ता वाले खिलौनेके घोडेको देखता हुआ कहता है मेरा घोड़ा, तो बालकका उस घोड़ेसे कुछ सम्बन्ध नही तथापि विषयविषयीभावसे वह सम्बन्ध बना है । (३) ऐसे ही अरूपी आत्माका स्पर्श शून्यपना होनेसे कर्मपुद्गलोके साथ कोई सम्बन्ध नही तथापि कर्मविपाकनिमित्तक उपयोगगत रागद्वेषादि भावका सम्बन्ध कर्मपुद्गलबंधका व्यवहार सिद्ध करता है । (४) तादात्म्य सम्बन्ध न होनेपर भी परमात्मा ग्राह्यग्राहक सम्बन्धसे रूपी पदार्थको जानता है । (५) तादात्म्यसम्बन्ध न होनेपर भी श्रावकका परमात्माराधनामे आराध्यआराधक सम्बन्ध है । (६) तादात्म्यसम्बन्ध न होनेपर भी सोपाधि जीवके साथ कर्म पुद्गलोका एकक्षेत्रावगाह निमित्तनैमित्तिक बन्धनका सम्बन्ध है ।

सिद्धान्त—(१) एकक्षेत्रावगाह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे आगे बढकर जीव कर्मका परस्पर बन्धन होना मानना उपचार है ।

दृष्टि—१- संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (१२५) ।

प्रयोग—आत्मीय शाश्वत सहज आनन्द पानेके लिये अन्यसत्ताक उपाधिसे भिन्न अपनेको अविकार ज्ञानस्वभावमात्र निरखना व अनुभवना ॥१७४॥

अब भावबधके स्वरूपका ज्ञापन करते हैं--[**यः**] जो [**उपयोगमयः जीवः**] उपयोगमय जीव [**विविधान् विषयान्**] विविध विषयोको [**प्राप्य**] प्राप्त करके [**मुह्यति**] मोह करता है, [**रज्यति**] राग करता है, [**वा**] अथवा [**प्रद्वेष्टि**] द्वेष करता है, [**हि पुनः**] निश्चयसे वह जीव [**तैः**] उन मोह-राग-द्वेषके द्वारा [**संबंद्धः**] बँधा हुआ है ।

तात्पर्य-राग द्वेष मोह करता हुआ यह जीव निश्चयतः राग द्वेष मोहसे बँधा हुआ है ।

टीकार्थ—यह आत्मा सब ही सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप होनेसे उप-

परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वैरुपरक्त- स्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद्बन्धो भवति ॥१७५॥

पुनर् तत् सम्बन्ध । **मूलधातु**—मुह वैचित्ये, रज् रागे प्र द्विष् अप्रीतौ । **उभयपदविवरण**—उवओगमओ उपयोगमय. जीवो जीव –प्रथमा एक० । मुज्झदि मुह्यति रज्जेदि रज्यति पदुस्सेदि प्रद्वेष्टि–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । पप्पा प्राप्य–सम्बन्धार्थप्रक्रिया कृदन्त अव्यय । विविधे विविधान् विसये विषयान्–द्वि० बहु० । जो यः सबधो सम्बन्धः–प्रथमा एक० । तेहि तैः –तृतीया बहु० । हि वा–अव्यय । **निरुक्ति**—विशेषेण धान विधा विविधा विधा येषा ते विविधाः तान् डुधाञ् धारणपोषणयो, उपयोगेन निर्वृत्त. उपयोगमयः ॥१७५॥

योगमय है उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होने वाले पदार्थोंको प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है, वह काला, पीला और लाल आश्रय जिनका निमित्त है ऐसे काले- पन, पीलेपन और ललाईके द्वारा उपरक्त स्वभाववाले स्फटिक मणिकी तरह—पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेषके द्वारा उपरक्त आत्मस्वभाववाला होनेसे स्वय एक ही है, तो भी मोह-राग-द्वेषादि भावकी द्वितीयता होनेसे बंधरूप होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें अमूर्त होनेपर भी आत्माका बन्ध किस प्रकार होता है वह सिद्धान्त स्थापित किया था । अब इस गाथामें भावबन्धका स्वरूप बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) यह आत्मा सामान्यविशेषप्रतिभामात्मक होनेसे उपयोगमय है । (२) उपयोगमय होनेसे यह अनादिकर्मबन्धनबद्ध आत्मा नाना ज्ञेय विषयोंको पाकर मोह राग द्वेषसे परिणत हो जाता है । (३) मोह राग द्वेषसे उपरक्त होनेसे स्वयं एक होनेपर भी स्वभावविरुद्ध भावका इस आत्मामे बन्ध होना भावबन्ध है । (४) हरित पीत आदि उपाधि के संयोगसे स्फटिक मणि भी स्वयं एक है तो भी छायाविभावका वहाँ बन्ध है ।

सिद्धान्त—(१) अपने विकारपरिणमनका बन्धन भावबन्ध है ।

दृष्टि—१- अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—भावबन्धकी विपत्तिसे हटनेके लिये अविकार चित्स्वभावमे आपा अनुभवना ॥१७५॥

अब भावबंधकी युक्ति और द्रव्यबंधका स्वरूप बतलाते है—**[जीवः]** जीव **[येन भावेन]** जिस भावसे **[विषये आगतं]** इन्द्रियविषयमे आये हुए पदार्थको **[पश्यति जानाति]** देखता है, जानता है, **[तेन एव]** उसीसे **[रज्यति]** उपरक्त होता है; **[पुनः]** और उसीके निमित्तसे **[कर्म बध्यते]** कर्म बंधता है; **[इति]** ऐसा **[उपदेशः]** उपदेश है ।

अथ भावबन्धयुक्ति द्रव्यबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति—

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥१७६॥

जिस रागादि भावसे, विषयागत वस्तु जानता लखता।
उससे ही रक्त होता, बँध जाता कर्मसे वह फिर ॥१७६॥

भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागत विषये। रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेश. ॥ १७६ ॥

अयमात्मा साकारनिराकारपरिच्छेदात्मकत्वात्परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजात येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव। योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः। अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः ॥१७६॥

नामसंज्ञ—भाव ज जीव आगद विसय त एव पुणो कम्म त्ति उवदेस। **धातुसंज्ञ**—प इक्ख दर्शने, जाण अवबोधने, रज्ज रागे, बध बधने। **प्रातिपदिक**—भाव यत् जीव आगत विषय तत् एव पुनर् कर्मन् इति उपदेश। **मूलधातु**—दृशिर् प्रेक्षणे, ज्ञा अवबोधने, रज् रागे, बन्ध बन्धने। **उभयपदविवरण**—भावेण भावेन जेण येन तेण तेन—तृतीया एकवचन। जीवो जीवः कम्म कर्म उवदेसो उपदेशः—प्रथमा एक०। पेच्छदि पश्यति जाणदि जानाति रज्जदि रज्यति—वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। आगद आगत—द्वि० एक०। विसये विषये—सप्तमी एक०। एव पुणो पुनः त्ति इति—अव्यय। बज्झदि बध्यते—वर्त० अन्य० एक०, भावकर्मप्रक्रिया। **निरुक्ति**— उपदेशन उपदेशः ॥१७६॥

टीकार्थ—यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप होनेसे प्रतिभास्य पदार्थ समूहको जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भावसे देखता है और जानता है, उसीसे उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है वह वास्तवमे स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय भावबंध है। और उसीसे अवश्य पौद्गलिक कर्म बंधता है। इस प्रकार वह द्रव्यबंधका निमित्त भावबंध है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे भावबन्धका स्वरूप बताया गया था। अब इस गाथामें भावबन्धकी युक्ति और द्रव्यबन्धके स्वरूपको बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) यह जीव जिस ही मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भावसे पदार्थोंको देखता जानता है उस ही भावसे उपरक्त (मलिन) हो जाता है। (२) जो भी यह उपराग है उसके ही द्वारा पौद्गलिक कर्म बँध जाता है। (३) यह उपराग ही भावबंध है जो कि पुद्गलकर्मके साथ जीवको बद्ध कर देनेमें कारण है। (४) जैसे पुद्गलका स्निग्ध रूक्षपना बन्धका कारण है ऐसे ही जीवका यह उपराग बन्धका कारण है। (५) पौद्गलिककर्मबन्ध भावबन्धनिमित्तक है।

अथ पुद्गलजीवतदुभयबन्धस्वरूपं ज्ञापयति—

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं ।
अण्णोण्णमवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥१७७॥

स्पर्शसे पुद्गलोंका, आत्माका बन्ध राग आदिकसे ।
पारस्पर अवगाहन, पुद्गलजीवात्मबन्ध कहा ॥१७७॥

स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धो जीवस्य रागादिभिः । अन्योन्यमवगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः ॥ १७७ ॥

यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबन्धः । यस्तु जीवस्यौपाधिकमोहरागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः । यः पुनः जीवकर्म-

---

नामसंज्ञ—फास पुग्गल बंध जीव रागमादि अण्णोण्ण अवगाह पुग्गलजीवप्पग भणिद । **धातुसंज्ञ**—

सिद्धान्त—(१) भावबन्धकी योजना अशुद्धोपयोगसे होती है । (२) नवीन द्रव्यकर्मका बन्ध भावबन्ध निमित्तक है । (३) भावबन्ध द्रव्यप्रत्ययनिमित्तक है ।

दृष्टि—१– उपादानदृष्टि (४९ब) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, निमित्त-त्वनिमित्तदृष्टि निमित्तदृष्टि (५३, ५३स, ५३ब) । ३– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, निमित्तदृष्टि (५३, ५३अ) ।

प्रयोग—भावबन्ध व द्रव्यबंधसे छुटकारा पानेके लिये अविकार चित्स्वभावमें आत्मत्वका अनुभव करना ॥१७६॥

अब पुद्गलबंध, जीवबंध और उन दोनोंके बंधस्वरूपको बतलाते है—**[स्पर्शैः]** स्पर्शोंके द्वारा **[पुद्गलानां बंधः]** पुद्गलोंका बंध, **[रागादिभिः जीवस्य]** रागादिकोंके द्वारा जीवका बंध, और **[अन्योन्यम् अवगाहः]** अन्योन्य अवगाहरूप **[पुद्गलजीवात्मकः भणितः]** पुद्गलजीवात्मक बंध कहा गया है ।

तात्पर्य—कर्मवर्गणाके परस्पर बंधको द्रव्यबंध, उपयोगमें रागादिक आनेको जीवबंध व जीव एवं कर्मपुद्गलके परस्पर अवगाह होनेको उभयबंध कहते हैं ।

टीकार्थ—प्रथम तो यहाँ, कर्मोंका जो स्निग्धतारूक्षतारूप स्पर्शविशेषोंके साथ एकत्वपरिणाम है यह केवल पुद्गलबंध है; और जीवका औपाधिक मोह-राग द्वेषरूप पर्यायोंके साथ जो एकत्व परिणाम है वह केवल जीवबंध है; और जीव तथा कर्मपुद्गलके परस्पर परिणामके निमित्तमात्रपनेसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है वह उभयबंध है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें भावबन्धकी युक्ति एवं द्रव्यबन्धका स्वरूप बताया गया था । अब इस गाथामें द्रव्यबंध, भावबंध व उभयबंधका स्वरूप बताया गया है ।

पुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः ।१७७।

भण कथने, गाह स्थापनाग्रहणप्रवेशेषु । **प्रातिपदिक**—स्पर्श पुद्गल बन्ध जीव रागादि अन्योन्य अवगाह पुद्गलजीवात्मक भणित । **मूलधातु**–भण शब्दार्थ गाहू विलोडने । **उभयपदविवरण**– फासेहिं स्पर्शैः रागमादीहिं रागादिभि –तृतीया बहु० । पोग्गलाण पुद्गलाना–षष्ठी बहु० । बधो बन्धः अवगाहो अवगाहः पुग्गलजीवप्पगो पुद्गलजीवात्मकः–प्रथमा एक० । भणिदो भणितः–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । अण्णोण्ण अन्योन्य क्रियाविशेषण अन्योन्य यथा स्यात्तथा अथवा कर्म द्वि० एक० (अवगाहः) । **निरुक्ति**–बन्धन बन्ध, अवगाहनं अवगाह ।।१७७।।

तथ्यप्रकाश– १– कर्मोंका स्निग्धपने व रूक्षपनेके विशेषोंके द्वारा जो पूर्वबद्ध कार्माण पुद्गलसे नव पुद्गल एकत्वपरिणाम है वह पुद्गलबन्ध है । २– कार्माणवर्गणावोंमें कर्मत्वपरिणमन हो होकर तत्क्षण कार्माण शरीरसे बँध जाना द्रव्यबन्ध है । ३– निरुपराग चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी भावनासे रहित जीवका औपाधिक मोह राग द्वेष पर्यायोके साथ एकत्वपरिणाम हो जाना जीवबन्ध है । ४– विकारभावों द्वारा जीवस्वभाव तिरोहित हो जाना भावबन्ध है । ५– जीवस्वभावपर विकार भावोका लद जाना भावबन्ध है । ६– निर्विकारस्वसवेदनज्ञानरहितपना होनेसे रागद्वेष परिणत जीवका और बंधयोग्य स्निग्धरूक्ष परिणत कर्मपुद्गलका परस्पर परिणमननिमित्तमात्रसे अति विशिष्ट परस्पर अवगाह हो जाना उभयबंध है ।

सिद्धान्त—(१) भावबन्ध केवल जीवबन्ध है । (२) द्रव्यबन्ध केवलपुद्गलबन्ध है । (३) उभयबन्ध जीव व पुद्गलका परस्पर बध है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– अशुद्धनिश्चयनय, निमित्तदृष्टि (४७, ५३अ) । ३– निमित्तदृष्टि (५३अ) ।

प्रयोग—अन्तर्बाह्य उपाधिसे हटनेके लिये निरुपाधि चैतन्यस्भावमे आत्मत्व अनुभवना ।।१७७।।

अब द्रव्यबधकी भावबंधहेतुकताको उज्जीवित करते है—**[सः आत्मा]** वह आत्मा **[सप्रवेशः]** सप्रदेश है; **[तेषु प्रदेशेषु]** उन प्रदेशोमे **[पुद्गलाः कायाः]** पुद्गलसमूह **[प्रविशन्ति]** प्रवेश करते है, **[च]** और **[बध्यन्ते]** बँधते है **[यथायोग्यं तिष्ठति]** यथायोग्य रहते हैं, फिर **[यान्ति]** जाते हैं ।

तात्पर्य—सप्रदेश आत्मामे कर्मस्कंध आते है, बँधते है, ठहरते है, फिर निकलते हैं ।

टीकार्थ—यह आत्मा लोकाकाशके बराबर असंख्यप्रदेश वाला होनेसे सप्रदेश है । सो उसके इन प्रदेशोमें कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाका आलम्बन वाला परिस्पन्द जिस प्रकारसे होता है उस प्रकारसे कर्मपुद्गलके समूह स्वयमेव परिस्पन्द वाले होते हुये प्रवेश

अथ द्रव्यबन्धस्य भावबन्धहेतुकत्वमुज्जीवयति—

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया ।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति य जंति बज्झंति ॥१७८॥

सप्रदेश वह आत्मा, पुद्गल विधि काय उन प्रदेशोंमें ।
प्रविशते ठहरते वे, आते हैं और बंधते वे ॥ १७८ ॥

सप्रदेश स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गला काया. । प्रविशन्ति यथायोग्य तिष्ठन्ति च यान्ति बध्यन्ते ॥१७८॥

अयमात्मा लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशः अथ तेषु तस्य प्रदेशेषु कायवाङ्मनोवर्गणालम्बनः परिस्पन्दो यथा भवति तथा कर्मपुद्गलकायाः स्वयमेव परिस्पन्दवन्तः प्रविशन्त्यपि तिष्ठन्त्यपि गच्छन्त्यपि च । अस्ति चेज्जीवस्य मोहरागद्वेषरूपो भावो बध्यतेऽपि च । ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य भावबन्धो हेतुः ॥१७८॥

नामसंज्ञ—सपदेस त अप्प न पदेस पुग्गल काय जहाजोग्ग य । **धातुसंज्ञ**—प विस प्रवेशने, चिट्ठ गतिनिवृत्तौ तृतीयगणी, जा गतौ, बध बन्धने । **प्रातिपदिक**—सप्रदेश तत् आत्मन् तत् प्रदेश पुद्गल काय यथायोग्य च । **मूलधातु**– प्र विश प्रवेशे, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, या प्रापणे, बन्ध बन्धने । **उभयपदविवरण**—सपदेसो सप्रदेश सो स अप्पा आत्मा–प्रथमा एक० । तेसु तेषु पदेसेसु प्रदेशेषु–सप्तमी बहु० । पुग्गला पुद्गलाः काया कायाः–प्रथमा बहुवचन । पविसति प्रविशन्ति चिट्ठ ति तिष्ठति जति यान्ति–वर्तमान अन्य बहु० क्रिया । बज्झति बध्यन्ते–वर्तमान अन्य० बहु० भावकर्मप्रक्रिया । जहाजोग्ग यथायोग्य–क्रियाविशेषण अव्यय । **निरुक्ति**—प्रकृष्टेत देशन प्रदेश , येन प्रकारेण इति यथा (यत्+थाल् तद्धित), अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा । **समास**– प्रदेशेन सहित सप्रदेश. ॥१७८॥

भी करते है, रहते भी है, और जाते भी है; और यदि जीवके मोह-राग-द्वेषरूप भाव हों तो बंधते भी है । इसलिये निश्चित होता है कि द्रव्यबंधका हेतु भावबंध है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे भावबंध, द्रव्यबंध व उभयबंधका स्वरूप बताया गया था । अब इस गाथामे द्रव्यबन्धकी भावबन्धहेतुकता प्रकट की गई है ।

तथ्यप्रकाश—१– प्रत्येक जीव लोकाकाशप्रदेशप्रमाण गणनामें असंख्यातप्रदेशी है । २– जीवप्रदेशोंमे मन वचन कायकी वर्गणाके अवलम्बन वाला जैसे ही योगपरिस्पन्द होता है वैसे ही पुद्गलकर्मवर्गणायें स्वयं ही प्रवेश करती हैं, बँधती है, ठहरती हैं और जाती भी है । ३– योगके समय यदि मोह राग द्वेषरूप भाव होता है तो पुद्गलकर्मवर्गणायें स्वयं ही बँध जाती हैं । ४– उक्तप्रक्रियामें द्रव्यबंधका निमित्त भावबन्ध सूचित किया गया है । ५– कार्माणवर्गणावोंमें कर्मत्वका प्रवेश होना प्रदेशबंध है । ६– कर्मप्रदेशोमे प्रकृतित्वका बँधना प्रकृतिबन्ध है । ७– कर्मवर्गणावोंका ठहरना स्थितिबन्ध है । ८– फल देकर जाना नियत

अथ द्रव्यबन्धहेतुत्वेन रागपरिणाममात्रस्य भावबन्धस्य निश्चयबन्धत्वं साधयति—

रत्तो बंधदि कम्मं मुचदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥१७९॥

रागी हि कर्म बांधे, व छूटता रागरहित कर्मोंसे ।
संक्षिप्त बन्धविवरण, जीवोंका जान निश्चयसे ॥१७९॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते कर्मभी रागरहितात्मा । एष बन्धसमासो जीवानां जानीहि निश्चयतः ॥१७९॥

यतो रागपरिणत एवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा बध्यते न वैराग्यपरिणतः, अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते वैराग्यपरिणत एव, बध्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसञ्चितेन पुराणेन च न मुच्यते रागपरिणतः, मुच्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा

नामसंज्ञ—रत्त कम्म कम्म रागरहिदप्प एत बधसमास जीव णिच्छयदो । **धातुसंज्ञ**— बंध बन्धने । मुच त्यागे, जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—रक्त कर्मन् कर्मन् रागरहितात्मन् एतत् बन्धसमास जीव निश्चयत. । **मूलधातु**—बन्ध बन्धने, मुच्लृ मोचने, ज्ञा अवबोधने । **उभयपदविवरण**—रत्तो रक्तः रागरहिदप्पा रागरहितात्मा एसो एषः बधसमासो बन्धसमासः–प्रथमा एकवचन । बधदि बध्नाति–वर्तमान अन्य

होना अनुभागबन्ध है ।

सिद्धान्त—१– द्रव्यबन्धका मूल निमित्त भावबन्ध है ।

दृष्टि—१– निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि (५३ब) ।

प्रयोग—द्रव्यबन्धके निमित्तभूत भावबन्धसे छुटकारा पानेके लिये अबन्ध आत्मस्वभावकी अभेद उपासना करना ॥१७८॥

अब रागपरिणाममात्र भावबन्धके द्रव्यबन्धका हेतुपना होनेसे निश्चयबंधपना सिद्ध करते है—[रक्तः] रागी आत्मा [कर्म बध्नाति] कर्म बांधता है, [रागरहितात्मा] रागरहित आत्मा [कर्मभिः मुच्यते] कर्मोंसे मुक्त होता है;— [एषः] यह [जीवानां] जीवोंके [बंधसमासः] बंधका संक्षेप है, ऐसा [निश्चयतः] निश्चयसे [जानीहि] जानो ।

तात्पर्य—रागी जीव कर्मसे बंधता है और रागरहित जीव कर्मोंसे छूटता है ।

टीकार्थ—चूंकि रागपरिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्मसे बंधता है, वैराग्यपरिणत नहीं, रागपरिणत जीव नवीन द्रव्यकर्मसे मुक्त नहीं होता वैराग्यपरिणत ही मुक्त होता है, रागपरिणत जीव संस्पर्श करने वाले नवीन द्रव्यकर्मसे और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्मसे बंधता ही है मुक्त नहीं होता, वैराग्यपरिणत जीव संस्पर्श करने वाले नवीन द्रव्यकर्मसे और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्मसे मुक्त ही होता है, बंधता नहीं है, इस कारण निश्चित होता है कि द्रव्यबंध

चिरसचितेन पुराणेन च वैराग्यपरिणतो न बध्यते । ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वा-द्रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्ध ॥१७६॥

पुरुष एकवचन क्रिया । कम्म कर्म–द्वितीया एक० । मुच्चदि मुच्यते–वर्त० अन्य० एक० भावकर्मप्रक्रिया । कम्मेहिं कर्मभिः–तृतीया बहु० । जीवाण जीवाना–षष्ठी बहु० । जाण जानीहि- आज्ञार्थे मध्यम पुरुष एक-वचन क्रिया । णिच्छयदो निश्चयत –पचम्यर्थे अव्यय । **निरुक्ति**—स असन समास अस गति दीप्त्यादा-नेषु भ्वादि । **समास**—रागेन रहित रागरहित. रागरहितश्चासौ आत्मा चेति रागरहितात्मा, बन्धस्य समास बन्धसमास ॥ १७६ ॥

का साधकतम होनेसे रागपरिणाम ही निश्चयसे बध है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्यबन्धका निमित्त भावबन्धको बताया गया था । अब इस गाथामे बन्ध व मोक्षके पात्र जीवका विश्लेषण किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) रागपरिणत ही आत्मा नवीन द्रव्यकर्मसे बँधता है । (२) वैरा-ग्यपरिणत आत्मा नवीन द्रव्यकर्मसे नही बँधता । (३) वैराग्यपरिणत ही आत्मा बद्ध कर्मोंसे छूटता है । (४) रागपरिणत आत्मा बद्ध कर्मोंसे नही छूटता । (५) द्रव्यबन्धका साधकतम रागपरिणाम ही है । (६) रागपरिणामके होनेको भावबन्ध कहते है । (७) भावबन्ध ही निश्चयसे बन्ध है, क्योंकि भावबन्ध ही द्रव्यबंधका हेतु है । (८) रागपरिणाम कहनेसे यहाँ सभी विकारोंका ग्रहण करना ।

सिद्धान्त—(१) रागरहित शुद्ध भाव होनेपर कर्मबन्ध दूर हो जाता है । (२) रा-गादिपरिणाम ही निश्चयसे बन्ध है ।

दृष्टि—१–शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २–अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—कर्मसे छुटकारा पानेके लिये अविकार ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे वैरा-ग्यपरिणत होना ॥१७६॥

अब परिणामका द्रव्यबंधके साधकतम रागसे विशिष्टत्व भेदसहित प्रगट करते है—**[परिणामात् बंधः]** परिणामसे बंध होता है, **[परिणामः रागद्वेषमोहयुतः]** वह परिणाम राग-द्वेष-मोहसे युक्त है । **[मोहप्रद्वेषौ अशुभौ]** उनमे मोह और द्वेष तो अशुभ है, किन्तु **[रागः]** राग **[शुभः वा अशुभः]** शुभ अथवा अशुभ **[भवति]** होता है ।

तात्पर्य—राग द्वेष मोह भावके निमित्तसे कर्म बँधता है । उनमे मोह द्वेष तो अशुभ ही होते, राग कोई शुभ होता, कोई अशुभ होता ।

टीकार्थ—द्रव्यबंध तो विशिष्ट परिणामसे होता है । परिणामकी विशिष्टता राग-द्वेष-मोहमयताके कारण है । वह शुभत्व और अशुभत्वके कारण द्वैतका अनुसरण करता है अर्थात्

अथ परिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकतमरागविशिष्टत्वं सविशेषं प्रकटयति—

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥१८०॥

बन्ध परिणामसे है, परिणाम भि रागद्वेषमोहसहित।
द्वेष मोह अशुभ हि है, शुभ व अशुभ राग दोविध है ॥१८०॥

परिणामाद्वन्ध परिणामो रागद्वेषमोहयुतः। अशुभौ मोहप्रद्वेषौ शुभो वाशुभो भवति रागः ॥ १८० ॥

द्रव्यबन्धोऽस्ति तावद्विशिष्टपरिणामात्। विशिष्टत्वं तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन। तत्र शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति। तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं, रागमयत्वेन तु शुभत्वं चाशुभत्वं च विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वेन रागस्य द्वैविध्यात् भवति ॥१८०॥

नामसंज्ञ—परिणाम बध परिणाम रागदोसमोहजुद असुह मोहपदोस सुह व असुह राग। **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—परिणाम बन्ध परिणाम रागद्वेषमोहयुत अशुभ मोहप्रद्वेष शुभ वा अशुभ राग। **मूलधातु**—भू सत्तायां। **उभयपदविवरण**—परिणामादो परिणामात्–पचमी एक०। बधो बन्धः परिणामो परिणाम रागदोसमोहजुदो रागद्वेषमोहयुत.–प्रथमा एक०। असुहो मोहोपदोसो–प्र० एक०। अशुभौ मोहप्रद्वेषौ–प्रथमा द्विवचन। सुहो शुभः असुहो अशुभ रागो रागः–प्रथमा एक०। **व–अव्यय।** हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। **निरुक्ति**—यौतिस्म इति युतः यु मिश्रणे। **समास**—रागश्च द्वेषश्च मोहश्चेति रागद्वेषमोहाः तैः युतः रागद्वेषमोहयुतः ॥१८०॥

दो प्रकारका है, उनमेसे मोह-द्वेषमयपनेसे तो अशुभत्व होता है, और रागमयपनेसे शुभत्व तथा अशुभत्व होता है, क्योकि विशुद्धि तथा संक्लेशयुक्त होनेसे राग दो प्रकारका होता है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें भावबन्धको ही निश्चयतः बंध कहा गया था। अब इस गाथामे बताया गया है कि द्रव्यबन्धका हेतुभूत परिणाम शुभ व अशुभ ऐसे दो प्रकार रूप है।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्यबन्धका कारण विशिष्ट परिणाम है, अविशिष्ट परिणाम नही। (२) परिणामकी विशिष्टता रागद्वेषमोहमयपना होनेसे होती है। (३) मोहमय व द्वेषमय परिणाम अशुभ भाव है। (४) रागमय परिणाम शुभभाव भी हो सकता है व अशुभ भाव भी हो सकता है। (५) विशुद्धिका अङ्गभूत रागपरिणाम शुभभाव है। (६) संक्लेशका अङ्गभूत रागपरिणाम अशुभभाव है।

सिद्धान्त—(१) विशुद्धि और संक्लेशका अङ्ग होनेसे रागपरिणाम शुभ व अशुभ दो प्रकारका है। (२) शुभ राग व अशुभराग दोनों ही भावबन्धरूप है।

दृष्टि—१– वैलक्षण्यनय (२०३)। २– सादृश्यनय (२०२)।

अथ विशिष्टपरिणामविशेषमविशिष्टपरिणामं च कारणे कार्यमुपचर्य कार्यत्वेन निर्दिशति—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥

शुभ परिणाम पुण्य है, व अशुभ परिणाम पाप कहलाता ।
परिणाम स्वोपयोगो, दुखोंके नाशका कारण ॥ १८१ ॥

शुभपरिणामः पुण्यमशुभ. पापमिति भणितमन्येषु । परिणामोऽनन्यगतो दु.खक्षयकारण समये ॥ १८१ ॥

द्विविधस्तावत्परिणाम· परद्रव्यप्रवृत्तः स्वद्रव्यप्रवृत्तश्च । तत्र परद्रव्यप्रवृत्तः परोपरक्तत्वाद्विविशिष्टपरिणामः स्वद्रव्यप्रवृत्तस्तु परानुपरक्तत्वादविशिष्टपरिणाम. । तत्रोक्तौ द्वौ विशिष्टपरिटपरिणामस्य विशेषौ, शुभपरिणामोऽशुभपरिणामश्च । तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारण-

नामसंज्ञ—सुहपरिणामो पुण्ण असुहो पाव इत्ति भणिय अण्ण परिणामो परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारण समय । **धातुसंज्ञ**—भण कथने । **प्रातिपदिक**—शुभपरिणाम पुण्य अशुभ पाप इति भणित अन्य परिणाम अनन्यगत दु खक्षयकारण समय । **मूलधातु**—भण शब्दार्थ । **उभयपदविवरण**—सुहपरिणामो शुभपरिणामः पुण्णं पुण्यं असुहो अशुभ. पाव पाप परिणामो परिणामः णण्णगदो अनन्यगत दुक्ख-

प्रयोग—बन्धसे निवृत्त होनेके लिये शुभाशुभभावरहित सहज चैतन्यस्वरूपमे आत्मत्व स्वीकारना व अनुभवना ॥१८०॥

अब विशिष्ट परिणामके भेदको और अवशिष्ट परिणामको, कारणमे कार्यको उपचरित करके कार्यरूपसे बतलाते है—[**अन्येषु**] दूसरोमें अर्थात् परपदार्थका आश्रय कर होने वाला [**शुभ परिणामः**] शुभ परिणाम [**पुण्यम्**] पुण्य है, [**अशुभः**] अशुभ परिणाम [**पापम्**] पाप है, [**अनन्यगतः परिणामः**] तथा अन्यमे न गया हुआ परिणाम [**दुःखक्षयकारणम्**] दु.खक्षयका कारण है [**इति समये भणितं**] ऐसा आगममें कहा गया है ।

तात्पर्य—शुभ परिणाम पुण्य है, अशुभ परिणाम पाप है और शुद्ध परिणाम धर्म है जो कर्मक्षयका कारण है ।

टीकार्थ—मूलमें तो परिणाम दो प्रकारका है—परद्रव्यप्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त । इनमेसे परद्रव्यप्रवृत्तपरिणाम परके निमित्तसे विकारी होनेसे विशिष्ट परिणाम है, और स्वद्रव्य प्रवृत्त परिणाम परके द्वारा उपरक्त न होनेसे अविशिष्ट परिणाम है । उसमे विशिष्ट परिणामके पूर्वोक्त दो भेद हैं—शुभपरिणाम और अशुभपरिणाम । उनमें पुण्यरूप पुद्गलके बंधका कारणपना होनेसे शुभ परिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गलके बंधका कारण होनेसे अशुभ परिणाम पाप है । अविशिष्ट परिणामका तो शुद्धपना होनेसे एकत्व होनेके कारण कोई

त्वात् शुभपरिणामः पुण्यं, पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापम् । अविशिष्टपरिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः । स काले संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव ॥१८१॥

क्खयकारण दु·खक्षयकारण–प्रथमा एकवचन । अण्णेसु अन्येषु–सप्तमी बहु० । समये–सप्तमीएकवचन । निरुक्ति–सम् अयन समयः । समास–शुभश्चासौ परिणामश्चेति शुभपरिणाम, दुःखाना क्षय· दुःखक्षय·, तस्य कारण दुःखक्षयकारण ॥१८१॥

भेद नही है । वह अविशिष्ट परिणाम समयपर संसार दुःखके हेतुभूत कर्मपुद्गलके क्षयका कारण होनेसे संसारदुःखका हेतुभूत कर्मपुद्गलक्षयात्मक मोक्ष ही है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें द्रव्यबन्धके कारणभूत विकारपरिणामको शुभ व अशुभ दो प्रकारका बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि अविशिष्ट परिणाम दुःखरहित होनेका कारण है ।

तथ्यप्रकाश—(१) परिणाम दो प्रकारका होता है—कोई परद्रव्यप्रवृत्त है, कोई स्वद्रव्यप्रवृत्त है । (२) परद्रव्यमें लगा हुआ परिणाम विशिष्ट परिणाम कहलाता है । (३) विशिष्ट परिणामके दो प्रकार हैं—शुभ परिणाम व अशुभपरिणाम । (४) शुभ परिणाम पुण्यभाव है, क्योकि वह पुण्यपुद्गलोके बन्धका कारण है । (५) अशुभ परिणाम पापभाव है, क्योकि वह पापपुद्गलोके बन्धका कारण है । (६) शुभाशुभ भावरहित शुद्ध भावको अविशिष्ट परिणाम कहते है । (७) अविशिष्ट परिणाम एकरूप है, उसके विशेष अर्थात् भेद नही है । (८) अविशिष्ट परिणाम संसारदुःखके कारणभूत कर्मपुद्गलोंके क्षयका कारणभूत है । (९) समस्त कर्मपुद्गलोंके क्षय होनेका नाम मोक्ष है ।

सिद्धान्त—१– शुभपरिणाम पुण्य है व अशुभपरिणाम पाप है ।

दृष्टि—१– एकजातिकारणे अन्यजातिकार्योपचारक व्यवहार (१३७) ।

प्रयोग—बन्धहेतुभूत शुभाशुभ परिणामोसे रहित होनेके लिये अविशिष्ट सहज चैतन्यस्वरूपमें आत्मत्वको अनुभवना ॥१८१॥

अब जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्यसे निवृत्तिकी सिद्धिके लिये स्व-परका विभाग दिखलाते है—[**अथ**] अब जो [**पृथिवीप्रमुखाः**] पृथ्वी आदि, [**जीव निकायाः**] जीवनिकाय [**स्थावराः च त्रसाः**] स्थावर और त्रस [भणिताः] कहे गये हैं, [**ते**] वे [**जीवात् अन्ये**] जीवसे अन्य हैं, [**च**] और [**जीवः अपि**] जीव भी [**तेभ्यः अन्यः**] उनसे अन्य है ।

तात्पर्य—परमार्थतः पृथिवी आदि ६ काय जीवसे अन्य है, जीव उनसे अन्य है ।

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्तिसिद्धये स्वपरविभागं दर्शयति—

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥१८२॥

क्षित्यादि जीवकायें, त्रस थावर रूप जो कहे षड्विध ।
अन्य वे जीवसे हैं, उन सबसे अन्य है आत्मा ॥ १८२ ॥

भणिताः पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसा । अन्ये ते जीवाज्जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य. ।१८२।

य एते पृथिवीप्रभृतयः षड्जीवनिकायास्त्रसस्थावरभेदेनाभ्युपगम्यन्ते ते खल्वचेतनत्वादन्ये जीवात्, जीवोऽपि च चेतनत्वादन्यस्तेभ्यः । अत्र षड्जीवनिकाया आत्मनः परद्रव्यमेक एवात्मा स्वद्रव्यम् ॥१८२॥

नामसंज्ञ—भणिद पुढविप्पमुह जीवणिकाय अध थावर य तस अण्ण त जीव वि य त अण्ण । **धातुसंज्ञ**—भण कथने । **प्रातिपदिक**—भणित पृथिवीप्रमुख जीवनिकाय अथ स्थावर च त्रस अन्य तत् जीव अपि तत् अन्य । **मूलधातु**—भण शब्दार्थः । **उभयपदविवरण**—भणिदा भणिता—प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया । पुढविप्पमुहा पृथिवीप्रमुखा. जीवणिकाया जीवनिकाया थावरा स्थावरा तसा त्रसा अण्णा अन्ये ते—प्रथमा बहुवचन । जीवादो जीवात्—पचमी एक० । जीवो जीव—प्रथमा एक० । वि अपि अध अथ य च—अव्यय । तेहिंदो तेभ्यः—पचमी बहुवचन । अण्णो अन्य—प्र० एक० । **निरुक्ति**— पृथयति इति पृथिवा, स्थानशीला. इति स्थावराः रूढौ, त्रस्यन्ति इति त्रसा. रूढौ । **समास**—पृथिवी प्रमुखा येषा ते पृथिवीप्रमुखाः, जीवाना निकायाः इति जीवनिकाया. ॥१८२॥

टीकार्थ—जो ये पृथ्वी इत्यादि छह जीवनिकाय त्रसस्थावर भेदके साथ माने जाते हैं, वे वास्तवमे अचेतनपना होनेके कारण जीवसे अन्य है, और जीव भी चेतनपना होनेके कारण उनसे अन्य है । यहां षट् जीवनिकाय आत्मासे भिन्न द्रव्य है, आत्मा एक ही स्वद्रव्य है, यह निश्चित हुआ ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणामको दुःखक्षयका कारणरूप व परद्रव्यप्रवृत्तपरिणामको संसारदुःखका कारणभूत बताया गया था । अब इस गाथामे स्वद्रव्यनिवृत्ति व परद्रव्यनिवृत्तिकी सिद्धिके लिये स्व व परका विभाग दिखाया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– जीव तो परमार्थसे अखण्ड चित्स्वरूपमात्र है । २– त्रस स्थावरके भेदरूप पृथ्वी, जल, अग्नि आदि छह जीवनिकाय इनमे अचेतनपना होनेके कारण परमार्थ जीवसे अन्य हैं । ३– जीव भी चेतनपना होनेके कारण उन छह कायोंसे अन्य है । ४– छह जीवनिकाय आत्मासे भिन्न है, परद्रव्य हैं । ५– एक यह स्वकीय आत्मा ही स्वद्रव्य है । ६–त्रस स्थावर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण ये छह काय अचेतन हैं । ७–अखण्ड

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन स्वपरविभागज्ञानाज्ञाने अवधारयति—

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेमं ति मोहादो ॥१८३॥

जो स्वभाव आश्रय कर, नहिं जाने स्वपरद्रव्यको ऐसे ।
वह मोही यह मेरा, ऐसा भ्रम मोहसे करता ॥१८३॥

यो नैव जानात्येवं परमात्मानं स्वभावमासाद्य । कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात् ॥ १८३ ॥

यो हि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयोः स्वपरविभागं पश्यति

नामसंज्ञ—ज ण वि एव परमप्प सहाव अज्झवसाण अम्ह अम्ह इम ति मोह । धातुसंज्ञ—आ सद गमनविशरणयोः, कर करणे । प्रातिपदिक—यत् न एव अपि परमात्मन् स्वभाव अध्यवसान अस्मत् अस्मत् इदम् इति मोह । मूलधातु—आ शद् लृ गतौ, डुकृञ् करणे । उभयपदविवरण—जो यः–प्रथमा एक० । ण न वि अपि एव ति इति–अव्यय । परमप्पाण परमात्मानं सहाव स्वभावं–द्वितीया एक० । आसेज्ज

एक ज्ञायकस्वरूप परमात्मतत्त्वकी भावना न होनेसे कर्मोदयज रागादिविकारको निमित्तमात्र करके कार्माणवर्गणावों नामकर्मत्व बँध गया था ।

सिद्धान्त—१– छह कायोंको जीव कहना उपचार है ।

दृष्टि—१– एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (१०६) ।

प्रयोग—संसारसंकटोंसे शरीरोंसे मुक्ति पानेके अभिलाषियोका भेदविज्ञान करके परद्रव्यसे उपयोगको हटाकर स्वद्रव्यमें उपयुक्त होना चाहिये ॥१८२॥

अब जीवको स्वपरविभागज्ञानको स्वद्रव्यप्रवृत्तिके निमित्तरूपसे व स्वपरविभागके अज्ञानको परद्रव्यप्रवृत्तिके निमित्तरूपसे अवधारित करते हैं—[यः] जो [एवं] इस प्रकार [स्वभावम् आसाद्य] जीव-पुद्गलके स्वभावको निश्चित करके [परम् आत्मानं] परको और स्वको [न एव जानाति] नही जानता, [मोहात्] वह मोहसे '[अहम् इदं] मैं यह हूं, [मम इदं] मेरा यह है,' [इति] इस प्रकार [अध्यवसानं] अध्यवसान [कुरुते] करता है ।

तात्पर्य—स्व परके भेदज्ञानसे रहित जीव मिथ्या भाव कर कष्ट पाते है ।

टीकार्थ—जो आत्मा इस प्रकार जीव और पुद्गलके अपने-अपने निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वरूप स्वभावके द्वारा स्व-परके विभागको नही देखता, वही आत्मा 'मैं यह हूं, मेरा यह है' इस प्रकार मोहसे परद्रव्यको अपने रूपसे मानता है, दूसरा नही । इससे यह निश्चित हुआ कि जीवको परद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्वपरके ज्ञानका अभावमात्र ही है, और सामर्थ्यसे निश्चित हुआ कि स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त उसका अभाव है ।

स एवाहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन परद्रव्यमध्यवस्यति मोहान्नान्यः। अतो जीवस्य परद्रव्य-प्रवृत्तिनिमित्तं स्वपरपरिच्छेदाभावमात्रमेव सामर्थ्यात्स्वद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं तदभावः ॥१८३॥

आसाद्य–सम्बन्धार्थप्रक्रिया कृदन्त। कीरइ कुरुते–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। अज्झवसाण अध्यवसान–द्वितीया एक०। अहं–प्र० एक०। मम–षष्ठी एक०। इमं इद–प्रथमा एक०। मोहादो मोहात्–पचमी एकवचन। **निरुक्ति**– अध्यवसन अध्यवसान अधि अव षोन्तकर्मणि उपसर्गादर्थपरिवर्तन। **समास**—परा मा लक्ष्मी· विद्यते यत्र सः परमः परमश्चासौ आत्मा चेति परमात्मा त परमात्मान ॥१८३॥

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे परद्रव्यनिवृत्तिके लिये व स्वद्रव्यप्रवृत्तिके लिये स्वपरविभाग दिखाया गया था। अब इस गाथामें यह अवधारित कराया गया है कि स्वपर-विभागका ज्ञान स्वद्रव्यप्रवृत्तिका निमित्त है और स्वपरविभागका अज्ञान परद्रव्यप्रवृत्तिका निमित्त है।

तथ्यप्रकाश—(१) अज्ञानी प्राणी मोहसे ही परद्रव्यको आत्मीयरूपसे मानता है। (२) परद्रव्यको यह मैं हू या यह मेरा है इस प्रकारकी आस्था होना आत्मीयरूपसे मानना कहलाता है। (३) परद्रव्यको आत्मीय वही जीव समझता है जो जीव व पुद्गलोका प्रति-नियत चेतन अचेतन स्वभावरूपसे स्व व परका विभाग नही देखता है। (४) स्वपरका भेद-विज्ञान होनेपर परद्रव्यसे निवृत्ति व स्वद्रव्यमे प्रवृत्ति होती है। (५) स्व परका भेदविज्ञान न होनेपर स्वद्रव्यकी बेसुधी व परद्रव्यमें प्रवृत्ति होती है। (६) अहकारममकाररहित अविकार-स्वभाव अन्तस्तत्त्वकी सुध न होनेसे अज्ञ जन्तु रागादिक विकारोको व परद्रव्योको यह मैं हू व ये मेरे है ऐसी प्रतीति करता है।

सिद्धान्त—(१) स्त्री पुत्र पशु मित्र आदिको ये मेरे है यह कथन मात्र उपचार है। (२) धन मकान आदिको ये मेरे है यह कथन भी मात्र उपचार है। (३) आभूषणसज्जित पुत्री पुत्र आदिको ये मेरे हैं यह कथन उपचार है। (४) ग्राम नगर मेरे हैं यह कथन भी उपचार है। (५) रागादिक भावको आत्मा मानना उपचार है। (६) शरीर आदिको आत्मा मानना उपचार है।

दृष्टि—१– असश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (१२४)। २– असंश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (१२६)। ३– संश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (१२७)। ४– असश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (१२८)। ५– उपाधिज उपचरित प्रतिफलन व्यवहार (१०४)। ५– एकजातिद्रव्ये अन्यद्रव्योपचारक व्यवहार।

प्रयोग—स्वद्रव्यप्रवृत्तिको ही शाश्वत शुद्ध आनन्दका उपाय जानकर उसके लिये

अथात्मनः किं कर्मेति निरूपयति—

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्व भावाणं ॥१८४॥

करता स्वभावको यह, आत्मा निजभावका हि कर्ता है ।
किन्तु नहीं कर्ता यह, पुद्गलमय सर्व भावोंका ॥१८६॥

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य । पुद्गलद्रव्यमयाना न तु कर्ता सर्वभावानाम् ।१८४।

आत्मा हि तावत्स्वं भावं करोति तस्य स्वधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्तिसंभवेनावश्यमेव कार्यत्वात् । स तं च स्वतन्त्रः कुर्वाणस्तस्य कर्तावश्यं स्यात्, क्रियमाणश्चात्मना स्वो

नामसंज्ञ—कुव्वत सभाव अत्त हि कत्तार सग भाव पोग्गलदव्वमय ण दु कत्तार सव्वभाव । **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे, हव सत्तायां । **प्रातिपदिक**—कुर्वंत् स्वभाव आत्मन् हि कर्तृ स्वक भाव पुद्गलद्रव्यमय न तु कर्तृ सर्वभाव । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे । **उभयपदविवरण**—कुव्व कुर्वन्-प्रथमा एक० कृदंत ।

प्रतिनियत लक्षणोसे स्वपरभेदविज्ञान करना ॥१८३॥

अब यह निरूपण करते हैं कि आत्माका कर्म क्या है—[**स्वभावं कुर्वन्**] अपने भाव को करता हुआ [**आत्मा**] आत्मा [**हि**] निश्चयसे [**स्वकस्य भावस्य**] अपने भावका [**कर्ता भवति**] कर्ता है; [**तु**] किन्तु [**पुद्गलद्रव्यमयानां सर्वभावानां**] पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावोका [**कर्ता न**] कर्ता नही है ।

तात्पर्य—आत्मा परचतुष्टयसे नही है, अतः आत्मा पुद्गलमय सभी भावोंका कर्ता नही, मात्र अपने भावका कर्ता है ।

टीकार्थ—प्रथम तो आत्मा वास्तवमें अपने भावको करता है, क्योकि वह भाव उसका स्व धर्म है, इसलिये आत्माको उसरूप होनेकी शक्तिका संभव है, अतः वह भाव अवश्यमेव आत्माका कार्य है । और वह आत्मा अपने भावको स्वतंत्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है, और स्वभाव आत्माके द्वारा किया जाता हुआ आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे अवश्य ही आत्माका कर्म है । इस प्रकार स्वपरिणाम आत्माका कर्म है । परन्तु, आत्मा पुद्गलके भावों को नहीं करता, क्योंकि वे परके धर्म हैं, इसलिये आत्माके उसरूप होनेकी शक्तिका असंभव होनेसे वे आत्माका कार्य नही है । इस कारण वह आत्मा उन्हें न करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता, और वे आत्माके द्वारा न किये जाते हुये उसके कर्म नही हैं । इस प्रकार पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें स्वपरविभागके ज्ञान व अज्ञानको स्वपरद्रव्यकी

भावस्तेनाप्यत्वात्तस्य कर्मावश्यं स्यात् । एवमात्मनः स्वपरिणामः कर्म न त्वात्मा पुद्गलस्य भावान् करोति तेषां परधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्त्यसंभवेनाकार्यत्वात् स तानकुर्वाणो न तेषां कर्ता स्यात् अक्रियमाणाश्चात्मना ते न तस्य कर्म स्युः । एवमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म ॥१८४॥

सभाव स्वभाव–द्वि० एक० । आदा आत्मा–प्रथमा एक० । सगस्स स्वकस्य भावस्स भावस्य–षष्ठी एक० । पोग्गलदव्वमयाण पुद्गलद्रव्यमयाना सव्वभावाण सर्वभावाना–षष्ठी बहु० । कत्ता कर्ता–प्रथमा एक० । हि ण न दु तु–अव्यय । **निरुक्ति**—सरति सर्वत्र गच्छति इति सर्व । **समास**—सर्वे च ते भावाश्चेति सर्वभावा. तेषा सर्वभावानाम् ॥१८४॥

प्रवृत्तिका निमित्त बताया गया था । अब इस गाथामे "आत्माका कर्म क्या है" यह बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा अपने भावको ही करता है । (२) अपने स्वके होनेकी ही शक्ति रखनेसे आत्माका अपना भाव ही कार्य है । (३) आत्मा अपने भावको परका कुछ लिये बिना स्वतत्र होकर करता है । (४) आत्माके द्वारा किया जाने वाला निज भाव ही आत्माका कर्म है । (५) आत्मा पुद्गलके भावोको नही कर सकता, क्योकि वे परके धर्म हैं । (६) आत्मामे परके धर्मरूपसे होनेकी शक्ति नही है । (७) जब आत्मा परद्रव्यका कार्य नही कर पाता तब आत्मा परका कर्ता कैसे हो सकता ? (८) जब पुद्गलपरिणमन आत्माके द्वारा क्रियमाण नही है तब पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म कैसे हो सकता है ? (९) परमशुद्धनिश्चयनयसे आत्माका स्वभाव अनादि अनंत अहेतुक है वह क्रियमाण न होनेसे आत्मा अकर्ता है । (१०) शुद्धनिश्चयनयसे आत्मा केवल ज्ञानादि स्वभावका कर्ता है । (११) अशुद्ध निश्चयनयसे जीव रागादिपरिणमनरूप स्व भावका कर्ता है, यह परस्वभाव भावकर्म है । (१२) अशुद्ध दशामे भावकर्म आत्माके द्वारा प्राप्य है व व्याप्य है, अतः भावकर्म जीवका कर्म है । (१३) आत्मा चिद्रूप आत्मासे विलक्षण पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता नही है । (१४) अशुद्ध निश्चयनयसे जीवका रागादि स्वपरिणाम ही कर्म है और इस भावकर्मका कर्ता जीव है ।

सिद्धान्त—(१) जीव अकर्ता है । (२) जीव केवलज्ञानादि स्वभावपरिणमनका कर्ता है । (३) जीव रागादिभावकर्मका कर्ता है । (४) पुद्गलकर्म रागादिभावकर्मका कर्ता है । (५) जीव पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है ।

दृष्टि—१– परमशुद्धनिश्चयनय (४४) । २– शुद्धनिश्चयनय (४६) । ३– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । ४–विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय (४८) । ५–प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

अथ कथमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म स्यादिति संदेहमपनुदति--

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि ।
जीवो पुग्गलमज्झे वट्टण्ण वि सव्वकालेसु ॥ १८५ ॥

पुद्गलके मध्य सदा, रहता भी जीव रंच करता नहिं ।
गहता नहिं नहिं तजता, पुद्गलमय कर्मभावोंको ॥१८५॥

गृह्णाति नैव न मुंचति करोति न हि पौद्गलानि कर्माणि । जीवः पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु ।।१८५।

न खल्वात्मनः पुद्गलपरिणामः कर्म परद्रव्योपादानहानशून्यत्वात्, यो हि यस्य परि-

---

नामसंज्ञ– ण एव ण ण हि पोग्गल कम्म जीव पुग्गलमज्झ वट्ट त वि सव्वकाल । **धातुसंज्ञ** – गिण्ह ग्रहणे, मुच त्यागे, कर करणे, वत्त वर्तने । **प्रातिपदिक**—न एव न न हि पौद्गल कर्मन् जीव पुद्गलमध्य

प्रयोग—प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनसे ही परिणमता है अन्यके परिणमनसे नही परिणमता, इस न्यायसे अपनेको आश्रयभूत विषयभूत निमित्तभूत परपदार्थोंका अकर्ता जानकर परविषयकविकल्पसे निवृत्त होना ।।१८४।।

अब पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म क्यों नही है ? इस संदेहको दूर करते है—[जीवः] जीव [सर्वकालेषु] सदा काल [पुद्गलमध्ये वर्तमानः अपि] पुद्गलके मध्यमें रहता हुआ भी [पुद्गलानि कर्माणि] पौद्गलिक कर्मोंको [हि] वास्तवमे [न एव गृह्णाति] न तो ग्रहण करता है, [न मुंचति] न छोड़ता है, और [न करोति] न करता है ।

तात्पर्य—जीव पुद्गलके बीच रहता हुआ भी निश्चयसे न तो पुद्गलोको ग्रहण करता है और न छोड़ता है ।

टीकार्थ—वास्तवमे पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म नही है, क्योंकि वह परद्रव्यके ग्रहण-त्यागसे रहित है । जो जिसका परिणमन कराने वाला देखा जाता है वह लोहपिण्डका अग्निकी तरह उसके ग्रहण-त्यागसे रहित नही देखा जाता; आत्मा तो तुल्य क्षेत्रमे वर्तता हुआ भी परद्रव्यके ग्रहण त्यागसे रहित ही है । इसलिये वह पुद्गलोको कर्मभावसे परिणमाने वाला नही है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्माका कर्म (कार्य) अपने स्वका भवन (परिणमन) है, किन्तु पुद्गलका परिणमन आत्माका कार्य नही है । अब इस गाथामे "पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म कैसे नहीं है" इस संदेहको दूर किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– आत्मा परद्रव्यको न ग्रहण करता, न त्यागता है, इस कारण पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म नही है । २– आत्मा किसी भी भिन्न सत्ता वाले पदार्थको

णमयिता दृष्टः स न तदुपादानहानशून्यो दृष्टः, यथाग्निरयःपिण्डस्य । आत्मा तु तुल्यक्षेत्रवर्तित्वेऽपि परद्रव्योपादानहानशून्य एव । ततो न स पुद्गलानां कर्मभावेन परिणमयिता स्यात् ॥१८५॥

वर्तमान अपि सर्वकाल । **मूलधातु**—ग्रह ग्रहणे, मुच्लृ मोक्षणे, डुकृञ करणे, वृतु वर्तने । **उभयपदविवरण**—गिण्हदि गृह्णाति मुचदि मुचति करोदि करोति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । ण न हि वि अपि–अव्यय । पोग्गलाणि पौद्गलानि कम्माणि कर्माणि–द्वितीया बहुवचन । जीवो जीवः–प्रथमा एक० । पुग्गलमज्झे पुद्गलमध्ये–सप्तमी एकवचन । वट्ट वर्तमान –प्रथमा एकवचन कृदन्त । सव्वकालेसु सर्वकालेषु–सप्तमी बहुवचन । **निरुक्ति**—कलयति आयु इति काल ॥१८५॥

नही परिणमाता, परपदार्थके परिणमनरूप नही परिणमाता, इस कारण पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म नही है । ३– जो जिसका परिणमाने वाला होता है वह उसके ग्रहण-त्यागसे रहित नही होता, उत्तरपर्यायका ग्रहण व पूर्णपर्यायका त्याग रूप कर्म होता है । ४–कार्माण वर्गणायें तथा शरीरस्कध आत्माके एकक्षेत्रावगाही है तो भी उन परद्रव्योके ग्रहण-त्यागसे रहित हैं । ५– आत्मा पुद्गलोका कर्मभावसे परिणमाने वाला नही है । ६– जैसे सिद्ध भगवान पुद्गल द्रव्योंके बीच रहते हुए भी परद्रव्यके ग्रहण त्याग व करणसे रहित है, इसी प्रकार शुद्धनयसे सभी जीव परद्रव्यके ग्रहण त्याग व करणसे रहित है ।

सिद्धान्त—(१) शक्तिरूपसे सभी जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा हैं । (२) आत्मा अपने ही परिणमनरूपसे हो सकता है, परके परिणमनरूपसे नही । (३) आत्माका गुण, धर्म, परिणमन आत्मामें ही आत्माके द्वारा होता है ।

दृष्टि—१– उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२१) । २– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८, २९) । ३– उपादानदृष्टि (४९ब) ।

प्रयोग—सदाकाल आत्माका सजातीय विजातीय समस्त परद्रव्योमे अत्यन्ताभाव है यह निरखते हुए परद्रव्योंका अकर्तृत्व अवधारित कर समस्त विकल्पोसे निवृत्त होकर अपने में सहज विश्राम करना ॥१८५॥

तब फिर आत्माका किस प्रकार पुद्गल कर्मोके द्वारा ग्रहण और त्याग होता है ? इसका निरूपण करते हैं—[**सः**] वह [**इदानीं**] संसारावस्थामे [**द्रव्यजातस्य**] आत्मद्रव्यसे उत्पन्न हुए [**स्वकपरिणामस्य**] अशुद्ध स्वपरिणामका [**कर्ता सन्**] कर्ता होता हुआ [**कर्मधूलिभिः**] कर्मधूलिसे [**आदीयते**] ग्रहण किया जाता है, और [**कदाचित् विमुच्यते**] कदाचित् छोड़ा जाता है ।

तात्पर्य—आत्माके अशुद्ध परिणामका होना व न होना कर्मके बंध व छुटकारेका

अथात्मनः कुतस्तर्हि पुद्गलकर्मभिरुपादानंहानं चेति निरूपयति—

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥१८६॥

सत्त्वशुद्ध भी आत्मा, सम्प्रति हो स्वपरिणामका कर्ता ।
कर्मधूलिसे होता, बद्ध कभी छूट भी जाता ॥ १८६ ॥

स इदानी कर्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य । आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभिः ॥ १८६ ॥

सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि सांप्रतं संसारावस्थायां निमित्तमात्री कृत परद्रव्यपरिणामस्य स्वपरिणाममात्रस्य द्रव्यत्वभूतत्वात्केवलस्य कलयन् कर्तृत्वं तदेव तस्य स्वपरिणामंनिमित्तमात्रीकृत्योपात्तकर्मपरिणामाभि. पुद्गलधूलीभिर्विशिष्टावगाहरूपेणोपादीयते कदाचिन्मुच्यते च ॥१८६॥

नामसंज्ञ—त इदाणि कत्तार स त सगपरिणाम दव्वजाद कदाई कम्मधूलि । **धातुसंज्ञ**—आ दा दाने, वि मुच त्यागे । **प्रातिपदिक**– तत् इदानी कर्तृ सत् स्वकपरिणाम द्रव्यजात कदाचित् कर्मधूलि । **मूलधातु**—दा दाने मुच्लृ मोक्षणे । **उभयपदविवरण**—स स कत्ता कर्ता स सन्–प्रथमा एकवचन । इदाणि इदानी कदाई कदाचित्–अव्यय । सगपरिणामस्स स्वकपरिणामस्य दव्वजादस्स द्रव्यजातस्य–षष्ठी एक० । आदीयदे आदीयते विमुच्चदे विमुच्यते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन भावकर्मप्रक्रिया । कम्मधूलिहिं कर्मधूलिभि –तृतीया बहुवचन । **निरुक्ति**– धूयते या सा धूलि. धूञ् कम्पने ॥१८६॥

टीकार्थ—वह यह आत्मा परद्रव्यके ग्रहण·त्यागसे रहित होता हुआ भी अभी संसारावस्थामें निमित्तमात्र किया गया है परद्रव्यपरिणाम जिसके द्वारा ऐसे केवल स्वपरिणाममात्र का द्रव्यत्वभूत होनेसे कर्तृत्वका अनुभव करता हुआ, उसके इसी स्वपरिणामको निमित्तमात्र करके कर्मपरिणामको प्राप्त होती हुई पुद्गलरजके द्वारा विशिष्ट अवगाहरूपसे ग्रहण किया जाता है और कदाचित् छोड़ा जाता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे युक्तिपूर्वक आत्माको पुद्गलपरिणामका अकर्ता प्रसिद्ध किया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि फिर पुद्गलकर्मों द्वारा आत्माका ग्रहण व त्याग कैसे हो जाता है अर्थात् बन्ध मोक्ष कैसे हो जाता है ?

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा वस्तुतः परद्रव्यके ग्रहण व त्यागसे परे है अर्थात् बन्ध व मोक्षसे परे है । (२) आत्मा परमशुद्धनिश्चयनयसे अविकार सहजानन्दमय चिद्रूप ओघ कारणसमयसाररूप है । (३) आत्मा अनादिबन्धनोपाधिका निमित्त पाकर स्वभावसे विलक्षण रागादिविकाररूप परिणम जाता है । (४) रागादिविकारका निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणम जाते हैं । (५) रागादि विकार आत्माके अपने ही पर्यायियोग्य उपादानसे प्रकट हुए हैं । (६) आत्मा, अपने ही अशुद्ध उपादान उत्पन्न रागादिविभावके निमि-

अथ किंकृतं पुद्गलकर्मणां वैचित्र्यमिति निरूपयति—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादि भावेहिं ॥ १८७ ॥

परिणमता जब आत्मा, रागद्वेषयुत हो शुभाशुभमें ।
तब ज्ञानावरणादिक भावोंसे कर्मरज बंधता ॥१८७॥

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुत । त प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावै ॥ १८७ ॥

अस्ति खल्वात्मनः शुभाशुभपरिणामकाले स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यकर्मपुद्गलपरिणामः नवघनाम्बुनो भूमिसंयोगपरिणामकाले समुपात्तवैचित्र्यान्यपुद्गलपरिणामवत् । तथाहि—यथा

नामसंज्ञ— जदा अप्प सुह असुह रागदोसजुद त कम्मरय णाणावरणादिभाव । **धातुसंज्ञ—** परि णम प्रह्वत्वे, प विस प्रवेशने । **प्रातिपदिक—** यदा आत्मन् शुभ अशुभ रागद्वेषयुत तत् कर्मरजस् ज्ञानावरणादि

त्तसान्निध्यमे कर्मधूलिसे बँध जाता है । (७) जब कभी आत्मा ओघकारणसमयसारके अनुरूप दृष्टि बनाता है और परिणमन करता है तब कर्मधूलिसे मुक्त होने लगता है और अन्तमे पूर्णतया मुक्त हो जाता है । (८) जीव अशुद्ध परिणामोसे बँधता है और शुद्ध परिणामोसे मुक्त हो जाता है ।

सिद्धान्त—(१) सहजात्मस्वरूपके, आलम्बनरूप शुद्धभावके निमित्तसे कर्म दूर हो जाते है । (२) विकारभावके आश्रयरूप अशुद्ध भावके निमित्तसे जीव कर्मधूलिसे बँध जाता है ।

दृष्टि—१- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४अ) ।

प्रयोग—निज सहज चित्स्वभावके भूलनेके कारण उत्पन्न हुए विकार ही कर्मबन्धके कारण है सो कर्मविपाकसे छूटनेके लिये निज सहजचित्स्वभावमे आत्मत्व अनुभवना ॥१८६॥

अब पुद्गल कर्मोंकी विचित्रता किसके द्वारा की गई है ? इसका निरूपण करते है—

[यदा] जब **[आत्मा]** आत्मा **[रागद्वेषयुतः]** रागद्वेषयुक्त होता हुआ **[शुभे अशुभे]** शुभ और अशुभ भावमें **[परिमणति]** परिणमता है, तब **[कर्मरजः]** कर्मधूलि **[ज्ञानावरणादि भावैः]** ज्ञानावरणादिरूपसे **[तं]** उसमे **[प्रविशति]** प्रवेश करती है ।

तात्पर्य—जीवके शुभ अशुभ विकारका निमित्त पाकर कर्म ज्ञानावरणादिरूपसे प्रवेश करता है ।

टीकार्थ—जैसे नवमेघजलके भूमिसंयोगरूप परिणामके समय अन्य पुद्गलपरिणाम

यदा नवघनाम्बु भूमिसंयोगेन परिणमति तदान्ये पुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैः शाद्वलशिलीन्ध्रशक्रगोपादिभावैः परिणमन्ते, तथा यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृतः शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योगद्वारेण प्रविशन्तः कर्मपुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैर्ज्ञानावरणादिभावैः परिणमन्ते । अतः स्वभावकृतं कर्मणां वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम् ॥१८७॥

भाव । **मूलधातु**–परि णम प्रह्वत्वे, प्र विश प्रवेशने । **उभयपदविवरण**—जदा यदा–अव्यय । अप्पा आत्मा रागदोसजुदो रागद्वेषयुत –प्रथमा एकवचन । सुहम्मि शुभे असुहम्मि अशुभे–सप्तमी एक० । त–द्वि० एक० । परिणमदि परिणमति पविसदि प्रविशति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । कम्मरयं कर्मरज –प्रथमा एक० । णाणावरणादिभावेहिं ज्ञानावरणादिभावं –तृतीया बहुवचन । **निरुक्ति**—रज्यते अनेन इति रज । **समास**–रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ ताभ्या युत. रागद्वेषयुत ॥१८७॥

स्वयमेव वैचित्र्यको प्राप्त होते है, उसी प्रकार आत्माके शुभाशुभ परिणामके समय कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तवमे स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त होते है । इसका स्पष्टीकरण—जैसे जब नया मेघजल भूमिसंयोगरूपसे परिणमता है तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त हरियाली, कुकुरमुत्ता और इन्द्रगोप आदि रूप परिणमित होता है, इसी प्रकार जब यह आत्मा राग द्वेषके वशीभूत होता हुआ शुभाशुभ भावरूप परिणमता है तब अन्य, योगद्वारोंसे प्रविष्ट होते हुये कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमते हैं । इससे यह निर्णीत हुआ कि कर्मोंकी विचित्रता होना स्वभावकृत है, किन्तु आत्मकृत नही ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे आत्माका पुद्गलकर्मसे बन्ध व मोक्ष कैसे होता है इसका संकेत किया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि बद्ध पुद्गल कर्मोंमें पुण्य पाप आदि विविधता किस कारणसे होती है ?

तथ्यप्रकाश—(१) आत्माके शुभपरिणामके समय बद्ध कर्मपुद्गलपरिणाममें विविधता स्वयं ही हो जाती है । (२) जैसे नवीन मेघजलका भूमिसंयोगरूपसे परिणमनेपर अन्य पुद्गल स्वयं ही हरी घास आदि व लाल पीले विविध कीट कायरूपसे परिणम जाते हैं । (३) वैसे ही आत्मा जब रागद्वेषवश शुभ अशुभभावसे परिणमता है तब योगद्वारसे प्रवेश करने वाले कर्मपुद्गल स्वयं ही ज्ञानावरणादि व पुण्यपापादि नानारूपोंसे परिणम जाते हैं । (४) निश्चयतः ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्पत्ति उन्ही पुद्गलोके द्वारा होती है और मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति व पुण्यपापकी विचित्रता भी उन्ही पुद्गलोके द्वारा होती है । (५) आत्माके द्वारा पुद्गलका कोई भी परिणमन नही होता । (६) कर्मबन्धके लिये जीवविकार निमित्तमात्र है । (७) जीवविकारके लिये कर्मविपाक निमित्तमात्र है । (८) धर्मानुरागरूप विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर शुभ प्रकृतियोंमें अमृत समान प्रकृष्ट अनुभाग होता है । (९) मोहा-

अथैक एव आत्मा बन्ध इति विभावयति—

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥१८८॥

सप्रदेश वह आत्मा, कषाययुत मोह राग द्वेषोंसे ।
कर्मरज लिप्त होता, इसको ही बन्ध बतलाया ॥१८८॥

सप्रदेश स आत्मा कषायितो मोहरागद्वेषैः । कर्मरजोभिः श्लिष्टो बन्ध इति प्ररूपितः समये ॥ १८८ ॥

यथात्र सप्रदेशत्वे सति लोध्रादिभिः कषायितत्वात् मञ्जिष्ठरङ्गादिभिरुपश्लिष्टमेकं रक्तं

नामसंज्ञ—सपदेस त अप्प कसायिद मोहरागदोस कम्मरज सिलिट्ठ बध त्ति परूविद समय । **धातुसंज्ञ**—कस तन् करणे, सिलीस आलिंगने । **प्रातिपदिक**—सप्रदेश तत् आत्मन् कषायित मोहरागद्वेष कर्मरजस्

दितीव्रसंक्लेशभावका निमित्त पाकर अशुभप्रकृतियोंमे हालाहल समान तीव्र अनुभाग बँधता है । (१०) जीवकी जघन्यविशुद्धिका निमित्त पाकर शुभप्रकृतियोमे गुड समान जघन्य अनुभाग बँधता है । (११) जीवके जघन्यसंक्लेशका निमित्त पाकर अशुभप्रकृतियोंमे निम्बसमान जघन्य अनुभाग होता है । (१२) मध्यमविशुद्धिका निमित्त पाकर शुभ कर्मप्रकृतियोमें खंड शक्कर समान मध्यम अनुभाग होता है । (१३) मध्यमसंक्लेशभावका निमित्त पाकर अशुभप्रकृतियों में काञ्जीर विष समान मध्यम अनुभाग बँधता है । (१४) ये विविध कर्मपुद्गल हेतुभूत हैं और कर्मप्रकृतिरहित सहजानन्दस्वभाव परमात्मद्रव्यसे भिन्न है। (१५) निश्चयतः कर्मपुद्गलों को समस्त विचित्रतायें पुद्गलकृत है जीवकृत नहीं है ।

सिद्धान्त—१– पुण्य, पाप, तीव्रानुभाग, मन्दानुभाग आदि सभी प्रकारके कर्म कर्मत्वदृष्टिसे सदृश है । २– प्रकृति, अनुभाग आदिकी विचित्रतासे पुण्य पाप आदि कर्मोंमें परस्पर विलक्षणता, विचित्रता व विविधता है ।

दृष्टि—१– सादृश्यनय (२०२) । २– वैलक्षण्यनय (२०३) ।

प्रयोग—बन्धनमुक्त होनेके लिये पुण्य पापकर्म व उसके निमित्तभूत शुभ अशुभ भाव समस्त परभावोंसे उपेक्षा कर निज सहज चित्स्वभावकी उपासना करना ॥१८७॥

अब अकेला ही आत्मा बंध है यह प्रकट करते हैं—[**सप्रदेशः**] प्रदेशयुक्त [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**मोहरागद्वेषैः**] मोह-राग-द्वेषके द्वारा [**कषायितः**] कषायित होता हुआ [**कर्मरजोभिः श्लिष्टः**] कर्मरजसे लिप्त होता है [**बंधः इति समये प्ररूपितः**] यही अभेदनयसे बंध है ऐसा आगममें कहा गया है ।

तात्पर्य—सोपाधि विकारी जीव स्वयं बन्धरूप हो रहा है ।

दृष्टं वासः, तथात्मापि सप्रदेशत्वे सति काले मोहरागद्वेषैः कषायितत्वात् कर्मरजोभिरुपश्लिष्ट एको बन्धो द्रष्टव्यः शुद्धद्रव्यविषयत्वान्निश्चयस्य ।।१८८।।

श्लिष्ट बन्ध इति प्ररूपित समय । **मूलधातु** – कष तनू करणे, श्लिष् आलिङ्गने । **उभयपदविवरण**—सपदेसो सप्रदेश. सो स. अप्पा आत्मा कसायिदो कषायित.–प्रथमा एक० । मोहरागदोसेहिं मोहरागद्वेषैः –- तृतीया बहु० । कम्मरजेहि कर्मरजोभि –तृ० बहु० । सिलिट्ठो श्लिष्टः–प्र० ए० कृदन्त । बंधो बन्ध. परूविदो प्ररूपित –प्रथमा एक० । समये–सप्तमी एक० । **निरुक्ति**—कषन कषायः कषाय. सजात अस्य स कषायितः । **समास**—मोहश्च रागश्च द्वेषश्च मोहरागद्वेषा' तैः मोहरागद्वेषैः, कर्माणि च तानि रजांसि चेति कर्मरजाति तैः कर्मरजाभि. ।।१८८।।

टीकार्थ—जैसे जगतमें प्रदेशवानपना होनेपर लोध—फिटकरी आदिसे कसैलापन होनेसे मंजीठादिके रंगसे संबद्ध होता हुआ वस्त्र अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है, इसी प्रकार आत्मा भी प्रदेशवान् होनेसे यथाकाल मोह-राग द्वेषके द्वारा कषायित (मलिन—रंगा हुआ) होनेसे कर्मधूलि द्वारा श्लिष्ट होता हुआ अकेला ही बंध है; ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि निश्चय शुद्ध द्रव्यको विषय करता है ।

प्रसंगविवरण – अनन्तरपूर्व गाथामें पुद्गलकर्मोंकी विचित्रताका कारण बताया गया था । अब इस गाथामें निश्चयतः एक इस जीवको बन्ध कहा गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा लोकाकाश प्रदेश प्रमाण असंख्यात प्रदेश वाला होनेसे सप्रदेश है । (२) सप्रदेश यह आत्मा यथासमय मोह रागद्वेषसे कषायित होनेसे कर्मधूलिसे बद्ध होता हुआ यही अभेदनयसे बन्ध कहलाता है । (३) लोध फिटकरी आदि द्रव्योंसे कसैला किया गया वस्त्र भी तो मंजीठ आदि रङ्गोसे रञ्जित होता हुआ अभेदसे रक्त (लाल) ही कहा जाता है । (४) केवल एक द्रव्यको देखकर परप्रसगसे उसपर हुए प्रभावको वह द्रव्य ही वैसा बताना असद्भूत व्यवहार है । (५) असद्भूतव्यवहार अशुद्ध द्रव्यके निरूपणका प्रयोजक है । (६) अशुद्धनिश्चयनयमे भावबन्ध जीव है, क्योकि निश्चयनयका विषय शुद्ध (एक) द्रव्य होता है । (७) शुद्ध अर्थ यहाँ अन्य द्रव्यसे पृथक् एक द्रव्य है ।

सिद्धान्त—(१) निश्चयसे भावबन्ध जीव है । (२) मोहरागद्वेषसे कषायित आत्माके कर्मरजसे हुए बन्धको जीव कहना उपचार है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– एकजातिकार्ये अन्यजातिकारणोपचारक व्यवहार (१३३) ।

प्रयोग—बन्धविपदासे बचनेके लिये अबन्ध अविकार सहज चित्स्वरूपमें आत्मत्व अनुभवना ।।१८८।।

अथ निश्चयव्यवहाराविरोधं दर्शयति—

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो ।
अरहंतेहि जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥१८९॥

यह सब बन्धनिरूपण, प्रभुने यतिको कहा विनिश्चयसे ।
व्यवहारवचन इससे, अन्यान्य प्रकार बतलाया ॥१८९॥

एष बन्धसमासो जीवाना निश्चयेन निर्दिष्ट । अर्हद्भिर्यतीना व्यवहारोऽन्यथा भणित ॥ १८९ ॥

रागपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्यपापद्वैतम् । रागपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनि-

नामसंज्ञ—एत बंधसमास जीव णिच्छय णिद्दिट्ठ अरहंत जदि ववहार अण्णहा भणिद । **धातुसंज्ञ**—भण कथने । **प्रातिपदिक**—एतत् बन्धसमास जीव निश्चय निर्दिष्ट अर्हत् यति ववहार अन्यथा भणित । **मूल-धातु**—भण शब्दार्थ । **उभयपदविवरण**—एसो एष. बधसमासो बन्धसमास –प्रथमा एक० । जीवाण जोवाना जदीण यतीना–षष्ठी बहु० । णिच्छयेण निश्चयेन–तृतीया एक० । णिद्दिट्ठो निर्दिष्ट भणिदो

अब निश्चय और व्यवहारका अविरोध दिखाते है—[एषः] यह (पूर्वोक्त प्रकारसे), [जीवानां] जीवोके [बंधसमासः] बन्धका सक्षेप [अर्हद्भिः] अर्हन्त भगवानने [यतीनां] यतियोसे [निश्चयेन] निश्चयसे [निर्दिष्टः] कहा गया है; [व्यवहारः] और द्रव्यकर्मरूप व्य-वहारबन्ध [अन्यथा] व्यवहारसे [भणितः] कहा गया है ।

तात्पर्य—उपयोगमे रागादिका आना निश्चयसे बन्ध है व जीवके साथ कर्मोंका लिप्त होना व्यवहारसे बन्ध है ।

टोकार्थ—रागपरिणाम ही आत्माका कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है; रागपरिणाम का ही आत्मा कर्ता है, उसीका ग्रहण करने वाला है और उसीका त्याग करने वाला है,—इसी प्रकार यह, शुद्धद्रव्यका निरूपण निश्चयनय है । और जो पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म है, वही पुण्य पापरूप द्वैत है, पुद्गल परिणामका आत्मा कर्ता है, उसका ग्रहण करने वाला और छोडने वाला है, यह अशुद्ध द्रव्यका निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है । ये दोनो नय हैं; क्योकि शुद्धता और अशुद्धता दोनों प्रकारसे द्रव्य जाना जा रहा है । किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम अर्थात् उत्कृष्टसाधक होनेसे ग्रहण किया गया है; (क्योकि) साध्यके ही शुद्धपना होनेसे द्रव्यके शुद्धपनेका प्रकाशक होनेसे निश्चयनय ही साधकतम है, किन्तु अशुद्धत्वका द्योतक व्यवहारनय साधकतम नही ।

रूपणात्मको व्यवहारनयः । उभावप्येतौ स्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात् । किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनयः ॥१८९॥

भणित –प्र० ए० कृदन्त क्रिया । अरहंतेहि अर्हद्भिः–तृतीया बहु० । ववहारो व्यवहारः–प्र० एक० । अण्णहा अन्यथा–अव्यय । भणिदो भणितः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । निरुक्ति—यतते यः स यतिः यती प्रयत्ने भ्वादि । समास– बन्धाना समास. इति बन्धसमासः ॥१८९॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें "एक जीव ही को निश्चयसे बन्ध कहा गया था । अब इस गाथामें तद्विषयक निश्चय व्यवहारका विरोध मिटाया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) निश्चयसे रागपरिणाम ही अशुद्ध आत्माका कर्म (कार्य) है । (२) वह रागपरिणामरूप भावकर्म पुण्यरूप व पापरूप है । (३) रागपरिणामका ही यह अशुद्ध आत्मा कर्ता है । (४) यह अशुद्धात्मा रागपरिणामका ही ग्रहण करने वाला है । (५) यह आत्मा सहजात्मस्वरूपको अपनाता हुआ रागपरिणामका त्याग करने वाला है । (६) पुद्गलके परिणमनको आत्माका कर्म बताना उपचार है । (७) पुद्गलकर्म पुण्यकर्म व पापकर्म यों दो प्रकारका है । (८) पुद्गलपरिणमनका कर्ता, ग्राहक व त्याग करने वाला आत्माको कहना उपचार है । (९) निश्चयनय एक द्रव्यका निरूपक है । (१०) व्यवहारनय परोपाधियुक्तताका निरूपक है । (११) उपचार एकद्रव्यके परिणामको अन्य द्रव्यमें आरोपित करता है । (१२) जीवद्रव्य स्वतन्त्र सत् है अतः शुद्ध है याने समस्त परसे विविक्त है विकारपरिणमनरूप भी यही परिणमता है । (१३) जीवका विकार परिणमन सहजस्वभावसे नहीं होता है. किन्तु पर उपाधिका सान्निध्य निमित्त पाकर ही होता अतः अशुद्ध है याने सोपाधि है । (१४) निश्चयनय केवल जीवद्रव्यको निरखता हुआ तद्विषयक ज्ञान कराता है । (१५) उपचारनामक व्यवहारनय निमित्तनैमित्तिक भावको प्रकट करनेके लिये उसकी सीमासे बढ़कर जीवको पुद्गल द्रव्यका कर्ता, ग्रहणकर्ता व त्यागकर्ता बताता है । (१६) स्वयंको साध्य केवल स्वयं जीवद्रव्य है, अतः उसका ही निरखने वाला निश्चयनय साधकतम है ।

सिद्धान्त—१– संसारी जीव अपने ही अशुद्ध परिणामका करने वाला है । २–जीव पुद्गलादि किसी भी परद्रव्यका करने वाला नहीं हो सकता ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—अपने आत्माको शुद्ध स्थितिमे रखनेके लिये कर्मोपाधिसे विविक्त केवल

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एवेत्यावेदयति—

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेमंति देहदविणेसु ।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥१६०॥

देह धनोंमें मेरा, यह है यों जो ममत्व नहिं तजता ।
सो श्रामण्य छोड़कर, कुमार्गको प्राप्त होता है ॥१६०॥

न त्यजति यस्तु ममतामह ममेदमिति देहद्रविणेषु । स श्रामण्य त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम् ॥ १६० ॥

यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहार-नयोपजनितमोहः सन् अहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन देहद्रविणादौ परद्रव्ये ममत्वं न जहाति

नामसंज्ञ—ण ज दु ममत्ति अम्ह अम्ह इम ति देहदविण त सामण्ण पडिवण्ण उम्मग्ग । **धातुसंज्ञ**—चय त्यागे, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—न यत् तु ममता अस्मद् अस्मद् इदम् इति देहद्रविण तत् श्रामण्य

चित्प्रतिभासमात्र अनुभवना ॥१८६॥

अब अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माका ही लाभ होता है यह कहते हैं— [**यः तु**] जो [**देहद्रविणेषु**] देह-धनादिकमें [**अहं इदं मम इदम्**] 'मैं यह हूं और मेरा यह है' [**इति ममतां**] ऐसी ममताको [**न त्यजति**] नहीं छोड़ता, [**सः**] वह [**श्रामण्यं त्यक्त्वा**] श्रमणपने को छोडकर [**उन्मार्गं प्रतिपन्नः भवति**] उन्मार्गको प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—जो देह धन आदिमें अहंभाव व ममत्व नहीं छोड़ता वह मुनिपदसे च्युत हो जाता है ।

टीकार्थ—जो आत्मा शुद्ध द्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयसे निरपेक्ष रहता हुआ व अशुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप व्यवहार नयसे उत्पन्न हुआ है मोह जिसके ऐसा वर्तता हुआ 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' इस प्रकार आत्मीयतासे देह धनादिक परद्रव्यमें ममत्व नहीं छोड़ता वह आत्मा वास्तवमें शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्यनामक मार्गको दूरसे छोडकर अशुद्धात्मपरि-णतिरूप उन्मार्गको ही प्राप्त होता है । इससे निश्चित होता है कि अशुद्धनयसे अशुद्धात्माका ही लाभ होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बन्धसमास बताकर जीवको अशुद्धता बताई और साथ ही स्वभावदृष्टिसे, स्वसत्तापेक्षासे जीवकी शुद्धताका संकेत किया गया । अब इस गाथामें बताया गया है कि अशुद्ध प्ररूपक नयके अवलम्बनसे अशुद्धात्मत्वका ही लाभ होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) निश्चयनय शुद्ध (केवल एक) द्रव्यका निरूपण करने वाला है । (२) व्यवहारनय अशुद्ध (सम्बद्ध अन्य द्रव्यसहित) द्रव्यका निरूपण करने वाला है ।

स खलु शुद्धात्मपरिणतिरूपं श्रामण्याख्यं मार्गं दूरादपहायाशुद्धात्मपरिणतिरूपमुन्मार्गमेव प्रतिपद्यते । अतोऽवधार्यते अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ॥१६०॥

प्रतिपन्न उन्मार्गं । **मूलधातु**—त्यज त्यागे, भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—ण न दु तु ति इति–अव्यय । चयदि त्यजति होदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जो य. सो सः पडिवण्णो प्रतिपन्नः–प्रथमा एकवचन । ममत्ति ममतां सामण्णं श्रामण्य उम्मग्ग उन्मार्गं–द्वि० एक० । अहं–प्र० एक० । मम–षष्ठी एक० । इमं इदं–प्रथमा एक० । देहदुविणेसु देहद्रविणेषु–सप्तमी बहु० । चत्ता त्यक्त्वा–सम्बन्धार्थ-प्रक्रिया । **निरुक्ति**– श्रमणस्य भाव. श्रामण्य द्रूयते यत्र तत्र इति द्रविण द्रु गतौ भ्वादि । **समास**—देहाश्च द्रविणानि चेति देहद्रविणानि तेषु ॥१६०॥

(३) निश्चयनयकी अपेक्षा न रखकर एकान्ततः व्यवहारनयका आलम्बन करनेसे मोह उत्पन्न होता है । (४) जिसके परद्रव्यमे व्यामोह उत्पन्न हुआ है वह देहमें यह मैं हू ऐसा अनुभव करता है । (५) देह व्यामुग्ध जीव देहसुखसाधनभूत परद्रव्योमे यह मेरा है इस ममत्वको नही छोडता । (६) जो अहंकार, ममकारको नही छोड़ता वह शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्य मार्गको दूरसे ही छोड देता है । (७) जो शुद्धात्मदृष्टिरूप श्रामण्यमार्गसे दूर रहता है वह अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्गमे रमता है । (८) अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक अशुद्धनयसे अशुद्धात्मत्वका ही लाभ होता है ।

सिद्धान्त—(१) अशुद्धनयसे अशुद्धात्माका लाभ होता है ।

दृष्टि—१– एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, स्वजात्यसद्भूत व्यवहार, विजात्यसद्भूत व्यवहार आदि (१०६, ६७, ६८) ।

प्रयोग—पराश्रित सकलबाधावोसे दूर होनेके लिये परद्रव्य व परभावसे दृष्टि हटाना ॥१६०॥

अब शुद्धनयसे शुद्धात्माका ही लाभ होता है यह अवधारित करते हैं—[**अहं परेषां न भवामि**] 'मैं परका नही हूं, [**परे मे न सन्ति**] पर मेरे नही है, [**अहम् एकः ज्ञानम्**] मैं एक ज्ञान हू' [**इति यः ध्याने ध्यायति**] इस प्रकार जो ध्यानमे रहता हुआ ध्यान करता है, [**सः आत्मा**] वह आत्माको [**ध्याता भवति**] ध्याने वाला होता है ।

तात्पर्य—अपनेको ज्ञानमात्र ध्याने वाला आत्मा आत्मध्याता कहलाता है ।

टीकार्थ—जो आत्मा मात्र अपने विषयमे प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप व्यवहारनयके अविरोधसे मध्यस्थ होता हुआ शुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयके द्वारा मोह को दूर किया है जिसने ऐसा होता हुआ, 'मैं परका नहीं हूं, पर मेरे नही हैं' इस प्रकार स्व-परके परस्पर स्वस्वामिसंबंधको छोड़कर, 'शुद्धज्ञान ही एक मैं हूं' इस प्रकार अनात्माको

अथ शुद्धनयात् शुद्धात्मलाभ एवेत्यवधारयति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेको ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१६१॥

मैं परका नहिं हूं पर मेरा नहिं ज्ञानमात्र इक हूं मैं ।
यों निजको जो ध्याता, शुद्ध वही ध्यानमें ध्याता ॥१६१॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेक. ।'इति यो ध्यायति ध्याने स आत्मा भवति ध्याता ।१६१।

यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः शुद्ध-द्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन् नाहं परेषामस्मि न परे मे सन्तीति स्वपरयोः परस्परस्वस्वामिसंबन्धमुद्धूय शुद्धज्ञानमेवैकमहमित्यनात्मानमुत्सृज्यात्मानमेवात्मत्वेनोपादाय

नामसंज्ञ—ण अम्ह पर ण अम्ह पर णाण अम्ह एक्क इदि ज झाण त अप्प झादार । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, अस सत्ताया, ज्झा ध्याने, हव सत्ताया । **प्रातिपदिक**—न अस्मद् पर न अस्मद् पर ज्ञान अस्मद्

छोड़कर, आत्माको ही आत्मरूपसे ग्रहण करके, परद्रव्यसे जुदा हो जानेके कारण आत्मरूप ही एक अग्र मे चिन्तनको रोकता है, वह एकाग्रचिन्तानिरोधक उस एकाग्रचिन्तानिरोधके समय वास्तवमें शुद्धात्मा होता है । इससे निश्चित होता है कि शुद्धनयसे ही शुद्धात्माका लाभ होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अशुद्धनयसे अशुद्धात्मत्वका लाभ होता है । अब इस गाथामें बताया गया है कि शुद्धनयसे शुद्धात्मलाभ ही होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) व्यवहारनय अशुद्ध (सोपाधि) द्रव्यका निरूपण करता है । (२) निश्चयनय शुद्ध (केवल एक) द्रव्यका निरूपक है । (३) ज्ञानी व्यवहारनयको यों निरखकर कि यह अपने विषयमात्रमे प्रवृत्त हो रहा है, व्यवहारनयका विरोध न करके मध्यस्थ रहता है । (४) ज्ञानी व्यवहारनयके अविरोधसे मध्यस्थ होता हुआ निश्चयनयके द्वारा मोहको दूर कर देता है । (५) ज्ञानी निर्मोह होता हुआ स्व व परमे परस्पर स्वस्वामिसम्बन्धको खतम कर देता है । (६) निर्मोह होनेसे ज्ञानीका यह अबाधित निर्णय रहता है कि न मै किसी पर-द्रव्यका हूं और न कोई परद्रव्य मेरा है । (७) ज्ञानी स्वपरमे परस्परस्वस्वामिसम्बन्धको खतम करके अपनेको मैं शुद्ध ज्ञानमात्र हूं ऐसा मानता है, प्रतीत करता है । (८) ज्ञानी अपनेको शुद्ध ज्ञानमात्र मानता हुआ समस्त अनात्मक पदार्थोंको त्याग देता है । (९) ज्ञानी अना-त्मक पदार्थोंको त्यागकर व आत्माको आत्मरूपसे ग्रहण कर परद्रव्योसे जुदा हो जानेके कारण एक स्वात्मामे ही ध्यान रखता है । (१०) जो ज्ञानी ज्ञानद्वारा ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपको शुद्धात्मा

परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येवैकस्मिन्नग्रे चिन्तां निरुणद्धि स खल्वेकाग्रचिन्तानिरोधकस्तस्मिन्नेकाग्रचिन्तानिरोधसमये शुद्धात्मा स्यात् । अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः ॥१६१॥

एक इति यत् ध्यान तत् आत्मन् ध्यातृ । **मूलधातु**–भू सत्तायां, अस् भुवि ध्यै ध्याने । **उभयपदविवरण**—न–अव्यय । अहं णाणं ज्ञान एक्को एकः जो यः सो सः झादा ध्याता–प्रथमा एकवचन । परेरित परेषां–षष्ठी बहु० । मे–षष्ठी एक० । परे–प्र० ब० । झाणे ध्याने–सप्तमी एक० । अप्पाणं आत्मानं–द्वि० एक० । होमि भवामि–वर्त० उत्तम एक० । सति सन्ति–वर्त० अन्य० बहु० क्रिया । झायदि ध्यायति हवदि भवति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । **निरुक्ति**– ध्यायति असौ इति ध्याता, ज्ञप्तिमात्रं इति ज्ञानं ॥ १६१ ॥

को ही जानता है वह उस कालमें शुद्धात्माका उपयोगी है । (११) शुद्धनयसे ही शुद्धात्माका उपयोग बना, अतः शुद्धनयसे ही शुद्धात्मलाभ होता है, यह निश्चित हुआ । (१२) शुद्धात्मलाभके समय ज्ञानी भावकर्म द्रव्यकर्म व नोकर्मसे विविक्त एक ज्ञानमात्र ही अनुभवता है । (१३) शुद्धात्मध्यानमें स्थित हुआ ज्ञानी चिदानन्द एकस्वभाव सहजपरमात्माका ध्याता है । (१४) सहज परमात्माका ध्याता सहजपरमात्माको प्राप्त करता है ।

सिद्धान्त—१– शुद्धनयसे शुद्धात्मलाभ होता है । २– शुद्धस्वरूपकी भावनामे जीव निरुपाधि आत्मस्वरूपका ध्याता है ।

दृष्टि—१– शुद्धनय (४६) । २– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—शुद्धात्मलाभके लिये "मैं दूसरेका नही, दूसरे मेरे नही, मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं" इस प्रकार एकत्वविभक्त आत्मतत्त्वको ध्यानमें लेना ॥१६१॥

अब ध्रुवत्वके कारण शुद्धात्मा ही पाने योग्य है यह उपदेश करते हैं—[अहम्] मैं [एवं] इस प्रकार [आत्मकं] आत्माको [ज्ञानात्मानं] ज्ञानात्मक, [दर्शनभूतम्] दर्शनभूत, [अतीन्द्रियमहार्थं] अतीन्द्रिय महापदार्थ, [ध्रुवम्] ध्रुव, [अचलम्] अचल, [अनालम्बं] निरालम्ब और [शुद्धम्] शुद्ध [मन्ये] मानता हूं ।

तात्पर्य—मैं अपनेको ज्ञानदर्शनमय अतीन्द्रिय ध्रुव अचल निरपेक्ष शुद्ध सहज परमात्मतत्त्व मानता है ।

टीकार्थ—सत् अहेतुक होनेके कारण अनादि-अनन्त और स्वतः सिद्ध होनेसे आत्मा का शुद्धात्मा ही ध्रुव है, उसके दूसरा कुछ भी ध्रुव नही है । और परद्रव्यसे भिन्नत्व और स्वधर्मसे अभिन्नत्व होनेके कारण एकत्व होनेसे आत्मा अशुद्ध है । वह एकत्व आत्माके ज्ञानात्मकत्वके कारण, दर्शनभूतत्वके कारण, अतीन्द्रिय महापदार्थत्वके कारण, अचलताके कारण और निरालम्बत्वके कारण है । उनमेसे ज्ञानको ही अपनेमें धारण करने वाले, स्वयं दर्शनभूत आत्माका अतन्मय परद्रव्यसे भिन्नत्व होनेके कारण और स्वधर्मसे अभिन्नत्व होनेके

अथ ध्रुवत्वात् शुद्ध आत्मैवोपलम्भनीय इत्युपदिशति—

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१९२॥

यों ज्ञानात्मक दर्शन-भूत अतीन्द्रिय महार्थ अविनाशी ।
ध्रुव अचल निरालम्बी, निजको मैं शुद्ध माता हूं ॥१९२॥

एवं ज्ञानात्मान दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम् । ध्रुवमचलमनालम्ब मन्येऽहमात्मक शुद्धम् ॥ १९२ ॥

आत्मनो हि शुद्ध आत्मैव सदहेतुकत्वेनानाद्यनन्तत्वात् स्वतःसिद्धत्वाच्च ध्रुवो न किंचनाप्यन्यत् । शुद्धत्वं चात्मनः परद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चैकत्वात् । तच्च ज्ञानात्मकत्वाद्दर्शनभूतत्वादतीन्द्रियमहार्थत्वादचलत्वादनालम्बत्वाच्च । तत्र ज्ञानमेवात्मनि बिभ्रत. स्वयं दर्शनभूतस्य चातन्मयपरद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा प्रतिनियतस्पर्श-

नामसंज्ञ—एव णाणप्प दसणभूद अदिदियमहत्थ धुव अचल अणालब अम्ह अप्पग सुद्ध । **धातुसंज्ञ**—मन्न अवबोधने । **प्रातिपदिक**—एव ज्ञानात्मन् दर्शनभूत अतीन्द्रियमहार्थ ध्रुव अचल अनालम्ब अस्मद् आत्मक शुद्ध । **मूलधातु**— मन ज्ञाने । **उभयपदविवरण**— एव–अव्यय । णाणप्पाण ज्ञानात्मान दसणभूद दर्शनभूत अदिदियमहत्थ अतीन्द्रियमहार्थं धुव ध्रुवं अचल अणालब अनालम्ब अप्पग आत्मक सुद्धं शुद्ध—

कारण एकत्व है । और, जो प्रतिनियत स्पर्श-रस गंध-वर्णरूप गुण तथा शब्दरूपपर्यायको ग्रहण करने वाली अनेक इन्द्रियोंका उलंघन करके समस्त स्पर्श-रस-गंध-वर्णरूप गुणों और शब्दरूप पर्यायको ग्रहण करने वाले एक सत् महापदार्थका (आत्माका) इन्द्रियात्मक परद्रव्यसे भिन्नत्व होनेके कारण और स्पर्शादिके ग्रहण स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) स्वधर्मसे अभिन्नत्व होनेके कारण एकत्व है । और, क्षण विनाशरूपसे प्रवर्तमान ज्ञेय पर्यायोंको ग्रहण करने और छोड़ने का अभाव होनेसे अचल आत्माका ज्ञेयपर्यायस्वरूप परद्रव्यसे भिन्नत्व होनेके कारण और तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्मसे अभिन्नत्व होनेके कारण एकत्व है । और, नित्यरूपसे प्रवर्तमान ज्ञेयद्रव्योंके आलम्बनका अभाव होनेसे निरालम्ब आत्माका ज्ञेय-परद्रव्योंसे भिन्नत्व होनेके कारण और तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्मसे अभिन्नत्व होनेके कारण एकत्व है । इस प्रकार चिन्मात्र शुद्धनयका उतना ही मात्र निरूपणस्वरूपपना होनेसे यही एक शुद्धात्मा ही ध्रुवत्वके कारण उपलब्ध करने योग्य है । पथिकके शरीरके अगोंके साथ संसर्गमें आने वाली मार्गके वृक्षोंकी अनेक छायाके तुल्य अन्य अध्रुव पदार्थोंसे क्या प्रयोजन है ?

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि शुद्धनयसे शुद्धात्मलाभ होता है । अब इस गाथामे बताया गया है कि ध्रुवपना होनेसे शुद्ध आत्मा ही उपलम्भनीय

रसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽर्थस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ॥१९२॥

द्वितीया एकवचन । अह—प्रथमा एकवचन । मण्णे मन्ये—वर्तमान उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—आलबन आलम्ब. तेन रहितः अनालम्बः तं लवि अवलम्बने । **समास**—ज्ञान आत्मा स्वरूप यस्य स ज्ञानात्मा त ॥१९२॥

(प्राप्तव्य) है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्माका ध्रुव सर्वस्व शुद्ध (केवल) आत्मा ही है, अन्य कुछ नही । (२) आत्मा स्वय सत् अहेतुक होनेसे अनादि अनन्त है और स्वतः सिद्ध है, इसी कारण शाश्वत ध्रुव है । (३) आत्मा समस्त परद्रव्योसे जुदा है और अपने स्व धर्मोमे तन्मय है, यही एकत्व है, यही आत्माकी यहाँ अभिप्रेत शुद्धता है । (४) अपने आपमे ज्ञानमय होनेसे अखण्ड ज्ञानात्मक यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व निजचित्स्वभावमे तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (५) स्वय प्रतिभासमात्र होनेसे दर्शनभूत यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व स्वचित्स्वभावमे तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (६) प्रतिनियत स्पर्शादिको ग्रहण करने वाली मूर्त विनश्वर इन्द्रियोसे परे और सर्वस्पर्शादिका ज्ञाता अमूर्त अविनश्वर यह अतीन्द्रियस्वभाव आत्मा इन्द्रियात्मक परद्रव्योसे जुदा व ज्ञायकस्वरूप स्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (७) क्षणिक परिच्छेद्य पर्यायोंका ग्रहण मोक्षण न होनेसे चञ्चल त्रियोग-व्यापाररहित स्वरूपतः अचल यह आत्मा परिच्छेद्यपर्यायात्मक परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममे तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (८) परिच्छेद्य द्रव्यका आलम्बन न होनेसे अनालम्ब यह स्वाधीन आत्मा परिच्छेद्य परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (९) विकारमयत्रिवर्गसाधनकी स्वाभाविकता न होनेसे मोक्षमहापुरुषार्थका साधक यह आत्मा परवृत्तियोसे जुदा व स्वसहजवृत्तियोमे तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (१०) उक्त प्रकार सुनिश्चित चिन्मात्र यह एक आत्मा ही ध्रुव है और उपलब्धव्य है ।

अथाध्रुवत्वादात्मनोऽन्यन्नोपलभनीयमित्युपदिशति—

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाथ सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१६३॥

देह द्रविण सुख दुख या, शत्रू मित्र परिवार आदि सभी ।
जीवके न ध्रुव ये कुछ, ध्रुव है उपयोगमय आत्मा ॥१६३॥

देहा वा द्रविणानि वा सुखदुःखे वाथ शत्रुमित्रजना । जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ॥

आत्मनो हि परद्रव्याविभागेन परद्रव्योपरज्यमानस्वधर्मविभागेन चाशुद्धत्वनिबन्धनं न

नामसंज्ञ—देह वा दविण वा सुहदुक्ख वा अध सत्तुमित्तजण जीव ण धुव धुवोवओगप्पग अप्प । **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां । **प्रातिपदिक**—देह वा द्रविण वा सुखदुःख वा अथ शत्रुमित्रजन जीव न ध्रुव ध्रुवोपयोगात्मक आत्मन् । **मूलधातु**—अस भुवि । **उभयपदविवरण**—देहा देहाः दविणा द्रविणानि सत्तु-मित्तजणा शत्रुमित्रजनाः धुवा ध्रुवाः–प्रथमा बहु० । सुह दुक्खा–प्रथमा बहु० । सुख दुःखे–प्र० द्वि० । जीवस्स जीवस्य–षष्ठी एकवचन । धुवोवओगप्पगो ध्रुवोपयोगात्मक अप्पा आत्मा–प्रथमा एकवचन । संति

सिद्धान्त—१– अखण्ड सहज चैतन्यस्वभावमय एकत्वगत शुद्ध आत्मा ध्रुव है ।

दृष्टि—१– अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय [४३] ।

प्रयोग—शाश्वत सहज आनन्दमय होनेके लिये अध्रुव पदार्थोंसे व आत्मवृत्तियोंसे हटकर ध्रुव सहज चैतन्यस्वभावकी आराधना करना ॥१६२॥

अब अध्रुवपनाके कारण आत्माके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य नही है यह उपदेश करते है—[**देहाः वा**] शरीर, [**द्रविणानि वा**] धन, [**सुखदुःखे**] सुख दुःख [**अथ वा**] अथवा [**शत्रुमित्रजनाः**] शत्रुमित्रजन ये सब [**जीवस्य**] जीवके [**ध्रुवाः न सन्ति**] ध्रुव नही है; [**ध्रुवः**] ध्रुव तो [**उपयोगात्मकः आत्मा**] उपयोगात्मक आत्मा है ।

तात्पर्य—अपना ध्रुव तो ज्ञानदर्शनमय आत्मतत्त्व है अन्य कुछ नही ।

टीकार्थ—परद्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण और परद्रव्यके द्वारा उपरक्त होने वाले स्वधर्मसे भिन्न होनेके कारण आत्माकी अशुद्धिका कारणभूत ऐसा कुछ भी अन्य कोई भी मुझ आत्माका ध्रुव नही है, क्योंकि वह असत् और हेतुमान् होनेसे आदि-अन्तवाला और परतः सिद्ध है; ध्रुव तो उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है इस कारण मैं उपलभ्यमान अध्रुव शरीरादिको उपलब्ध नही करता, और ध्रुव शुद्धात्माको उपलब्ध करता हूं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे यह बताया गया था कि ध्रुवपना होनेसे अपना शुद्ध आत्मा ही प्राप्त करने योग्य है । अब इस गाथामें बताया गया है कि अध्रुवपना होनेसे

विभचनाप्यन्यदसद्धेतुमत्त्वेनाद्यन्तवत्त्वात्परतः सिद्धत्वाच्च ध्रुवमस्ति । ध्रुव उपयोगात्मा शुद्ध आत्मैव । अतोऽध्रुवं शरीरादिकमुपलभ्यमानमपि नोपलभे शुद्धात्मानमुपलभे ध्रुवम् ॥१६३॥

सन्ति–वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । वा अथ–अव्यय । **निरुक्ति**––सीदयति इति शत्रुः षद्लृ विशरणगत्यवसीदनेषु, मेद्यति स्निह्यति यस्तस्मिन्न मिदास्नेहने भ्वादि ञिमिदा स्नेहने दिवादि । **समास**– सुखं च दुःखं च सुखदुःखे ॥१६३॥

आत्मातिरिक्त अन्य कुछ भी पदार्थ प्राप्त करनेके योग्य नही है ।

तथ्यप्रकाश––(१) परद्रव्यसे मैं अत्यन्त भिन्न हू अतः कोई भी परद्रव्य मुझ आत्मा का ध्रुव नही है, क्योकि समस्त परद्रव्य मुझमे असत् है । (२) पर पौद्गलिक कर्मविपाकका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जीवगत विकारसे मै अत्यंत भिन्न हूं, अतः नैमित्तिक परभाव भी मुझ आत्माका ध्रुव नही है, क्योकि वे सहेतुक होनेसे आद्यन्तवान् है व परतः सिद्ध हैं । (३) उपयोगात्मक शुद्ध (केवल) आत्मा ही मेरा ध्रुव है । (४) अध्रुव शरीरादिक भले ही जब तक बद्ध है रहो, मैं तो उपलभ्यमान उस शरीरादिकको भी नहीं प्राप्त कर शुद्ध ध्रुव आत्माको ही प्राप्त करता हू । (५) देह देहरहित मुझ सहजपरमात्मतत्त्वसे भिन्न है । (६) इन्द्रियभोगोपभोगके साधनभूत धन मुझसे अत्यन्त भिन्न है । (७) अविकार स्वात्मासे आविर्भूत सहजानन्दामृतसे विपरीत सुख दुःखरूप विकारभाव मुझ सहजपरमात्मतत्त्वसे भिन्न है । (८) शत्रु मित्रादि भावरहित चिन्मात्र सहज स्वतत्त्वसे विलक्षण शत्रु मित्रादिजन मुझसे अत्यन्त भिन्न है ।

सिद्धान्त––१– आत्मा समस्त परद्रव्य व परभावोसे भिन्न केवल स्वभावमात्र है ।

दृष्टि––१– परद्रव्यादिग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२६) ।

प्रयोग––समस्त परपदार्थ व परभावोको अध्रुव जानकर ध्रुव चित्स्वभावमात्र स्वात्मामे आत्मत्वकी भावना करना ॥१६३॥

इस प्रकार शुद्धात्माकी उपलब्धिसे क्या होता है अब यह निरूपण करते है––[**यः**] जो [**सागार अनागारः**] श्रावक व मुनि [**एवं ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर [**विशुद्धात्मा**] विशुद्धात्मा होता हुआ [**परमात्मानं**] परम आत्माको [**ध्यायति**] ध्याता है, [**सः**] वह [**मोहदुर्ग्रंथिं**] मोहदुर्ग्रंथिको [**क्षपयति**] नष्ट करता है ।

टीकार्थ––इस यथोक्त विधिके द्वारा शुद्धात्माको ध्रुव जानने वाले आत्माके उसीमें प्रवृत्ति होनेसे शुद्धात्मत्व होता है; इस कारण अनन्तशक्ति वाले चिन्मात्र परम आत्माका एकाग्रसंचेतनलक्षण ध्यान होता है; और इस कारण सविकल्प उपयोग वालेकी या निर्विकल्प

अथैवं शुद्धात्मोपलम्भात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥१६४॥

यों जानि विशुद्धात्मा, जो ध्याता परम आत्मशक्तीको ।
गेही या निर्गेही, मोह ग्रन्थिका क्षपण करता ॥१६४॥

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा । साकारोऽनाकारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् ॥ १६४ ॥

अमुना यथोदितेन विधिना शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात् । ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं स्यात्, ततः साकारोपयुक्तस्यानाकारोपयुक्तस्य वाविशेषेणैकाग्रचेतनप्रसिद्धेरासंसारबद्धदृढतरमोहदुर्ग्रन्थेरुद्ग्रथनं स्यात् । अतः शुद्धात्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिभेदः फलम् ॥१६४॥

नामसंज्ञ—ज एव पर अप्पग विसुद्धप्प सागार अणागार त मोहदुग्गठि । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, ज्झा ध्याने, खव क्षये । **प्रातिपदिक**—यत् एव पर आत्मक विशुद्धात्मन् साकार अनाकार तत् मोहदुर्ग्रन्थि । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, ध्यै चिन्तायां, क्षि क्षये क्षपादेशो विकल्पात् क्षप् क्षये वा । **उभयपदविवरण**—जो यः विसुद्धप्पा विशुद्धात्मा सागारो साकारः अणागारो अनाकारः सो सः–प्रथमा एकवचन । एव–अव्यय । जाणित्ता ज्ञात्वा–सम्बधार्थप्रक्रिया अव्यय । झादि ध्यायति खवेदि क्षपयति–वर्तमान अन्य० एकवचन क्रिया । परं अप्पग आत्मानं–द्वि० ए० । मोहदुग्गठिं मोहदुर्ग्रन्थिं–द्वितीया एकवचन । **निरुक्ति**—अगं ऋच्छति इति अगारः, ग्रथि कौटिल्ये, ग्रन्थ बन्धने चुरादि ग्रन्थयति बध्नाति इति ग्रन्थिः । **समास**—विशुद्धश्चासौ आत्मा चेति विशुद्धात्मा, दुष्टा ग्रन्थिः दुर्ग्रन्थिः मोह एव दुर्ग्रन्थिः मोहदुर्ग्रन्थिः तां मोहदुर्ग्रन्थिं ॥१६४॥

उपयोग वालेकी—दोनोंकी अविशेषरूपसे एकाग्रसचेतनकी प्रसिद्धि होनेसे अनादि ससारसे बधी हुई अतिदृढ मोहदुर्ग्रंथि छूट जाती है ।

इससे (यह कहा गया है कि) मोहग्रथि भेद (दर्शनमोहरूपी गांठका टूटना) शुद्धात्माको उपलब्धिका फल है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि अध्रुवता होनेसे देह धन आदिक पदार्थ उपलब्धव्य नही है । अब इस गाथामे बताया गया है कि अध्रुवको छोड़कर ध्रुव शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे क्या जाता है ?

तथ्यप्रकाश—(१) अध्रुवको छोड़कर ध्रुव शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धि करने वाले आत्माकी शुद्धात्मस्वरूपमे प्रवृत्ति होती है जिससे शुद्धात्मत्व होता है । (२) शुद्धात्मामें उपयोगवृत्ति होनेसे परमात्मत्वका उत्तम ध्यान होता है । (३) सहजपरमात्मत्वके उत्तम ध्यानमें

अथ मोहग्रन्थिभेदात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१९५॥

जो निहतमोहग्रन्थी, क्षत करके रागद्वेष मुनिपनमें ।
हो सुख दुखमें सम वह, अविनाशी सौख्य पाता है ॥१९५॥

यो निहतमोहग्रन्थो रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा श्रामण्ये । भवेत् समसुखदु ख स सौख्यमक्षय लभते ॥ १९५ ॥

मोहग्रन्थिक्षपणाद्धि तन्मूलरागद्वेषक्षपणं ततः समसुखदुःखस्य परममाध्यस्थलक्षणे श्रा-

नामसंज्ञ— ज णिहदमोहगठि रागप्पदोस सामण्ण समसुहदुक्ख त सोक्ख अक्खय । **धातुसंज्ञ**—खव क्षयकरणे, हो सत्तायां, लह लाभे । **प्रातिपदिक**—यत् निहतमोहदुर्ग्रन्थि रागप्रद्वेष श्रामण्य समसुखदु ख तत् सौख्य अक्षय । **मूलधातु**—क्षि क्षये, भू सत्तायां, डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपदविवरण**—जो य णिहद-मोहगठी समसुहदुक्खो समसुखदु ख सो स—प्रथमा एकवचन । रागपदोसे—द्वि० बहु० । रागप्रद्वेषौ—द्वि०

उपयुक्त आत्माके आसंसारबद्ध मोहकी खोटी गांठ छूट जाती है । (४) शुद्धात्मोपलब्धिका यह महान् फल त्वरित प्राप्त होता है कि मोहकी गांठका भेदन हो जाता है अर्थात् आत्मा मोहविकाररहित हो जाता है । (५) सहजपरमात्मस्वसवेदन ज्ञान ही स्वात्मोपलम्भ है । (६) शुद्धात्मरुचिका प्रतिबन्धक दर्शनमोह ही खोटी गाठ है जिसके कारण भव भवमे जन्म मरण का व जीवनमे अनेक कष्टोंको भोगते रहना पडता है ।

सिद्धान्त—(१) आत्माका सर्वस्व ध्रुव शुद्ध सहज परमात्मतत्त्व है ।

दृष्टि—१- उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२१) ।

प्रयोग—समस्त समारसंकटोके मूल मोह दुर्ग्रन्थिसे छुटकारा पानेके लिये सहजसिद्ध अविकार ज्ञायकस्वभावी सहज परमात्मत्वकी अभेद आराधना करना ॥१९४॥

अब मोहग्रंथिके टूटनेसे क्या होता है यह निरूपण करते है—[**निहतमोहग्रंथिः**] नष्ट किया है मोहकी गांठको जिसने ऐसा [यः] जो आत्मा [**रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा**] रागद्वेषको नष्ट करके, [**समसुख दुःख**] सुख-दुःखमे समान होता हुआ [**श्रामण्ये भवेत्**] श्रमणपनेमे परिणमता है, [**सः**] वह [**अक्षयं सौख्यं**] अक्षय सौख्यको [**लभते**] प्राप्त करता है ।

टीकार्थ—मोहग्रंथिका क्षय होनेसे मोहग्रथि जिसका मूल है ऐसे रागद्वेषका क्षय होता है; उससे सुख दुःखमे समान रहने वाले जीवका परम माध्यस्थ्यस्वरूप श्रमणपनेमे परिणमन होता है; और उससे अनाकुलता जिसका लक्षण है ऐसे अक्षय सुखका लाभ प्राप्त होता है ।

इससे यह कहा है कि मोहरूपी ग्रंथिके छेदनेसे अक्षय सौख्यरूप फल होता है ।

मण्ये भवनं ततोऽनाकुलत्वलक्षणाक्षयसौख्यलाभः । अतो मोहग्रन्थिभेदादक्षयसौख्यं फलम् ।१६५।

द्विवचन । खवीय क्षपयित्वा–सम्बन्धार्थप्रक्रिया कृदन्त अव्यय । सामण्णे श्रामण्ये–सप्तमी एक० । होज्ज भवेत्–विधौ अन्य पुरुष एक० क्रिया । सोक्ख सौख्य अक्खयं अक्षय–द्वितीया एक० । लहदि लभते–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । **निरुक्ति**– श्राम्यति इति श्रमण तस्य भाव श्रामण्य श्रमु तपसि खेदे च दिवादि । **समास**– निहता मोहदुर्ग्रन्थिः येन स नि०, रागश्च प्रद्वेषश्च रागप्रद्वेषौ ॥ १६५ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि शुद्धात्मोपलब्धिसे मोहदुर्ग्रन्थिका विनाश होता है । अब इस गाथामे बताया गया है कि मोहग्रन्थिके भेदसे (विनाशसे) आत्मा राग द्वेष भावको नष्ट कर सुख दुःखमे समान होता हुआ अक्षय सुखको प्राप्त करता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शुद्धात्मोपलब्धिके प्रसादसे मोहग्रन्थि नष्ट हो जाती है । (२) मोहग्रन्थिसे रहित अन्तरात्मा निश्चलानुभूतिरूप वीतराग चारित्रके प्रतिबन्धक राग द्वेष नामक चारित्रमोहको नष्ट कर देता है । (३) राग द्वेषके दूर होनेसे सुख दुःख आदि भावोमे समता आ जाती है । (४) सुख दुःखमे समान रहने वाले अन्तरात्माके परममाध्यस्थ्यरूप स्वभाववृत्तिरूप श्रामण्य होता है । (५) जिनके परममाध्यस्थ्यभाव हुआ है उनको निजशुद्धात्मसवेदनसे उत्पन्न परमानंदमे तृप्ति होनेसे अनाकुलतारूप अक्षय सौख्यका लाभ होता है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रागद्वेष दूर होकर सहजात्मविकास होता है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—अविनश्वर सहज आनन्दके लाभके लिये अविकारस्वभावी सहजचित्प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्वमे आत्मत्वका अनुभव करनेका पौरुष करना ॥१६५॥

अब एकाग्रसचेतन जिसका लक्षण है, ऐसा ध्यान आत्मामे अशुद्धता नही लाता, यह निश्चित करते है—[**क्षपितमोहकलुषः**] नष्ट किया है मोहमल जिसने ऐसा [**यः**] जो आत्मा [**विषयविरक्तः**] विषयसे विरक्त होता हुआ [**मनः निरुध्य**] मनका निरोध करके, [**स्वभावे समवस्थितः**] स्वभावमे समवस्थित है, [**सः**] वह [**आत्मानं**] आत्माको [**ध्याता भवति**] ध्याने वाला है ।

तात्पर्य—निर्मोह जीव स्वभावमे स्थित होता हुआ आत्मध्याता होता है ।

टीकार्थ—जिसने मोहमलका क्षय किया है ऐसे आत्माके, मोहमल जिसका मूल है ऐसी परद्रव्यप्रवृत्तिका अभाव होनेसे विषयविरक्तता होती है; उससे, समुद्रके मध्यगत जहाज के पक्षीकी भाँति, अधिकरणभूत द्रव्यान्तरोका अभाव होनेसे जिसे अन्य कोई शरण नही रहा है ऐसे मनका निरोध होता है । और मन जिसका मूल है ऐसी चंचलताका विलय होनेके

अथैकाग्र्यसंचेतनलक्षणं ध्यानमशुद्धत्वमात्मनो नावहतीति निश्चिनोति—

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१९६॥

जो मोहनाशकर्ता, विषयविरक्त मनका निरोधन कर ।
सुस्थित स्वभावमें है, वह आतम तत्त्वका ध्याता ॥१९६॥

य क्षपितमोहकलुषो विषयविरक्तो मनो निरुध्य । समवस्थित स्वभावे स आत्मानं भवति ध्याता ॥१९६॥

आत्मनो हि परिक्षपितमोहकलुषस्य तन्मूलपरद्रव्यप्रवृत्त्यभावाद्विषयविरक्तत्वं स्यात्, ततोऽधिकरणभूतद्रव्यान्तराभावादुदधिमध्यप्रवृत्तैकपोतपतत्रिण इव अनन्यशरणस्य मनसो निरोधः स्यात् । ततस्तन्मूलचञ्चलत्वविलयादनन्तसहजचैतन्यात्मनि स्वभावे समवस्थानं स्यात् ।

नामसंज्ञ—ज खविदमोहकलुस विसयविरत्त मण समवट्ठिद सहाव त अप्प झादार । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां । **प्रातिपदिक**—यत् क्षपितमोहकलुष विषयविरक्त मनस् समवट्ठिद सहाव तत् आत्मन् ध्यातृ । **मूलधातु**—भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—जो यः खविदमोहकलुसो क्षपितमोहकलुष विसयविरत्तो विषयविरक्त सो स—प्रथमा एकवचन । मणो मन अप्पाणं आत्मानं—द्वितीया एकवचन । णिरुंभित्ता निरुध्य-

---

कारण अनन्त-सहज-चैतन्यात्मक स्वभावमे दृढतासे रहना होता है । और वह स्वभावसमवस्थान स्वरूपमे प्रवर्तमान, अनाकुल, एकाग्रसचेतन होनेसे ध्यान कहा जाता है । इससे यह निश्चित हुआ कि ध्यान, स्वभावसमवस्थानरूप होनेके कारण आत्मासे अनन्यपना होनेसे अशुद्धताके लिये नही होता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे "मोहग्रन्थिके भेदसे क्या होता है" यह कहा गया था । अब इस गाथामे यह बताया गया है कि स्वभावमे उपयुक्त भव्यात्मा शुद्धात्माका ध्याता होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) परद्रव्यमें विषयोमे प्रवृत्तिका मूल कारण मोह है । (२) जिसने मोहकालुष्यका क्षय कर दिया है उसकी परद्रव्योंमे प्रवृत्ति नही होती । (३) निर्मोह आत्माके विषयप्रवृत्तिका अभाव हो जानेसे वास्तविक विषयविरक्ति होती है । (४) निर्मोह भव्यात्मा को अविकारस्वात्मसंवेदनसे उत्पन्न सहजानन्दका अनुभव हो चुका है, अतः उसके विषयसुख की आकांक्षा असंभव होनेसे अचलित विषयविरक्ति होती है । (५) विषयविरक्ति एवं सहजात्मभक्ति होनेपर अशरण होकर मन निरुद्ध हो जाता है । (६) मनका निरोध होनेपर योग और उपयोगकी चञ्चलताका विलय हो जाता है । (७) योग और उपयोगकी चञ्चलताका विलय होनेसे अनन्तसहजचैतन्यात्मक स्वभावमें दृढतासे अवस्थान हो जाता है । (८) स्वरूप

तत्तु स्वरूपप्रवृत्तानाकुलैकाग्रसंचेतनत्वात् ध्यानमित्युपगीयते । अतः स्वभावावस्थानरूपत्वेन ध्यानमात्मनोऽनन्यत्वात् नाशुद्धत्वायेति ॥१९६॥

सम्बन्धार्थप्रक्रिया अव्यय कृदन्त । समवट्ठिदो समवस्थित: झादा ध्याता-प्र० एक० कृदन्त सहावे स्वभावे-सप्तमी एक० । हवदि भवति-वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति- मन्यते अनेन इति मनः । **समास**- क्षपितः मोहकलुषः येन स क्षपितमोहकलुष, विषयाद् विरक्तः विषयविरक्त ॥ १९६ ॥

समवस्थान ही अनाकुलशुद्धात्मसचेतन होनेसे परमध्यान कहलाता है । (९) स्वभावसमवस्थान रूप परमध्यान आत्मासे अनन्य है वह आत्माकी अशुद्धताके लिये नहीं है, किन्तु परमशुद्धता के लिये है ।

सिद्धान्त--(१) सहज स्वभावमे उपयोग होनेके पौरुषसे स्वतंत्र सहज विलासका अनुभव होता है ।

दृष्टि--१- पुरुषकारनय, अनीश्वरनय, शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (१८३, १८६, २४ब) ।

प्रयोग - वीतराग सर्वज्ञ सहजानन्दमय होनेके लिये अविकार ज्ञानमात्र सहजात्मस्वरूपका ध्यान करना ॥१९६॥

अब जिनने शुद्धात्माको उपलब्ध किया है ऐसे सर्वज्ञ क्या ध्याते है ? यह प्रश्न आसूत्रित करते है—[**निहितघनघातिकर्मा**] नष्ट किया है घनघातिकर्मको जिसने ऐसा [**प्रत्यक्षं सर्वभावतत्त्वज्ञः**] प्रत्यक्षरूपसे सर्व पदार्थोंके स्वरूपको जानने वाले तथा [**ज्ञेयान्तगतः**] ज्ञेयोके पारको प्राप्त [**असंदेहः श्रमणः**] सदेहरहित श्रमण [**कम् अर्थं**] किस पदार्थको [**ध्यायति**] ध्याते है ?

तात्पर्य--घातियाकर्मरहित सर्वज्ञदेव किस पदार्थको ध्याते है, यहां यह एक प्रश्न हुआ ।

टीकार्थ— मोहका सद्भाव होनेपर तथा ज्ञानशक्तिके प्रतिबंधकका सद्भाव होनेपर तृष्णा सहित होनेके कारण पदार्थ प्रत्यक्ष नही होनेसे और विषयको अवच्छेदपूर्वक जानना नही होनेसे लोक अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थका ध्यान करता हुआ दिखाई देता है; परन्तु घनघातिकर्मका नाश किया जानेसे मोहका अभाव होनेके कारण तथा ज्ञानशक्तिके प्रतिबंधकका अभाव होनेसे तृष्णा नष्ट की गई होनेसे तथा समस्त पदार्थोंका स्वरूप प्रत्यक्ष है, तथा ज्ञेयोका पार पा लिया है, इस कारण भगवान सर्वज्ञदेव अभिलाषा नही करते, जिज्ञासा नही करते, और संदेह नही करते; तब फिर (उनके) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ कहांसे हो सकता है ? जब कि ऐसा है तब फिर वे क्या ध्याते है ?

अथोपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमासूत्रयति—

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू ।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥१९७॥

निहतघनघातिकर्मा, प्रत्यक्षहि सर्व तत्त्वका ज्ञाता ।
ज्ञेयान्तगत असंशय, प्रभुवर क्या अर्थ ध्यान करे ॥१९७॥

निहतघनघातिकर्मा प्रत्यक्ष सर्वभावतत्त्वज्ञ: । ज्ञेयान्तगत श्रमणो ध्यायति कमर्थमसंदेह: ॥ १९७ ॥

लोको हि मोहसद्भावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकसद्भावे च सतृष्णत्वादप्रत्यक्षार्थत्वानवच्छिन्नविषयत्वाभ्यां चाभिलषितं जिज्ञासितं संदिग्धं चार्थं ध्यायन् दृष्ट:, भगवान् सर्वज्ञस्तु निहतघनघातिकर्मतया मोहाभावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकाभावे च निरस्ततृष्णत्वात्प्रत्यक्षसर्वभावतत्त्व-

---

नामसंज्ञ—णिहदघणघादिकम्म पच्चक्ख सव्वभावतच्चण्हु णेयंतगद समण क अट्ठ असदेह । **धातुसंज्ञ**—ज्झा ध्याने । **प्रातिपदिक**—निहतघनघातिकर्मन् प्रत्यक्ष सर्वभावतत्त्वज्ञ ज्ञेयान्तगत श्रमण किम् अर्थ असंदेह । **मूलधातु**—ध्यै चिन्तायां । **उभयपदविवरण**—णिहदघनघादिकम्मा निहतघनघातिकर्मा सव्वभावतच्चण्हू सर्वभावतत्त्वज्ञ: णेयतगदो ज्ञेयान्तगत: समणो श्रमण: असदेहो असन्देह –प्रथमा एकवचन । पच्चक्ख प्रत्यक्ष–अन्तर्गतक्रियाविशेषण प्रत्यक्ष यथा स्यात्तथा अव्यय पश्चात् । कं अट्ठं अर्थं–द्वितीया एक० । झादि ध्यायति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—अन्तन अन्त: अति बन्धने भ्वादि, ज्ञातु

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि निर्मोहि विषयविरक्त भव्यात्मा स्वभावमे समवस्थित होता हुआ शुद्धात्माका ध्याता है । अब इस गाथामे प्रश्न अथवा आक्षेप किया गया है कि घातिकर्मरहित सर्वज्ञाता श्रमण किस पदार्थको ध्याते है ?

तथ्यप्रकाश—१– मोहभाव होनेपर तृष्णा जगती है । २–तृष्णा जगनेपर इष्ट अर्थकी अभिलाषा होती है । ३– इष्ट अर्थका अभिलाषी अभिलषित अर्थका ध्यान किया करता है । ४– ज्ञानशक्तिके प्रतिबन्धक ज्ञानावरणकर्मका विपाक होनेसे बहुतसे पदार्थोंको यह जीव जानता नही है । ५– सर्व पदार्थोंका ज्ञान न होनेसे कुछ ज्ञात व बहुधा अज्ञात पदार्थको स्पष्ट जाननेकी इच्छा होती है । ६– जिज्ञासु जीव जिज्ञासित अर्थका ध्यान किया करता है । ७– कतिपय सर्वसाधारण अश ज्ञात होनेपर तथा शेष असाधारणांश अज्ञात होनेपर संदेह होता है । ८– संदेह रखने वाला जीव संदिग्ध पदार्थका ध्यान किया करता है । ९– मोहनीय कर्मके नाश होनेसे जिस आत्माके मूलत: समस्त मोह नष्ट हो गया वह तृष्णाशून्य परमात्मा क्या अभिलाषा करता है ? १०– जिस आत्माके ज्ञानशक्तिका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण समस्त नष्ट हो गया वह सर्वज्ञाता परमात्मा क्या जिज्ञासा करता है ? क्या सन्देह करता है ? ११– जब परमात्माके अभिलाषा नही, जिज्ञासा नही, सन्देह नही तब वह क्या ध्याता है ? १२– पर-

ज्ञेयान्तगतत्वाभ्यां च नाभिलषति न जिज्ञासति न संदिह्यति च कुतोऽभिलषितो जिज्ञासितः संदिग्धश्चार्थः । एवं सति किं ध्यायति ॥१९७॥

योग्य ज्ञेय । **समास**—निहतानि घनघातिकर्माणि येन सः घनघातिकर्मा, सर्वे च ते भावाश्चेति सर्वभावः तेषां तत्त्वं स० सर्वभावतत्त्वं जानाति इति सर्वभावतत्त्वज्ञ, ज्ञेयानां अन्तं गत ज्ञेयान्तगतः ॥ १९७ ॥

आत्माने पहिले श्रमणावस्थामें केवलज्ञान व केवलज्ञानके फलभूत अनन्त सुखके निमित्त शुद्धात्मभावनारूप ध्यान किया था । १३– शुद्धात्मभावनारूप ध्यानके प्रतापसे जब केवलज्ञान व अनन्तसुख प्राप्त हो गया तब किसलिये ध्यान किया जाता है ? १४– जब सकलप्रत्यक्ष ज्ञान न हो, पदार्थ परोक्ष रहे तब तो ध्यान बनता है, भगवानके सर्व सत् प्रत्यक्ष ज्ञात है फिर कैसे ध्यान हो सकता है ?

सिद्धान्त— (१) परमात्मा पूर्ण सर्वज्ञ है । (२) परमात्मा अनन्तानन्दमय है ।

दृष्टि—१– सर्वगतनय, अशून्यनय (१७२, १७४) । २– शुद्धनिश्चयनय (४६) ।

प्रयोग— इस गाथोक्त प्रश्न अथवा आक्षेपके समाधानमें परमात्माकी पूर्ण निर्दोषता व पूर्ण सर्वज्ञता निरखकर अपने दोष व जिज्ञासा विकल्पको दूर कर स्वयमें स्वयंको अविकार स्वभाव ज्ञानमय व सहजानन्दमय अनुभवनेका पौरुष करना ॥१९७॥

अब जिसने शुद्धात्माको उपलब्ध किया है वह सकलज्ञानी परमसौख्यको ध्याता है, अर्थात् अनुभवता है यह उत्तर आसूत्रित करते है—[**अनक्षः**] अनिन्द्रिय और [**अक्षातीतः भूतः**] इन्द्रियातीत हुआ आत्मा [**सर्वाबाधवियुक्तः**] सर्व बाधारहित और [**समंतसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः**] सर्व प्रकारके, परिपूर्ण सौख्य तथा ज्ञानसे समृद्ध रहता हुआ [**परं सौख्यं**] परम सौख्यको [**ध्यायति**] ध्याता है अर्थात् अनुभवता है ।

तात्पर्य—सर्वज्ञ प्रभु अनन्त आनन्दको अनुभवते है इसरूप ही उनका ध्यान है ।

टीकार्थ—यह आत्मा जब ही सहज सुख और ज्ञानकी बाधाके आयतनभूत तथा असकल आत्मामें असर्वप्रकारके सुख और ज्ञानके आयतनभूत इन्द्रियोंके अभावके कारण स्वयं 'अतीन्द्रिय' रूपसे वर्तता है, उसी समय वह दूसरोंको 'इन्द्रियातीत' वर्तता हुआ निराबाध सहजसुख और ज्ञान वाला होनेसे 'सर्वबाधारहित' तथा सकल आत्मामें सर्व प्रकारके (परिपूर्ण) सुख और ज्ञानसे परिपूर्ण होनेसे 'समस्त आत्मामें समत सौख्य और ज्ञानमें समृद्ध' होता है । इस प्रकारका वह आत्मा सर्व अभिलाषा, जिज्ञासा और संदेहका असम्भव होनेपर भी अपूर्व और अनाकुलत्व लक्षण परमसौख्यको ध्याता है; अर्थात् अनाकुलत्वसे संगत एक अग्र आत्माके सचेतनमात्ररूप अवस्थित रहता है, और ऐसा अवस्थान सहज ज्ञानानन्दस्वभाव

अथैतदुपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी ध्यायतीत्युत्तरमासूत्रयति--

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥१९८॥

सर्वबाधाविवर्जित, समन्त सर्वाक्षज्ञानसौख्यमयी।
इन्द्रियातीत इन्द्रिय विगत परम सौख्यको पाते ॥१९८॥

सर्वाबाधवियुक्तः समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्य। भूतोऽक्षातीतो ध्यायत्यनक्षः परं सौख्यम् ॥ १९८ ॥

अयमात्मा यदैव सहजसौख्यज्ञानबाधायतनानामसार्वदिक्कासकलपुरुषसौख्यज्ञानायतनानां चाक्षाणामभावात्स्वयमनक्षत्वेन वर्तते तदैव परेषामक्षातीतो भवन्, निराबाधसहजसौख्यज्ञानत्वात् सर्वाबाधवियुक्तः, सार्वदिक्कसकलपुरुषसौख्यज्ञानपूर्णत्वात्समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्य-

---

नामसंज्ञ—सव्वाबाधविजुत्त समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढ भूद अक्खातीद अणक्ख पर सोक्ख। **धातुसंज्ञ**—ज्झा ध्याने। **प्रातिपदिक**—सर्वाबाधवियुक्त समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्य भूत अक्षातीत अनक्ष पर सौख्य। **मूलधातु**—ध्यै चिन्तायां। **उभयपदविवरण**—सर्वाबाधवियुक्तः समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः भूतः अक्षातीतः अनक्षः सव्वाबाधविजुत्तोसमंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो भूदो अक्खातीदो अणक्खो—प्रथमा एकवचन। परं सोक्खं सौख्यं—द्वितीया एकवचन। झादि ध्यायति—वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया।

सिद्धत्वकी सिद्धि ही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आक्षेपरूप अथवा अन्तःस्वरूप जाननेके लिये प्रश्न आसूत्रित किया गया था कि उपलब्ध शुद्धात्मा सर्वज्ञ भगवान क्या ध्यान करते हैं। अब इस गाथामें उसी प्रश्नका उत्तर आसूत्रित किया गया है कि सर्वज्ञ भगवान अपनेको अनन्तानन्दमय अनुभवते हैं।

तथ्यप्रकाश—(१) जब तक सहज ज्ञानानन्दकी बाधिकायें इन्द्रियां हैं तब तक यह आत्मा सर्वबाधावोंसे बाधित है। (२) यद्यपि ये इन्द्रियां कुछ कल्पित सुख व ज्ञानके बाह्य साधन हैं तथापि वह हीनता व भ्रान्तिके कारण क्षोभ व मलिनतासे आकुल स्थिति है। (३) जब इन्द्रियरहित अविकार सहज चित्प्रकाशमात्र अन्तस्तत्त्वकी अभेद आराधनासे आत्मा अतीन्द्रिय हो जाता है तब ही त्वरित निर्बाध सहज परिपूर्ण ज्ञान व आनन्दरूप परिणत होता हुआ सर्वबाधावोंसे रहित हो जाता है। (४) जो आत्मा निर्विकार निर्बाध व परिपूर्णसहजानन्तानन्दमय हो गया है उसके अभिलाषाका होना असंभव है। (५) जो आत्मा सर्वतः परिपूर्ण सर्वज्ञाता है, वीतराग है उसके जिज्ञासा व संदेह होना असम्भव है। (६) जहां रंच भी अभिलाषा, जिज्ञासा व सन्देह त्रिकाल कभी हो ही नहीं सकता वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा

श्च भवति । एवंभूतश्च सर्वाभिलाषजिज्ञासासंदेहासंभवेऽप्यपूर्वमनाकुलत्वलक्षणं परमसौख्यं ध्यायति । अनाकुलत्वसंगतैकाग्रसंचेतनमात्रेणावतिष्ठत इति यावत् । ईदृशमवस्थानं च सहज-ज्ञानानन्दस्वभावस्य सिद्धत्वस्य सिद्धिरेव ॥१९८॥

निरुक्ति—आ समन्तात् बाधन बाध आबाध बाधृ प्रतिघाते भ्वादि । **समास**– सर्वे च ते आबाधाश्चेति सर्वाबाधा तेभ्य वियुक्त सर्वाबाधवियुक्त ॥ १९८ ॥

परम सहज अनन्त आनन्दको सतत अनुभवता रहता है । (७) यदि ध्यान शब्दसे ही परमात्माका रहस्य समझनेका आग्रह है तो कह लीजिये कि वे परम सहज आनन्दको ध्याते है अर्थात् परमात्मा अनाकुल आत्माके सचेतनमात्रसे अवस्थित रहते है । (८) अनाकुल आत्माके सचेतनमात्रसे अवस्थित रहना ही सहजज्ञानानन्दस्वभावका सिद्धपना है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध परिपूर्ण ज्ञानादि विकासी परमात्मा सहजानन्तानन्दरूप अपनेको अनुभवते है ।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय (४६) ।

प्रयोग-- परम सहज आनन्द अनुभवते रहनेके लिये इन्द्रिय व विकारसे रहित सहज ज्ञानमात्र अपनेको अनुभवना ॥१९८॥

अब यह निश्चित करते है कि—'यही (पूर्वोक्त ही) शुद्ध आत्माकी उपलब्धि जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्षका मार्ग है' – **[जिनाः जिनेन्द्राः श्रमणाः]** अर्थात् सामान्यकेवली, तीर्थंकर और मुनि **[एवं]** इस प्रकारसे **[मार्गं समुत्थिताः]** मार्गमे आरूढ होते हुये **[सिद्धाः जाताः]** सिद्ध हुये है **[तेभ्य.]** उनके लिये **[च]** और **[तस्मै निर्वाण मार्गाय]** उस निर्वाण-मार्गके लिये **[नमः अस्तु]** नमस्कार हो ।

तात्पर्य—जैसा कि मार्ग बताया गया है उस मार्गमे आरूढ श्रमण ही सिद्ध होते है, उन सबको व उस मोक्षमार्गको नमस्कार हो ।

टीकार्थ––सभी सामान्य चरमशरीरी तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्वप्रवृत्तिरूप विधिसे प्रवर्तमान मोक्षके मार्गको प्राप्त करके सिद्ध हुये; किसी दूसरी विधिसे नही । इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्षका मार्ग है, दूसरा नही । अधिक विस्तारसे पूरा पड़े । उस शुद्धात्मतत्वमे प्रवर्ते हुये सिद्धोको तथा उस शुद्धात्मतत्व-प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्गको, भाव्यभावकविभागरहितपनेसे नोआगमभावनमस्कार हो । मोक्षमार्ग निश्चित कर लिया है, अब कर्तव्य किया जा रहा है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे उससे पूर्वकी गाथामे किये गये इस प्रश्नका

अथायमेव शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षस्य मार्ग इत्यवधारयति —

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा ।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥१९९॥

यों जिनमार्गाश्रय कर, श्रमण हुए जिन जिनेन्द्र सिद्ध प्रभू ।
उनको उनके शिवपथ-को हो मेरा प्रणाम मुदा ॥ १९९ ॥

एवं जिना जिनेन्द्राः सिद्धा मार्गं समुत्थिता श्रमणाः । जाता नमोऽस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय ।१९९।

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थंकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः, न पुनरन्यथापि । ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति । अलं च प्रपञ्चेन । तेषां शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तानां सिद्धानां तस्य शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपस्य मोक्षमार्गस्य च प्रत्यस्तमितभाव्यभावकविभागत्वेन नोआगमभावनमस्कारोऽस्तु । अवधारितो मोक्षमार्गः कृत्यमनुष्ठीयते ॥१९९॥

नामसंज्ञ—एव जिण जिणिंद सिद्ध मग्ग समुट्ठिद समण जाद णमो त त य णिव्वाणमग्ग । **धातुसंज्ञ**—अस सत्ताया । **प्रातिपदिक**— एव जिन जिनेन्द्र सिद्ध मार्ग समुत्थित श्रमण जात नमः तत् तत् च निर्वाणमार्ग । **मूलधातु**—अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—एव णमो नम. य च–अव्यय । जिणा जिनाः जिनेन्द्राः समुट्ठिदा समुत्थिताः समणा श्रमणाः जादा जाता.–प्रथमा एकवचन । मग्गं मार्गं–द्वितोया एक० । अत्थु अस्तु–आज्ञार्थे अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । तेसि तेषां–षष्ठी बहु० । तस्स तस्य णिव्वाणमग्गस्स निर्वाणमार्गस्य–षष्ठी एकवचन । **निरुक्ति**–वियुज्य तेस्म यः स वियुक्तः वि युजिर् योगे रुधादि । **समास**–जिनाना इन्द्राः जिनेन्द्राः, निर्वाणस्य मार्ग निर्वाणमार्गः तस्य निर्वाणमार्गस्य ॥ १९९ ॥

उत्तर दिया गया था कि वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा क्या ध्यान करते है । अब इस गाथामें उक्त उपदेशोका उपसंहार करते हुए कहा गया है कि यह शुद्धात्मोपलम्भलक्षण वाला ही परमार्थधर्मपालन मोक्षका मार्ग है ।

तथ्यप्रकाश—(१) तीर्थंकर पुरुषो तथा अन्य भव्य पुरुषोने शुद्ध आत्मतत्त्वमे प्रवृत्त होनेकी विधिसे मोक्षमार्ग पाकर सिद्धावस्था प्राप्त की । (२) केवल सहजचित्स्वरूपकी अनुभूतिके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे सिद्धावस्था नही प्राप्त की जा सकती । (३) मोक्षका मार्ग मात्र सहज चित्स्वभावकी अनुभूति है । (४) सहज चित्स्वभावकी अनुभूतिके बलसे शुद्धात्मतत्त्वमें प्रवृत्त सिद्ध भगवंतोंको नोआगमभावनमस्कार हो । (५) शुद्धात्मतत्त्वमे प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्गको नोआगमभावनमस्कार हो । (६) अन्तःप्रयोगात्मक अभेदनमस्कारको नोआगमभावनमस्कार कहते हैं, जहाँ कि आराध्य आराधक भावका विभाग समाप्त हो जाता है ।

अथोपसंपद्ये साम्यमिति पूर्वप्रतिज्ञां निर्वहन् मोक्षमार्गभूतां स्वयमपि शुद्धात्मप्रवृत्तिमासूत्रयति—

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण ।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ॥२००॥

इससे यथार्थ अभिगत, कर आत्माको स्वभावसे ज्ञायक ।
तजता ममत्वको हूं, निर्ममतामें बर्तता हूं ॥ २०० ॥

तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मानं ज्ञायक स्वभावेन । परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्वे ॥ २०० ॥

अहमेष मोक्षाधिकारी ज्ञायकस्वभावात्मतत्त्वपरिज्ञानपुरस्सरममत्वनिर्ममत्वहानोपादान विधानेन कृत्यान्तरस्याभावात्सर्वारम्भेण शुद्धात्मनि प्रवर्ते । तथाहि— अहं हि तावत् ज्ञायक एव स्वभावेन, केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहजज्ञेयज्ञायकलक्षण एव संबन्ध. न

नामसंज्ञ—त तह अप्प जाणग सभाव ममत्ति उवट्ठिद णिम्ममत्त । धातुसंज्ञ— जाण अवबोधने, परि वज्ज वर्जने उव ट्ठा गतिनिवृत्तौ । प्रातिपदिक—तत् तथा आत्मन् ज्ञायकस्वभाव ममता उपस्थित निर्मम-

---

(७) अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणोंका स्मरण होना सिद्धोंके प्रति भावनमस्कार है । (८) निर्विकार स्वसंवेदन होना निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके प्रति भावनमस्कार है । (९) निज सहज परमात्मतत्त्वकी अनुभूति होना ही मोक्षमार्ग है यह तो निश्चित कर लिया, अब तो उसका कर्तव्य किया जाता है ।

सिद्धान्त—(१) आत्माका परिपूर्ण स्वतन्त्र स्वाभाविक विलास अनुभवनेका उपाय सहजात्मस्वभावकी अभेदोपासना है ।

दृष्टि—१- सामान्यनय, नियतिनय, स्वभावनय, अनीश्वरनय, शुद्ध भावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (१६७, १७७, १७६, १८६, २४ब) ।

प्रयोग—सहजपरमानन्दसम्पन्नता रूप सिद्धिके लिये सहजज्ञानानन्दमय सहजपरमात्मतत्त्वकी अभेद आराधना करना ॥१९९॥

अब 'साम्यको प्राप्त करता हूं' ऐसी पूर्वप्रतिज्ञाका निर्वाह करते हुये आचार्यदेव स्वयं मोक्षमार्गभूत शुद्धात्मप्रवृत्ति आसूत्रित करते है— [तस्मात्] शुद्धात्मामे प्रवृत्तिके द्वारा ही मोक्ष होनेके कारण [तथा] उसी प्रकार [आत्मानं] आत्माको [स्वभावेन ज्ञायकं] स्वभावसे ज्ञायक [ज्ञात्वा] जानकर [निर्ममत्वे उपस्थितः] निर्ममत्वमे स्थित रहता हुआ मैं [ममतां परिवर्जयामि] ममताका परित्याग करता हूं ।

तात्पर्य—स्वभावसे ज्ञायकमात्र अपनेको जानकर मैं निर्ममत्व होता हूं ।

टीकार्थ—मैं यह मोक्षाधिकारी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्वके परिज्ञानपूर्वक ममत्वका

पुनरन्ये स्वस्वामिलक्षणादय संबन्धाः। ततो मम न क्वचनापि ममत्वं सर्वत्र निर्ममत्वमेव। अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं ज्ञेयज्ञायकलक्षणसंबन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वादुपात्तवैश्वरूप्यमपि सहजानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेनैक्यरूप्यमनुज्झन्तमासंसारमनयैव

त्व। मूलधातु– ज्ञा अवबोधने, परि वर्ज वर्जने, उप ष्ठा गतिनिवृत्तौ। उभयपदविवरण– तम्हा तस्मात्– पचमी एकवचन। तह तथा–अव्यय। जाणित्ता ज्ञात्वा–सम्बन्धार्थप्रक्रिया कृदन्त अव्यय। अप्पाणं आत्मानं

त्यागरूप और निर्ममत्वका ग्रहणरूप विधानके द्वारा सर्व उद्यमसे शुद्धात्मामे प्रवृत्त होता हूं, क्योंकि दूसरा कुछ भी करने योग्य नही है। **स्पष्टीकरण**–वास्तवमें मैं स्वभावसे ज्ञायक ही हूं; केवल ज्ञायक होनेसे मेरा समस्त पदार्थोंके साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण ही संबंध है, किन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बंध नही हैं; इसलिये मेरा किसीके प्रति ममत्व नही है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है। अब एक ज्ञायकभावका समस्त ज्ञेयोको जाननेका स्वभाव होनेसे क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्रपर्यायसमूहवाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर समस्त द्रव्यमात्रको – मानो वे द्रव्य ज्ञायकमे उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हो, डूब गये हों, समागये हो, प्रतिबिम्बित हुये हों, इस प्रकार एक क्षणमे ही प्रत्यक्ष करने वाले, ज्ञेयज्ञायकलक्षण संबंधकी अनिवार्यताके कारण ज्ञेय-ज्ञायकको भिन्न करना अशक्य होनेसे विश्वरूपताको प्राप्त होते हुए भी सहज अनन्तशक्ति वाले ज्ञायकस्वभावके द्वारा एकरूपताको नही छोड़ते हुए अनादि संसारसे इसी स्थितिसे स्थित और मोहके द्वारा दूसरे रूपसे जाने गये उस शुद्धात्माको यह मैं मोहको उखाड़ फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ जैसाका तैसा ही प्राप्त करता हूं। इस प्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञानमें उपयुक्तताके कारण अत्यन्त निर्बाध लीनता होनेसे, साधु होनेपर भी साक्षात् सिद्धभूत निज आत्माको तथा सिद्धभूत परमात्माओंको, उसीमें एकपरायणता जिसका लक्षण है ऐसा भावनमस्कार सदा ही स्वयमेव होओ। **जैनं** इत्यादि—**अर्थ**—इस प्रकार ज्ञेयतत्त्वको समझाने वाले जिनेन्द्रप्रोक्त ज्ञानमे व विशाल शब्दब्रह्ममे—सम्यक्तया अवगाहन करके हम मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप एक वृत्तिसे सदा युक्त रहते है ॥१०॥ **ज्ञेयीकुर्वन्** इत्यादि—**अर्थ**—आत्मा परमात्मत्वको, शीघ्र प्राप्त करके, अनन्त विश्वको एक समयमे ज्ञेयरूप करता हुआ, अनेक प्रकारके ज्ञेयोंको ज्ञानमें जानता हुआ और स्वपरप्रकाशक ज्ञानको आत्मरूप करता हुआ प्रगट दैदीप्यमान होता है ॥११॥ ॥२००॥

स्थित्वा स्थितं मोहेनान्यथाध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाय यथास्थितमेवातिनिःप्रकम्पः संप्रतिपद्ये । स्वयमेव भवतु चास्यैवं दर्शनविशुद्धिमूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाध-रतत्वात्साधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य स्वात्मनस्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरा-यणत्वलक्षणो भावनमस्कारः ।। जैन ज्ञान ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ स्फीत शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य ।। संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम् ।।१०।। ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम् । आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मान्यभासि स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः ।।११।। द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्यं मिथो द्वयमिद ननु सव्यपेक्षम् । तस्मान्मुमुक्षुर-

---

जाणग ज्ञायक–द्वितीया एक० । सभावेण स्वभावेन–तृतीया एक० । परिवज्जामि परिवर्जयामि–वर्तमान उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया । ममत्ति ममता–द्वि० एक० । उवट्ठिदो उपस्थित.–प्रथमा एकवचन । णिम्म-यत्तम्मि निर्ममत्वे–सप्तमी एकवचन । निरुक्ति–निःशेषेण वान निर्वाण वा गतिबन्धनयोः, मार्ग्यते यत्र स

द्रव्यानुसारि इत्यादि-- **अर्थ**—चारित्र द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चारित्रानुसार होता है । इस प्रकार वे दोनो परस्पर सापेक्ष है; इस कारण या तो द्रव्यका आश्रय लेकर या चारित्रका आश्रय लेकर मोक्षके इच्छुक जन मोक्षमार्गमे आरोहण करो ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे "शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धि ही मोक्षमार्ग है" यह निश्चित किया गया था । अब इस गाथामे समताको प्राप्त होने विषयक पूर्व प्रतिज्ञाका निर्वाह कराते हुए शुद्धात्मतत्त्वमे स्थित कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अब इस मुझ मोक्षाधिकारीको पर व परभावसे ममत्व छोड़ देनेसे, अविकार ज्ञानस्वरूपको अपना लेनेसे अन्य कुछ भी करने योग्य न रहा । (२) जब मुझे करनेको कोई अन्य कृत्य न रहा तब मैं सहज ही समस्त पौरुषसे अविकार सहज शुद्ध अन्तस्तत्त्वमे हो रहूंगा । (३) कृतकृत्य सहजानन्दमय होनेका मूल उपाय ज्ञायकस्वभाव आत्म-तत्त्वका श्रद्धान, ज्ञान व आचरण है । (४) मैं स्वभावसे ज्ञायकस्वरूप ही हूं । (५) केवल जाननहार स्वभाव वाले मुझ आत्माका समस्त पदार्थोंके साथ मात्र सहज ज्ञेयज्ञायक रूप ही सम्बन्ध है । (६) निश्चयसे तो पर पदार्थोंके साथ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध भी नही है । (७) पर व परभावसे विविक्त मुझ सहजज्ञानस्वभाव आत्माका पर व परभावसे कुछ भी ममत्व नहीं है । (८) मैं अनन्त सिद्ध पुरुषोकी तरह परम सहज शान्त निज शुद्धात्मामें ठहरूंगा । (९) जो भी भव्यात्मा सिद्ध भगवंत हुए वे निज सहज परम शान्त ज्ञायकस्वभाव शुद्धात्मस्वरूपमें लीन होकर ही हुए है । (१०) सिद्ध भगवंतोको व सहजात्मस्वरूपको शुद्धात्मतत्त्वपरायण होनेरूप भावनमस्कार होओ ।

धिरोहतु मोक्षमार्गं द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ।।१२।। ।।२००।।

इति तत्त्वदीपिकाया प्रवचनसारवृत्तौ **श्रीमदमृतचन्द्रसूरि** विरचितायां **ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनो** नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।। २ ।।

मार्ग मार्ग अन्वेषणे चुरादि । **समास**– स्वस्य भावः स्वभाव. तेन स्वभावेन ।। २०० ।।

सिद्धान्त—(१) निर्विकार परिपूर्ण विकास पानेका उपाय अविकारस्वभावी सहज ज्ञानघन सहजात्मस्वरूपका आलम्बन है ।

दृष्टि—१– पुरुषकारनय, अनीश्वरनय, शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (१८३, १८६, २४ब) ।

प्रयोग—परमसहजानन्दधाम निर्वाणकी प्राप्तिके लिये परमात्माके गुणस्मरणपूर्वक ज्ञानदर्शनप्रधान सहजात्माश्रमका आश्रय करके साम्यभावरूप परिणमना ।।२००।।

इति पूज्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत प्रवचनसार पूज्य श्रीअमृतचंद्रजी सूरिकृत
तत्त्वप्रदीपिका टीकापर **ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन** नामक द्वितीय
स्कंधसे सम्बन्धित सहजानन्द
सप्तदशाङ्गी टीका
समाप्त ।

३—चरणानुयोगसूचिका चूलिका

अथ परेषां चरणानुयोगसूचिका चूलिका। तत्र—द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ। बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ॥१३॥ इति चरणाचरणे परान् प्रयोजयति—'एस सुरासुर' इत्यादि, सेसे इत्यादि, ते ते इत्यादि।

३—चरणानुयोगसूचिका चूलिका

अब दूसरोको चरणानुयोगकी सूचिका चूलिका है। वहाँ प्रथम हो, द्रव्यस्य इत्यादि। **अर्थ**—द्रव्यकी सिद्धिमे चारित्रकी सिद्धि है, और चारित्रकी सिद्धिमे द्रव्यकी सिद्धि है, ऐसा जानकर, कर्मोंसे अविरत दूसरे भी, द्रव्यसे अविरुद्ध चारित्रका आचरण करो। इस प्रकार पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य दूसरोको चारित्रके आचरण करनेमे योजित करते हैं।

"एस सुरासुरमणुसिंदवदिदधोदघाइकम्ममल। पणमामि वड्ढमाणं तित्थधम्मस्स कत्तारं ॥ सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे। समणे य णाणदसणचरित्ततववी-रियायारे ॥ ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं। वदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥"

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥२०१॥

यों प्रणाम करि सिद्धों, जिनवर वृषभों पुनीत श्रमणोंको ।
श्रामण्य प्राप्त कर लो, यदि चाहो दुःखसे मुक्ती ॥ २०१ ॥

एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुनः पुनः श्रमणान् । प्रतिपद्यतां श्रामण्यं यदीच्छति दुःखपरिमोक्षम् ॥

यथा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिना, 'किच्चा अरहंताणं' इति "तेसिं" इति अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां प्रणतिवन्दनात्मकनमस्कारपुरःसरं विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानं साम्यनाम श्राम-

---

नामसंज्ञ—एव सिद्ध जिणवरवसह पुणो समण सामण्ण जदि दुक्खपरिमोक्ख । **धातुसंज्ञ**— प्र नम नम्रीभावे, पडि पज्ज गतौ । **प्रातिपदिक**—एव सिद्ध जिनवरवृषभ पुनर् श्रमण श्रामण्य यदि दुःखपरिमोक्ष ।

अब इस अधिकारकी गाथा प्रारम्भ करते हैं—[**एवं**] यो पूर्वोक्त तीन गाथाओंके अनुसार [**पुनः पुनः**] बारबार [**सिद्धान्**] सिद्धोंको, [**जिनवरवृषभान्**] अर्हन्तोंको तथा [**श्रमणान्**] श्रमणोंको [**प्रणम्य**] प्रणाम करके [**यदि दुःखपरिमोक्षम् इच्छति**] यदि दुःखोंसे छुटकारा पानेकी इच्छा हो, तो [**श्रामण्यं प्रतिपद्यताम्**] श्रामण्यको अंगीकार करो ।

तात्पर्य—बार-बार सिद्धों व अर्हन्तोंको प्रणाम कर श्रामण्यको अपनाओ ।

टीकार्थ—जैसे दुःखोंसे मुक्त होनेके अर्थी मेरे आत्माने—"किच्चा अरहंताणं" इस प्रकार व "तेसिं" इस प्रकार अर्हन्तो, सिद्धो, आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधुओंको प्रणाम-वंदनात्मक नमस्कारपूर्वक 'विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान साम्य नामक श्रामण्यको जिसका इस ग्रन्थ मे कहे हुए दो अधिकारोंकी रचना द्वारा सुस्थितिपना हुआ है उसे स्वय स्वीकार किया, उसी प्रकार दूसरोंका आत्मा भी, यदि दुःखोसे मुक्त होनेका इच्छुक हो तो, उसे स्वीकार करे । उस श्रामण्यको अंगीकार करनेका जो यथानुभूत मार्ग है उसके प्रणेता हम खड़े हुये हैं ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा तक आत्महित गवेषणापूर्वक पहिले ज्ञानतत्त्वका वर्णन करके ज्ञेयतत्त्वका वर्णन किया और अन्तमे सहजात्मस्वरूपके अनुरूप अध्यात्म आचरण के कर्तव्यका संकेत किया । अब इस गाथामे अध्यात्म आचरणकी सिद्धिके लिये उसके अविरुद्ध आचरण करनेका आदेश किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्महितार्थी पुरुष जो आत्मा वीतराग सर्वज्ञ है उनको बार बार भावनमस्कार व द्रव्यनमस्कार करता है । (२) आत्महितार्थी पुरुष जो भव्यात्मा वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्गमे लगकर शुद्धात्मा होनेके प्रयत्नमे है उनको द्रव्यनमस्कार व भावनमस्कार करता है । (३) दुःखमोक्षार्थी भव्यात्मा पञ्चगुरुनमस्कारपूर्वक

ण्यमवान्तरग्रन्थसन्दर्भोभयसंभावितसौस्थित्य स्वय प्रतिपन्न परेषामात्मापि यदि दुःखमोक्षार्थी तथा तत्प्रतिपद्यतां यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मनः प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति ॥२०१॥

मूलधातु—प्र नम नमने, प्रति पद गतौ । **उभयपदविवरण**—एव पुणो पुन जदि यदि–अव्यय । पणमिय प्रणम्य–सम्बन्धार्थप्रक्रिया अव्यय कृदन्त । सिद्धे सिद्धान् जिणवरवसहे जिनवरवृषभान् समणे श्रमणान्–द्वितीया बहु० । पडिवज्जदु प्रतिपद्यताम्–आज्ञार्थे अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । सामण्ण श्रामण्य–द्वितीया एकवचन । इच्छदि इच्छति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । दुक्खपरिमोक्ख दु खपरिमोक्ष–द्वितीया एक० । **निरुक्ति**– वरण वर· वृञ् वरणे क्र्यादि । वर्षयन वृषः धर्म वृष शक्तिबन्धने प्रजनन सामर्थ्ये च, वृषो भाति यस्मात्स वृषभ । **समास**—दु.खेभ्य परिमोक्ष· दु खपरिमोक्ष त दु० ॥ २०१ ॥

मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेरूप श्रामण्यको प्राप्त होता है । (४) मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनारूप परमश्रामण्य निर्ग्रन्थ दिगम्बर महाव्रती हुए बिना नही हो सकता, अत· उसकी विधि जानना व करना आवश्यक है, वह विधान इस चारित्राधिकारमे कहा जावेगा ।

सिद्धान्त—(१) आत्मस्वभावके अनुरूप, आत्मस्वभावके अविरुद्ध आचरणसे परिपूर्ण आत्मविकासरूप सिद्धि होती है ।

दृष्टि—१– पुरुषकारनय, क्रियानय, शुद्ध भावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (१८३, १६३, २४ब) ।

प्रयोग—सर्व दुःखोसे छूटनेके लिये पञ्चगुरुस्मरणपूर्वक श्रामण्यदीक्षा लेकर परमसाम्य नामक श्रामण्य भावरूप परिणमना ॥२०१॥

अब श्रमण होनेके लिये चाहता हुआ पहले क्या क्या करता है उसका उपदेश करते हैं—श्रमण होनेका इच्छुक पुरुष [**बन्धुवर्गम् आपृच्छय**] बधुवर्गसे विदा मांगकर [**गुरुकलत्रपुत्रैः विमोचितः**] बड़ोसे तथा स्त्री और पुत्रसे मुक्त होता हुआ [**ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् आसाद्य**] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार तपाचार औरवीर्याचारको अंगीकार करके....

तात्पर्य—मुनि होनेका इच्छुक परिचितोसे विदा लेकर पचाचार अगीकार करता है ।

टीकार्थ—जो श्रमण होना चाहता है वह पहले ही बधुवर्गसे विदा मांगता है, गुरुजनोसे तथा स्त्री और पुत्रोसे अपनेको छुडाता है, फिर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारको अंगीकार करता है । इसका **स्पष्टीकरण—बंधुवर्गसे इस प्रकार विदा लेता है—अहो ! इस पुरुषके शरीरके बंधुवर्गमे रहने वाले आत्माओ ! इस पुरुषका आत्मा किंचित्मात्र भी तुम्हारा नही है, इस प्रकार तुम निश्चयसे जानो । इसलिए मैं तुमसे विदा लेता हू । जिसके ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अपने अनादिबंधुके पास जा रहा है । अहो ! इस पुरुषके शरीरके जनकके आत्मा ! अहो ! इस पुरुष**

अथ श्रमणो भवितुमिच्छन् पूर्वं किं किं करोतीत्युपदिशति—

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥२०२॥

पूछकर बन्धुओंको, छूटकर गुरु कलत्र पुत्रोंसे ।
चारित्र ज्ञान दर्शन, तप वीर्याचार आश्रय करि ॥२०२॥

आपृच्छ्य बन्धुवर्गं विमोचितो गुरुकलत्रपुत्रैः । आसाद्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ॥ २०२ ॥

यो हि नाम श्रमणो भवितुमिच्छति स पूर्वमेव बन्धुवर्गमापृच्छते, गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति । तथाहि— एवं बन्धुवर्गमापृच्छते, अहो इदजनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः, अस्य जनस्य आत्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूय जानीत तत आपृष्टा यूयं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति । अहो इदजनशरीरजनकस्यात्मन्, अहो इदंजनशरीरजनन्या आत्मन्,

नामसंज्ञ—बंधुवग्ग विमोचिद गुरुकलत्तपुत्त णाणदंसणचरित्ततववीरियायार । **धातुसंज्ञ**—आ सद गमन विशरणयो । **प्रातिपदिक**—बन्धुवर्ग विमोचित गुरुकलत्रपुत्र ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचार । **मूल-**

के शरीरकी जननीके आत्मा ! इस पुरुषका आत्मा तुम्हारे द्वारा उत्पन्न नही है, ऐसा तुम निश्चयसे जानो । इसलिये तुम इस आत्माको छोडो । जिसके ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनकके पास जा रहा है । अहो ! इस पुरुषके शरीर की रमणीके आत्मा ! तू इस पुरुषके आत्माको रमण नही कराता, ऐसा तू निश्चयसे जान इसलिये तू इस आत्माको छोड । जिसे ज्ञान ज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूति रूपी अनादि-रमणीके पास जा रहा है । अहो ! इस पुरुषके शरीर के पुत्रके आत्मा ! तू इस पुरुषके आत्मासे जन्य नही है, ऐसा तू निश्चयसे जान । इसलिये तू इस आत्माको छोड़ । जिसके ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि जन्यके पास जा रहा है । इस प्रकार बडोसे स्त्रीसे और पुत्रसे अपनेको छुड़ाता है ।

तथा अहो काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन, और तदुभयसे सपन्न ज्ञानाचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हू कि तू शुद्धात्माका नही है; तथापि मैं तुझे तभी तक अगीकार करता हू जब तक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूं । अहो निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सकत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना लक्षण वाले दर्शनाचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूं कि तू शुद्धात्माका नही है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हू जब तक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध

अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीत तत इममात्मानं युवां विमुञ्चतं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीररमण्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मानं न त्वं रमयसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादिरमणीमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीरपुत्रस्यात्मन्, अस्य जनस्यात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजन्यमुपसर्पति । एवं गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति । तथा अहोकालविनयोपधानबहुमानानिह्नवार्थव्यञ्जनतदुभयसंपन्नत्वलक्षणज्ञानाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो निःशङ्कितत्वनिःकाङ्क्षितत्वनिर्विचिकित्सत्वनिर्मूढदृष्टित्वोपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणदर्शना-

धातु—आ षद्लृ गतौ । उभयपदविवरण— बंधुवग्ग बन्धुवर्ग-द्वि० एक० । विमोचिदो विमोचित –प्रथमा एक० । गुरुकलत्तपुत्तेहिं गु०कलत्रपुत्रैः –तृतीया बहु० । आसिज्ज आसाद्य–सम्बन्धार्थप्रक्रिया कृदन्त अव्यय ।

कर लूं । अहो मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके कारणभूत, पंचमहाव्रतसहित काय-वचन-मनगुप्ति और ईर्या-भाषा-ऐषण-आदाननिक्षेपण-प्रतिष्ठापन समिति लक्षण वाले चारित्राचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूं कि तू शुद्धात्माका नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूं जब तक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूं । अहो अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग लक्षण वाले तपाचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूं कि तू शुद्धात्माका नहीं है तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूं जब तक तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूं ! अहो समस्त इतर अर्थात् वीर्याचारके अतिरिक्त अन्य आचारमें प्रवृत्ति कराने वाली स्वशक्तिके अगोपन लक्षण वाले वीर्याचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूं कि तू शुद्धात्माका नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूं जब तक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूं । इस प्रकार श्रामण्यार्थी पुरुष ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारको अंगीकार करता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि यदि दुःखोंसे छूटनेकी अभिलाषा है तो श्रामण्यको अङ्गीकार करो । अब इस गाथामें बताया गया है कि श्रमण होनेका इच्छुक पुरुष पहिले क्या क्या करता है ?

तथ्यप्रकाश—(१) जो श्रमण होना चाहता है वह बन्धुवर्गको कहता है कि हे इस

चार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत् त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे। अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपणप्रतिष्ठापनसमितिलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे। अहो अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायध्यानव्युत्सर्गलक्षणतपआचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां ताव-

णाणदसणचरित्ततववीरियायार ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचार–द्वितीया एकवचन। निरुक्ति--बध्नाति य स बन्धुः बन्ध बन्धने, गृणाति असौ इति गुरु, कल त्राति इति कलत्र, पुनाति वशं इति पुत्र.। समास–बन्धूना वर्ग बन्धुवर्गस्त ब०, गुरुश्च कलत्रं च पुत्रश्च इति गुरुकलत्रपुत्रा तेभ्य गु०, ज्ञान च दर्शन च

मनुष्यदेहके बन्धुवर्गमे रहने वाले आत्माओ ! इस मनुष्यकी आत्मा आप लोगोंका कुछ भी नही है, इसलिये मैं तुमसे विदा लेता हू. अब यह आत्मा अपने अनादिबन्धुके पास जा रहा है। (२) श्रामण्येच्छु पुरुष माता पितासे कहता है कि इस मनुष्यशरीरके उत्पादककी आत्माओ ! इस मनुष्यका आत्मा तुम दोनोके द्वारा उत्पन्न नही हुआ सो जानो और इस मुझ आत्माको छुट्टी दो, अब यह आत्मा अपने अनादिजनकके पास जा रहा है। (३) श्रामण्येच्छु पुरुष रमणी (स्त्री) से कहता है कि अहो इस मानवशरीरको रमाने वालीकी आत्मा ! तुम इस मनुष्यकी आत्माको नही रमाती हो यह निश्चयसे जानो, अत इस आत्माकी छुट्टी करो, आज यह आत्मा अपनी अनादिरमणी स्वानुभूतिके निकट जा रहा है। (४) श्रामण्येच्छु पुरुष पुत्रसे कहता है कि अहो इस जनशरीरके पुत्रकी आत्मा ! तुम इस जनशरीरकी आत्मासे उत्पन्न नही हुए हो, यह निश्चयसे जानो, अत. इस आत्माको छोडो, अब यह आत्मा अपने ही अनादिजन्य आत्माके निकट जा रहा है। (५) श्रामण्यार्थी पुरुष माता पिता स्त्री पुत्र बन्धुवर्गसे अपनेको हटाकर अब पञ्च आचारोके धारणकी भावना करता है। (६) अहो अष्ट अङ्गसे सम्पन्न ज्ञानाचार ! यद्यपि तुम सहजशुद्ध आत्माके स्वरूप नही हो यह निश्चयसे जानता हूं, तो भी मैं तब तक तुमको अङ्गीकार करता हूं, जब तक तुम्हारे प्रसादसे निर्विकार शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लूं। (७) अहो अष्ट अङ्गोंसे सम्पन्न दर्शनाचार ! यद्यपि तुम सहजशुद्ध आत्माके स्वरूप नही हो यह निश्चयसे जानता हूं, तो भी मैं तुमको तब तक भले प्रकार अङ्गीकार करता हूं, जब तक तुम्हारे प्रसादसे निर्विकार शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लूं। (८) अहो त्रयोदशाङ्गसम्पन्न चारित्राचार ! यद्यपि तुम सहजशुद्ध आत्माके स्वरूप नही हो यह निश्चयसे जानता हूं तो भी मैं तुमको तब तक भले प्रकार अङ्गीकार करता हूं, जब

दासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो समस्तेतराचारप्रवर्तकस्वशक्त्यनिगूहन-लक्षणवीर्याचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । एवं ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति च ॥२०२॥

चारित्रं च तपश्च वीर्यं च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याणि तेषां आचारः ज्ञा० तं ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ॥२०२॥

तक तुम्हारे प्रसादसे निर्विकार शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लूं । (९) अहो द्वादशविध बाह्याभ्यन्तर तप आचार ! यद्यपि तुम शुद्ध आत्माके स्वरूप नहीं हो यह निश्चयसे जानता हूं, तो भी मैं तुम्हे तब तक अङ्गीकार करता हू, जब तक तुम्हारे प्रसादसे निर्विकार शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लू । (१०) समस्त पञ्च आचारोमे लगनेमे अपनी शक्ति न छिपाने वाले वीर्याचार ! *यद्यपि तुम सहज शुद्ध आत्माके स्वरूप नही हो यह निश्चयसे जानता हू तो भी* मैं तुमको तब तक भले प्रकार अङ्गीकार करता हू, जब तक तुम्हारे प्रसादसे निर्विकार शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लू । (११) इस प्रकार सद्भावनासहित यह श्रामण्यार्थी श्रामण्यसिद्धि के लिये किन्ही श्रमण आचार्यके निकट पहुचता है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा सतत सहजशुद्धात्मदृष्टिरूप पुरुषार्थमे शुद्धात्म स्थितिको प्राप्त होता है ।

दृष्टि—१– पुरुषकारनय (१८३) ।

प्रयोग—सहज शाश्वत शान्ति प्राप्त करनेके लिये सर्वसंगमुक्त होकर अविकार सहज ज्ञायकस्वभाव अन्तस्तत्त्वकी सतत आराधना करना ॥२०२॥

अब इसके बाद वह कैसा होता है यह उपदेश करते है—[**श्रमणं**] श्रमण [**गुणाढ्यं**] गुणाढ्य [**कुलरूपवयो विशिष्टं च**] कुल, रूप तथा वयसे विशिष्ट और [**श्रमणैः इष्टतरं**] श्रमणोको अति इष्ट [**तम् अपि गणिनं**] ऐसे गणीको [**प्रणतः**] प्रणत होता हुआ [**माम् प्रतीच्छ इति**] 'मुझे स्वीकार करो' ऐसा निवेदन करता हुआ [**अनुग्रहीतः**] अनुग्रहीत होता है ।

तात्पर्य—श्रामण्यार्थी आचार्य द्वारा दीक्षा शिक्षासे अनुगृहीत होता है ।

टीकार्थ—तदनन्तर श्रामण्यार्थी प्रणत और अनुग्रहीत होता है । **स्पष्टीकरण**—आचरण करनेमे और आचरण करानेमे आने वाली समस्त विरतिकी प्रवृत्तिके समान आत्मरूप श्रामण्यपनेके कारण 'श्रमण' व ऐसे श्रामण्यका आचरण करनेमे और आचरण करानेमे प्रवीण होनेसे 'गुणाढ्य' सर्वलौकिक जनोंके द्वारा निःशंकतया सेवा करने योग्य होनेसे और

अथातः कीदृशो भवतीत्युपदिशति —

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं ।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥२०३॥

श्रमण गणी गुणसंयुत, कुलरूपवयोविशिष्ट मुनिप्रिय तर ।
सूरिको नमि अनुग्रह याचे होता अनुगृहीत भि ॥२०३॥

श्रमण गणिनं गुणाढ्यं कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम् । श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीतः ॥

ततो हि श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति । तथाहि—आचरिताचारितसमस्तविरतिप्रवृत्तिसमानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणं, एवंविधश्रामण्याचरणाचारणप्रवीणत्वात् गुणाढ्यं, सकललौकिकजननिःशङ्कसेवनीयत्वात् कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टं, अन्तरङ्गशुद्धरूपानुमापकबहिरङ्गशुद्धरूपत्वात् रूपविशिष्टं, शैशववार्धक्यकृतबुद्धिविक्लवत्वाभा-

---

नामसंज्ञ—समण गणि गुणड्ढ कुलरूववयोविसिट्ठ इट्ठदर समण त पि पणद अम्ह च इदि अणुगहिद । **धातुसंज्ञ**—पडि इच्छ इच्छायां । **प्रातिपदिक**—श्रमण गणिन् गुणाढ्य कुलरूपवयोविशिष्ट इष्टतर श्रमण तत् अपि प्रणत अस्मद् च इति अनुगृहीत । **मूलधातु**—प्रति इषु इच्छायां । **उभयपदविवरण**—समणं श्रमणं गणिं गणिनं गुणड्ढं गुणाढ्यं कुलरूववयोविसिट्ठं कुलरूपवयोविशिष्टं इट्ठदरं इष्टतरं—द्वितीया

कुलक्रमागत क्रूरतादि दोषोंसे रहित होनेसे 'कुलविशिष्ट' अंतरंग शुद्ध रूपका अनुमान कराने वाला बहिरंग शुद्धरूप होनेसे 'रूपविशिष्ट' बालकत्व और वृद्धत्वसे होने वाली बुद्धिविक्लवता का अभाव होनेसे तथा यौवनोद्रेककी विक्रियासे रहित बुद्धि होनेसे 'वय विशिष्ट' और यथोक्त श्रामण्यका आचरण करने तथा आचरण कराने संबंधी पौरुषेय दोषोंको निःशेषतया नष्ट कर देनेसे मुमुक्षुओंके द्वारा अत्यन्त मान्य होनेसे 'श्रमणोंको अतिइष्ट' गणी व शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिके साधक आचार्यको 'शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप सिद्धिसे मुझे अनुगृहीत करो' ऐसा कहकर (श्रामण्यार्थी) निकट जाता हुआ प्रणत होता है । 'इस प्रकार यह तेरी शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप सिद्धि' ऐसा कहकर उस गणीके द्वारा (वह श्रामण्यार्थी) प्रार्थित अर्थसे संयुक्त किया जाता हुआ अनुगृहीत होता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि श्रामण्यार्थी पुरुष बन्धु जनोंको किस प्रकार संबोध कर श्रामण्यकी प्राप्तिके लिये गणी श्रमणके निकट जाता है । अब इस गाथामें यह बताया गया है कि गणी श्रमणके निकट पहुंचकर क्या करता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रामण्यार्थी पुरुष अनेकगुणविशिष्ट आचार्यके निकट पहुंचता है । (२) आचार्य श्रमण है अर्थात् समस्त आचरण व विरक्तिमें जैसा समस्त साधुवोंके अन्तर्बाह्य

वार्द्धावनोद्रेकविक्रियाविविक्तबुद्धित्वाच्च वयोविशिष्ट, निःशेषितयथोक्तश्रामण्याचरणाचरणवि-षयपौरुषेयदोषत्वेन मुमुक्षुभिरभ्युपगततरत्वात् श्रमणैरिष्टतरं च गणिनं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसा-धकमाचार्यं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धया मामनुगृहाणेत्युपसर्पन् प्रणतो भवति। एवमियं ते शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धिरिति तेन प्रार्थितार्थेन संयुज्यमानोऽनुगृहीतो भवति ॥२०३॥

एक०। समणेहिं श्रमणैः–तृतीया बहु०। त–द्वि० एक०। पि अपि च इदि इति–अव्यय। पणदो प्रणतः–प्र० ए० कृदत। पडिच्छ प्रतीच्छ–आज्ञार्थे मध्यम पुरुष एक० क्रिया। म मा–द्वि० ए०। अणुगहिदो अनुगृहीतः–प्रथमा एक० कृदन्त। **निरुक्ति**—गण्यते यस्मिन् स गण· गणस्य प्रमुख. गणी गण सख्याने कोलतीति कुलं कुल संस्त्याने बन्धुषु च भ्वादि अजि गतिक्षेपणयो· भ्वादि अजे वी आदेश वी+असुच् वयस् कुलरूपवयोविशिष्ट तं कु० ॥ २०३ ॥

मुद्रा होती है वैसी ही आचार्यमें है। (३) जैनशासनमें समस्त साधुवोका एक समान आचरण व निवृत्ति होती है, भिन्न भिन्न रूप व मुद्रा नहीं होती। (४) आचार्य पञ्च आचारोंके आचरण करने व करानेमें प्रवीणता होनेसे गुणविशिष्ट हैं। (५) आचार्य कुलक्रमागत क्रूरतादि दोषोंसे रहित होनेसे कुलविशिष्ट हैं, इसी कारण समस्त पुरुषोके द्वारा ये निःशंक सेवनीय होते हैं। (६) अन्तरङ्ग शुद्ध वर्तनाका अनुमान कराने वाला बहिरङ्ग शुद्धरूप होनेसे आचार्य रूपविशिष्ट हैं। (७) आचार्य योग्यवयोविशिष्ट होते है, क्योंकि तभी बचपन व बुढापेमें होने वाली बुद्धिविकलवता नही है, और तभी जवानीका लौकिक जोश नही है। (८) आचार्य सभी श्रमणोको अधिक इष्ट हैं, क्योंकि आचार्यके योग्य पुरुषार्थमें कोई दोष नहीं होनेसे मुमुक्षुवों द्वारा मान्य हैं। (९) श्रामण्यार्थी सम्मान्य शुद्धात्मोपलम्भके साधक आचार्यके निकट जाकर "जैनी दीक्षा देकर शुद्धात्मोपलब्धिरूप सिद्धिसे मुझे अनुगृहीत कीजिये" ऐसा कहकर नम्रीभूत होता है। (१०) आचार्य द्वारा "तुम्हारे लिये यह है शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भकी सिद्धि व उसका साधन जैनी दीक्षा" इस प्रकार अपने प्रयोजनसे युक्त होता हुआ अर्थात् दिगम्बरी दीक्षा लेता हुआ अनुगृहीत होता है।

सिद्धान्त—(१) निश्चयचारित्रप्रधान वृत्तिसे आत्माके ज्ञाननिधिकी सिद्धि होती है।

दृष्टि—१- क्रियानय, पुरुषकारनय, ज्ञाननय (१९३, १८३, १९४)।

प्रयोग—असार संसारमें दुर्लभ ज्ञानसुयोगको पाकर निज शुद्धात्मभावनासे, दर्शन ज्ञान चारित्र तपकी आराधनासे जन्म सफल करना ॥२०३॥

अब इसके बाद भी वह कैसा होता है यह उपदेश करते हैं— **[अहं]** मैं **[परेषां]** दूसरोंका **[न भवामि]** नहीं हूं **[परे मे न]** पर मेरे नहीं हैं, **[इह]** इस लोकमें **[मम]** मेरा **[किंचित्]** कुछ भी **[न अस्ति]** नहीं है,—**[इति निश्चितः]** ऐसा निश्चयवान् और **[जिते-**

अथातोऽपि कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि ।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥२०४॥

मैं परका नहिं मेरे, पर कुछ भी नहीं यों सुनिश्चित कर ।
यथाजात मुद्रा धरि, हो जाता है वह जितेन्द्रिय ॥ २०४ ॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे नास्ति समेह किंचित् । इति निश्चितो जितेन्द्रियः जातो यथाजातरूपधरः ॥

ततोऽपि श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधरो भवति । तथाहि—अहं तावन्न किंचिदपि परेषां भवामि परेऽपि न किंचिदपि मम भवन्ति, सर्वद्रव्याणां परैः सह तत्त्वतः समस्तसंबन्धशून्य-

---

नामसंज्ञ—ण अम्ह पर ण अम्ह पर ण अम्ह इह किंचि इदि णिच्छिद जिदिंद जाद जधजादरूवधर । **धातुसंज्ञ**—हो सत्ताया, अस सत्ताया । **प्रातिपदिक**—न अस्मद् पर न अस्मद् पर न अस्मद् इह किंचित इति निश्चित जितेन्द्रिय जात यथाजातरूपधर । **मूलधातु**—भू सत्तायां, अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—ण न इदि इति-अव्यय । अहं णिच्छिदो निश्चितः जिदिदो जितेन्द्रियः जादो जातः जहजादरूवधरो यथाजातरूपधरः-प्रथमा एकवचन । होमि भवामि-वर्तमान उत्तम० एक० क्रिया । परेसिं परेषां-षष्ठी बहु० । मे मज्झं

न्द्रियः] जितेन्द्रिय होता हुआ [यथाजातरूपधरः] यथाजात रूपधर (सहजरूपधारी) [जातः] होता है ।

टीकार्थ—तत्पश्चात् श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधर होता है । इसका स्पष्टीकरण—'प्रथम तो मैं किंचित्मात्र भी परका नही हूं, पर भी किंचित्मात्र मेरे नहीं हैं, क्योंकि समस्त द्रव्य तत्त्वतः परके साथ समस्त सम्बन्धसे रहित हैं; इस कारण इस षड्द्रव्यात्मक लोकमें आत्मासे अन्य कुछ भी मेरा नही है; इस प्रकार निश्चित मति वाला परद्रव्योंके साथ स्व-स्वामि संबंधके आधारभूत इन्द्रियों और नो इन्द्रियोंके जयसे जितेन्द्रिय होता हुआ वह श्रामण्यार्थी आत्मद्रव्यका यथानिष्पन्न शुद्धरूप धारण करनेसे यथाजातरूपधर होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह बताया गया था कि श्रामण्यार्थी आचार्यके निकट जाकर उनसे अपनी साधनाके उपायके लिये निवेदन करता है और आचार्य महाराज उसे स्वीकार कर लेते हैं । अब इस गाथामें बताया गया है कि अब यह श्रामण्यार्थी दिगम्बरी यथाजातरूपको धारण कर लेता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रामण्यार्थी निरखता है कि मैं दूसरोंका किसी भी प्रकार कुछ नही हूं । (२) श्रामण्यार्थी निरखता है कि परपदार्थ भी मेरे कुछ भी नहीं हैं । (३) श्रामण्यार्थीकी दृष्टिमें निश्चित हो गया कि सर्व द्रव्योंका समस्त परपदार्थोंके तत्त्वतः कुछ भी

त्वात् । तदिह षड्द्रव्यात्मके लोके न मम किंचिदप्यात्मनोऽन्यदस्तीति निश्चितमतिः परद्रव्य-स्वस्वामिसबन्धनिबधनानामिन्द्रियनोइन्द्रियाणां जयेन जितेन्द्रियश्च सन् धृतयथानिष्पन्नात्म-द्रव्यशुद्धरूपत्वेन यथाजातरूपधरो भवति ॥२०४॥

मम–षष्ठी एक० । परे–प्र० बहु० । अत्थि अस्ति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । किंचि किंचित्–अव्यय अन्तः प्र० एक० । **निरुक्ति**—पारयतीति पर पृ पूरणे । **समास**—जितानि इन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रिय , यथा-जातरूप धरति इति यथाजातरूपधरः ॥२०४॥

सम्बन्ध नही है । (४) जिसने अपनी परविविक्तताका निश्चय किया है वह परसम्बन्धनिबन्ध-नक इन्द्रिय व मनको जीत लेनेके कारण जितेन्द्रिय होता है । (५) जितेन्द्रिय होता हुआ यह श्रामण्यार्थी यथाजातरूपको धारण कर लेता है, क्योकि यथाजातरूप अर्थात् कषायपरिग्रह-रहित दिगम्बरी मुद्रा आत्मद्रव्यके अविरुद्ध शुद्ध रूप है । (६) निश्चयसे यथाजातरूप स्वसह-जात्मरूप है ।

सिद्धान्त— (१) श्रामण्यार्थी आन्तरिक यथाजातशुद्धात्मरूपको धारण करता है ।

दृष्टि— १– वर्तमान नैगमनय (३) ।

प्रयोग— परविविक्त स्वचेतना मात्र आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिये निर्ग्रन्थ गात्रमात्र जैनी दीक्षा धारण करके ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वको आराधना करना ॥२०४॥

अब अनादिसंसारसे अनभ्यस्त होनेके कारण अत्यन्त अप्रसिद्ध है ऐसे इस यथाजात-रूपधरत्वके बहिरंग और अन्तरंग दो लिगोका—जो कि अभिनव अभ्यासमे कुशलतासे उप-लब्ध होने वाली सिद्धिके सूचक है उनका उपदेश करते है—[**यथाजातरूपजातम्**] जन्म समय के रूप जैसा रूपवाला, [**उत्पाटितकेशश्मश्रुकं**] सिर और दाढी-मूछके बालोका लोच किया हुआ [**शुद्धं**] सर्व लेपसे रहित [**हिंसादितः रहितम्**] हिंसादिसे रहित और [**अप्रतिकर्म**] शारीरिक शृंगारसे रहित [**लिंगं भवति**] श्रामण्यका बहिरंग चिह्न है । [**मूर्च्छारम्भवियु-क्तम्**] ममत्व और आरम्भसे रहित [**उपयोगयोगशुद्धिभ्यां युक्तं**] उपयोग और योगकी शुद्धि से युक्त तथा [**न परापेक्षं**] परकी अपेक्षासे रहित [**जैनं**] जिनेन्द्रदेवकथित [**लिंगम्**] श्रामण्य का अन्तरग लिंग [**अपुनर्भवकारणम्**] मोक्षका कारण है ।

तात्पर्य—निरपेक्ष निर्लेप निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिङ्ग मोक्षका मार्ग है ।

टीकार्थ—वस्तुतः अपने द्वारा यथोक्तक्रमसे यथाजातरूपधर हुए आत्माके अयथाजात-रूपधरत्वके कारणभूत मोहरागद्वेषादिभावोंका अभाव होता ही है, और उनके अभावके कारण, उनके सद्भावमें होने वाले वस्त्राभूषणधारणका, सिर और दाढी मूछोके बालोके रक्षणका

अथैतस्य यथाजातरूपधरत्वस्यासंसारानभ्यस्तत्वेनात्यन्तमप्रसिद्धस्याभिनवाभ्यासकौशलोपलभ्यमानायाः सिद्धेर्गमकं बहिरङ्गान्तरङ्गलिङ्गद्वैतमुपदिशति —

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥२०५॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥२०६॥

यथाजात जिनमुद्रा, कचलुञ्चन विगतवसनभूषणता ।
हिंसारंभरहितता, अप्रति कर्मत्व मुनिलक्षण ॥२०५॥
मूर्च्छारम्भरहितता, उपयोगयोगविशुद्धसंयुतता ।
परापेक्षविरहितता, अपुनर्भवहेतु मुनिलक्षण ॥२०६॥

यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुक शुद्धम् । रहितं हिंसादितोऽप्रतिकर्म भवति लिङ्गम् ॥ २०५ ॥ मूर्च्छारम्भवियुक्तं युक्तमुपयोगयोगशुद्धिभ्याम् । लिङ्गं न परापेक्षमपुनर्भवकारणं जैनम् ॥ २०६ ॥

आत्मनो हि तावदात्मना यथोदितक्रमेण यथाजातरूपधरस्य जातस्यायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययानां मोहरागद्वेषादिभावानां भवत्येवाभावः, तदभावात्तु तद्भावभाविनो निवसनभूषणधारणस्य मूर्धजव्यञ्जनपालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तत्वस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य

नामसंज्ञ— जधजादरूवजाद उप्पाडिदकेसमसुग सुद्ध रहिद हिंसादीदो अप्पडिकम्म लिग मुच्छारभविजुत जुत्त उवजोगजोगसुद्धि लिग ण परावेक्ख अपुणब्भवकारण जेण्ह । धातुसंज्ञ—हव सत्तायां । प्राति-

सकिंचनत्वका सावद्ययोगसे युक्तपनेका तथा शारीरिक संस्कारके करनेका अभाव होता है; जिससे उस आत्माके जन्म समयके रूप जैसा रूप, सिर और दाढ़ी मूछके बालोंका लोच, शुद्धत्व, हिंसादिरहितपना तथा शारीरिक शृंगार-संस्कारका अभाव होता ही है। इसलिये यह बहिरंग लिंग है।

और फिर, आत्माके यथाजातरूपधरत्वसे दूर किये गये अयथाजातरूपधारत्वके कारणभूत मोहरागद्वेषादि भावोंका अभाव होनेसे ही, उनके सद्भावसे होने वाले ममत्वके और कर्मप्रक्रमके परिणामका, शुभाशुभ उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक तथाविध योगकी अशुद्धिसे युक्तपनेका तथा परद्रव्यसे सापेक्षत्वका अभाव होनेसे उस आत्माके मूर्छा और आरम्भसे रहितपना, उपयोग और योगकी शुद्धिसे युक्तपना तथा परकी अपेक्षासे रहितपना होता ही है। इस कारण यह अन्तरंग लिंग है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि श्रामण्यार्थी पुरुष अब यथा-

थाभावद्यथाजातरूपत्वमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्वं शुद्धत्वं हिंसादिरहितत्वमप्रतिकर्मत्वं च भवत्येव, तदेतद्बहिरंगं लिंगम् । तथात्मनो यथाजातरूपधरत्वापसारितायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययमोहराग-द्वेषादिभावानामभावादेव तद्भावभाविनोममत्वकर्मप्रक्रमपरिणामस्य शुभाशुभोपरक्तोपयोगतत्पूर्व-

---

विक—यथाजातरूपजात उत्पाटितकेशश्मश्रुक शुद्ध रहित हिंसादित. अप्रतिकर्म लिङ्ग मूर्च्छारम्भवियुक्त युक्त उपयोगयोगशुद्धि लिङ्ग व परापेक्ष अपुनर्भवकारण जैन । **मूलधातु**—भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—जधजादरूवजाद यथाजातरूपजात उप्पाटिदकेसमसुगं उत्पाटितकेशश्मश्रुक सुद्ध शुद्ध रहिद रहितं अप्प-डिकम्म अप्रतिकर्म लिंग लिङ्ग—प्रथमा एकवचन । हिंसादीदो हिंसादित—अव्यय पचम्यर्थे । हवदि भवति—वर्तमान अन्य एकवचन क्रिया । मुच्छारम्भविजुत्त मूर्च्छारम्भवियुक्त जुत्त युक्त लिंग लिङ्ग परावेक्खं परापेक्ष अपुणब्भवकारण अपुनर्भवकारण जेण्ह जैन—प्रथमा एकवचन । उवजोगजोगसुद्धीहिं—तृतीया

जातरूपधारी हो जाता है अर्थात् निर्ग्रन्थदीक्षा धारण कर लेता है । अब इस गाथामे यथाजात रूपके बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग चिह्नोको बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) यथाजातरूप (तत्काल उत्पन्न नग्न शिशुवत् सहजात्मरूप) धारण करने वाले पुरुषके अयथाजातरूपधरता (सपरिग्रहता) के कारण होते रहने वाले मोह राग द्वेष आदि विकारोंका अभाव हो जाता है । (२) मोहरागद्वेषादिभावोका अभाव हो जानेसे अब वस्त्राभूषणोका धारण कैसे बने, क्योंकि वस्त्राभूषणधारण तो मोह रागद्वेष भावोके होनेपर होता है, अतः नग्नत्व हो जाता है । (३) मोहरागद्वेषादि भावोका अभाव हो जानेसे अब शिर मूछ दाढ़ीके बालोंको कैसे सम्भाला जाय, अतः केश मूंछ दाढीके बालोको उखाड दिया जाता है । (४) मोहरागद्वेषादिभावोंका अभाव हो जानेसे सकिञ्चनता अर्थात् किसी चीजका रखना कैसे बने, अतः शुद्धता, निर्लेपता, निष्परिग्रहता प्रकट होती है । (५) मोहरागद्वेषादि का अभाव हो जानेसे सावद्य आरम्भका योग कैसे बने, अतः हिंसादिरहितपना सिद्ध होता है । (६) मोहरागद्वेषादिका अभाव हो जानेसे अब शरीरके सस्कारका करना कैसे बने, अतः शारीरिक संस्कार व शृङ्गारका अभाव हो जाता है । (७) नग्नत्व, केशलुञ्च, निष्परिग्रहत्व, हिंसादिरहित तथा अप्रति कर्मत्व (शारीरिक सस्कार शृङ्गाररहितपना) ये यथाजातरूप मुद्रा के बहिरङ्ग लिङ्ग (चिह्न) हैं । (८) सहजात्मरूप धारण करनेसे मोहरागद्वेषादि विकारभाव का अभाव हो जाता है । (९) मोहरागद्वेषादिका अभाव हो जानेसे ममत्व परिणाम कैसे बने, अतः मूर्च्छारहितपना प्रकट होता है । (१०) मोहरागद्वेषादिका अभाव होनेसे किसी लौकिक कार्यमें कैसे लगा जाय, अतः आरम्भरहितपना प्रकट होता है । (११) मोहरागद्वेषादिका अभाव होनेसे अब उपयोग शुभ व अशुभ भावोसे कैसे उपरक्त होवे, अतः निर्विकार स्वसंवेदन होनेसे उपयोगशुद्धि हो जाती है अर्थात् शुद्धोपयोग होता है । (१२) विकाराभावके कारण

कतयाविषयोगाशुद्धियुक्तत्वस्य परद्रव्यसापेक्षत्वस्य चाभावान्मूर्च्छारम्भवियुक्तत्वमुपयोगयोगशुद्धियुक्तत्वमपरापेक्षत्वं च भवत्येव, तदेतदन्तरंगं लिंगम् ॥ २०५-२०६ ॥

बहु० । उपयोगयोगशुद्धिभ्यां-तृतीया द्विवचन । ण न-अव्यय । निरुक्ति- क्लिश्नातीति केशः क्लिशू विबाधने क्लिश+अच् ललोपः, श्म पुमुखं श्रूयते लक्ष्यते अनेन इति श्मश्रु । समास- उत्पाटितः केशः श्मश्रुकः यत्र तत् उत्पाटितकेशश्मश्रुकं, मूर्च्छा च आरम्भश्च मूर्च्छारम्भौ ताभ्यां वियुक्त मूर्च्छारम्भवियुक्तं, उपयोगश्च योगश्चेति उपयोगयोगौ तयोः शुद्धिः उपयोगयोगशुद्धिः ताभ्याम् उपयोगयोगशुद्धिभ्याम् ॥२०५-२०६॥

शुभ व अशुभ उपयोग न होनेसे योग अशुद्ध कैसे बने, अतः निर्विकल्पसमाधिरूप योगशुद्धत्व प्रकट होता है, अब मन वचन कायकी चञ्चलता नहीं रहती । (१३) मोहरागद्वेषादिभावका अभाव होनेसे परकी अपेक्षा कैसे बने, अतः निर्मलानुभूति परिणति व निरपेक्ष सहज ज्ञानवर्तना होती है । (१४) मूर्च्छारहितपना, आरम्भभावरहितपना, शुद्धोपयोग, स्थिरपना व निरपेक्षपना ये यथाजातरूप मुद्राके अन्तरङ्ग लिङ्ग (चिह्न) हैं ।

सिद्धान्त — १- अन्तरङ्ग बहिरङ्ग उपाधियोका अभाव होनेसे शुद्ध परिणति प्रकट होती है ।

दृष्टि— १- उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४अ) ।

प्रयोग—निरुपाधि शुद्ध शान्त सहजानन्दमय स्वरूप प्रकट करनेके लिये निरुपाधिमुद्रा मे रहकर सहज शुद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी उपासना करना ॥ २०५-२०६ ॥

अब श्रामण्यार्थी इन दोनों लिंगोंको ग्रहण करके, और यह यह करके श्रमण होता है, इस प्रकार भवतिक्रियामें बंधुवर्गसे विदा लेनेरूप क्रियासे लेकर शेष सभी क्रियाओंका एक कर्ता दिखलाते हुये, इतना करनेसे श्रामण्यकी प्राप्ति होती है, यह उपदेश करते हैं—[**परमेण गुरुणा**] परम गुरुके द्वारा प्रदत्त [**तदपि लिंगम्**] उन दोनों लिंगोंको [**आदाय**] ग्रहण करके, [**तं नमस्कृत्य**] गुरुको नमस्कार करके, [**सव्रतां क्रियां श्रुत्वा**] व्रत सहित क्रियाको सुनकर [**उपस्थितः**] आत्माके समीप स्थित होता हुआ [**सः**] वह [**श्रमणः भवति**] श्रमण होता है ।

तात्पर्य—बहिरंग अन्तरंग लिङ्ग ग्रहण करके शिक्षा सुनकर स्वस्थ होता हुआ वह श्रमण होता है ।

टीकार्थ—तत्पश्चात् श्रमण होनेका इच्छुक दोनो लिंगोको ग्रहण करता है, गुरुको नमस्कार करता है, व्रत और क्रियाको सुनता है और फिर उपस्थित होता है; तथा उपस्थित होता हुआ श्रामण्यकी सामग्री परिपूर्ण होनेसे श्रमण होता है । इसका स्पष्टीकरण—प्रथम

अथैतदुभयलिंगमादायैतदेतत्कृत्वा च श्रमणो भवतीति भवतिक्रियायां बन्धुवर्गप्रच्छन-क्रियादिशेषसकलक्रियाणां चैककर्तृकत्वमुद्योतयन्नियता श्रामण्यप्रतिपत्तिर्भवतीत्युपदिशति—

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता ।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥२०७॥

इस मुद्राको लेकर, गुरुसे गुरुको प्रणाम करि व्रतको ।
और क्रियाको सुनकर, धारण करके श्रमण होता ॥२०७॥

आदाय तदपि लिंग गुरुणा परमेण त नमस्कृत्य । श्रुत्वा सव्रतां क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमण. ॥२०७॥

ततोऽपि श्रमणो भवितुमिच्छन् लिंगद्वैतमादत्ते गुरुं नमस्यति व्रतक्रिये श्रृणोति अथो-पतिष्ठते उपस्थितश्च पर्याप्तश्रामण्यसामग्रीक श्रमणो भवति । तथाहि— तत इदं यथाजातरूप-धरत्वस्य गमकं बहिरंगमन्तरंगमपि लिंग प्रथममेव गुरुणा परमेणार्हद्भट्टारकेण तदात्वे च दी-

नामसंज्ञ—त पि लिंग गुरु परम त सवद किरिय उवट्ठिद त समण । **धातुसंज्ञ**— आ दा दाने, नम नम्रीभावे, सुण श्रवणे, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—तत् अपि लिङ्ग गुरु परम तत् सव्रता क्रिया उपस्थित तत् श्रमण । **मूलधातु**— आ दा दाने, नम नम्रीभावे श्रु श्रवणे । **उभयपदविवरण**—आदाय णमसित्ता

ही परमगुरु अर्हंत भट्टारक द्वारा और उस समय दीक्षा कालमे दीक्षाचार्य द्वारा इस यथाजात रूपधरत्वके सूचक बहिरंग तथा अन्तरंग लिंगके ग्रहणकी विधिके प्रतिपादकपना होनेसे, व्यवहारसे दिया जाने वाला होनेसे दिये गये उन लिंगोको ग्रहण क्रियाके द्वारा सम्मानित करके श्रामण्यार्थी तन्मय होता है । और फिर जिन्होने सर्वस्व दिया है ऐसे मूल और उत्तर परम-गुरुको, भाव्यभावकताके कारण प्रवर्तित इतरेतरमिलनके कारण जिसमे स्वपरका विभाग अस्त हो गया है ऐसी नमस्कार क्रियाके द्वारा सम्मानित करके भावस्तुतिवन्दनामय होता है । पश्चात् सर्व सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रतको सुननेरूप श्रुतज्ञानके द्वारा समयमे परिणमित हो रहे आत्माको जानता हुआ सामायिकमे आरूढ होता है । पश्चात् प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानस्वरूप क्रियाको सुननेरूप श्रुतज्ञानके द्वारा त्रैकालिक कर्मोसे भिन्न किये जाने वाले आत्माको जानता हुआ, अतीत-अनागत-वर्तमान, मन-वचन-काय सम्बधी कर्मोसे विविक्तताको निरखता है । पश्चात् समस्त सावद्य कर्मोके आयतनभूत कायका उत्सर्ग करके यथाजातरूप वाले स्वरूपको, एकको एकाग्रतया अवलम्बित करके रहता हुआ उपस्थित होता है । और उपस्थित होता हुआ, सर्वत्र समदृष्टित्वके कारण साक्षात् श्रमण होता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमे श्रमणका बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग लिङ्ग बताया गया था । अब इस गाथामे कैसे श्रामण्यकी प्राप्ति होती है यह बताया गया है ।

क्षाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया संभाव्य तन्मयो भवति। ततो भाव्यभावकभावप्रवृत्तेतरेतरसंवलनप्रत्यस्तमितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तरपरमगुरुनमस्क्रियया सभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति। ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमधिरोहति। ततः प्रतिक्रमणालोचनप्रत्याख्यानलक्षणक्रियाश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन त्रैकालिककर्मभ्यो विविच्यमानमात्मानं जानन्नतीतप्रत्युपन्नानुपस्थितकायवाङ्मनःकर्मविविक्तत्वमधिरोहति। ततः समस्तावद्यकर्मायतनं कायमुत्सृजय यथाजातरूपं स्वरूपमेकमेकाग्रेणालम्ब्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति, उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति ॥२०७॥

नमस्कृत्य सोच्चा श्रुत्वा-सम्बन्धार्थप्रक्रिया। त लिंगं लिङ्ग त सवद सव्रता किरिय क्रिया-द्वितोया एकवचन। पि अपि-अव्यय। गुरुणा-तृ० एक०। परमेण-तृ० ए०। उवट्ठिदो उपस्थितः सो सः समणो श्रमण -प्र० एक०। होदि भवति-वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। निरुक्ति- गृणाति उपदिशति धर्मं इति गुरु गिरति अज्ञान इति गुरु गृ शब्दे क्र्यादि गृ निगरणे तुदादि गृ विज्ञान चुरादि, गीर्यते स्तूयते देवादिभि इति गुरु ॥२०७॥

तथ्यप्रकाश—(१) श्रामण्यार्थीने परमगुरु अर्हन्त देवसे व तत्काल दीक्षाचार्यसे यथाजातरूपताके गमक बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग लिङ्गको ग्रहण किया। (२) दीक्षाके ग्रहणके विधान का प्रतिपादकपना होनेसे व्यवहारतः दीक्षाका देना कहलाता है। (३) दीयमान लिङ्गोंको अङ्गीकार करके यह साधु सभक्ति शुद्ध भावोमे तन्मय होता है। (४) फिर आराध्य आराधक भावकी शुद्धता द्वारा स्वपरविभाग शान्त करके अभेद आराधनासे परमगुरुको सम्मानित कर यह साधु भावस्तवमय होता है। (५) फिर उपास्य उपासक भावकी शुद्धता द्वारा स्वपर विभाग शान्त करके अभेदोपासनासे परमगुरुको भावनमस्कार क्रियासे सम्मानितकर यह साधु भाववन्दनामय होता है। (६) फिर सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप महाव्रतके भावोंके श्रवणसे अनेक श्रुतियोके अनुभवसे यह साधु स्वाध्यायमय होता है। (७) सर्वसावद्यत्यागस्वरूप महाव्रतादि प्रक्रियाके श्रवणके समय श्रुतज्ञान द्वारा स्वसमयमे होने वाले शुद्धात्मत्वको अनुभवता हुआ यह साधु साम्यभावको प्राप्त होता है। (८) फिर प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचनविषयक श्रुतज्ञान द्वारा त्रैकालिक कर्मोंसे रहित सहज ज्ञानमात्र शुद्ध अन्तस्तत्त्वको अनुभवता है। (९) फिर समस्त अवद्यके कारणभूत कायका विकल्प पूर्णतया त्यागकर यथाजात आत्मस्वरूप का आश्रय कर आत्मस्थ होता है। (१०) आत्माके निकट उपस्थित होता हुआ यह साधक समदृष्टि होनेसे साक्षात् श्रमण होता है।

सिद्धान्त—(१) श्रमण आत्माके शाश्वत सहजस्वरूपको निरखता रहता है। (२) श्रमण शुद्धात्मस्वरूपकी भावनासे निर्विकार हो जाता है।

अथाविच्छिन्नसामायिकाधिरूढोऽपि श्रमणः कदाचिच्छेदोपस्थापनमर्हतीत्युपदिशति—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥२०८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥२०९॥

व्रत समिति अक्षरोधन, अचेल अस्नान लोच आवश्यक ।
भूशयन अदंतघसन स्थितिभोजन एकभुक्ति तथा ॥२०९॥
अट्ठाबीस मूल गुण, श्रमणोंके ये जिनेशने भाखे ।
उनमें प्रमत्त साधु, छेदोपस्थापना करता ॥२१०॥

व्रतसमितीन्द्रियरोधो लोचावश्यकमचेलमस्नानम् । क्षितिशयनमदन्तधावन स्थितिभोजनमेकभक्त च ।२०८।
एते खलु मूलगुणाः श्रमणाना जिनवरैः प्रज्ञप्ताः । तेषु प्रमत्त श्रमणः छेदोपस्थापको भवति ॥ २०९ ॥

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तिवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं तत्परिकरश्च पञ्चतयी समितिः पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः षट्तयमाव-

नामसंज्ञ—वदसमिदिंदियरोध लोचावस्सय अचेल अण्हाण खिदिसयण अदत वण णिदिभोयण एगभत्त च एत खलु मूलगुण समण जिणवर पण्णत्त त पमत्त समण छेदोवट्ठावग । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—व्रतसमितीन्द्रियरोध लोचावश्यक अचेल अस्नान क्षितिशयन अदन्तधावण स्थितिभोजन एकभक्त ने एतत् खलु मूलगुण श्रमण जितवर प्रज्ञप्त तत् प्रमत्त श्रमण छेदोपस्थापक । **मूलधातु**—भू सत्तायां ।

दृष्टि—१– उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२१)। २– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—यथाख्यात आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये यथाजातरूपधारी होकर यथाजात सहजात्मस्वरूपको सतत अभेदोपासनाका पौरुष होना ॥२०७॥

अब अविच्छिन्न सामायिक संयममें आरूढ़ हुआ होनेपर भी श्रमण कदाचित् छेदोपस्थापनाके योग्य है, यह कहते हैं—[**व्रतसमितीन्द्रियरोधः**] व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, [**लोचावश्यकम्**] लोच, आवश्यक, [**अचेलम्**] अचेल, [**अस्नानं**] अस्नान, [**क्षितिशयनम्**] भूमिशयन, [**अदंतधावनं**] अदंतधावन, [**स्थितिभोजनम्**] खड़े खड़े भोजन [**च**] और [**एकभक्तं**] एक बार आहार [**एते**] ये [**खलु**] वास्तवमें [**श्रमणानां मूलगुणाः**] श्रमणोंके मूल गुण [**जिनवरैः प्रज्ञप्ताः**] जिनवरोंके द्वारा कहे गये है; [**तेषु**] उनमें [**प्रमत्तः**] प्रमत्त होता हुआ [**श्रमणः**] श्रमण [**छेदोपस्थापकः भवति**] छेदोपस्थापक होता है ।

प्रयकमचेलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैवं एते निर्विकल्पसामायि-कसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव । तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेना-नभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयांगुलीयादिपरिग्रहः किल

उभयपदविवरण—वदसमिदिंदियरोधो व्रतसमितीन्द्रियरोध: लोचावस्सयं लोचा वश्यक अचेलं अण्हाणं अस्मान खिदिसयणं क्षितिशयनं अदंतवण अदन्तधावनं ठिदिभोयण स्थितिभोजन एगभत्तं एकभक्तं-प्रथमा एकवचन । च खलु-अव्यय । एदे एते मूलगुणा मूलगुणा:-प्रथमा बहुवचन । समणाण श्रमणानां-षष्ठी

तात्पर्य—मूल गुणोंमे प्रमाद होनेपर श्रमण छेदोपस्थापनाका धारण करता है ।

टीकार्थ—सर्व सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रतकी व्यक्तियाँ होनेसे हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहकी विरतिस्वरूप पांच प्रकारके व्रत तथा उसकी परिकर-भूत पांच प्रकारकी समिति, पांच प्रकारका इन्द्रियरोध, लोच, छह प्रकारके आवश्यक, अचेल-कत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदतधावन अर्थात् दतौन नही करना, खड़े खड़े भोजन, और एक बार आहार लेना; इस प्रकार ये निर्विकल्प सामायिकसंयमके भेद होनेसे श्रमणोंके मूल गुण ही है । जब श्रमण निर्विकल्प सामायिकसंयममें आरूढ़ताके कारण मूलगुणरूप विकल्पोंका अभ्यास नही है जहाँ ऐसी दशामें प्रमाद करता है, तब 'केवल सुवर्णमात्रके अर्थीको कुण्डल, कंकण, अंगूठी आदिको ग्रहण करना श्रेय है, किन्तु ऐसा नहीं है कि कुण्डल इत्यादिका ग्रहण कभी न करके सर्वथा स्वर्णकी ही प्राप्ति करना ही श्रेय है' ऐसा विचार करके वह मूल गुणोमे विकल्परूपसे (भेदरूपसे) अपनेको स्थापित करता हुआ छेदोपस्थापक होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि साधक कैसे श्रामण्यकी प्राप्ति करता है । अब इस गाथामे बताया गया है कि सतत सामायिक संयममें आरूढ़ हुआ भी श्रमण कभी (कदाचित्) छेदोपस्थापनाके योग्य होता है ।

तथ्यप्रकाश—१– निर्विकल्प सामायिकसंयमके विकल्प श्रमणोंके मूल गुण कहे जाते हैं । २– वास्तवमे श्रमणोंका मूल गुण यह एक ही है—निर्विकल्प सामायिक संयम । ३– निर्विकल्प सामायिक संयममे संज्वलनचतुष्कके विपाकके कारण सतत नहीं रहा जानेपर श्रमण विकल्परूप संयमोंको पालता है । ४– अभेदरूपसे संयम पालना सामायिक संयम है । ५– भेदरूपसे संयमपालन छेदोपस्थापनासयम है । ६– निर्विकल्पसामायिकसंयममें अखण्डैकज्ञायक-स्वभाव सहजपरमात्मतत्त्वकी उपासना रहती है । (७) छेदोपस्थापनासंयममें अहिंसामहाव्रत सत्यमहाव्रत आदि नाना रूपोंमें संयमपालन होता है । ८– भेदसंयममें कुछ दोष या च्युति

श्रेयान्, न पुनः सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति ॥२०८-२०६॥

बहुवचन। जिणवरेहिं जिनवरैं –तृतीया बहुवचन। पण्णत्ता प्रज्ञप्ता –प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया। तेसु तेषु–सप्तमी बहुवचन। पमत्तो प्रमत्त. समणो श्रमण छेदोवट्ठावगो छेदोपस्थापक –प्रथमा एकवचन। होदि भवति–वर्तमान अन्य० एकवचन क्रिया। निरुक्ति—वरण व्रत वृञ् वरणे दिवादि क्र्यादि, सम् अयनं समितिः सम् इण् गतौ, क्षियति प्राणी यत्र सा क्षिति क्षि निवास गत्योः भ्वादि लुचन लुच. लुच् अपनयने चिल्यते आच्छाद्यते अङ्ग अनेन इति चेल चेल नास्ति यत्र तत् अचल चिल वसने आच्छादने च स्वादि। समास–छेदे सति उपस्थापक इति छेदोपस्थापक. ॥२०८-२०६॥

होनेपर प्रायश्चित्तविधानसे पुनः सयममे आना भी छेदोपस्थापना सयम कहलाता है, परतु निर्विकल्प सामायिक संयम और व्रतादिभेदरूप मूलगुण इन दोनोकी तुलनाके प्रकरणसे दोष निवृत्ति वाला छेदोपस्थापनासयमका ग्रहण नही है। (६) सामायिकसंयमार्थी सयमविकल्पोको अर्थात् २८ मूल गुणोको पालता है जैसे कि सुवर्णार्थी पुरुष कटककुण्डलादि आभूषणोका परिग्रहण करता है। (१०) सामायिकसयमके विकल्परूप गुण २८ है—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियनिरोध, ६ आवश्यक, ७ शेष क्रियायें। (११) समस्तसावद्ययोगका प्रत्याख्यान एक महाव्रत है। (१२) महाव्रतकी व्यक्तियाँ ५ हैं—अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्यमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत व परिग्रहात्यागमहाव्रत। (१३) श्रमणोके शेष २३ मूल गुण महाव्रतोंका अनुसरण करने वाले है। (१४) उपेक्षासंयममे न रह पानेसे प्रवृत्ति करनेपर स्वपरकरुणासहित प्रवृत्ति करना समिति है। (१५) विहार, भाषण, आहार, उपकरणोका ग्रहण निक्षेप व मलोत्सर्गमे हिंसापरिहारपूर्वक प्रवृत्ति करना ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण व प्रतिष्ठापना समिति है। (१६) पञ्च इन्द्रियके विषयोके वश न होकर उनपर विजय पाना ५ इन्द्रियनिरोध है। (१७) समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय व कायोत्सर्ग ये ६ आवश्यक है। (१८) केश लोच निर्वस्त्रता, अस्नान, भूशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन व एक बार लघु भोजन ये ७ शेष गुण है। (१६) श्रमणोके २८ मूल गुणोंमे किसी गुणके पालन मे प्रमाद होनेपर उस प्रमादको दूर करके फिर निर्दोष गुणपालन करना छेदोपस्थापना है।

सिद्धान्त—१– अविकार ज्ञानस्वभाव शुद्धात्माके अविरुद्ध प्रवर्तनसे मोक्षपुरुषार्थ सम्पन्न होता है।

दृष्टि—१– पुरुषकारनय, क्रियानय, ज्ञाननय (१८३, १६३, १६४)।

प्रयोग—श्रामण्यदीक्षा लेकर २८ मूल गुणोका पालन कर शुद्ध ज्ञानानन्दमय अवस्था की प्राप्तिके साधनभूत निर्विकल्प सामायिक संयमकी साधना करना ॥२०८-२०६॥

अथास्य प्रव्रज्यादायक इव छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्तीत्याचार्यविकल्पप्रज्ञापनद्वारेणोपदिशति—

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥२१०॥

जिनसे दीक्षा ली है, वे गुरु दीक्षागुरु हैं कहलाते ।
छेदोपस्थाप निर्यापक वे या इतर होते ॥२१०॥

लिङ्गग्रहणे तेषा गुरुरिति प्रव्रज्यादायको भवति । छेदयोरुपस्थापकाः शेषा निर्यापकाः श्रमणा ॥२१०॥

यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरु., यः पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसंयमप्रतिपादकत्वेन छेदं प्रत्युपस्थापकः

नामसंज्ञ—लिंगग्गहण त त्ति पव्वज्जदायग छेद उवट्ठावग सेस णिज्जावग समण । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—लिङ्गग्रहण तत् गुरु इति प्रव्रज्यादायक छेद उवट्ठावग सेस णिज्जावग समण । **मूलधातु**—भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—लिंगग्गहणे लिङ्गग्रहणे—सप्तमी एक० । तेसिं तेषां—षष्ठी एक० ।

अब श्रमणके प्रव्रज्यादायककी भाँति छेदोपस्थापक दूसरा भी होता है यह, आचार्य विकल्पप्रज्ञापन द्वारा उपदेश करते है—[**तेषां**] मुनियोका [**लिंगग्रहणे**] लिंगग्रहणके समय [**प्रव्रज्यादायकः भवति**] जो दीक्षा दायक है वह तो [**गुरुः इति**] दीक्षा गुरु है, और [**छेदयोः उपस्थापकाः**] जो छेदद्वयमे उपस्थापक है [**शेषाः श्रमणाः**] वे शेष श्रमण [**निर्यापकाः**] निर्यापक गुरु है ।

तात्पर्य—दीक्षागुरुनिर्यापक गुरु भी होते हैं, किन्तु दीक्षागुरुके अभावमे निर्यापक गुरु दूसरे कोई श्रमण हो सकते हैं ।

टीकार्थ—जो आचार्य लिंगग्रहणके समय निर्विकल्प सामायिकसंयमके प्रतिपादक होने से जो आचार्य प्रव्रज्यादायक है वे गुरु है; और फिर तदनन्तर सविकल्प छेदोपस्थापना संयमके प्रतिपादक होनेसे छेदके प्रति उपस्थापक है वे निर्यापक हैं; उसी प्रकार जो भी छिन्न संयमके प्रतिसंधानकी विधिके प्रतिपादक होनेसे छेद होनेपर उपस्थापक है, वे भी निर्यापक ही है । इसलिये छेदोपस्थापक, दूसरे भी होते हैं ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमे सामायिकसंयम व छेदोपस्थापनासंयमका मौलिक निर्देश किया गया था । अब इस गाथामें दीक्षादायक व छेदोपस्थापक आचार्य श्रमणों के उपकारका निर्देश किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१- जो दीक्षा देने वाले श्रमण हैं वे प्रव्रज्यादायक कहलाते हैं । २- प्रव्रज्यादायक गुरुने दीक्षाग्रहण कालमें शिष्यको निर्विकल्प सामायिकसंयमका उपदेश किया

स निर्यापकः, योऽपि छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव । ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति ॥२१०॥

गुरु गुरुः पव्वज्जदायगो प्रव्रज्यादायक.- प्रथमा एक० । छेदेसु-सप्तमी बहु० । छेदयो.-सप्तमी द्वि० । उवट्ठवगा उपस्थापकाः सेसा शेषा णिज्जावगा निर्यापकाः समणा श्रमणाः-प्रथमा बहु० । होदि भवति-वर्त० अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति- गृणाति धर्मं उपदिशति यः स गुरु शिष्यते इति शेष शिष्+अच् शिष् असर्वोपयोगे चुरादि । समास-लिङ्गस्य ग्रहण लिङ्गग्रहण, प्रव्रज्याया दायक प्रव्रज्यादायकः ।२१०।

था । ३- उसी प्रव्रज्यादायक गुरुने फिर निर्विकल्प सामायिक संयमके विकल्परूप छेदोपस्थापनासंयमका उपदेश किया था सो वह निर्यापक गुरु भी है । ४- अब छेदोपस्थापनासंयममे अर्थात् २८ मूल गुणों व किन्ही उत्तर गुणोंकी कुछ विराधना हो जाय तो उसका प्रायश्चित्तादि विधानसे जो उपस्थापक होता है वह भी निर्यापक ही है । ५- निर्विकल्पसमाधिरूप सामायिक संयमकी एकदेश च्युति होना एकदेश छेद कहलाता है । ६- निर्विकल्पसामायिकसंयमकी सर्वथा च्युति (नाश) हो जाना सकलदेशच्छेद कहलाता है । ७- निर्विकल्पसामायिक संयमके विकल्परूप मूल गुणोंका भी एकदेशछेद व सकलदेशच्छेद हो सकता है । ८- व्रतोका कोई छेद होनेपर फिरसे शुद्ध करने वाला, उपस्थापन करने वाला श्रमण है, निर्यापक है वह दूसरा श्रमण भी हो सकता है ।

सिद्धान्त—(१) जो दीक्षार्थीको दीक्षा दे वह दीक्षागुरु है । (२) जो श्रमण अन्य साधककी साधनाको निर्दोष बनाये वह निर्यापक है ।

दृष्टि—१, २- आश्रये आश्रयी-उपचारक व्यवहार, पर सम्प्रदानत्व असद्भूत व्यवहार (१५१, १३२) ।

प्रयोग—शाश्वत शान्तिके साधनभूत निर्विकल्प सामायिक संयमकी सिद्धिके लिये निर्ग्रन्थदीक्षा लेकर छेदोपस्थापनासे विशुद्ध होकर निर्विकल्पसमाधिरूप सामायिक संयमरूप परिणाम करना ॥२१०॥

अब छिन्नसंयमके प्रतिसंधानके विधानका उपदेश करते है—[यदि] यदि [श्रमणस्य] श्रमणके [प्रयतायां] प्रयत्नपूर्वक [समारब्धायां] की जाने वाली [कायचेष्टायां] कायचेष्टामें [छेदः जायते] छेद होता है तो [पुनः तस्य] फिर उसका [आलोचनापूर्विका क्रिया] आलोचनापूर्वक क्रिया करना कर्तव्य होता है । [छेदोपयुक्तः श्रमणः] छेदमें उपयुक्त हुआ श्रमण [जिनमते] जैनमतमे [व्यवहारिणं] व्यवहारकुशल [श्रमणं आसाद्य] श्रमणके पास जाकर [आलोच्य] आलोचना करके [तेन उपदिष्टं] निर्यापक द्वारा बताये गये कर्तव्यको [कर्तव्यम्] करे ।

अथ छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानमुपदिशति—

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥२११॥
छेदुवजुत्ता समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥ २१२ ॥

यत्नकृत कायचेष्टा, में कुछ बहिरंग दोष हो जावे ।
तो आलोचनपूर्वक, किरिया है दोषविनिवारक ॥२११॥
दोष उपयोगकृत हो, उसकी आलोचना भि होगी ही ।
जिनमत व्यवहारकथित, अन्य अनुष्ठान आवश्यक ॥२१२॥

प्रयतायां समारब्धायां छेद· श्रमणस्य कायचेष्टायाम् । जायते यदि तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया ।२११।
छेदोपयुक्तः श्रमण· श्रमण व्यवहारिण जिनमते । आसाद्यलोच्योपदिष्ट तेन कर्तव्यम् ।।२१२।।

द्विविधः किल संयमस्य छेदः, बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च । तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरङ्गः, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरंगः । तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः

नामसंज्ञ—पयदसमारद्ध छेद समण कायचेट्ठ जदि त पुणो आलोयणपुव्विया किरिया छेदुवजुत्त समण समण ववहारि जिणमद उवदिट्ठ त कायव्व । **धातुसंज्ञ**—जा प्रादुर्भावे, आ सद गतौ, आ लोच आ-

---

तात्पर्य—व्रतमे कोई दोष होनेपर निर्यापकसे आलोचना करना व निर्यापक द्वार बताये गये प्रायश्चित्तादि कर्तव्यको करना ।

टीकार्थ—संयमका छेद दो प्रकारका है; बहिरंग और अन्तरंग । उसमें मात्र कायचेष्टा सम्बन्धी छेद बहिरंग छेद है और उपयोग सम्बन्धी छेद अन्तरंग छेद है । उसमें, यदि भली भांति उपयुक्त श्रमणके प्रयत्नकृत कायचेष्टाका कथंचित् बहिरंग छेद होता है, तो वह सर्वथा अन्तरंग छेदसे रहित है इस कारण आलोचनापूर्वक क्रियासे ही उसका प्रतिकार होता है । किन्तु यदि वही श्रमण उपयोगसम्बन्धी छेद होनेसे साक्षात् छेदमे ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहारविधिमे कुशल श्रमणके आश्रयसे, आलोचनापूर्वक, उनसे उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा संयमका प्रतिसंधान होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें प्रव्रज्यादायक व छेदोपस्थापक गुरुका निर्देशन किया गया था । अब इस गाथाद्वयमें छिन्नसंयमके प्रतिसंधानका अर्थात् छेदोपस्थापनासंयम का विधान बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१— संयमछेद दो प्रकारका है—(१) बहिरंगसंयमच्छेद, (२) अन्त-

कायचेष्टायाः कथंचिद्बहिरंगच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरंगच्छेदवर्जितत्वादालोचनपूर्विकया क्रिययैव प्रतीकारः। यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोदितव्यवहारविधिविदग्धश्रमणाश्रययालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम् ॥ २११-२१२ ॥

लोचने, का करणे। **प्रातिपदिक**–प्रयता समारब्धा छेद श्रमण कायचेष्टा यदि तत् पुनर् आलोचनापूर्विका क्रिया छेदोपयुक्त श्रमण श्रमण व्यवहारिन् जिनमत उपदिष्ट तत् कर्तव्य। **मूलधातु**—जनी प्रादुर्भावे, आ षद्लृ गतौ, आ लोचृ भाषार्थ, डुकृञ् करणे। **उभयपदविवरण**–पयदम्हि प्रयतायां समारद्धे समारब्धायां कायचेट्ठम्हि कायचेष्टायां–सप्तमी एकवचन। छेदो छेदः–प्रथमा एक०। समणस्स श्रमणस्य तस्स तस्य–षष्ठी एक०। जायदि जायते–वर्त० अन्य० एक० क्रिया। जदि यदि पुणो पुनः–अव्यय। आलोयणपुव्विया आलोचनपूर्विका किरिया क्रिया–प्र० ए०। छेदुवजुत्तो छेदोपयुक्त समणो श्रमण –प्रथमा एक०। समणं श्रमणं ववहारिणं व्यवहारिण–द्वि० एक०। जिणमदम्हि जिनमते–सप्तमी एक०। आसेज्ज आसाद्य आलोचित्ता आलोच्य–सम्बन्धार्थप्रक्रिया कृ० अव्यय। उवदिट्ठ उपदिष्ट- प्र० ए०। कायव्व कर्तव्यम्–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया। **निरुक्ति**— आ लोचनं आलोचना, श्राम्यति इति श्रमणः श्रमु तपसि खेदे च, चीयते उपचीयते इति कायः, चेष्टनं चेष्टा। **समास**– कायस्य चेष्टा कायचेष्टा तस्यां कायचेष्टायां, छेदे उपयुक्तः छेदोपयुक्त ॥२११-२१२॥

रङ्गसंयमच्छेद। २– कायचेष्टामात्रसे होने वाला संयमच्छेद बहिरङ्ग छेद है। ३– उपयोगसम्बंधी छेद अन्तरङ्ग छेद है। ४– सही उपयोग वाले श्रमणके समितिमें यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेपर भी शरीरचेष्टासे कुछ बहिरंग छेद हुआ हो तो उसका आलोचनासे ही प्रतीकार हो जाता है। ५– आलोचनासे ही बहिरंग छेदका प्रतीकार हो जानेका कारण यह है कि वहाँ अन्तरङ्ग छेद याने उपयोगसम्बन्धी त्रुटि बिल्कुल नहीं हुई है। ६– अन्तरङ्ग छेद होनेपर श्रमणके दोषका प्रतीकार प्रायश्चित्तशास्त्रके ज्ञाता निर्यापकाचार्यसे निष्कपट आलोचना करके जो प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त मिले उसके अनुष्ठानसे होगा, क्योंकि वहाँ श्रमणने निर्विकार स्वसंवेदनभावनासे च्युत होनेका साक्षात् दोष किया था।

सिद्धान्त—(१) निर्दोष चारित्रका पालन मुमुक्षुवोंको मोक्षमार्गप्रगतिका कारण है।

दृष्टि—१– क्रियानय, ज्ञाननय (१९३, १९४)।

प्रयोग—स्वस्थभावनासे च्युत होनेपर निर्विकारस्वसंवेदनभावनाके अनुकूल प्रायश्चित्त करके निर्विकल्प सामायिक संयममें लगना ॥२११-२१२॥

अब श्रामण्यके छेदका आयतन होनेसे परद्रव्यका सम्बन्ध निषेध करने योग्य है, ऐसा उपदेश करते हैं--[अधिवासे] आत्मवासमें अथवा गुरुओंके सहवासमें [वा] अथवा [विवासे] गुरुओंसे भिन्न वासमें बसता हुआ [नित्यं] सदा [निबंधान्] परद्रव्यसम्बन्धोंको [परिहरमाणः]

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् परद्रव्यप्रतिबन्धाः प्रतिषेध्या इत्युपदिशति—

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे ।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥२१३॥

गुरुवास विवासोंमें, मुनित्वके दोषसे रहित होकर ।
परसम्बन्ध हटाकर, वर्तो श्रामण्यमें सम्यक् ॥२१३॥

अधिवासे वा विवासे छेदविहीनो भूत्वा श्रामण्ये । श्रमणो विहरतु नित्यं परिहरमाणो निबन्धान् ॥२१३॥

सर्व एव हि परद्रव्यप्रतिबन्धा उपयोगोपरञ्जकत्वेन निरुपरागोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदायतनानि तदभावादेवाछिन्नश्रामण्यम् । अत आत्मन्येवात्मनो नित्याधिकृत्य वासे वा गुरु·

नामसंज्ञ—अधिवास व विवास छेदविहूण सामण्ण समण णिच्च परिहरमाण णिबंध । **धातुसंज्ञ**—वि हर हरणे, भव सत्तायां । **प्रातिपदिक**—अधिवास वा विवास छेदविहीन श्रामण्य श्रमण नित्यं परिहरमाण निबन्ध । **मूलधातु**—वि हृञ् हरणे, भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—अधिवासे विवासे सामण्णे श्रामण्ये–सप्तमी एकवचन । छेदविहूणो छेदविहीनः समणो श्रमण परिहरमाणो परिहरमाणः–प्रथमा एक·

दूर करता हुआ [श्रामण्ये] श्रामण्यमे [छेद विहीनः भूत्वा] छेदविहीन होकर [श्रमणः विहरतु] श्रमण विहारो ।

तात्पर्य—मुनि परद्रव्यसम्पर्कको छोडकर निर्दोष होता हुआ विहार करे ।

टीकार्थ—वास्तवमें सभी परद्रव्यप्रतिबन्ध उपयोगके विकारक होनेसे विकाररहित उपयोगरूप श्रामण्यके छेदके आयतन हैं; उनके अभावसे ही निर्दोष मुनिपना होता है । इसलिये आत्मामे ही आत्माको सदा अधिकृत करके आत्माके भीतर बसते हुये अथवा गुरुरूपसे गुरुओंको अधिकृत करके गुरुओंके सहवासमें निवास करते हुये या गुरुओसे विशिष्ट—भिन्न· बासमें बसते हुये, सदा ही परद्रव्यप्रतिबंधोको दूर करता हुआ श्रामण्यमें छेदविहीन होकर श्रमण वर्तो ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमे छिन्न संयमके प्रतिसंधानका विधान बताया गया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि साम्यभावके विनाशका आयतन होनेके कारण परद्रव्यका प्रतिबन्धन दूर कर देना चाहिये ।

तथ्यप्रकाश—(१) सभी परद्रव्यप्रतिबन्ध समताभावके विनाशके आयतन हैं, क्योंकि परद्रव्योंसे सम्बन्ध बनानेसे उपयोग मलिन हो जाता है । (२) परद्रव्यका सम्बन्ध हटा देनेसे श्रामण्यकी याने साम्यभावकी सिद्धि होती है । (३) श्रामण्यकी निर्दोषताके लिये निश्चयसे अपने आपको अपने आत्मामें ही स्थापित करके शुद्ध वृत्तिसे रहना चाहिये । (४) श्रामण्य-

त्वेन गुरूनधिकृत्य वासे वा गुरुभ्यो विशिष्टे वासे वा नित्यमेव प्रतिषेधयन् परद्रव्यप्रतिबन्धान् श्रामण्ये छेदविहीनो भूत्वा श्रमणो वर्तताम् ॥२१३॥

वचन। विहरदु विहरतु-आज्ञार्थे अन्य पुरुष एक० क्रिया। व वा णिच्चं नित्य-अव्यय। भवीय भूत्वा-सम्बन्धार्थप्रक्रिया कृदन्त अव्यय। णिबधाणि निबन्धान्-द्वितीया बहुवचन। निरुक्ति—अधिवस्यते यत्र स अधिवास. वस निवासे। समास— छेदेन विहीनः छेदविहीनः ॥२१३॥

साधक आत्मनिवासके प्रयोजनसे गुरुकुलवासमें, सत्संगमे अथवा शुद्ध एकान्तमे रहना चाहिये। (५) मुमुक्षुवोंको ऐसी वृत्ति रखना चाहिये जिससे श्रामण्यमे कुछ भी भंग न पड़े। (६) श्रामण्यकी सिद्धिके लिये मुमुक्षु अपने आत्मामे ही विहार करे। (७) परद्रव्यका सम्बन्ध हटाने के लिये मुमुक्षु अन्यस्थानपर भी विहार करे। (८) श्रमण गुरुके समीप बसकर सभक्ति शास्त्राध्ययन करे। (९) शास्त्राध्ययन करके गुरुकी आज्ञासे अपने ही समान शीलवंत तपस्वी जनोंके साथ विहार करे। (१०) विहारकालमे भेदरत्नत्रय व अभेदरत्नत्रयकी भावना व वृत्ति करे। (११) विहारकालमें तपश्चरण, शास्त्रमनन, आत्मबलप्रकाशन, एकत्वध्यान व सतोषवर्तनकी वृत्ति रखे। (१२) विहारकालमे तीर्थंकर गणधर आदि महापुरुषोंकी चारित्रों का विचार बनाये रहे। (१३) विहारकालमे भव्य जीवोंको सदुपदश देकर विशुद्ध आनन्द उत्पन्न कराता हुआ आत्मदृष्टिसे प्रसन्न (निर्मल) रहे। (१४) आत्मविहारकी प्रमुखतासे श्रामण्यसिद्धि बनाये रहनेमे कल्याण है। (१५) उपरागरहित उपयोगका स्वच्छ बना रहना ही वास्तवमें श्रामण्य है।

सिद्धान्त— (१) उपाधिके परिहारसे आत्माकी शुद्ध परिणति होती है।

दृष्टि—१- उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४अ)।

प्रयोग—श्रामण्यकी सिद्धिके लिये अपना अपने आत्मामे अवस्थान बनाये रहना अत्यावश्यक है, एतदर्थ गुरुसत्संगमे रहे, शुद्ध एकान्तमे रहे व गुणभावनासहित विहार करे ॥२१३॥

अब श्रामण्यकी परिपूर्णताका आयतन होनेसे स्वद्रव्यमे ही सम्बन्ध करना योग्य है, ऐसा उपदेश करते है—[**नित्यं**] सदा [**ज्ञानेदर्शनमुखे**] ज्ञानमे और दर्शनादिमें [**निबद्धः**] प्रतिबद्ध [**च**] तथा [**मूलगुणेषु प्रयतः**] मूल गुणोंमे प्रयत्नशील [**यः श्रमणः**] जो श्रमण [**चरति**] विचरण करता है, [**सः**] वह [**परिपूर्णश्रामण्यः**] परिपूर्ण श्रामण्यवान् है।

तात्पर्य—मूलगुणाचरणमे प्रयत्नशील स्वरूपाभिमुख मुनि पूर्ण मुनित्वसंपन्न है।

टीकार्थ—एक स्वद्रव्यप्रतिबंध ही उपयोगका शोधक होनेसे, शुद्ध उपयोगरूप श्रामण्य

अथ श्रामण्यस्य परिपूर्णतायतनत्वात् स्वद्रव्य एव प्रतिबन्धो विधेय इत्युपदिशति—

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥२१४॥

दर्शनज्ञानस्वभावी, स्वद्रव्यप्रतिबद्ध शुद्ध वर्तक हो ।
मूलगुणमें प्रयत हो, विशुद्ध उपयोगधारक हो ॥२१४॥

चरति निबद्धो नित्य श्रमणो ज्ञाने दर्शनमुखे । प्रयतो मूलगुणेषु च यः स परिपूर्णश्रामण्य ॥ २१४ ॥

एक एव हि स्वद्रव्यप्रतिबन्ध उपयोगमार्जकत्वेन मार्जितोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य परिपूर्णतायतनं, तत्सद्भावादेव परिपूर्णं श्रामण्यम् । अतो नित्यमेव ज्ञाने दर्शनादौ च प्रतिबद्धेन मूलगुणप्रयततया चरितव्यं ज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मद्रव्यप्रतिबद्धशुद्धास्तित्वमात्रेण वर्तितव्यमिति तात्पर्यम् ॥२१४॥

नामसंज्ञ—णिबद्ध समण णिच्च णाण दसणमुह पयद मूलगुण य ज त पडिपुण्णसामण्ण । **धातुसंज्ञ**—चर गतौ । **प्रातिपदिक**—निबद्ध नित्य श्रमण ज्ञान दर्शनमुख प्रयत मूलगुण च यत् तत् परिपूर्णश्रामण्य । **मूलधातु**—चर गत्यर्थः । **उभयपदविवरण**—चरदि चरति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । णिबद्धो निबद्ध. समणो श्रमण· पयदो प्रयत: जो य सो स पडिपुण्णसामण्णो परिपूर्णश्रामण्य–प्रथमा एकवचन । णिच्च नित्य य च–अव्यय । णाणम्हि ज्ञाने दसणमुहम्मि दर्शनमुखे–सप्तमी एक० । मूलगुणेसु मूलगुणेषु–सप्तमी बहुवचन । **निरुक्ति**—नियमेन भव नित्य नि+त्यम् । **समास**– परिपूर्ण श्रामण्य यस्य तत् परिपूर्णश्रामण्यम् ॥ २१४ ॥

की परिपूर्णताका आयतन है; उसके सद्भावसे ही परिपूर्ण श्रामण्य होता है । इसलिये सदा ज्ञानमे और दर्शनादिकमे प्रतिबद्ध रहकर मूल गुणोंमें प्रयत्नशीलतासे विचरना, और ज्ञानदर्शनस्वभाव शुद्धात्मद्रव्यमें प्रतिबद्ध-शुद्ध अस्तित्वमात्ररूपसे वर्तना, यह गाथाका तात्पर्य है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया है कि श्रामण्यकी निर्दोषताके लिये परद्रव्योंका सम्बन्ध हटाना चाहिये । अब इस गाथामे बताया गया है कि श्रामण्यका परिपूर्ण आयतन होनेसे स्वद्रव्यमे ही उपयोग बनाये रहना चाहिये ।

तथ्यप्रकाश—(१) स्वसहजात्मस्वरूपके ही अभिमुख रहना ही श्रामण्यका परिपूर्ण आयतन है । (२) स्वद्रव्यके अभिमुख रहना ही उपयोगको शुद्ध बनाता है । (३) वास्तवमें श्रामण्य उपयोगको निर्मल बनाना ही है । (४) स्वद्रव्यप्रतिबन्धसे ही परिपूर्ण श्रामण्य होता है । (५) परिपूर्ण श्रामण्यकी सिद्धिके लिये सदा ही ज्ञानदर्शनस्वभाव शुद्धात्मतत्त्वमे उपयुक्त रहना चाहिये ।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी भावनासे आत्मा निर्दोष होता है ।

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् यतिजनासन्नः सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबन्धोऽपि प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा ।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥२१५॥

आहारमें क्षपणमें, वास विहार व शरीर उपधीमें ।
मुनिगण व कथाओंमें, श्रमण नहीं दोष करता है ॥२१५॥

भक्ते वा क्षपणे वा आवसथे वा पुनर्विहारे वा । उपधौ वा निबद्ध नेच्छति श्रमणे विकथायाम् ॥ २१५ ॥

श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुमात्रत्वेनादीयमाने भक्ते तथाविधशरीरवृत्त्य-

---

नामसंज्ञ—भत्त वा खमण वा आवसध वा पुणो विहार वा उवधि वा णिबद्ध ण समण विकध । **धातुसंज्ञ**—इच्छ इच्छायां । **प्रातिपदिक**— भक्त व क्षपण वा आवसथ वा पुनर विहार वा उपधि वा निबद्ध न श्रमण विकथा । **मूलधातु**—इषु इच्छायां । **उभयपदविवरण**—भत्ते भक्ते खमणे क्षपणे आवसधे आव-

---

दृष्टि—१- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—आनन्दधाम परिपूर्ण श्रामण्यकी सिद्धिके लिये निज शुद्धात्मभावनामे रत रहना चाहिये ॥२१४॥

अब मुनिजनके निकटका सूक्ष्मपरद्रव्यसबध भी, श्रामण्यके छेदका आयतन होनेसे निषेध्य है, ऐसा उपदेश करते है—[**भक्ते वा**] मुनि आहारमे, [**क्षपणे वा**] उपवासमे, [**आवसथे वा**] निवास स्थानमे, [**पुनः विहारे**] और विहारमे, [**वा उपधौ**] अथवा देहादि उपाधिमे [**श्रमणे**] अन्य मुनिमे [**वा**] अथवा [**विकथायाम्**] विकथामे [**निबद्धं**] लगाव संबंध [**न इच्छति**] नही चाहता ।

तात्पर्य—मुनिके सम्पर्कमे किसी प्रकार जो कुछ सम्भव है उस परपदार्थमे लगाव नही रहता ।

टीकार्थ—(१) श्रामण्य पर्यायके सहकारी कारणभूत शरीरकी वृत्तिके हेतुमात्रपनेसे ग्रहण किये जाने वाले आहारमें (२) श्रामण्यपर्यायके सहकारि-कारणभूत शरीरकी वृत्तिके साथ विरोधरहित, शुद्धात्मद्रव्यमे नीरग और निस्तरग विश्रांतिकी रचनानुसार प्रवर्तमान अनशनमे (३) नीरंब और निस्तरंग-अन्तरंग द्रव्यकी प्रसिद्धिके लिये सेव्यमान गिरीन्द्रकन्दरादिक निवासस्थानमे, (४) यथोक्त शरीरकी वृत्तिकी कारणभूत भिक्षाके लिये किये जाने वाले विहार-कार्यमें, (५) श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारण होनेसे जो हराया नही जा सक रहा ऐसे केवल देहमात्र परिग्रहमे, (६) मात्र अन्योन्य बोध्यबोधकरूपसे जिनका कथंचित् परिचय पाया जाता

विरोधेन शुद्धात्मद्रव्यनीरंगनिस्तरंगविश्रान्तिसूत्रणानुसारेण प्रवर्तमाने क्षपणे नीरंगनिस्तरंगान्तरंगद्रव्यप्रसिद्धयर्थमध्यास्यमाने गिरीन्द्रकन्दरप्रभृतावावसथे यथोक्तशरीरवृत्तिहेतुमार्गणार्थमारभ्यमाणे विहारकर्मणि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारयत्वेनाप्रतिषिध्यमाने केवलदेहमात्रे उपधौ अन्योन्यबोध्यबोधकभावमात्रेण कथंचित्परिचिते श्रमणे शब्दपुद्गलोल्लाससंवलनकश्मलितचिद्भित्तिभागायां शुद्धात्मद्रव्यविरुद्धायां कथायां चैतेष्वपि तद्विकल्पाचित्रितचित्तभित्तितया प्रतिषेध्यः प्रतिबन्धः ॥२१५॥

सथे विहारे उवधिम्हि उपधौ समणम्हि श्रमणे विकधम्हि विकथाया–सप्तमी एकवचन। वा ण न पुणो पुनः–अव्यय। णिबद्ध निबद्ध–द्वितीया एक०। इच्छदि इच्छति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। **निरुक्ति**—आ वसन यत्र तत् आवसथ वस+अथच्, उपधान उपधिः उप धा+कि ॥ २१५ ॥

है ऐसे अन्य मुनिमे, और (७) शब्दरूप पुद्गलपर्यायके साथ सम्बन्धसे जिसमे चैतन्यरूपी भित्तिका भाग मलिन होता है, ऐसी शुद्धात्मद्रव्यमें विरुद्ध कथामें भी प्रतिबन्ध त्यागने योग्य है, क्योंकि उनके विकल्पोसे भी चित्तभूमि चित्रित हो जाती है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे स्वद्रव्यप्रतिबन्धको परिपूर्ण श्रामण्यका आयतन बताया गया था। अब इस गाथामें बताया गया है कि श्रमण किसी भी प्रसंगमे सूक्ष्म द्रव्यका प्रतिबध दूर करे।

तथ्यप्रकाश—(१) आगमविरुद्ध आहार विहारादि तो मुनिके कभी होता ही नही है। (२) परिपूर्ण श्रामण्यकी सिद्धिके लिये श्रमणको आगमोक्त आहारविहारावासादिका भी विकल्प न रखना चाहिये। (३) श्रामण्य पर्यायके सहकारी कारणभूत शरीरका टिकाव बनाने के लिये शुद्ध आहार ग्रहण करना विधेय है। (४) श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारणभूत शरीर का टिकाव जिससे न मिटे ऐसा वह उपवास विधेय है जो शुद्धात्मद्रव्यमें लीनता करानेका अनुसारी हो। (५) अविकार अन्तस्तत्त्वकी सिद्धिके लिये पर्वत गुफा आदि निवास स्थानोंमें रहना विधेय है। (६) शुद्धात्मद्रव्यकी साधना बनाये रहनेके लिये किया जाने वाला प्रायोजनिक विहार विधेय है। (७) श्रामण्य पर्यायका सहकारी कारणभूत होनेसे केवल देहमात्र उपाधि अथवा दिगम्बर वेश प्रतिषिध्यमान नही है। (८) तत्त्व समझने व समझानेके लिये श्रमण जनोंका कथंचित् परिचय करना सत्संग करना विधेय है। (९) विधेय कर्तव्योंमें भी प्रतिबन्ध (लगाव) करना निषिद्ध है, क्योंकि उनके विकल्पोंसे उपयोग उपरक्त हो जाता है जिससे अन्तरङ्ग छेद हो जाता है। (१०) श्रमण जनोंको शुद्धात्मद्रव्यविरुद्ध विकथायें तो कभी पड़ना ही न चाहिये। (११) श्रमण श्रमणजनोंके निकट रहता हुआ भी सूक्ष्म परद्रव्य

अथ को नाम छेद इत्युपदिशति—

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु ।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा ॥२१६॥

शयन अशन आसनमें, ठाण गमन आदिमे अयतवृत्ती ।
यदि हो मुनिके, तो फिर, संतत हिंसा उसे जानो ॥२१६॥

अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिसु । श्रमणस्य सर्वकाले हिंसा सा सततेति मता ॥ २१६ ॥

अशुद्धोपयोगो हि छेदः शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्, तस्य हिंसनात् स एव

नामसंज्ञ—अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचकमादि समण सव्वकाल हिसा त सतत्तिय इत्ति मदा । **धातुसंज्ञ**—मन्न अवबोधने, हिंस हिंसायां । **प्रातिपदिक**—अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचङ्क्रमणादि श्रमण सर्वकाल हिंसा तत् सतता इति मता । **मूलधातु**—हन हिंसागत्योः, मनु अवबोधने । **उभय**-

---

का भी प्रतिबन्ध (विकाय सम्बन्ध) न करे ।

सिद्धान्त—उपाधिसम्बन्ध रखनेसे अशुद्ध परिणति होती है ।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—आनन्दधाम साम्यभावकी सिद्धिके लिये परपदार्थ व परभावमे रच भी प्रतिबन्ध (लगाव) न करके सहजात्मस्वरूपमे ही उपयोग रखनेका पौरुष करना ॥२१५॥

अब छेद क्या है यह उपदेश करते है—[**वा**] अथवा [**श्रमणस्य**] श्रमणके [**शयनासनस्थानचंक्रमणादिषु**] शयन, आसन, स्थान, गमन इत्यादिमे [**या अप्रयता चर्या**] जो अप्रयत चर्या है [**सा**] वह [**सर्वकाले**] सदा [**संतता हिंसा इति मता**] सतत हिंसा मानी गई है ।

तात्पर्य—शयनादिकमे जो असावधानीकी चेष्टा है वह निरन्तर हिसा कही गई है ।

टीकार्थ—शुद्धोपयोगरूप श्रामण्यका छेदन होनेसे वास्तवमे अशुद्धोपयोग ही छेद है । और श्रामण्यका घात होनेसे अशुद्धोपयोग ही हिसा है, इस कारण श्रमणके, अशुद्धोपयोगके बिना नही होने वाली शयन-आसन-स्थान गमन इत्यादिमे अप्रयत चर्या है वह वास्तवमे उसके लिये सर्वकालमे (सदा) ही सतानवाहिनी हिसा हो है, जो कि छेदसे अनन्यभूत है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि श्रामण्यको निर्दोष रखनेके लिये सूक्ष्म परद्रव्यका भी प्रतिबन्ध (लगाव) दूर कर देना चाहिये । अब इस गाथामें बताया गया है कि श्रामण्यका छेद याने विनाश क्या है ?

तथ्यप्रकाश—(१) शयन आसन विहार आदिमे असावधानीसे चर्या करना हिंसा है

च हिंसा । अतः श्रमणस्याशुद्धोपयोगाविनाभाविनी शयनासनस्थानचंक्रमणादिष्वप्रयता या चर्या सा खलु तस्य सर्वकालमेव संतानवाहिनी छेदानर्थान्तरभूता हिंसैव ॥२१६॥

पदविवरण—अपयत्ता अप्रयता चरिया चर्या हिंसा सा-प्र० एक० । सयणासनठाणचकमादीसु शयनासन-स्थानचङ्क्रमणादिषु-सप्तमी बहुवचन । समणस्स श्रमणस्य-षष्ठी एकवचन । सव्वकाले-सप्तमी एक० । सतत्तिय सतता-प्र० एक० । मदा मता-प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । त्ति इति वा-अव्यय । **निरुक्ति**-चरण चर्या चर+यत्+टाप्, पुन पुनः क्रमण चङ्क्रमणं क्रम्+यङ्+ल्युट् क्रमु पादविक्षेपे । **समास**-शयन आसनं स्थान चंक्रमण आदि येषा ते शयनासनस्थानचङ्क्रमणाध्य. तेषु श० ॥२१६॥

और यह सयमका छेद है । (२) असावधानीसे प्रवृत्ति करनेमे अशुभोपयोग बना रहता है जिससे लगातार हिसा चलती है । (३) अप्रयत चर्यामे भावहिंसा होनेसे अपनी हिंसा है, पर जीवका विघात सभव होनेसे परहिंसा भी है । (४) अप्रयत चर्या अशुद्धोपयोग हुए बिना नही होती और अशुद्धोपयोग ही सयमका छेद है । (५) शुद्धोपयोग ही तो परम श्रामण्य है उसका भग अशुद्धोपयोगसे होता है अत. अशुद्धोपयोग अन्तरङ्ग छेद है । (६) अशुद्धोपयोग से श्रामण्यका घात होता है अत· अशुद्धोपयोग हिंसा है । (७) बाह्य व्यापार रूप शत्रुओंको तो श्रमणने पहिले ही हटा दिया था । (८) जब शरीर साथ लगा है तब शयन आसन आहार विहार शुद्धात्मद्रव्यप्रसिद्धिके अविरुद्ध करना आवश्यक हो जाता है । (९) शयनासनादि अनिवार्य कर्तव्योमे लगाव न रखना, कषाय न जगाना इस वृत्तिमें श्रामण्यका विघात न होगा । (१०) सयमच्छेद न होनेसे आत्मविकासकी प्रगति होती है ।

सिद्धान्त—(१) निर्विकल्प सामायिकसयमका साधक समस्त परद्रव्योके प्रतिबन्धका प्रतिषेध है ।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—अन्तरङ्ग कषायशत्रुसे बचे रहनेके लिये परद्रव्यका प्रतिबन्ध (विकल्प) त्यागकर संक्लेशरहित होना ॥२१६॥

अब अन्तरग और बहिरंग रूपसे छेदकी द्विविधता बतलाते हैं—[**जीवः**] जीव [**म्रियतां वा जीवतु वा**] मरे या जिये, [**अयताचारस्य**] अप्रयत आचार वालेके [**हिंसा**] हिंसा [**निश्चिता**] निश्चित है, [**समितस्य प्रयतस्य**] शुद्धात्मस्वरूपके अभिमुख साधनामे यत्नशील श्रमणके [**हिंसामात्रेण**] बहिरंग हिंसामात्रसे [**बन्धः**] बंध [**नास्ति**] नही है ।

तात्पर्य—प्रमत्तयोग न होनेसे श्रमणके हिंसापाप नही होता ।

टीकार्थ—अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है; परप्राणोंका घात बहिरंगछेद है । उनमें अंत-रंगछेद ही विशेष बलवान है, बहिरंगछेद नहीं; क्योंकि परप्राणोंके व्यपरोपका सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धोपयोगके बिना नही होता ऐसे अप्रयत आचारसे प्रसिद्ध होने वाला अशु-

अथान्तरंगबहिरंगत्वेन छेदस्य द्वैविध्यमुपदिशति—

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ २१७ ॥

जीव मरे या जीवे, हिंसा निश्चित अयत्नवालेके।
समितिसावधानीके, बन्धन होता न द्रव्यहिंसासे ॥२१७॥

म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा। प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितस्य ॥

अशुद्धोपयोगोऽन्तरंगच्छेदः, परप्राणव्यपरोपो बहिरंगः। तत्र परप्राणव्यपरोपसद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितहिंसाभावप्रसिद्धेस्तथा तद्विनाभाविना प्रयताचारेण प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगासद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्धया सुनिश्चितहिंसाऽभावप्रसिद्धेश्चान्तरंग एव छेदो बलीयान् न पुनर्बहिरंगः। एवमप्यन्तरंगच्छेदायतनमात्रत्वाद्बहिरंगच्छेदोऽभ्युपगम्यतैव ॥२१७॥

नामसंज्ञ—व जीव अयदाचार णिच्छिदा हिंसा पयद ण बध हिंसामेत्त समिद। **धातुसंज्ञ**—मर प्राणत्यागे, जीव प्राणधारणे, अस सत्तायां। **प्रातिपदिक**—वा जीव अयताचार न हिंसा प्रयत न बन्ध हिंसामात्र समित। **मूलधातु**—मृ मरणे, जीव प्राणधारणे, अस् भुवि। **उभयपदविवरण**—मरदु म्रियता जियदु जीवतु-आज्ञार्थे अन्य पुरुष एक० क्रिया। व वा ण न-अव्यय। जीवो जीव णिच्छिदा निश्चिता हिंसा बधो बन्ध.-प्रथमा एक०। अयदाचारस्स अयताचारस्य पयदस्स प्रयतस्य समिदस्स समितस्य-षष्ठी एकवचन। हिंसामेत्तेण हिंसामात्रेण-तृतीया एकवचन। अत्थि अस्ति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। **निरुक्ति**—नि.शेषेण चीयतेस्म या इति निश्चिता निर् चि + क्ता ॥२१७॥

द्धोपयोगका सद्भाव जिसके पाया जाता है उसके हिंसाके सद्भावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है; तथा जो अशुद्धोपयोगके बिना होता है ऐसे प्रयत आचारसे प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोगका असद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके, परप्राणोके व्यपरोपके सद्भावमे भी बंधकी अप्रसिद्धि होनेसे हिंसाके अभावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है। ऐसा होनेपर भी बहिरंग छेद अंतरंगछेदका आयतनमात्र है, इस कारण बहिरंगछेदको स्वीकार तो करना ही चाहिये अर्थात् बहिरङ्ग छेद भी अनर्थकारी है ऐसा जानकर उसे भी दूर करना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनतरपूर्व गाथामें छेदका स्वरूप कहा था। अब इस गाथामें छेदके दो प्रकार बताये गये है।

तथ्यप्रकाश—(१) संयमछेद दो प्रकारका है—१- अन्तरङ्ग छेद व २- बहिरङ्ग छेद। (२) अशुद्धोपयोगको अन्तरङ्गछेद कहते है। (३) दूसरे जीवका विघात होना बहिरङ्ग छेद है। (४) दोनो प्रकारके छेदोमें अन्तरङ्गछेद ही बलिष्ट है। (५) असावधानीका आव-

अथ सर्वथान्तरंगच्छेदः प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥२१८॥

छह कायोमें अयताचारी मुनि नित्य है कहा बन्धक।
यत्नसहित चर्या हो, तो जलमें पद्मवत् निर्मल ॥२१८॥

अयताचार: श्रमण: षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मत:। चरति यत तदि नित्य कमलमिव जले निरुपलेप: ॥ २१८ ॥

यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्कायप्राणव्यपरोपप्रत्ययबन्धप्रसिद्धया हिंसक एव स्यात्। यतश्च तद्विनाभाविना प्रयताचारत्वेन प्रसिद्धयद-

---

नामसंज्ञ—अयदाचार समण छ वि काय वधकर त्ति मद जदं जदि णिच्च कमल व जल णिरुवलेव। धातुसंज्ञ—चर गतौ, मन्न अवबोधने। प्रातिपदिक—अयताचार श्रमण षट् अपि काय वधकर इति

रण अशुद्धोपयोग होनेपर होता है अत: अशुद्धोपयोग सुनिश्चित हिंसा है। (६) दूसरे जीवके प्राणोंका घात हो या न हो जहाँ अशुद्धोपयोग है जिसके बलपर ही असावधानीका आचरण होता है, वहाँ हिंसा निश्चित ही है। (७) जहाँ अशुद्धोपयोग नही है और सावधानीका आचरण है वहाँ दूसरे जीवका कदाचित् प्राणव्यपरोप भी हो गया तो भी अहिंसा है। (८) अहिंसाभावकी पहचान यह है कि उस भावमें बन्ध नही होता। (९) अशुद्धोपयोग रूप अन्तरंग छेद स्वयं हिंसा है अत: अन्तरङ्ग छेद बलिष्ठ है। (१०) यद्यपि अन्तरंग छेद ही बलिष्ठ है तो भी अन्तरङ्ग छेदका आयतन होनेसे बहिरङ्ग छेद भी अनर्थकारी है।

सिद्धान्त—(१) अन्तरङ्ग छेद बलिष्ट होनेके कारण बहिरंग छेदसे विलक्षण है।

दृष्टि—१- वैलक्षण्यनय (२०३)।

प्रयोग—परमार्थ स्वास्थ्यमे ही आत्महित जानकर अन्तरङ्ग छेद व बहिरङ्ग छेदका परिहार करना ॥२१७॥

अब सर्व प्रकारसे अन्तरंग छेद त्याज्य है, ऐसा उपदेश करते हैं—[**अयताचार: श्रमण:**] अप्रयत आचार वाला श्रमण [**षट्सु अपि कायेषु**] छहो काय सम्बधी [**वधकर:**] वधका करने वाला है [**इति मत:**] ऐसा माना गया है। [**यदि**] यदि मुनि [**नित्यं**] सदा [**यतं चरति**] प्रयतरूपसे आचरण करे तो [**जले कमलम् इव**] जलमें कमलकी भाँति [**निरुपलेप:**] निर्लेप कहा गया है।

तात्पर्य—अयत्नाचारी पुरुष छहों कायका हिंसक है, यत्नाचारी पुरुष जलमें कमल

शुद्धोपयोगासद्भावः परप्रत्ययबन्धलेशस्याप्यभावाज्जलदुर्ललित कमलमिव निरुपलेपत्वप्रसिद्धेर-हिंसक एव स्यात् । ततस्तैस्तैः सर्वैः प्रकारैरशुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्यो यैर्यैस्तदाय-तनमात्रभूतः परप्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो दूरादेव प्रतिषिद्धः स्यात् ।।२१८।।

मत यत यदि नित्य कमल इव जल निरुपलेप । **मूलधातु** – चर गत्यर्थ , मनु अवबोधने । **उभयपदविव-रण**—अयदाचारो अयताचार समणो श्रमण. बधकरो बधकर णिरुवलेवो निरुपलेप –प्रथमा एकवचन । छस्सु षट्सु–सप्तमी बहुवचन । वि अपि त्ति इति जदि यदि व इव णिच्च नित्य–अव्यय । कायेसु कायेषु–स० ए० । मदो मत.–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । चरदि चरति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । जद यत–क्रियाविशेषण यत यथा स्यात्तथा, कमल–प्र० एक० । जले–सप्तमी एक० । **निरुक्ति**– क जल अलति भूषयति इति कमल कम्+अल्+अच् वध करोति इति वधकर ।।२१८।।

की तरह निर्लेप है ।

टीकार्थ—चूंकि अशुद्धोपयोगके अविनाभावी अप्रयत आचारपनेसे प्रसिद्ध हो रहा है अशुद्धोपयोगका सद्भाव जिसके वह छहकायके प्राणोके व्यपरोपके आश्रयसे होने वाले बधकी प्रसिद्धि होनेसे हिंसक ही है और चूँकि अशुद्धोपयोगके बिना होने वाले प्रयत आचारपनेसे प्रसिद्ध हो रहा है अशुद्धोपयोगका असद्भाव जिसके वह परके आश्रयसे होने वाले लेशमात्र भी बधका अभाव होनेसे जलमे झूलते हुये कमलकी भाँति निर्लेपत्वकी प्रसिद्धि होनेसे अहिंसक ही है, इस कारण उन उन सर्वप्रकारसे अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंग छेद त्यागने योग्य है, जिन-जिन प्रकारोसे उसका आयतनमात्रभूत परप्राणव्यपरोपरूप बहिरंग छेद अत्यन्त निषिद्ध हो ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे अन्तरङ्ग छेद व बहिरङ्ग छेदके भेदसे छेद दो प्रकारके कहे गये थे । अब इस गाथामे बताया गया है कि सर्व प्रकारसे अन्तरङ्ग छेद त्याज्य है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जहाँ अयत्नाचार है वहाँ अशुद्धोपयोग अवश्य है । (२) अयत्ना-चारमें किसी जीवका प्राणव्यपरोप हुआ और वहाँ इस कारण बन्ध भी हुआ तो वहाँ वह अशुद्धोपयोगी हिसक ही है । (३) अशुद्धोपयोगके बिना हुए यत्नाचारमे किसी जीवका प्राण-व्यपरोप नही होता व तत्प्रययक बन्ध भी नही होता अतः अशुद्धोपयोगरहित आत्मा अहिंसक ही है । (४) जैसे जलमे झूलता हुआ कमल निर्लेप है, इसी प्रकार समितिमे यत्नाचारसे प्रवर्तने वाला श्रमण भी निर्लेप है । (५) जिन जिन समिति आदि उपायोंसे अन्तरंगछेदके आयतनभूत परप्राणविघातरूप बहिरंग छेद रच भी न हो उन उन उपायोसे अशुद्धोपयोगरूप अन्तरङ्ग छेदका परिहार कर देना चाहिये । (६) अविकार आत्मतत्त्वके अनुभवकी जहाँ भा-वना नही वहाँ सब अयत्नाचार है । (७) शुद्धात्मानुभवरूप शुद्धोपयोगमे परिणम रहा

अथैकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वादुपधिस्तद्वत्प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥ २१६ ॥

तनचेष्टाभव वधमें, विधिबन्धन हो न हो नियम नहिं है ।
उपधिसे बन्ध निश्चित, इससे मुनि छोड़ देते सब ॥२१६॥

भवति वा न भवति बन्धो मृते जीवेऽथ कायचेष्टायाम् । बन्धो ध्रुवमुपधेरिति श्रमणास्त्यक्तवन्तः सवम् ॥

यथा हि कायव्यापारपूर्वकस्य परप्राणव्यपरोपस्याशुद्धोपयोगसद्भावासद्भावाभ्यामनैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमनैकान्तिकमिष्ट, न खलु तथोपधेः, तस्य सर्वथा तदविनाभावित्वप्रसि-

---

नामसंज्ञ—व ण बध मद जीव अध कायचेट्ठ बंध धुव उवधि इदि समण छड्डिय सव्व । **धातुसंज्ञ**—हव सत्ताया । **प्रातिपदिक**— वा न बन्ध मत जीव अथ कायचेष्टा बन्ध ध्रुव उपधि इति श्रमण त्यक्तवन्त सर्व । **मूलधातु**—भू सत्ताया । **उभयपदविवरण**—हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । व

श्रमण जन्तुव्याप्त लोकमें रहता विचारता हुआ भी अहिंसक है । (८) पूर्ण पुरुषार्थसे सहज शुद्ध परमात्मतत्त्वकी भावनामें ही उपयुक्त होना कल्याण है ।

सिद्धान्त—(१) अखण्ड अन्तस्तत्त्वकी अभेदोपासनाके बलसे अशुद्धोपयोगरूप अन्तरन्तरङ्ग छेदका परिहार होता है ।

दृष्टि—१– शुद्धनय, प्रतिषेधक शुद्धनय (४६, ४६अ) ।

प्रयोग—सहजानन्दलाभके लिये मै सहजज्ञानमात्र हू ऐसे उपयोगके द्वारा अविकार ज्ञानस्वरूप अनुभव करते हुए अशुद्धोपयोगरूप अन्तरङ्ग छेदका प्रतिषेध करना ॥२१८॥

अब परिग्रहके ऐकान्तिक अन्तरंगछेदपना होनेसे उपधि अन्तरंग छेदकी भाँति त्याज्य है यह उपदेश करते है—**[कायचेष्टायाम्]** कायचेष्टामे **[जीवे मृते]** जीवके मरनेपर **[बन्धः]** बंध **[भवति]** होना है, **[वा]** अथवा **[न भवति]** नही होता, **[अथ]** किन्तु **[उपधेः]** परिग्रहसे **[ध्रुवम् बधः]** निश्चित बंध होता है, **[इति]** ऐसा जानकर **[श्रमणाः]** महामुनि अर्हन्तदेवोने **[सर्वं]** सर्वपरिग्रहको **[त्यक्तवन्तः]** पहिले ही छोड दिया है ।

तात्पर्य—द्रव्यहिंसा होनेपर बन्ध हो या न हो, किन्तु परिग्रहसे तो बध नियमसे होता है ।

टीकार्थ—जैसे कायव्यापारपूर्वक परप्राणव्यपरोपके अशुद्धोपयोगका सद्भाव और असद्भाव होनेके कारण अनैकांतिक बन्धरूप होनेसे छेदत्व अनैकांतिक माना गया है, वैसा परिग्रहके नहीं है । परिग्रहके सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविनाभावित्व होनेसे प्रसिद्ध होने

द्ध्यदैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिकमेव । अत एव भगवन्तोऽर्हन्तः परमाः श्रमणाः स्वयमेव प्रागेव सर्वमेवोपधिं प्रतिषिद्धवन्तः । अत एव चापरैरप्यन्तरङ्गच्छेदवत्तदनान्तरीयकत्वात्प्रागेव सर्व एवोपधि प्रतिषेध्य. ।। वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्तमेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि । व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ।।१४।।२१६।।

वा ण न अध अथ इदि इति–अव्यय । बधो बन्ध –प्र० एक० । मदम्हि मृते जीवे कायचेट्ठम्हि कायचेष्टायां–सप्तमी एकवचन । धुव ध्रुव–क्रियाविशेषण ध्रुवं यथा स्यात्तथा । उवधीदो उपधे –पचमी एक० । समणा श्रमणा –प्रथमा बहु० । छड्डिया त्यक्तवन्त.–प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । सव्व सर्व–द्वितीया एकवचन । **निरुक्ति**– चेष्टन चेष्टा चेष्ट चेष्टाया भ्वादि चेष्ट् + अङ् + टाप् । **समास**—कायस्य चेष्टा कायचेष्टा तस्या ।।२१६।।

वाले ऐकान्तिक अशुद्धोपयोगके सद्भावके कारण ऐकान्तिकरूप बंधरूप होनेसे छेदत्व ऐकान्तिक ही है । इसीलिये भगवन्त अर्हन्तोने परम श्रमणोने स्वय ही पहले ही सभी परिग्रहको छोडा है; और इसीलिये दूसरोको भी, अन्तरग छेदकी तरह प्रथम ही सभी परिग्रह छोडने योग्य है, क्योंकि परिग्रह अन्तरंगछेदके बिना नही होता ।

वक्तव्यमेव इत्यादि —जो कहने योग्य ही था वह सब कह दिया गया है, इतने मात्र से ही यदि यहां कोई समझ ले तो ठीक है, अन्यथा वाणीका अतिविस्तार भी किया जाय तो भी नासमझको तो व्यामोहका जाल वास्तवमे अति दुस्तर ही है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि सर्व प्रकारसे अन्तरङ्ग छेद प्रतिषेध्य है । अब इस गाथामे बताया गया है कि उपधि-परिग्रह नियमत· अन्तरङ्गछेदपना होनेसे अन्तरंग छेदकी तरह त्यागने योग्य है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शरीरचेष्टापूर्वक हुआ परप्राणविघात अशुद्धोपयोगके सद्भावमें भी संभव है और अशुद्धोपयोगके अभावमे भी सभव है, अतः परप्राणविघातमें बन्धका भी नियम नहीं व छेदपनेका भी नियम नही रहा । (२) परिग्रह अशुद्धोपयोगके सद्भाव बिना नही रखा जा सकता अतः परिग्रह रखनेमे बन्ध भी निश्चित है व अन्तरंग छेद भी निश्चित है । (३) परिग्रहमें नियमसे बन्ध व अन्तरग छेद निश्चित है, इसी कारण परम श्रमण अरहंत भगवानने स्वयं ही पहिले ही सब उपाधियोका (परिग्रहोका) त्याग कर दिया था । (४) इसी प्रकार अन्य मुमुक्षुजनोंको भी अन्तरग छेदका प्रतिषेध करनेकी तरह अन्तरंगछेदके अविनाभावी सर्व परिग्रहको पहिले ही प्रतिषेध्य है । (५) विवेकी पुरुषोको थोडी भी शिक्षावार्ता कहनेसे सब कुछ हितकारी बात कह ली [गई समझना । (६) नासमझको तो कितना ही

अथान्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एवायमुपधिप्रतिषेध इत्युपदिशति—

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ॥ २२०॥

परत्याग बिना अन्तः, त्याग नहीं उसके भाव शुद्ध नहीं।
अविशुद्ध चित्तमें फिर, कैसे हो कर्मका प्रक्षय॥ २२०॥

न हि निरपेक्षस्त्यागो न भवति भिक्षोराशयविशुद्धि। अविशुद्धस्य च चित्ते कथ नु कर्मक्षयो विहितः॥

न खलु बहिरंगसंगसद्भावे तुषसद्भावे तण्डुलगताशुद्धत्वस्येवाशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधस्तद्भावे च न शुद्धोपयोगमूलस्य कैवल्यस्योपलम्भः। अतोऽशुद्धोपयोगरूपस्या-

---

नामसंज्ञ—ण हि णिरवेक्ख चाग ण भिक्खु आसयविसुद्धि अविसुद्ध य चित्त कह णु कम्मक्खअ विहिअ। **धातुसंज्ञ**— हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—न हि निरपेक्ष त्याग न भिक्षु आशयविशुद्धि अविशुद्ध च चित्त कथ नु कर्मक्षय विहित। **मूलधातु**— भू सत्तायां। **उभयपदविवरण**— ण न हि य च कह कथ णु नु— अव्यय। णिरवेक्खो निरपेक्षः चागो त्याग. आसयविसुद्धी आशयविशुद्धिः कम्मक्खओ कर्मक्षय.—प्रथमा

वचनोका विस्तार किया जाय तो भी अतिदुस्तर व्यामोह जाल बना ही रहता है। (७) परिग्रहमे मूर्च्छारूप (ममतारूप) परिग्रहसे नियमतः तो कर्मबन्ध है और नियमतः अन्तरंग छेद है, अतः मुमुक्षुवोको परिग्रहका त्याग अवश्य ही सर्वप्रथम कर देना चाहिये।

सिद्धान्त—(१) उपाधिकी अपेक्षामें नियमसे अन्तरंग छेद होता है।

दृष्टि—१— उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४)।

प्रयोग—परिग्रह होनेमे निश्चित अपना विघात है यह जानकर सर्व परिग्रहका त्याग कर अपनेको निःसंग नीरंग निस्तरग परिणमनमे आने देनेका पौरुष करना॥२१६॥

अब इस परिग्रहका निषेध अन्तरंग छेदका ही निषेध है, यह उपदेश करते हैं—[**निरपेक्षः त्यागः न हि**] यदि निरपेक्ष त्याग न हो तो [**भिक्षोः**] भिक्षुके [**आशयविशुद्धिः**] भावकी विशुद्धि [**न भवति**] नही होती; [**च**] और [**चित्ते अविशुद्धस्य**] चित्तमें अविशुद्धके [**कर्मक्षयः**] कर्मक्षय [**कथं नु**] कैसे [**विहितः**] हो सकता है ?

तात्पर्य—सापेक्ष अविशुद्ध उदय वाले श्रमणके कर्मक्षय नही होता।

टीकार्थ—छिलकेके सद्भावमें चावलोंमें पाई जाने वाली रक्तताारूप अशुद्धताका त्याग न होनेकी तरह बहिरंग संगके सद्भावमें अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंगछेदका त्याग नही होता और अन्तरंग छेदके सद्भावमें शुद्धोपयोगमूलक कैवल्यकी उपलब्धि नही होती। इस कारण अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंग छेदके निषेधरूप प्रयोजनकी अपेक्षा रखकर किया जाने वाला उपाधिका

न्तरंगच्छेदस्य प्रतिषेधं प्रयोजनमपेक्षक्ष्योपधेर्विधीयमानः प्रतिषेधोऽन्तरंगच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ॥२२०॥

एकवचन। हवदि भवति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया। भिक्खुस्स भिक्षोः अविसुद्धस्स अविशुद्धस्य–षष्ठी एकवचन। चित्ते–स० ए०। विहिओ विहितः–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया निरुक्ति–आ शयन आशयः शिञ् निशाते स्वादि आ शी + अच्, शीङ् स्वप्ने वा चत्यते अनेन इति चित्तम् चिती सज्ञाने। समास— आशयस्य विशुद्धि: आशयविशुद्धि:, निर्गता अपेक्षा यस्मात् स निरपेक्ष, कर्मणा क्षयः कर्मक्षयः ॥२२०॥

निषेध अन्तरग छेदका ही निषेध है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि परिग्रहमे अन्तरङ्ग छेद होनेसे परिग्रह प्रतिषेध्य ही है। अब इस गाथामे बताया गया है कि परिग्रहका निषेध होना अन्तरङ्ग छेदका ही निषेध होना है।

तथ्यप्रकाश—(१) बहिरङ्ग परिग्रह होनेपर अशुद्धोपयोगरूप अन्तरङ्ग छेदका प्रतिषेध नही हो पाता जैसे कि धान्यका छिलका लगा रहनेपर चावलकी ललाईरूप अशुद्धताका प्रतिषेध नही हो पाता। (२) अशुद्धोपयोग रहनेपर कैवल्यकी उपलब्धि नही हो सकती। (३) कैवल्यकी उपलब्धि शुद्धोपयोगसे ही होती है। (४) जो अशुद्धोपयोगरूप अन्तरङ्गछेद का परिहार करना चाहता है उसे परिग्रह (उपधि) का त्याग करना अनिवार्य है। (५) उपधि (परिग्रह) का निश्चयतः प्रतिषेध अन्तरङ्गछेदका ही प्रतिषेध है। (६) भावशुद्धिपूर्वक बहिरंग परिग्रहका त्याग होनेपर ही अन्तरंग परिग्रहका त्याग सभव है। यदि निरपेक्ष त्याग नहीं है तो साधुके परिणामशुद्धि अविकारशुद्धात्मानुभूति नही हो सकती। (८) ख्याति लाभ पूजा आदिकी इच्छासे बाह्यपरिग्रहका त्याग किया जानेपर तो आशय मिथ्यात्वका है और उसमें विकट पापबन्ध है। (९) जिन्होने शुद्धात्मतत्त्वका ग्रहण नही किया वे पर व परभाव का ग्रहण करनेमे अपना महत्त्व समझते है।

सिद्धान्त—(१) उपाधिसापेक्ष पुरुषका परिणाम अशुद्ध रहता है व वह कर्मसे लिप्त होता है।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४)।

प्रयोग—निराकुल अविकार सहज परमात्मतत्त्वकी अनुभूति बनाये रखनेके लिये निरपेक्ष निर्ग्रन्थ होना ॥२२०॥

अब 'उपधिके ऐकान्तिक अन्तरंग छेदपनेका विस्तारसे उपदेश करते है—**[तस्मिन्]** उपधिके सद्भावमें **[तस्य]** उस भिक्षुके **[मूर्च्छा]** मूर्छा, **[आरम्भः]** आरम्भ **[वा]** व

अथैकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेर्विस्तरेणोपदिशति—

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ २२१ ॥

परद्रव्यनिरतके क्यों, नहीं हो आरभ मूर्च्छा असंयम ।
असद्दृष्टि वह कैसे, आत्माकी सिद्धि कर सकता ॥२२१॥

कथ तस्मिन्नास्ति मूर्च्छा आरम्भो वा असयमस्तस्य । तथा परद्रव्ये रत कथमात्मान प्रसाधयति ॥२२१॥

उपधिसद्भावे हि ममत्वपरिणामलक्षणाया मूर्च्छायास्तद्विषयककर्मप्रक्रमपरिणामलक्षणस्यारम्भस्य शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामलक्षणस्यासंयमस्य वावश्यभावित्वात्तथोपधिद्वितीयस्य परद्रव्यरतत्वेन शुद्धात्मद्रव्यप्रसाधकत्वाभावाच्च ऐकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेरवधार्यत एव । इदमत्र तात्पर्यमेवविधत्वमुपधेरवधार्य स सर्वथा संन्यस्तव्यः ॥२२१॥

नामसंज्ञ—किध त ण मुच्छा आरभ वा असजम त तध परदव्व रद कध अप्प । **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां प साह साधने । **प्रातिपदिक**—कथ तत् न मूर्च्छा आरम्भ वा असयम तत् तथा परद्रव्य रत कथं आत्मन् । **मूलधातु**—अस् भुवि, प साह साधने । **उभयपदविवरण**—किध कथं वा तध तथा कधं कथं—अव्यय । तम्हि तस्मिन् परदव्वम्मि परद्रव्ये—सप्तमी एक० । अत्थि अस्ति पसाधयदि प्रसाधयति—वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । मुच्छा मूर्च्छा आरभो आरभ. असंजमो असयम. रदो रतः—प्रथमा एकवचन । अप्पाणं आत्मानं—द्वितीया एकवचन । **निरुक्ति**—मूर्च्छनं मूर्च्छा मूर्च्छ + अच् + टाप् मूर्च्छमोहसमुच्छ्रापयोः ।२२१।

[**असंयमः**] असंयम [**कथं**] कैसे [**नास्ति**] नही है ? [**तथा**] तथा [**परद्रव्ये रतः**] परद्रव्य मे लीन भिक्षु [**आत्मानं**] आत्माको [**कथं**] कैसे [**प्रसाधयति**] साध सकता है ?

तात्पर्य—परिग्रहको होनेसे मूर्च्छा आरम्भ व असंयम होता है तब परद्रव्यमे रत वह भिक्षु आत्मसाधना नही कर सकता ।

टीकार्थ—निश्चित रूपसे उपधिके सद्भावमे ममत्वपरिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मूर्छा उपधि सम्बन्धी कर्मप्रक्रमका परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा आरम्भ, अथवा शुद्धात्मस्वरूपकी हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा असंयम अवश्यमेव होता ही है । तथा उपधि जिसका द्वितीय हो उसके परद्रव्यमे लीनता होनेके कारण शुद्धात्मद्रव्यकी साधकताका अभाव होनेसे उपधिके ऐकान्तिक अन्तरंगछेदपना निश्चित होता ही है । यहाँ यह तात्पर्य है कि—'उपधिका अन्तरंगछेदपना निश्चित करके उसे सर्वथा छोड़ना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें उपधिप्रतिषेधको अन्तरंगच्छेदप्रतिषेध कहा गया था । अब इस गाथामें विस्तारपूर्वक उपधिको अन्तरंगच्छेद बताया गया है ।

अथ कस्यचित्क्वचित्कदाचित्कथंचित्कश्चिदुपधिरप्रतिषिद्धोऽप्यस्तीत्यपवादमुपदिशति—

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥२२२॥

दोष न जिससे होवे, ग्रहण विसर्जन प्रवृत्ति करनेमें ।
श्रमण उसी विधि वर्तो, जानकर क्षेत्र काल यहां ॥२२२॥

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य । श्रमणस्तेनेह वर्तता कालं क्षेत्रं विज्ञाय ॥ २२२ ॥

आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्व एवोपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः । अयं तु वि-

---

नामसंज्ञ—छेद ज ण गहणविसग्ग सेवमाण समण त इह काल खेत्त । **धातुसंज्ञ**—वि जाण अवबोधने, विज्ज सत्तायां, वत्त वर्तने । **प्रातिपदिक**—छेद यत् न ग्रहणविसर्ग सेवमान श्रमण तत् इह काल

तथ्यप्रकाश—(१) जिसके परिग्रहका सद्भाव है उसके ममत्वपरिणाम रूप मूर्च्छा अवश्य है । (२) मूर्च्छा परिणाम निर्ममत्वचिच्चमत्कारमात्र शुद्धात्मतत्त्वके विरुद्ध भाव है । (३) जिसके परिग्रह है उसके परिग्रहव्यवस्थासम्बन्धी आरम्भ होता है । (४) मन वचन कायकी विविध चेष्टारूप आरम्भ निष्क्रियशुद्धात्माके विरुद्ध भाव है । (५) परिग्रह रखनेपर शुद्धात्मत्वका विघातरूप असयम अवश्यभावी है । (६) सपरिग्रह पुरुष परद्रव्यमे रत होनेसे शुद्धात्मतत्त्वका साधक हो ही नही सकता । (७) सपरिग्रहके शुद्धात्मतत्त्वकी विराधना होनेसे अन्तरगच्छेद होना निश्चित ही है ।

सिद्धान्त—(१) उपाधिसापेक्ष पुरुष निरन्तर अशुद्ध परिणामयुक्त होनेसे निजपरमात्मतत्त्वका घातक है ।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (४०) ।

प्रयोग—परिग्रहको अनर्थकारी जानकर परिग्रहका सर्वथा त्याग करके एकत्वविभक्त सहजचिदानन्दस्वरूप आत्माको उपयोगमे ग्रहण करना ॥२२१॥

अब 'किसीके कही कभी किसी प्रकार कोई उपधि अनिषिद्ध भी है' ऐसा **अपवाद बतलाते हैं**—[**येन**] जिस उपकरणके द्वारा [**सेवमानस्य**] उस उपकरणका **सेवन करने वाले** भिक्षुके [**ग्रहणविसर्गेषु**] ग्रहण विसर्जनमे [**छेदः**] छेद [**न विद्यते**] नही होता [**तेन**] उस उपकरणके द्वारा [**कालं क्षेत्रं विज्ञाय**] काल क्षेत्रको जानकर, [**इह**] इस लोकमे [**श्रमणः**] श्रमण [**वर्तताम्**] प्रवर्ते ।

तात्पर्य—जिस उपकरणके रखनेसे मूर्च्छा आरम्भ व असंयम न हो वह उपकरण रखा जा सकता है ।

शिष्टकालक्षेत्रवशात्कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवादः । यदा हि श्रमणः सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परममुपेक्षासंयमं प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवशावसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तुं क्षमते तदापकृष्य संयमं प्रतिपद्यमानस्तद्बहिरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते । स तु तथा स्थीयमानो न खलूपधि- त्वाच्छेदः, प्रत्युत छेदप्रतिषेध एव । यः किलाशुद्धोपयोगाविनाभावी स छेदः । अयं तु श्रामण्य-

क्षेत्र । मूलधातु–विद सत्तायां, वृतु वर्तने, वि ज्ञा अवबोधने । उभयपदविवरण—छेदो छेदः–प्रथमा एक० । जेण येन तेण तेन–तृतीया एक० । ण न इह–अव्यय । विज्जदि विद्यते–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । गहण- विसग्गेसु ग्रहणविसर्गेषु–सप्तमी बहु० । सेवमाणस्स सेवमानस्य–षष्ठी एक० । समणो श्रमणः–प्रथमा ए० । वट्टदु वर्तताम्–आज्ञार्थे अन्य० एक० क्रिया । कालं खेत्त क्षेत्र–द्वितीया एक० । वियाणित्ता विज्ञाय–सम्ब-

टीकार्थ— आत्मद्रव्यके द्वितीय पुद्गलद्रव्यका अभाव होनेसे समस्त ही उपधि निषिद्ध है यह तो उत्सर्ग है; और विशिष्ट कालक्षेत्रके वश कोई उपधि अनिषिद्ध है यह अपवाद है। जब श्रमण सर्व उपधिके निषेधका प्रयोग कर परमोपेक्षा सयमको प्राप्त करनेका इच्छुक होने पर भी विशिष्ट काल क्षेत्रके वश हीन शक्ति वाला होनेसे उसे प्राप्त करनेमें असमर्थ होता है, तब उसमें हीनता करके संयम प्राप्त करता हुआ उसकी बहिरंग साधनमात्र उपधिका आश्रय लेता है। इस प्रकार जिसका आश्रय लिया जाता है ऐसी वह उपधि उपधिपनके कारण वा- स्तवमे छेदरूप नही है, प्रत्युत छेदकी निषेधरूप ही है। जो उपधि अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होती वह छेद है। किन्तु संयमकी बाह्यसाधनमात्रभूत उपधि तो श्रामण्यपर्यायकी सहकारी कारणभूत शरीरकी वृत्तिके हेतुभूत आहार-नोहारादिके ग्रहण-त्याग संबंधी छेदके निषेधार्थ ग्रहण की जानेसे सर्वथा शुद्धोपयोगका अविनाभूतपना होनेसे छेदके निषेधरूप ही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे सपरिग्रहताका अन्तरङ्गच्छेद बताया गया था। अब इस गाथामे बताया गया है कि "किसीके कही कभी कथंचित् कोई उपधि अप्रतिषिद्ध भी होती है" ऐसा अपवादोपदेश किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) उत्सर्ग मार्ग (निर्विवाद स्पष्ट मार्ग) तो यही है कि समस्त उपधि का परिहार करना चाहिये, क्योंकि आत्माके स्वरूपमे पुद्गलादि दूसरा कुछ है ही नहीं। (२) जब कोई श्रमण उपेक्षासंयमका भाव रखकर भी उपेक्षासंयम पानेमे समर्थ नही है तब वह संयमका साधक बाह्य साधन ग्रहण करता है यह अपवाद मार्ग है। (३) यहाँ अपवाद मार्गका अर्थ व्रतभंग नही है, किन्तु आगमोक्त विधिसे उपकरण ग्रहण करना, समितिरूप प्रवृत्ति करना अपवाद मार्ग है। (४) उत्सर्गमार्गमें परम उपेक्षा है। (५) अपवादमार्गमें विधिपूर्वक समिति आदिकी प्रवृत्ति है। (६) आगमोक्त अपवादमार्ग भी उसीका उचित होता है जो सर्वोपधिके प्रतिषेधका प्रयोग कर परमोपेक्षासंयमको प्राप्त करनेका इच्छुक होनेपर भी

पर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुभूताहारनिर्हारादिग्रहणविसर्जनविषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वाच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ॥२२२॥

न्धार्थप्रक्रिया अव्यय कृदत । निरुक्ति–क्षियन यत्र तत् क्षेत्र क्षियति प्राणी यत्र तत् क्षेत्र क्षि गतौ तुदादि क्षि निवासगत्योः तुदादि क्षि + त्रन् । समास–ग्रहणानि विसर्गाश्चेति ग्रहणविसर्गा तेषु ग्रहणविसर्गेषु ॥२२२॥

विशिष्टकाल क्षेत्रके वश हीन शक्ति वाला होनेसे परमोपेक्षासयममे नही रह सक रहा है। (७) संयमसहकारी उपधिका आश्रय लेना छेद नही, बल्कि छेदप्रतिषेध ही है। (८) जो उपधि अर्थात् ग्रहण व प्रवृत्ति अशुद्धोपयोगके बिना नही होती वही उपधि छेद अर्थात् संयमघातरूप है। (९) श्रामण्यपर्यायके सहकारी कारणभूत शरीरके टिकावके लिये व परिणामों की विशुद्धिके लिये व हिंसाके परिहारके लिये जिन उपधियोके ग्रहण व छोडनेमे सयमविघात न हो, अपवादमार्गमें उनका क्षेत्र कालानुसार प्रयोग करना बताया गया है। (१०) कौनसी प्रवृत्ति आगमोक्त विधेय अपवादमार्ग है उसका निर्देश समितियोमे किया गया है। (११) वही पदार्थ आगमोक्त उपादेय उपकरण हो सकता है जो सयम, शुद्धि व ज्ञानका साधन हो, वह है पोछी, कमंडल व शास्त्र। (१२) जिसके बिना आत्मप्रगति नही वह व्यवहार भी उपकरण है, वह है—यथाजातरूप लिङ्ग, गुरुवचन, शास्त्राध्ययन व विनय।

सिद्धान्त—(१) उपेक्षासंयम व परिहारसंयमसे साधककी साधना बनती है।

दृष्टि—१– क्रियानय, ज्ञाननय (१९३, १९४)।

प्रयोग—परिस्थितिवश आगमोपदिष्ट अपवादमार्गसे वृत्ति करते हुए भी उत्सर्गमार्गसे बर्तनेकी उमंग रखकर सहजात्मस्वरूप लक्ष्यको दृष्टिमे रखना ॥२२२॥

अब जिसका निषेध नही किया गया उस उपधिका स्वरूप कहते है—[**यद्यपि अल्पम्**] भले ही अल्पको ग्रहण करे तो भी [**अप्रतिक्रुष्टम्**] अनिन्दित [**असंयतजनैः अप्रार्थनीयं**] असंयतजनोसे अप्रार्थनीय [**मूर्च्छादिजननरहित**] मूर्च्छादिजननरहित [**उपधि**] उपधिको ही [**श्रमणः**] श्रमण [**गृह्णातु**] ग्रहण करे।

तात्पर्य—निश्चयमोक्षमार्गकी पात्रता रखने वाले व्यवहारमोक्षमार्गके साधनभूत उपकरण ही मुनि रख सकता, अन्य कुछ नही।

टीकार्थ—जो ही उपधि सर्वथा बंधकी असाधक होनेसे अनिदित है, संयमके अतिरिक्त अन्यत्र अनुचित होनेसे असंयतजनोंके द्वारा अप्रार्थनीय है, और रागादिपरिणामके बिना धारण की जानेसे मूर्च्छादिके उत्पादनसे रहित है, वह वास्तवमें अनिषिद्ध है। अतः यथोक्त स्वरूप वाली उपधि ही उपादेय है, किन्तु किंचित्मात्र भी यथोक्त स्वरूपसे विपरीत स्वरूप वाली उपधि उपादेय नही है।

अथाप्रतिषिद्धोपधिस्वरूपमुपदिशति—

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥२२३॥

साधु बन्धसाधन, अयतोंके अनभिलषित व अनिन्दित।
मूर्च्छादिजननविरहित अल्पोपधि उपकरण धारे ॥२२३॥

अप्रतिक्रुष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसयतजनैः। मूर्च्छादिजननरहित गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥ २२३ ॥

यः किलोपधिः सर्वथा बन्धासाधकत्वादप्रतिक्रुष्टः सयमादन्यत्रानुचितत्वादसंयतजनाप्रार्थनीयो रागादिपरिणाममन्तरेण धार्यमाणत्वान्मूर्च्छादिजननरहितश्च भवति स खल्वप्रतिषिद्धः। अतो यथोदितस्वरूप एवोपधिरुपादेयो न पुनरल्पोऽपि यथोदितविपर्यस्तस्वरूपः ॥२२३॥

नामसंज्ञ—अप्पडिकुट्ठ उवधि अपत्थणिज्ज असंजद जण मुच्छादिजणण रहिद समण जदि वि अप्प। **धातुसंज्ञ**—गिण्ह ग्रहणे। **प्रातिपदिक**—अप्रतिक्रुष्ट उपधि अप्रार्थनीय असंयतजन मूर्च्छादिजननरहित श्रमण यदि अपि अल्प। **मूलधातु**—ग्रह उपादाने। **उभयपदविवरण**—अप्पडिकुट्ठं अप्रतिक्रुष्टं उवधिं उपधिं अपत्थणिज्ज अप्रार्थनीय मुच्छादिजणणरहिद मूर्च्छादिजननरहितं अप्प अल्प–द्वितीया एकवचन। असजदजणेहि असयतजनैः–तृतीया बहुवचन। समणो श्रमण.–प्रथमा एकवचन। जदि यदि वि अपि–अव्यय। गेण्हदु गृह्णातु–आज्ञार्थे अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। **निरुक्ति**–अक्रुक्षत् इति क्रुष्टं क्रुश आह्वाने रोदने च क्रुश+क्त अ प्रति उपसर्ग। **समास**–असयताश्च ते जनाश्चेति असंयत जनाः, मूर्च्छादीनां जननं तेन रहितस्त मूर्च्छादिजननरहितं ॥२२३॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे अप्रतिषिद्ध उपधिका निर्देश किया गया था। अब इस गाथामें अप्रतिषिद्ध उपधिका स्वरूप बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) जो बन्धका साधक न हो, जिसकी असंयमी जन इच्छा न करे, जो रागादि परिणामके बिना रखा जा सकता हो वह उपकरण अप्रतिषिद्ध है। (२) जो बंधका साधक हो ऐसा थोड़ा भी कुछ पदार्थ संयमीजनके ग्रहणके योग्य नही है। (३) असंयमी जन जिसको उठा लेनेका भाव कर सकें वह पदार्थ संयमी जनके ग्रहणके योग्य नहीं है। (४) जिसके रखनेसे रागादि परिणाम हो सके वह पदार्थ संयमी जनके ग्रहणके योग्य नहीं है। (५) संयमी पुरुष वे है जिनके अविकारसहजज्ञायकस्वरूप स्वकी उपलब्धिरूप भावसंयम हो।

सिद्धान्त—(१) उपकरणका प्रयोग करने वाले श्रमणके "परको लेने, करने आदिकी अशक्यताकी प्रतीति" निरन्तर है।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ)।

प्रयोग—विशुद्ध चर्या करते हुए भी निष्क्रिय निरपेक्ष सहजात्मस्वरूपकी प्रतीति व

अथोत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवाद इत्युपदिशति--

किंकिंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि ।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥२२४॥

मोक्षैषी आत्माको, देहसंग भी उपेक्ष्य बतलाया ।
इतर संग तो हेय हि, यों अप्रतिकर्मत्व जानो ॥२२४॥

किंकिचनमिति तर्क अपुनर्भवकामिनोऽथ देहेऽपि । संग इति जिनवरेन्द्रा नि प्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्त. ।२२४।

अत्र श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमानेऽत्यन्तमुपात्तदेहेऽपि परद्रव्यत्वात्परिग्रहोऽयं न नामानुग्रहार्हः कितूपेक्ष्य एवेत्यप्रतिकर्मत्वमुपदिष्टवन्तो भगवन्तोऽर्हद्देवाः । अथ

नामसंज्ञ—किंकिचण त्ति तक्क अपुणब्भवकामि अध देह वि सग त्ति जिणवरिद णिप्पडिकम्मत्त उद्दिट्ठ । धातुसंज्ञ--तक्क तर्के द्वितीयगणी । प्रातिपदिक—किंकिचन इति तर्क अपुनर्भवकामिन् अथ देह अपि सग इति जिनवरेन्द्र नि प्रतिकर्मत्व उद्दिष्टवत् । मूलधातु—तर्क तर्कणे । उभयपदविवरण—किकिचण किंकिचनं–प्रथमा एक० । त्ति इति वि अपि अध अथ–अव्यय । तक्क तर्कः–प्र० ए० । अपुणब्भवकामिणो अपुनर्भवकामिन –षष्ठी एक० । देहे–सप्तमी एक० । संगो सग –प्र० ए० । जिणवरिदा जिनवरे-

इष्ट रखना ॥२२३॥

अब 'उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नही' यह बतलाते है—[अथ] जब कि [जिनवरेन्द्राः] जिनवरेन्द्रोने [अपुनर्भवकामिनः] मोक्षाभिलाषीके, [देहे अपि] देहके विषय में भी [संगः इति] 'यह परिग्रह है' यह कहकर [निःप्रतिकर्मत्वम्] देहमे संस्काररहितपना [उद्दिष्टवन्तः] उपदेशा है, तब [किं किंचनम् इति तर्कः] फिर मोक्षाभिलाषीके क्या अन्य कुछ भी हो सकता है ? इस प्रकार तर्क होता है ।

तात्पर्य—मोक्षाभिलाषीको जब देह भी परिग्रह बधन लगता है तब अन्यकी तो चर्चा ही क्या ।

टीकार्थ—यहाँ, श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारण होनेसे जिसका निषेध नही किया जा रहा है ऐसे अत्यन्त उपात्त शरीरमें भी, 'यह परद्रव्य होनेसे परिग्रह है, वास्तवमें यह अनुग्रहयोग्य नही, किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' ऐसा बताकर भगवन्त अर्हन्त देवोने अप्रतिकर्मत्व कहा है, तब फिर वहाँ शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिकी सभावनाके रसिक पुरुषोके शेष—अन्य अनुपात्त परिग्रह बेचारा कैसे हो सकता है ?—ऐसा अर्हन्त देवोका भाव व्यक्त हो है । इससे निश्चित होता है कि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नही । तात्पर्य यह है कि वस्तुधर्म होनेसे परम निर्ग्रंथत्व ही अवलम्बने योग्य है ।

तत्र शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसंभावनरसिकस्य पुंसः शेषोऽन्योऽनुपात्तः परिग्रहो वराकः किं नाम स्यादिति व्यक्त एव हि तेषामाकूतः। अतोऽवधार्यते उत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवादः। इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मत्वात्परमनैर्ग्रन्थ्यमेवावलम्ब्यम् ॥२२४॥

न्द्रा.–प्रथमा बहुवचन। णिप्पडिकम्मत्तं निःप्रतिकर्मत्वं–द्वितीया एकवचन। उद्दिट्ठा उद्दिष्टवन्त.–प्रथमा बहुवचन क्रिया। निरुक्ति—तर्कणं तर्कः तर्क+अच् तर्क तर्कणे चुरादि, दिह्यते उपचीयते यः स देहः दिह+घञ् दिह उपचये अदादि। समास—जिनेषु वराः जिनवरा तेषा इन्द्राः जिनवरेन्द्राः ॥२२४॥

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें अप्रतिषिद्ध उपधिका स्वरूप बताया गया था। अब इस गाथामें बताया गया है कि परमार्थतः उत्सर्ग ही वास्तविक धर्म है अपवाद नहीं।

तथ्यप्रकाश—(१) यद्यपि श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारण है यह अत्यंत मिला हुआ देह, तथापि है तो परद्रव्य ही, अतः यह देह उपधि अनुग्रहके योग्य नही, किन्तु उपेक्षणीय ही है। (२) जब अत्यंत मिला हुआ द्रव्यलिङ्ग वाला देह भी उपेक्ष्य है तब अन्य पृथक् अवस्थित पदार्थ शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिरसिक पुरुषोको अनुग्रहके योग्य कैसे हो सकते हैं। (३) उत्सर्ग ही आत्मवस्तुका परम धर्म है, अपवाद नहीं, अतः शुद्धोपयोगरूप परमोपेक्षासंयमके बलसे परमनिर्ग्रन्थता ही आश्रेय है।

सिद्धान्त—(१) सहजात्मस्वरूपके अनुरूप उपयोग ही कल्याणकारी है।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय, शुद्ध परमपारिणामिकभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२४ब, ३०, ३०अ)।

प्रयोग—व्यवहारधर्मसे अपनेको सुरक्षित सुपात्र बनाकर परमनैर्ग्रन्थ्यरूप अभेदरत्नमय निश्चयधर्मसे परिणत होनेका पौरुष होने देना ॥२२४॥

अब अपवादविशेष कौनसे हैं, सो कहते है—[**जिनमार्गे**] जिनमार्गमे [**यथाजातरूपं लिंगं**] यथाजातरूप लिग [**उपकरणं इति भणितम्**] उपकरण है ऐसा कहा गया है, [**च**] तथा [**गुरुवचनं**] गुरुका वचन, [**सूत्राध्ययनं च**] सूत्रोंका अध्ययन [**च**] और [**विनयः अपि**] विनय भी [**निर्दिष्टम्**] उपकरण कहा गया है।

तात्पर्य—निर्ग्रन्थ लिङ्ग, गुरुवचन, सूत्राध्ययन व विनय भी जैनमार्गमें उपकरण कहा गया है।

टीकार्थ—इसमें जो अनिषिद्ध उपधि अपवादरूप है, वह सभी वास्तवमें श्रामण्यपर्यायके सहकारी कारणके रूपमें उपकार करने वाला होनेसे उपकरणभूत है, दूसरा नही। उसके विशेष (१) सर्व आहार्यरहित सहजरूपसे अपेक्षित यथाजातरूपत्वके कारण बहिरंग

अथ केऽपवादविशेषा इत्युपदिशति--

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं ।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥२२५॥

जिनमार्गमें उपकरण, लिङ्ग यथाजातरूप बतलाया ।
गुरुवचन, विनय सूत्रों-का अध्ययन भि कहा प्रभुने ॥२२५॥

उपकरणं जिनमार्गे लिङ्गं यथाजातरूपमिति भणितम् । गुरुवचनमपि च विनय सूत्राध्ययन च निर्दिष्टम् ।

यो हि नामाप्रतिषिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः स खलु निखिलोऽपि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनोपकारकारकत्वादुपकरणभूत एव न पुनरन्यः । तस्य तु विशेषाः सर्वाहार्यवर्जितसहजरूपापेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरंगलिंगभूताः कायपुद्गलाः श्रूयमाणतत्कालबोधकगुरुगीर्यमाणात्मतत्त्वद्योतकसिद्धोपदेशवचनपुद्गलास्तथाधीयमाननित्यबोधकानादिनिधनशुद्धात्मतत्त्वद्योतनस-

---

नामसंज्ञ–उवयरण जिणमग्ग लिंग जहजादरूव इदि भणिद गुरुवयण पि य विणअ सुत्तज्झयण च णिद्दिट्ठ । **धातुसंज्ञ**– भण कथने । **प्रातिपदिक**—उपकरण जिनमाग लिङ्ग यथाजातरूप इति भणित गुरुवचन अपि च विनय सूत्राध्ययन च निर्दिष्ट । **मूलधातु**—भण शब्दार्थ । **उभयपदविवरण**– उवयरण

लिंगभूत कायपुद्गल; (२) सुने जा रहे तत्कालबोधक, गुरुद्वारा कहे जा रहे आत्मतत्त्वद्योतक, सिद्ध उपदेशरूप वचनपुद्गल; तथा (३) अध्ययन किये जा रहे नित्यबोधक, अनादिनिधन शुद्ध आत्मतत्त्वको प्रकाशित करनेमे समर्थ श्रुतज्ञानके साधनभूत शब्दात्मक सूत्रपुद्गल; और (४) शुद्ध आत्मतत्त्वका प्रकाशन करनेमे समर्थ जो दर्शनादिक पर्यायें, उन रूपसे परिणमित पुरुषके प्रति विनीतताका अभिप्राय प्रवर्तित करने वाले चित्र पुद्गल । यहाँ यह तात्पर्य है कि कायकी भाँति वचन और मन भी वस्तुधर्म नही है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नही । अब इस गाथामे बताया गया है कि वे अपवादविशेष कौन कौन है जो विधेय होनेपर भी वस्तुधर्म नही है ।

तथ्यप्रकाश—१– जो श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारण होनेसे उपकारक उपकरण है वही सब अप्रतिषिद्ध उपधिअपवादमार्गमें कहा गया है । (२) श्रामण्यपर्यायकी सहकारिता के विरुद्ध, अनुपकारक अन्य कुछ भी पदार्थ अप्रतिषिद्ध उपकरण नही कहलाता । (३) सर्वपरवस्तुरहित दैगंबरी मुद्रासे युक्त शरीर उपकरण है । ४– शुद्धात्मतत्त्वके द्योतक गुरुवचन उपकरण हैं । ५– अनादिनिधन सहजात्मस्वरूपके द्योतनमें समर्थ श्रुतज्ञानके साधनीभूत शब्दात्मकसूत्रपुद्गल अर्थात् शास्त्राध्ययन उपकरण है । ६– शुद्धात्मतत्त्वको प्रकट करने वाले

मर्थश्रुतज्ञानसाधनीभूतशब्दात्मकसूत्रपुद्गलाश्च शुद्धात्मतत्त्वव्यञ्जकदर्शनादिपर्यायतत्परिणतपुरुषविनीतताभिप्रायप्रवर्तकचित्तपुद्गलाश्च भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यं, कायवद्वचनमनसी अपि न वस्तुधर्मः ॥२२५॥

उपकरणं लिंग लिङ्ग जहजादरूव यथाजातरूप गुरुवयण गुरुवचनं विणओ विनयः सुत्तज्झयणं सूत्राध्ययन–प्रथमा एकवचन । जिणमग्गे जिनमार्गे–सप्तमी एकवचन । भणिदं भणितं णिद्दिट्ठं निर्दिष्ट–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । निरुक्ति—मृग्यते येन स मार्गः मार्ग् + घञ् मार्ग अन्वेषणे, सूत्र्यते यत् तत् सूत्र सूत्र वेष्ठने । समास– गुरोः वचनं गुरुवचन, सूत्रस्य अध्ययनं सूत्राध्ययनं ॥२२५॥

सम्यक्त्वादिपर्यायोंसे परिणत पुरुषोंके प्रति विनम्रताके अभिप्रायमें प्रवर्तने वाले चित्तपुद्गल अर्थात् विनय उपकरण है । ७– उक्त सब उपकरण श्रामण्य पर्यायके सहकारी कारण होनेसे उपकारक है व अप्रतिषिद्ध हैं तथापि ये सब काय वचन व मन ही तो हैं, अतः वस्तुधर्म नहीं है । ८– काय स्पष्ट रूपसे वस्तुधर्म नहीं है, इसी प्रकार वचन व मन भी वस्तुधर्म नहीं है ।

सिद्धान्त—(१) अखण्ड शाश्वत सहज चैतन्यस्वभावमात्र आत्माका दर्शन, प्रत्यय, अनुभव निरन्तर बना रहना ही वास्तविक परमार्थ धर्मपालन है ।

दृष्टि—१– अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय, अखण्ड परम शुद्ध सद्भूत व्यवहार (४४, ६६) ।

प्रयोग—मनवचनकायसम्बन्धी उपकरणोंसे श्रामण्यपर्यायकी शुद्धताके लिये सहयोग लेकर मन वचन कायको वस्तुधर्म न जानकर उनकी परम उपेक्षा द्वारा सहजात्मस्वरूपमें उपयुक्त होना ॥२२५॥

अब अनिषिद्ध शरीर मात्र उपधिके पालनके विधानका उपदेश करते हैं—[इहलोकनिरपेक्षः] इस लोकमें निरपेक्ष और [परस्मिन् लोके] परलोकमे [अप्रतिबद्धः] अप्रतिबद्ध [श्रमणः] श्रमण [रहितकषायः] कषायरहित होता हुआ [युक्ताहारविहारः भवेत्] युक्ताहारविहारी होता है ।

तात्पर्य—लोकपरलोकविषयक अभिलाषासे रहित श्रमण युक्ताहारविहारी होता है ।

टीकार्थ—अनादिनिधन एकरूप शुद्ध आत्मतत्त्वमें परिणतपना होनेसे समस्त कर्मपुद्गलके विपाकसे अत्यन्त विविक्त स्वभाव युक्तपना होनेके कारण कषायरहित होनेसे, वर्तमान कालमें मनुष्यत्वके होते हुये भी स्वयं समस्त मनुष्यव्यवहारसे बहिर्भूत होनेके कारण इस लोकके प्रति निरपेक्षता होनेसे तथा भविष्यमें होने वाले देवादि भावोंके अनुभवनकी तृष्णासे शून्य होनेके कारण परलोकके प्रति अप्रतिबद्धपना होनेसे ज्ञेयपदार्थोंके ज्ञानकी सिद्धिके लिये

अथाप्रतिषिद्धशरीरमात्रोपधिपालनविधानमुपदिशति—

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥२२६॥

इहलोकनिरापेक्षी, व्यपगत परलोककी भि तृष्णासे ।
युक्ताहारविहारी, व कषायरहित श्रमण होता ॥२२६॥

इहलोकनिरपेक्षः अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके । युक्ताहारविहारो रहितकषायो भवेत् श्रमणः ॥ २२६ ॥

अनादिनिधनैकरूपशुद्धात्मतत्त्वपरिणतत्वादखिलकर्मपुद्गलविपाकात्यन्तविविक्तस्वभावत्वेन रहितकषायत्वात्तदात्वमनुष्यत्वेऽपि समस्तमनुष्यव्यवहारबहिर्भूतत्वेनेहलोकनिरपेक्षत्वात्तथाभविष्यदमर्त्यादिभावानुभूतितृष्णाशून्यत्वेन परलोकाप्रतिबद्धत्वाच्च परिच्छेद्यार्थोपलम्भप्रसि

नामसंज्ञ—इहलोगणिरावेक्ख अप्पडिबद्ध पर लोय जुत्ताहारविहार रहिदकसाअ समण । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां । **प्रातिपदिक**—इहलोकनिरपेक्ष अप्रतिबद्ध पर लोक युक्ताहारविहार रहितकषाय श्रमण । **मूलधातु**—भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—इहलोगणिरावेक्खो इहलोकनिरापेक्ष अप्पडिबद्धो अप्रतिबद्ध जुत्ताहारविहारो युक्ताहारविहारः रहिदकसाओ रहितकषायः समणो श्रमण.-प्रथमा एक० । परम्मि परे

दीपकमें तेल डाले जाने और दीपकको उसकाये जानेकी तरह शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि की सिद्धिके लिये शरीरको खिलाने और चलानेके द्वारा युक्ताहारविहारी होता है । यहाँ तात्पर्य यह है कि—चूंकि श्रमण कषायरहित है इस कारण वर्तमान शरीरके अनुरागसे या दिव्य शरीरके अनुरागसे आहार विहारमे अयुक्तरूपसे प्रवृत्त नही होता; किन्तु शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिकी साधकभूत श्रामण्यपर्यायके पालनके लिये ही केवल युक्ताहारविहारी होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे अपवादविशेषोंको बताया गया था । अब इस गाथामें अप्रतिषिद्ध शरीरमात्र उपधिके पालनका विधान बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमणके अनादि अनंत एकस्वरूप चिद्ब्रह्म की दृष्टि, उपासना, अनुभूति व रति रहती है । (२) शुद्ध चिद् ब्रह्म समस्त कर्म पुद्गलविपाकसे अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला है । (३) क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रियज सुख, दुःख आदि विकार पुद्गल कर्मके विपाक हैं । (४) अविकार सहजपरमात्मस्वरूप चिद्ब्रह्मकी उपासना करने वाले श्रमण कषायरहित होते है । (५) श्रमण वर्तमानमे मनुष्य है तथापि कषायरहित व शुद्धात्मपरिणत होनेसे समस्त मनुष्यव्यवहारोसे पृथक् है । (६) श्रमण मनुष्यव्यवहारोंसे पृथक् होनेके कारण इहलोकनिरपेक्ष है अर्थात् इस लोककी अपेक्षावोंसे रहित है । (७) इस लोककी अपेक्षावोंका आधार शरीर है, किन्तु कषायरहित होनेके कारण श्रमणको वर्तमान शरीरमें अनुराग नही-

द्धयर्थप्रदीपपूरणोत्सर्पणस्थानीयाभ्यां शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भप्रसिद्धयर्थतच्छरीरसंभोजनसंचलनाभ्यां युक्ताहारविहारो हि स्यात् श्रमणः । इदमत्र तात्पर्यम्—यतो हि रहितकषायः ततो न तच्छरीरानुरागेण दिव्यशरीरानुरागेण वाहारविहारयोरयुक्त्या प्रवर्तेत । शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकश्रामण्यपर्यायपालनायैव केवलं युक्ताहारविहारः स्यात् ।।२२६।।

लोयम्हि लोके-सप्तमी एक० । हवे भवेत्-विधौ अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति—अत्र इति इह (इद+ह इ आदेश), कषति इति कषायः (कष+आय) कष हिंसार्थः भ्वादि । समास—युक्तः आहारः विहारः यस्य स युक्ताहारविहारः ।।२२६।।

है । (८) कषायरहित होनेसे श्रमण भविष्यमें होने वाले देवादिभावोंके अनुभवकी तृष्णासे अत्यन्त दूर है । (९) परभवकी अपेक्षावोंसे रहित होनेके कारण श्रमणके दिव्यशरीरमें भी अनुराग नहीं है । (१०) शरीरका अनुराग न होनेपर भी शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिसाधक श्रमण-जीवनमे जीवनके लिये आहार करना निषिद्ध नहीं है । (११) आहार करना आवश्यक होने की स्थितिमे भी आत्मस्वरूपके परिज्ञानी श्रमण अयोग्य आहारका ग्रहण नहीं करता, किन्तु योग्य आहार ही ग्रहण करता है । (१२) श्रामण्य (मुनिपना) का पालन अयोग्य आहार लेने में संभव नही है । (१३) श्रमण केवल शुद्धात्मतत्त्वकी रुचि वाले होते हैं । (१४) शुद्धात्म-तत्त्वके रुचिया श्रमण कषायके वातावरणसे दूर रहते है । (१५) कषायके वातावरणसे दूर रहनेके लिये श्रमण एक स्थानपर बहुत दिन नही रहते, अतः वे विहार करते रहते हैं । (१६) विहार करना आवश्यक होनेकी स्थितिमें योग्यायोग्य द्रव्य क्षेत्र काल भावके परिज्ञानी श्रमण अयोग्य विहार नही करते, किन्तु योग्य ही विहार करते हैं । (१७) शुद्धात्मतत्त्वकी उपल-ब्धिके लिये ही श्रमणका योग्य आहार विहार होता है । (१८) जैसे प्रकाश पानेके लिये दियामें योग्य तैलका डालना (आहार) व योग्य बातीका उसकेरते रहना (विहार) आवश्यक है, ऐसे ही श्रामण्यपर्यायपालनके लिये योग्य आहार विहार अप्रतिषिद्ध है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धात्मतत्वकी शुद्ध भावना होनेसे अयोग्य आहार विहार दूर हो जाता है । (२) शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी धुन वाले आहार करते हुए भी उसके भोक्ता नही ।

दृष्टि—१- शुद्ध भावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २-अभोक्तृनय (१९२) ।

प्रयोग—सहजानन्दमय आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये निर्ग्रन्थ श्रमण होकर योग्य मुनिचर्या कर जीवनपर्यन्त शुद्ध चैतन्य महाप्रभुकी आराधना करना ।।२२६।।

अब युक्ताहारविहारी साक्षात् अनाहारविहारी ही है, यह बतलाते हैं—[यस्य आत्मा अनेषणः] जिसकी दृष्टिमें आत्मा आहारकी इच्छासे रहित है [तत् अपि तपः] वह निराहार-

अथ युक्ताहारविहारः साक्षादनाहारविहार एवेत्युपदिशति—

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥२२७॥

अनशनस्वभाव आत्मा-के प्रत्येषक श्रमण स्वलक्ष्यवशी ।
ऐषणादोषविरहित, भिक्षाचारी अनाहारी ॥ २२७ ॥

यस्यानेषण आत्मा तदपि तप. तत्प्रत्येषकाः श्रमणा· । अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहारा· ॥२२७॥

स्वयमनशनस्वभावत्वादेषणादोषशून्यभैक्ष्यत्वाच्च युक्ताहारः साक्षादनाहार एव स्यात् । तथाहि—यस्य सकलकालमेव सकलपुद्गलाहरणशून्यमात्मानमवबुद्धचमानस्य सकलाशनतृष्णा-शून्यत्वात्स्वयमनशन एव स्वभावः । तदेव तस्यानशन नाम तपोऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात् इति कृत्वा ये तं स्वयमनशनस्वभावं भावयन्ति श्रमणाः, तत्प्रतिषिद्धये चैषणादोषशून्यमन्यद्भैक्षं

नामसंज्ञ—ज अणेसण अप्प त पि तव तप्पडिच्छग समण अण्ण भिक्ख अणेसण अध त समण अणाहार। धातुसंज्ञ – भिक्ख भिक्षाया। प्रातिपदिक– यत् अनेषण आत्मन् तत् अपि तपस् तत्प्रत्येषक

स्वभाव निश्चयसे तप है; [तत्प्रत्येषकाः] और निराहारस्वभाव आत्माको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करने वाले [श्रमणाः] श्रमण [अन्यत् भैक्षम्] स्वरूपसे पृथक् भिक्षाको [अनेषणम्] एषणारहित ग्रहण करते है, [अथ] इसलिये [ते श्रमणाः] वे श्रमण [अनाहाराः] अनाहारी हैं।

तात्पर्य—निराहारस्वभावी आत्माकी प्राप्तिके लिये संयमी जीवन बितानेके लिये परिस्थितिवश निर्दोष आहार लेनेपर भी श्रमण अनाहारी है।

टीकार्थ—स्वयं अनशनस्वभावपना होनेसे और एषणादोषशून्य भैक्ष्यपना होनेसे, युक्ताहारी श्रमण साक्षात् अनाहारी ही है। स्पष्टीकरण—सदा ही समस्त पुद्गलाहारसे शून्य आत्माको जानते हुए जिसका समस्त अशनतृष्णारहित होनेसे स्वयं अनशन ही स्वभाव हैं, वही उसके अनशन नामक तप है, क्योकि अंतरंगकी विशेष बलवत्ता है, यह समझकर जो श्रमण आत्माको स्वयं 'अनशनस्वभाव भाते है और उसकी सिद्धिके लिये एषणादोषशून्य पर-रूप भिक्षा आचरते है; वे आहार करते हुए भी मानो आहार नही करते हों, ऐसे होनेसे साक्षात् अनाहारी ही हैं, क्योंकि युक्ताहारित्वके कारण उनके स्वभाव तथा परभावके निमित्त से बन्ध नही होता। इस प्रकार स्वयं अविहारस्वभाव वाला होनेसे और समितिशुद्ध विहार-वाला होनेसे युक्तविहारी श्रमण साक्षात् अविहारी ही है—यह अनुक्त होनेपर भी समझना चाहिये।

चरन्ति, ते किलाहरन्तोऽप्यनाहरन्त इव युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययबन्धाभावात्साक्षाद-नाहारा एव भवन्ति। एवं स्वयमविहारस्वभावत्वात्समितिशुद्धविहारत्वाच्च युक्तविहारः साक्षादविहार एव स्यात् इत्यनुक्तमपि गम्येतेति ॥२२७॥

श्रमण अन्यत् भैक्ष अनेषण अन्य तत् श्रमण अनाहार। **मूलधातु**— भिक्ष भिक्षायां। **उभयपदविवरण**— जस्स यस्य-षष्ठी एक०। अरोसण अनेषणः अप्पा आत्मा-प्रथमा एक०। तं तत् तवो तपः-प्रथमा एक०। तप्पडिच्छगा तत्प्रत्येषका. समणा श्रमणा ते समणा श्रमणाः अणाहारा अनाहारा.-प्रथमा बहुवचन। अण्ण अन्यत् भिक्खं भैक्ष-द्वि० एक०। अरोसणं अनेषणं-क्रियाविशेषणं। अध अथ पि अपि-अव्यय। **निरुक्ति**— भिक्षण भिक्षः भिक्षस्येद इति भैक्ष (भिक्ष्+अण्) भिक्ष भिक्षाया अलाभे लाभे च। **समास**— न आहारः येषा ते अनाहाराः ॥२२७॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे अप्रतिषिद्ध श्रमणशरीरके पालनका विधान बताया गया था। अब इस गाथामें यह बताया गया है कि योग्य आहार विहार करने वाले श्रमण साक्षात् अनाहारी व अविहारी है।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण अपने आत्माके अनाहारस्वभावका सतत प्रतीति रखता है। (२) अनाहारस्वभावी होनेपर भी श्रमण संयमसाधकशरीरके पालनके लिये ऐषणाके दोषसे रहित भैक्ष्य चर्या करता है। (३) अनाहारस्वभावदृष्टि वाला तथा निर्दोष चर्या वाला होनेसे योग्य आहार करता हुआ भी श्रमण साक्षात् (आत्मदृष्टिसे) अनाहार ही है। (४) श्रमण सदा ही अपने आत्माको समस्त पुद्गलोंके अहरण (ग्रहण) करनेसे शून्य मानते हैं। (५) श्रमण आहारविषयक तृष्णासे रहित होते हैं। (६) अनशन स्वभावके अनुभवने वाले श्रमणों का यह अनाहारचैतन्य प्रतपन अन्तरङ्ग तप है। (७) अनाहारचैतन्यप्रतपनरूप तपकी सिद्धिके लिये निर्दोष विधिसे निर्दोष आहार ग्रहणकी चर्या करते है। (८) अनशन स्वभाव अन्तस्तत्त्वके भावने वाले श्रमण निर्दोष भिक्षाचर्यासे आहार ग्रहण करते हुए भी श्रमणोके अनाहारीकी तरह स्वभावपरभावनिमित्तक बन्ध नहीं होता। (९) आहार करते हुए भी श्रमणोंके जब अनाहारी श्रमणकी भांति बन्ध नही है, तब वे साक्षात् अनाहारी ही हैं। (१०) आत्मा का विहार करना स्वभाव नहीं है, आत्मा अविहारस्वभाव है। (११) अविहारस्वभावपना होनेसे और उसको सिद्धिके लिये समितिसे शुद्ध विहार होनेसे योग्य विहार वाले श्रमण साक्षात् विहाररहित ही समझिये।

सिद्धान्त—(१) निष्क्रिय शुद्ध अन्तस्तत्त्वको भावना करने वालेके क्रियाका संकल्प नहीं रहता। (२) निष्क्रिय शुद्ध अन्तस्तत्त्वके भावने वाला विहार करके भी विहारका कर्ता नहीं।

अथ कुतो युक्ताहारत्वं सिद्धयतीत्युपदिशति--

केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥२२८॥

गात्रमात्रसंगी मुनि तनमें भि ममत्व बिन अपरिकर्मा।
अपनी शक्ति प्रकट कर, तपमें उद्यत श्रमण होता ॥२२८॥

केवलदेहः श्रमणो देहे न ममेति रहितपरिकर्मा। आयुक्तवास्त तपसा अनिगूह्यात्मनः शक्तिम् ॥ २२८ ॥

यतो हि श्रमणः श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेन केवलदेहमात्रस्योपधेः प्रसह्याप्रतिषेधकत्वात्केवलदेहत्वे सत्यपि देहे 'किं किंचण' इत्यादिप्राक्तनसूत्रद्योतितपरमेश्वराभिप्रायपरिग्रहेण

नामसंज्ञ—केवलदेह समण देह ण अघ ममत्ति रहिदपरिकम्म आजुत्त त तव अप्प सत्ति। **धातुसंज्ञ**—ग्रह संवरणे। **प्रातिपदिक**–केवलदेह श्रमण देह न अस्मद् इति रहितपरिकर्मन् आयुक्तवत् तत् तपस् आत्मन् शक्ति। **मूलधातु**—गुहू गोपने। **उभयपदविवरण**—केवलदेहो केवलदेह समणो श्रमण रहिदपरिकम्मो रहितपरिकर्मा–प्रथमा एक०। देहे–सप्तमी एक०। ण न त्ति इति–अव्यय। आजुत्तो आयुक्तवान्–प्रथमा एकवचन कृदन्त। त–द्वितीया एक०। तवसा तपसा–तृ० एक०। अणिगूहिय अनिगूह्य–सम्बन्धार्थप्रक्रिया

दृष्टि—१- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)। २- अकर्तृनय (१६०)।

प्रयोग—निष्क्रिय शान्त अन्तस्तत्त्वकी उपलब्धिके लिये निर्ग्रन्थ श्रमण होकर अविहारस्वभाव अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि रखना व इस ही की सिद्धिके लिये यदि आवश्यक हो तो योग्य विहार करना ॥२२७॥

अब श्रमणके युक्ताहारपना कैसे सिद्ध होता है यह उपदेश करते हैं—**[केवलदेहः श्रमणः]** जिसके देहमात्रपरिग्रह विद्यमान है ऐसे श्रमणने **[देहे अपि]** शरीरमें भी **[न मम इति]** 'मेरा नहीं है' यह समझकर **[रहितपरिकर्मा]** परिकर्म रहित होते हुये, **[आत्मनः]** अपने आत्माकी **[शक्तिं]** शक्तिको **[अनिगूह्य]** न छुपाकर **[तपसा]** तपके साथ **[तं]** उस शरीरको **[आयुक्तवान्]** युक्त किया है।

तात्पर्य—मुनिराजोंने देहममत्व त्यागकर आत्मशक्तिको न छुपाकर देहको तपश्चरण में लगाया।

टीकार्थ—चूंकि श्रामण्यपर्यायके सहकारी कारणके रूपमे केवल देहमात्र उपधिको श्रमण हठपूर्वक त्याग नही करता इसलिये वह केवल देहवान् है; ऐसा देहवान् होनेपर भी, 'किं किंचण' इत्यादि पूर्व गाथा द्वारा प्रकाशित किये गये परमेश्वरके अभिप्रायका ग्रहण करनेके द्वारसे 'यह शरीर वास्तवमें मेरा नही है इसलिये यह अनुग्रह योग्य नहीं है, किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' इस प्रकार समस्त शारीरिक संस्कारको छोड़ा हुआ होनेसे परिकर्मरहित है, इस कारण उसके देहके ममत्वपूर्वक अनुचित आहारग्रहणका अभाव होनेसे युक्ताहारित्व

न नाम ममायं ततो नानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेति परित्यक्तसमस्तसंस्कारत्वाद्रहितपरिकर्मा स्यात् । ततस्तन्ममत्वपूर्वकानुचिताहारग्रहणाभावाद्युक्ताहारत्वं सिद्धयेत् । यतश्च समस्तामप्यात्मशक्तिं प्रकटयन्ननन्तरसूत्रोदितेनानशनस्वभावलक्षणेन तपसा तं देहं सर्वारम्भेणाभियुक्तवान् स्यात् । तत आहारग्रहणपरिणामात्मकयोगध्वंसाभावाद्युक्तस्यैवाहारेण च युक्ताहारत्वं सिद्धयेत् ॥२२८॥

अव्यय । अप्पणो आत्मन.-षष्ठी एक० । सत्ति शक्ति-द्वितीया एक० । निरुक्ति- शकनं शक्तिः (शक् + तिन्) शक्लृ सामर्थ्ये । समास—केवल देह. यस्य सः केवलदेह. ॥२२८॥

सिद्ध होता है । और चूंकि उसने समस्त ही आत्मशक्तिको प्रगट करते हुए अनन्तरपूर्व गाथा सूत्र द्वारा कथित अनशनस्वभावलक्षण तपके साथ उस शरीरको सर्व उद्यमसे युक्त किया है अर्थात् जोडा है, इस कारण आहारग्रहणके परिणामस्वरूप योगध्वंसका अभाव होनेसे योग्य ही आहारके कारण उसके युक्ताहारित्व सिद्ध होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे युक्ताहारविहार श्रमणको साक्षात् अनाहारविहार कहा गया था । अब इस गाथामे श्रमणके युक्ताहारपनेका कारण बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमणने समस्त अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग परिग्रहका त्याग कर दिया है, किन्तु उसके देह तो अभी लगा ही है । (२) देहको यदि हठपूर्वक त्याग दे याने मरण कर जाय तो संयम साधनेका अवसर भी खो दिया । (३) श्रमणके अब श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारणपना होनेसे केवल देहमात्र उपधि रह गई है । (४) श्रमणके इस देहमात्र उपधि मे रंच भी ममत्व नही है । (५) श्रमण देहको अनुग्रहके योग्य नही जानता, किन्तु उपेक्षाके योग्य ही जानता है । (६) श्रमणको देहमें भी उपेक्षा है अतः श्रमणने देहका समस्त संस्कार त्याग दिया है, अतः श्रमण रहित परिकर्मा है । (७) अनुचित आहारका ग्रहण ममत्वपूर्वक ही हो सकता है, अतः ममत्वरहित श्रमणके अनुचित आहारका ग्रहण संभव नही है । (८) जिसके अनुचित आहारका ग्रहण संभव नही और श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारणपना होनेसे जीवनका हेतुभूत आहार ग्रहण करना आवश्यक हो गया सो उस श्रमणके युक्ताहारपना ही हो सकता है । (९) श्रमण अपनी आत्मशक्तिको छुपाये बिना, आत्माके अनशनस्वभावकी उपासनारूप आन्तरिक तपमें अपनेको लगाये रहता है । (१०) श्रमण अपने आत्माके अनशनस्वभावकी प्रतीतिसहित ही अनेक तपोंमें युक्त रहता है । (११) आहार ग्रहण करना आवश्यक होनेपर श्रमण अपने आत्माके अनशनस्वभावकी प्रतीतिसहित होता हुआ ही योग्य आहार ग्रहण करता है । (१२) योगी (श्रमण) "आहार ग्रहण करना आत्माका परिणाम

अथ युक्ताहारस्वरूपं विस्तरेणोपदिशति—

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥२२६॥

इकभुक्ति अपूर्णोदर, जैसा भी मिले दिनमें चर्यासे।
अरसापेक्ष निरामिष, अमधु सुयुक्त आहार यही ॥२२६॥

एकः खलु स भक्तः अप्रतिपूर्णोदरो यथालब्ध.। चरण भिक्षया दिवा न रसापेक्षो न मधुमांसः॥ २२६ ॥

एककाल एवाहारो युक्ताहारः, तावतैव श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरस्य धारणत्वात्। अनेककालस्तु शरीरानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः। शरी-

नामसंज्ञ— एक्क खलु त भत्त अप्पडिपुण्णोदर जहालद्ध चरण भिक्ख दिवा ण रसावेक्ण ण मधुमस।

है स्वभाव है" ऐसे परिणामसे रहित है, अतः योगी योगध्वस नही होता। (१३) जिसके योगध्वंस नही, अनशनस्वभावकी प्रतीति है, देहका परिकर्म नही है, श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारणपना होनेसे देहका बनाये रखना आवश्यक है उस श्रमणके युक्ताहारपना होता है।

सिद्धान्त—(१) श्रमण अनशनस्वभाव आत्मतत्त्वकी निरन्तर प्रतीति व आराधना के कारण कर्मभारसे रहित होता है। (२) ममत्वरहित श्रमण अनशनस्वभावकी प्रतीति सहित योग्य आहार लेना पड़नेसे अभोक्ता है।

दृष्टि—१–शुद्धभावनासापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)। २–अभोक्तृनय (१६२)।

प्रयोग—अनशनस्वभाव अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति आराधनासहित होते हुए आवश्यक होनेपर योग्य आहारादिकी प्रवृत्ति करना ॥२२८॥

अब युक्ताहारका स्वरूप विस्तारसे बतलाते है—**[खलु]** वास्तवमे **[सः भक्तः]** वह आहार (युक्ताहार) **[एकः]** एक बार **[अप्रतिपूर्णोदरः]** ऊनोदर **[यथालब्धः]** यथालब्ध (जैसा प्राप्त हो वैसा) **[दिवा]** दिनमें **[भिक्षया चरणं]** भिक्षाचरणसे लेना, **[न रसापेक्षः]** रसकी अपेक्षासे रहित, और **[न मधुमांसः]** मधु मांस रहित होता है।

टीकार्थ—एक बार आहार ही युक्ताहार है, क्योकि उतनेसे ही श्रामण्य पर्यायका सहकारी कारणभूत शरीर टिका रहता है। शरीरके अनुरागसे ही अनेकबार आहारका सेवन किया जानेसे कायरतासे हिंसायतनरूप किया जाता हुआ युक्त नही है; और शरीरानुरागसे सेवकपनेसे अनेक बार आहार युक्त न हुएके भी अपूर्णोदर आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही प्रतिहतयोगरहित है। पूर्णोदर आहार प्रतिहत योग वाला होनेसे कथंचित् हिंसायतन

रानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य । अप्रतिपूर्णोदर एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाप्रतिहतयोगत्वात् । प्रतिपूर्णोदरस्तु प्रतिहतयोगत्वेन कथंचित् हिंसायतनीभवन् न युक्तः । प्रतिहतयोगत्वेन न च युक्तस्य यथालब्ध एवाहारो युक्ताहारः तस्यैव विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागशून्यत्वात् । अयथालब्धस्तु विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः । विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य । भिक्षाचरणेनैवाहारो युक्ताहारः तस्यैवारम्भशून्यत्वात् । अभैक्षाचरणेन त्वारम्भसम्भवात्प्रसिद्धहिंसायतनत्वेन न युक्तः । एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य । दिवस एवाहारो युक्ताहारः तदेव सम्यगवलोकनात् । अदि-

धातुसंज्ञ—लभ प्राप्तौ । प्रातिपदिक—एक खलु तत् भक्त अप्रतिपूर्णोदर यथालब्ध चरण भिक्षा दिवा न रसापेक्ष न मधुमास । मूलधातु—डुलभष् प्राप्तौ । उभयपदविवरण—एक्क एक. त स भत्त भक्तः अप्प॰

होता हुआ योग्य नही है; और प्रतिहत योग वाला होनेसे पूर्णोदर आहार युक्त न हुएके भी यथालब्ध आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आहार विशेषप्रियतास्वरूप अनुरागसे शून्य है । अयथालब्ध आहार विशेषप्रियतास्वरूप अनुरागसे सेवन किया जानेसे आत्यतिक हिंसायतन किया जाता हुआ योग्य नही है । और विशेष प्रियतास्वरूप अनुरागके द्वारा सेवन करने वाला होनेसे, अयथालब्ध आहारयुक्त न हुएके भी भिक्षाचरणसे आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आरंभशून्य है । भिक्षाचरण रहित आहारमे आरम्भका सम्भव होनेसे हिंसायतनत्व प्रसिद्ध है, अतः वह आहार योग्य नही है और ऐसे आहारके सेवनमें अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होनेसे अभैक्ष्याचार युक्त न हुएके भी दिनका आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही भली भाँति देखा जा सकता है । दिनके अतिरिक्त समयमें आहार भली-भाँति नही देखा जा सकता, इसलिये उसके हिंसायतनत्व अनिवार्य होनेसे वह आहार योग्य नही है और ऐसे आहारके सेवनमे अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होनेसे अदिवसाहार युक्त न हुएके भी रसकी अपेक्षासे रहित आहार ही युक्ताहार है, क्योकि वही अन्तरंग शुद्धिसे सुन्दर है । रसकी अपेक्षासे युक्त आहार अन्तरंग अशुद्धिके द्वारा आत्यंतिक हिंसायतन किया जाता हुआ योग्य नहीं है । और उसका सेवन करने वाला अन्तरग अशुद्धिपूर्वक सेवकपनेसे रसापेक्ष, आहार युक्त न हुएके भी मधुमांस रहित आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उसके ही हिंसायतनत्वका अभाव है । मधु-मांस सहित आहार हिंसायतन होनेसे योग्य नहीं है । और, ऐसे आहारके सेवनमें अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होनेसे समधुमांस आहार युक्त न हुएके भी चूंकि यहाँ मधु-मांस हिंसायतनका उपलक्षण है इसलिये समस्त हिंसायतनशून्य आहार ही युक्ताहार है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें श्रमणके युक्ताहारपनेकी सिद्धि की गई थी । अब

वसे तु सम्यगवलोकनाभावादनिवार्यहिंसायतनत्वेन न युक्तः। एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशु-द्धित्वान्न च युक्तस्य। अरसापेक्ष एवाहारो युक्ताहारस्तस्यैवान्तःशुद्धिमुन्दरत्वात्। रसापेक्षस्तु अन्तरशुद्धया प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः। अन्तरशुद्धिसेवकत्वेन न च युक्तस्य। अमधुमांस एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाहिंसायतनत्वात्। समधुमांसस्तु हिंसायतनत्वान्न युक्तः। एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य। मधुमांसमत्र हिंसायतनोपलक्षणं तेन समस्तहिंसायतनशून्य एवाहारो युक्ताहारः ॥२२६॥

डिपुण्णोदरं अप्रतिपूर्णोदरः जहालद्ध यथालब्ध चरण रसावेक्ख रसापेक्ष. मधुमस मधुमासः–प्रथमा एक-वचन। खलु दिवा ण न–अव्यय। भिक्खेण भिक्षया–तृतीया एक०। निरुक्ति– उद् अरण उदर उद् अर्यते यः स उदरः (उद् + अप्)। समास– अप्रतिपूर्णं उदरं यस्य स अप्रतिपूर्णोदरः ॥२२६॥

इस गाथामें योग्य आहारका स्वरूप बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) एक बार ही आहार करना योग्याहार है, क्योंकि एक बारके आहारसे ही श्रामण्यपर्यायके सहकारी कारण शरीरका टिकना बन जाता है। (२) अनेक बार आहार शरीरके अनुरागसे ही किया जाता है सो उसमें भावहिंसा नियमित है, अतः अनेक बारका आहार योग्याहार नहीं हो सकता। (३) एक बारमे भी अपूर्णोदर ही आहार योग्या-हार है, क्योंकि अपूर्णोदर आहारमें साधुयोग्य योगविधानोका विघात नही होता। (४) पूर्णोदर आहार होनेपर योग (साधुकर्तव्य) मे प्रमाद होता अतः पूर्णोदर आहार हिंसाका आयतन है सो वह योग्याहार नही। (५) एक बार व अपूर्णोदर आहार भी यथालब्ध हो वह योग्याहार है, क्योंकि यथालब्ध आहारमें विशेष प्रियपनेका अनुराग नही होता। (६) स्वेच्छालब्ध आहारका ग्रहण विशेषप्रियपनेके अनुरागसे ही भोगा जाता, अतः स्वेच्छालब्ध (अपनी पसंदगीका) आहार भावहिंसाका आयतन होनेसे अयोग्य आहार है। (७) एक बार अपूर्णोदर यथालब्ध आहार भी भैक्ष्याचरणसे ही प्राप्त किया गया योग्य आहार है, क्योंकि ऐषणासमितिसे प्राप्त किया गया आहार आरम्भदोषसे रहित है। (८) अभैक्षाचरणसे प्राप्त आहार आरंभयुक्त होनेसे हिंसाका आयतन है, अतः वह अयोग्य आहार है। (९) एक बार अपूर्णोदर यथालब्ध गोचरीसे प्राप्त आहार भी दिनमे ही किया गया आहार योग्य आहार है, क्योंकि दिनमे ही आहारका सही अवलोकन हो सकता है। (१०) दिनके अतिरिक्त अन्य समयमें किया गया आहार योग्य आहार नही, क्योंकि अन्य समय आहारका सही अवलोकन हो ही नही सकता। (११) दिनमें एक बार ऐषणासमितिसे प्राप्त यथालब्ध अपूर्णोदर आहार भी अरसापेक्ष ही योग्य आहार है, क्योकि अरसापेक्ष आहारमें ही अन्तरङ्ग विशुद्धि रह

अथोत्सर्गापवादमैत्रीसौस्थित्यमाचरणस्योपदिशति—

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥२३०॥

बाल हो वृद्ध हो वा, श्रान्त हो ग्लान हो भि कोइ श्रमण।
योग्य चर्या करो जिस में न मूलगुणविराधन हो ॥ २३० ॥

बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतो वा पुनर्ग्लानो वा। चर्यां चरतु स्वयोग्यां मूलच्छेदो यथा न भवति।२३०।

बालवृद्धश्रान्तग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा

नामसंज्ञ—बाल वा बुड्ढ वा समभिहद वा पुणो गिलाण वा चरिय सजोग्ग मूलच्छेद जधा ण।

सक्ती है। (१२) रसापेक्ष आहारके ग्रहणमें अन्तरङ्ग अशुद्धि होनेसे भावहिंसा है, अतः रसापेक्ष आहार अयोग्य आहार है। (१३) दिनमें एक बार ऐषणासमिति प्राप्त यथालब्ध अपूर्णोदर ग्रासापेक्ष आहार भी मधु मांस आदि दोषोंसे रहित हो योग्य आहार है, क्योंकि हिंसारहित मर्यादित शुद्ध आहार ही अहिंसाका आयतन है। (१४) मधु मांस चलितरस आदि दोषोसे युक्त आहार हिंसाका आयतन है, उसके ग्रहणमे अन्तरङ्ग अशुद्धि प्रकट ही है, अतः सदोष आहार अयोग्य आहार है। (१५) उक्त प्रकारका आहार ही तपस्वी साधु संतों के लिये योग्य आहार है, क्योंकि योग्य आहारमें ही रागादिविकल्प न जगनेसे निश्चयमे अहिंसा है और इस अहिंसाकी साधक द्रव्य अहिंसा है। (१६) भाव अहिंसासे चैतन्यस्वरूप निश्चयप्राणकी रक्षा है। (१७) द्रव्य अहिंसासे परजीवके प्राणोंकी रक्षा है। (१८) जिस आहारमें भावअहिंसा व द्रव्यअहिंसा दोनों अहिंसायें रहें वह आहार योग्य आहार है। (१९) उक्त योग्याहारके विरुद्ध आहारके ग्रहणसे श्रमणके श्रामण्य नहीं रहता।

सिद्धान्त—१- चैतन्य प्राणकी दृष्टि आदि रूप, रक्षा भाव अहिंसा है। २- रागादि भावकी जागृति भावहिंसा है।

दृष्टि—१- शुद्धनिश्चयनय (४६)। २- अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

प्रयोग—संयमके बाह्यसाधनीभूत शरीरके पालनके लिये आवश्यकता रहने तक योग्य आहार ही ग्रहण करना व उस समय भी अनशनस्वभाव अविकार चैतन्यस्वरूपकी आराधना करना ॥२२९॥

अब उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री द्वारा आचरणके सुस्थितपनेका उपदेश करते हैं—[**बालः वा**] श्रमण बाल हो [**वृद्धः वा**] या वृद्ध हो [**श्रमाभिहतः वा**] या श्रांत हो [**पुनः ग्लानः वा**] या ग्लान हो [**यथा मूलच्छेदः**] जैसे मूलका छेद [**न भवति**] न हो उस प्रकार

स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः । बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः । बालवृद्धश्रान्तग्लानेन संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्गः । बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्य मृद्वाचरणमाचरता संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधन-

धातुसंज्ञ— हव सत्तायां, चर गतौ । **प्रातिपदिक**—बाल वा वृद्ध वा समभिहत वा पुनर् ग्लान वा चर्या स्वयोग्या मूलच्छेद यथा न । **मूलधातु**—ग्लै हर्ष क्षये, चर गत्यर्थ, भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—बालो बाल: बुड्ढो वृद्ध: समभिहदो समभिहत गिलाणं ग्लान: मूलच्छेद मूलच्छेद:—प्रथमा एकवचन । चरियं चर्यां-द्वितीया एकवचन । सजोग्ग स्वयोग्यां—द्वि० एक० । चरदु चरतु—आज्ञार्थे अन्य पुरुष एक० क्रिया । वा जधा यथा ण न—अव्यय । हवदि भवति—वर्त० अन्य० एक० क्रिया । **निरुक्ति**—मन्यन्ते यत् विशेषण

से **[स्वयोग्यां]** अपने योग्य **[चर्यां चरतु]** आचरण करे ।

तात्पर्य—बाल, वृद्ध, रोगी, तपस्यासे थका हुआ कोई भी श्रमण अपना आचरण ऐसा करे जिसमे मूल संयमका घात न हो ।

टीकार्थ—बाल, वृद्ध, श्रान्त या ग्लान श्रमणके द्वारा भी शुद्धात्मतत्त्वके साधनभूत होनेसे मूलभूत संयमका छेद जैसे न हो उस प्रकार संयतको अपने योग्य अति कठोर ही आचरण आचरना चाहिये, यह उत्सर्गमार्ग है । तथा बाल, वृद्ध, श्रान्त, ग्लान श्रमणके द्वारा शुद्धात्मतत्त्वके साधनभूत संयमका साधन होनेसे मूलभूत शरीरका छेद जैसे न हो उस प्रकार बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानके अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना चाहिये, यह अपवादमार्ग है । शुद्धात्मतत्त्वका साधन होनेसे मूलभूत संयमका छेद जैसे न हो उस प्रकार संयतके अपने योग्य अति कठोर आचरण आचरते हुये बाल वृद्ध श्रान्त ग्लान श्रमणके द्वारा शुद्धात्मतत्त्वके साधनभूत संयमका साधन होनेसे मूलभूत शरीरका भी छेद जैसे न हो उस प्रकार बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानके योग्य मृदु आचरण भी आचरना चाहिये इस प्रकार अपवादसापेक्ष उत्सर्ग है । शुद्धात्मतत्त्वके साधनभूत संयमका साधन होनेसे मूलभूत शरीरका छेद जैसे न हो उस प्रकारसे बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानके अपने योग्य मृदु आचरण आचरते हुये बाल वृद्ध श्रान्त ग्लानके द्वारा शुद्धात्मतत्त्वका साधन होनेसे मूलभूत संयमका छेद जैसे न हो, उस प्रकारसे संयतको अपने योग्य अतिकर्कश आचरण भी आचरना चाहिये इस प्रकार उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद है । अतः

त्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीय-
मित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवाद:। अत: सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम् ॥२३०॥

इति मधु: (मन्+उ नस्य ध:) बलति इति बाल: बल प्राणने भ्वादि चुरादि। समास- मूलस्य छेद. मूल-च्छेद: ॥२३०॥

सर्वथा उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री द्वारा आचरणका सुस्थितपना करना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें योग्य आहारका स्वरूप बताया गया था। अब इस गाथामें उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीसे ठीक बैठने वाला आचरण बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) संयमी जनके अपने योग्य अति कठोर आचरणको, निवृत्तिप्रमुख आचरणको उत्सर्गमार्ग कहते हैं। (२) संयमी जनके अपने योग्य चरणानुयोगसम्मत मृदु आचरणको अपवादमार्ग कहते हैं। (३) उत्सर्गमार्गमें उस ही प्रकारसे कर्कश आचरण आचरणीय है जिसमें शुद्धात्मतत्त्वके साधनरूप संयमका घात न हो सके। (४) अपवादमार्गमें इतने मात्र प्रयोजनसे आहार विहार निहारादिरूप मृदु आचरण आचरणीय है जिससे संयमके बहिरङ्ग साधनभूत शरीरका घात न हो जाय। (५) कोई सन्न्यासमरणका अपात्र श्रमण अपवादमार्गको त्यागकर केवल उत्सर्गमार्गका ही हठ करे तो वह आत्मप्रगतिमार्गसे भ्रष्ट हो जावेगा। (६) कोई इन्द्रियसुखावशी श्रमण उत्सर्ग मार्गको त्यागकर केवल अपवादमार्गके आचरणमें संतुष्ट रहता है तो वह आत्मप्रगतिमार्गसे भ्रष्ट हो जायगा। (७) आत्मप्रगतिमार्गमें निर्विघ्न बढ़नेके लिये उत्सर्गसापेक्ष अपवादमार्गका आचरण करना चाहिये और अपवादसापेक्ष उत्सर्गमार्गका आचरण करना चाहिये। (८) अपवादमार्गका अर्थ चरणानुयोगके अनुसार आहारादिसे अपना निर्वाह करना है, यहाँ अपवादमार्गका अर्थ आचरण भ्रष्ट करना नहीं है। (९) उत्सर्गमार्गका अर्थ बाह्यप्रवृत्ति त्याग कर मात्र शुद्धात्मतत्त्वकी दृष्टिकी उपासनामें ही उपयोग रखना है। (१०) उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीके द्वारा ही आचरणका भला रहना ठीक बैठता है।

सिद्धान्त—(१) उत्सर्गमार्गमें परमोपेक्षासहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधनारूप निश्चयसंयम होता है। (२) अपवादमार्गमें चरणानुयोगानुसार प्रवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र होता है।

दृष्टि—१- ज्ञाननय (१९४)। २- क्रियानय (१९३)।

प्रयोग—चरणानुयोगविधिसे अपनी जीवनचर्या निभाकर अपनेमें अपने सहज स्वभावको अङ्गीकार करते हुए स्वरूपमग्न होनेका पौरुष होने देना ॥२३०॥

अब उत्सर्ग और अपवादके विरोधसे आचरणकी दु:स्थितताको बतलाते हैं—[यदि]

अथोत्सर्गापवादविरोधदौःस्थमाचरणस्योपदिशति—

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥२३१॥

देश काल श्रम क्षमता, उपधीको जानकर श्रमण वर्ते ।
आहार विहारोंमें, तो वह है अल्पलेपी मुनि ॥२३१॥

आहारे वा विहारे देश कालं श्रमं क्षमामुपधिम् । ज्ञात्वा तान् श्रमणो वर्तते यद्यल्पलेपी स ॥ २३१ ॥

अत्र क्षमाग्लानत्वहेतुरुपवासः । बालवृद्धत्वाधिष्ठानं शरीरमुपधिः, ततो बालवृद्धश्रान्तग्लाना एव त्वाकृष्यन्ते । अथ देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः

नामसंज्ञ—आहार व विहार देस काल सम खम उपधि त समण जदि अप्पलेवि त । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, वत्त वर्तने । **प्रातिपदिक**— आहार व विहार देश काल श्रम क्षमा उपधि तत् श्रमण यदि अल्पलेपिन् तत् । **मूलधातु**— ज्ञा अवबोधने, वृतु वर्तने । **उभयपदविवरण**— आहारे विहारे–सप्तमी एक० ।

यदि **[श्रमणः]** श्रमण **[आहारे वा विहारे]** आहार अथवा विहारमें **[देशं]** देश, **[कालं]** काल **[श्रमं]** श्रम, **[क्षमां]** उपवासादिकी क्षमता तथा **[उपधिं]** उपधि, **[तान् ज्ञात्वा]** इनको जानकर **[वर्तते]** प्रवर्तता है **[सः अल्पलेपः]** तो वह अल्पलेपी होता है ।

तात्पर्य—युक्ताहारविहार करने वाला श्रमण अल्पलेपी है ।

टीकार्थ—क्षमता तथा ग्लानताका हेतु उपवास है और बाल तथा वृद्धत्वका अधिष्ठान शरीर उपधि है, इसलिये यहाँ बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान ही लिये गये है । अब बाल-वृद्ध श्रांत ग्लानत्वके अनुरोधसे आहार-विहारमे प्रवृत्ति कर रहे देशकालज्ञके भी मृदु आचरणमें प्रवृत्त होनेसे अल्प लेप होता ही है । इसलिये अपवाद अच्छा है । तथा बाल-वृद्ध श्रांत-ग्लानत्वके अनुरोधसे, आहार-विहारमे होने वाले अल्पलेपके भयसे उसमे प्रवृत्ति न कर रहे देशकालज्ञके भी अति कर्कश आचरणरूप होकर अक्रममे शरीरपात करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त संयमामृतका समूह वमन कर डाला है उसे तपका अवकाश न रहनेसे, जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसा महान् लेप होता है, इसलिये अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नही है । तथा बाल-वृद्ध श्रांत-ग्लानत्वके अनुरोधसे आहार-विहारमे होने वाले अल्पलेपको न गिनकर उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति कर रहे देशकालज्ञके भी मृदुआचरण रूप होकर संयम बिगाडकर असंयत जनके समान हुये उसके उस समय तपका अवकाश न रहनेसे, जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसा महान् लेप होता है । इसलिये उत्सर्गनिरपेक्ष अपवाद श्रेयस्कर नही है । अतः उत्सर्ग और अपवादके विरोधसे होने वाले आचरणकी दुःस्थितता सर्वथा त्याज्य है, और इसीलिये

प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्गः देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रा- न्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरण प्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वर- मपवादः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमान- स्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीर पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति। तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपत्व विगणय्य यथेष्टं प्रवर्त- मानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्य- प्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः। अतः सर्वथोत्सर्गापवादविरोध- दौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्य तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भित-

---

देस देश काल सम श्रमं खमं क्षमां उवधि उपाधि–द्वितीया एकवचन। जाणित्ता ज्ञात्वा–सम्बधार्थप्रक्रिया। ते तान्–द्वि० बहु०। समणो श्रमण. अप्पलेवी अल्पलेपी सो स –प्रथमा एक०। व वा जदि यदि–अव्यय।

परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिसकी वृत्ति प्रगट होती है ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनु- सरण करने योग्य है। इत्येवं इत्यादि। अर्थ—इस प्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषोंके द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक् पृथक् भूमिकाओंको प्राप्त करके यति क्रमशः अतुल निवृत्ति करके, चैतन्य सामान्य और चैतन्य विशेषरूप जिसका प्रकाश है ऐसे निज द्रव्यमे सर्वतः स्थिति करे।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्ग की मैत्रीपूर्वक आचरण ठीक बैठता है। अब इस गाथामे बताया गया है कि उत्सर्ग व अप- वादमार्गमें विरोध रखनेसे आचरणकी दुःस्थितता हो जाती है।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण देश काल श्रम क्षमता उपधि (देहस्थिति) जानकर आहार विहारमे प्रवर्तन करता है। (२) क्षमता व ग्लानताका कारण उपवास है। (३) देह बालपना, वृद्धपना श्रान्तपना व रोगीपनाका आधार है। (४) चूंकि बालत्व, वृद्धत्व व ग्लानत्वका आधार उपधियाने देह है सो देहस्थिति जानकर जो बात कहनी है वह बाल वृद्ध, श्रान्त (थके हुए) ग्लान श्रमणोंके लिये ही कहनी है। (५) देश कालके जाननहार तथा बालपना वृद्धपना श्रान्तपना व ग्लानपनाके अनुसार आहार विहारमें प्रवर्तमान श्रमणके कोमल आचरणमें प्रवृ- त्तपना होनेसे अल्प लेप होता ही है, इस कारण उत्सर्गमार्ग श्रेष्ठ है। (६) देशकालज्ञ तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानपनाके अनुरोधसे आहार विहारमें प्रवर्तमान श्रमणके कोमल आचरणमें प्रवर्तना होनेसे अल्प ही लेप होता है इस कारण वह अपवादमार्ग भला है। (७) यदि कोई

वृत्तिः स्याद्वादः ॥ इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरैरुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वीः पृथग्भूमिकाः । आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वतश्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम् ॥१५॥ इत्याचरणप्रज्ञापनं समाप्तम् ॥२३१॥

बट्टदि वर्तते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। निरुक्ति—क्षमण क्षमा (क्षम्+अङ्+टाप्) क्षमु सहने। समास– अल्पश्चासौ लेपश्चेति अल्पलेप. अल्पलेप. यस्य सः अल्पलेपी ॥२३१॥

श्रमण यह सोचकर कि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वके अनुरोधवश भी आहार विहारमे अल्प लेप भी क्यों हो, इस भयसे आहार विहार सर्वथा बद कर दे और अनशनादि अत्यन्त कठोर आचरण करके अकालमे शरीरको हटा दे याने मरण कर ले तो ज्यादासे ज्यादा देव ही तो हो जायगा सो वहां संयम रच नही, तप रच नही सो तो और बडा अपराध हो जावेगा। (८) आवश्यक अपवादमार्गको त्यागकर उत्सर्ग मार्गकी ही हठ करके मरण कर असंयमी जीवन पानेमे तो कई गुणा लेप अपराध हो जाता इस कारण अपवादनिरपेक्ष उत्सर्गमार्ग भला नही। (९) यदि कोई श्रमण "बालवृद्धत्वादिके अनुरोधसे आहार विहार करनेमे अल्प ही तो लेप (अपराध) है उसको क्या गिनना" यह सोचकर स्वच्छन्द आहार विहारमे लग जाय, एकदम कोमल आचरणमे लग जाय तो संयमका घात करके असंयमोजनके ही समान वह हो गया, फिर तो इस ही तपका अवकाश न होनेपर महान् अपराधी हो गया। (१०) उत्सर्गमार्गकी उपेक्षा करके मात्र अपवादमार्गसे ही चलकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेमे इसी भवमे महान् बिगाड़ हो जाता है, इस कारण उत्सर्गनिरपेक्ष अपवादमार्ग श्रेयस्कर नही है। (११) उत्सर्ग और अपवादमार्गमें विरोध करके किसी एक मार्गकी हठ रखनेसे आचरण सुस्थित नही होता और वह हठयोग प्रतिषेध्य है। (१२) आचरण भला चले जिससे मोक्षमार्गसे न डिगे इसके लिये उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी सापेक्षताको प्रकट करने वाला स्याद्वाद अनुसरणीय है।

सिद्धान्त—(१) अविकारस्वभाव आत्माको वर्तमान विकारस्थितिसे हटनेके प्रोग्राम मे परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग व अपवाद मार्गसे साधनाका प्रारंभ होता है।

दृष्टि—१– परस्परसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२६अ)।

प्रयोग—अपवादसापेक्ष उत्सर्गमार्गकी साधनासे अपने लक्ष्यभूत सहज चित्स्वभावमें उपयुक्त होना ॥२३१॥

इस प्रकार 'आचरण प्रज्ञापन' समाप्त हुआ।

अब श्रामण्य दूसरा नाम है जिसका ऐसे एकाग्रतालक्षण वाले मोक्षमार्गका प्रज्ञापन है। उसमें प्रथम मोक्षमार्गके मूल साधनभूत आगममे व्यापार कराते हैं—[श्रमणः] श्रमण

अथ श्रामण्यापरनाम्नो मोक्षमार्गस्यैकाग्र्यलक्षणस्य प्रज्ञापनं तत्र तन्मूलसाधनभूते प्रथममागम एव व्यापारयति—

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥२३२॥

एकाग्रयगत श्रमण है, एकाग्रय हि निश्चितार्थके होता।
निश्चय आगमसे हो, सो आगम ज्ञान है उत्तम ॥२३२॥

एकाग्र्यगतः श्रमणः ऐकाग्र्यं निश्चितस्य अर्थेषु। निश्चितिरागमत आगमचेष्टा ततो ज्येष्ठा ॥ २३२ ॥

श्रमणो हि तावदैकाग्र्यगत एव भवति। ऐकाग्र्यं तु निश्चितार्थस्यैव भवति। अर्थनिश्चयस्त्वागमादेव भवति। तत आगम एव व्यापारः प्रधानतरः, न चान्या गतिरस्ति। यतो न खल्वागमम तरेणार्था निश्चेतुं शक्यन्ते तस्यैव हि त्रिसमयप्रवृत्तत्रिलक्षणसकलपदार्थसार्थयाथात्म्यावगमसुस्थितान्तरङ्गगम्भीरत्वात्। न चार्थनिश्चयमन्तरेणैकाग्र्यं सिद्ध्येत् यतोऽनिश्चितार्थस्य कदाचिन्निश्चिकीर्षाकुलितचेतसः समन्ततो दोलायमानस्यात्यन्ततरलतया कदाचिच्चिकीर्षाज्वरपरवशस्य विश्वं स्वयं सिसृक्षोर्विश्वव्यापारपरिणतस्य प्रतिक्षणविजृम्भमाणक्षोभतया कदाचिद्बुभुक्षाभावितस्य विश्वं स्वयं भोग्यतयोपादाय रागद्वेषदोषकल्माषितचित्तवृत्तेरिष्टानिष्टविभागेन प्रवर्तितद्वैतस्य प्रतिवस्तुपरिणममानस्यात्य तविसंस्थुलतयाऽकृतनिश्चयस्य निःक्रियनिर्भोगं युगपदापीतविश्वमप्यविश्वतयैकं भगवन्तमात्मानमपश्यतः सततं वैयग्र्यमेव स्यात्।

नामसंज्ञ—एयग्गगद समण एयग्ग णिच्छिद अत्थ णिच्छित्ति आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा। **धातुसंज्ञ**—चेट्ठ चेष्टायां। **प्रातिपदिक**—एकाग्र्यगत श्रमण ऐकाग्र्य निश्चित अर्थ निश्चिति आगमतः ततः आगमचेष्टा ज्येष्ठा। **मूलधातु**—चेष्ट चेष्टायां। **उभयपदविवरण**—एयग्गगदो एकाग्र्यगतः समणो श्रमणः निश्चिति. णिच्छित्ती आगमचेट्ठा आगमचेष्टा जेट्ठा ज्येष्ठा–प्रथमा एकवचन। एयग्गं ऐकाग्र्यं–द्वितीया

[एकाग्र्यगतः] एकाग्रताको प्राप्त होता है; **[ऐकाग्र्यं]** एकाग्रता **[अर्थेषु निश्चितस्य]** पदार्थोंके निश्चय करने वालेके होती है; **[निश्चितिः]** पदार्थोंका निश्चय **[आगमतः]** आगम द्वारा होता है; **[ततः]** इसलिये **[आगमचेष्टा]** आगममें व्यापार **[ज्येष्ठा]** मुख्य है।

तात्पर्य—आगमका अध्ययन करना मुख्य कर्तव्य है, क्योंकि इससे ही तत्त्वनिश्चय होकर एकाग्रता होती है।

टीकार्थ—श्रमण वास्तवमें एकाग्रताको प्राप्त करने वाला ही होता है; एकाग्रता पदार्थोंके निश्चयवान्के ही होती है; और पदार्थोंका निश्चय आगम द्वारा ही होता है; इसलिये आगममें ही व्यापार विशेष प्रधान है; दूसरी गति (अन्यमार्ग) नहीं है। इसका कारण यह है

न चैकाग्र्यमन्तरेण श्रामण्यं सिद्धयेत्, यतो नैकाग्र्यस्यानेकमेवेदमिति पश्यतस्तथाप्रत्ययाभिनिविष्टस्यानेकमेवेदमिति जानतस्तथानुभूतिभावितस्यानेकमेवेदमितिप्रत्यर्थविकल्पव्यावृत्तचेतसा संततं प्रवर्तमानस्य तथावृत्तिदुःस्थितस्य चैकात्मप्रतीत्यनुभूतिवृत्तिस्वरूपसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतिप्रवृत्तदृशिज्ञप्तिवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकाग्र्याभावात् शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूप श्रामण्यमेव न स्यात् अतः सर्वथा मोक्षमार्गापरनाम्नः श्रामण्यस्य सिद्धये भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञे प्रकटानेकान्तके-

एक० । णिच्छिदस्स निश्चितस्य-षष्ठी एक० । अत्थेसु अर्थेषु-सप्तमी बहुवचन । आगमदो आगमत तदो ततः-अव्यय पंचम्यर्थे । निरुक्ति—आ गमन आगमः (आ गम् + घञ्) गम्लृ गतौ, अतिशयेन वृद्धा इति

कि वास्तवमे आगमके बिना पदार्थोंका निश्चय नही किया जा सकता; क्योंकि आगमके ही त्रिकाल प्रवृत्त है उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप तीन लक्षण जिसके ऐसे सकलपदार्थसार्थके यथातथ्य ज्ञान द्वारा सुस्थित अतरंगसे गभीरपना है। और, पदार्थोंके निश्चयके बिना एकाग्रता सिद्ध नही होती; क्योंकि, पदार्थोंका निश्चय जिसके नही है ऐसे जीवके व कदाचित् निश्चिकीर्षासे आकुलताप्राप्त चित्तके कारण सर्वत: डमाडोल जीवके अत्यन्त तरलता होती है। कदाचित् करनेकी इच्छारूप ज्वरसे परवश होते हुए व विश्वको (समस्त पदार्थोंको) स्वय सर्जन करनेकी इच्छा करते हुए तथा समस्त पदार्थोंकी प्रवृत्तिरूप परिणत हुए जीवके प्रतिक्षण क्षोभकी प्रगटता होती है, और कदाचित् भोगनेकी इच्छासे भावित होते हुए व विश्वको स्वयं भोग्यरूप ग्रहण करके रागद्वेषरूप दोषसे कलुषित चित्तवृत्तिके कारण वस्तुओमे इष्टानिष्ट विभागके द्वारा द्वैतको प्रवर्तित करते हुए व प्रत्येक वस्तुरूप परिणाम रहे जीवके अत्यन्त अस्थिरता होती है, अत. उपरोक्त तीन कारणोसे उस अनिश्चयी जीवके व निष्क्रिय और निर्भोग भगवान आत्माको—जो कि युगपत् विश्वको पी जाने वाला होनेपर भी विश्वरूप न होनेसे एक है उसे नही देखने वालेके सतत व्यग्रता ही होती है। और एकाग्रताके बिना श्रामण्य सिद्ध नही होता; क्योंकि जिसके एकाग्रता नही है वह जीव 'यह अनेक ही है' ऐसा देखता हुआ उस प्रकारकी प्रतीतिमे अभिनिविष्ट होता है, 'यह अनेक ही है' ऐसा जानता हुआ उस प्रकारकी अनुभूतिसे भावित होता है, और 'यह अनेक ही है' इस प्रकार प्रत्येक पदार्थके विकल्पसे छिन्नभिन्न चित्त सहित सतत प्रवृत्त होता हुआ उस प्रकारकी वृत्तिसे दुःस्थित होता है, इसलिये उसे एक आत्माकी प्रतीति–अनुभूति–वृत्तिस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणतिरूप प्रवर्तमान जो दृशि ज्ञप्तिवृत्तिरूप आत्मतत्त्वमें एकाग्रता है उसका अभाव होनेसे शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूप श्रामण्य ही नही होता। इस कारण मोक्षमार्ग जिसका दूसरा नाम है ऐसे श्रामण्यकी सर्वप्रकारसे सिद्धि करनेके लिये मुमुक्षुको भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ द्वारा प्रज्ञप्त शब्दब्रह्ममे—जिसका कि अनेकान्तरूपी ध्वज प्रगट है उसमें निष्णात होना चाहिये।

तने शब्दब्रह्मणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम् ॥२३२॥

ज्येष्ठा (वृद्ध + ष्ठन् + टाप् + वृद्धस्य ज्यादेश) । समास—आगमे चेष्टा आगमचेष्टा ॥२३२॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें उत्सर्ग व अपवादमार्गके विरोधसे आचरणकी दुःस्थितता बताई गई थी। अब इस गाथामे कर आचरण प्रज्ञापन समाप्त किया गया था। अब एकाग्रता लक्षण वाले मोक्षमार्गके प्रज्ञापनके स्थलमे मोक्षमार्ग अर्थात् श्रामण्यके मूल-साधनभूत आगममे व्यापार कराया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण वास्तवमे एकाग्रताको प्राप्त करने वाला ही होता है। (२) एकाग्रता उसके ही संभव है जिसमे पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका निश्चय किया है। (३) पदार्थोंका यथार्थ निश्चय आगमसे ही होता है। (४) श्रामण्यसिद्धिके लिये मूल उपाय आगम का अभ्यास है। (५) आगमसे ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक पदार्थसमूहका यथार्थ निश्चय होता है। (६) अर्थनिश्चयके बिना एकाग्रताकी सिद्धि नही। (७) जिसके अर्थनिश्चय नहीं वह कभी तो कुछ करनेकी दिशा न मिलनेसे आकुलित होकर यत्र तत्र डावांडोल होकर अत्यन्त अस्थिर रहता है। (८) और अर्थनिराश्रयरहित जीव कभी करनेकी इच्छा ज्वरसे परवश होकर सब कुछ रच डालनेका इच्छुक होकर सारे व्यापारमे लगकर प्रतिक्षण क्षोभको बढ़ाता रहता है। (९) अर्थनिश्चयरहित जीव कभी भोगनेकी इच्छासे सारे विश्वको भोग्य मानकर उसके प्रसगमे हुए राग द्वेषसे कलुषित हुआ यह ज्ञेयार्थरूप परिणाम परिणम कर अस्थिरचित्त रहता है। (१०) अर्थनिश्चयरहित यह जीव अपने भगवान आत्माके निष्क्रिय निर्भोग स्व-भावको न देखकर निरन्तर व्यग्र रहता है। (११) यह निष्क्रिय निर्भोग भगवान आत्मा समस्त विश्वको पी लिया (जान लिया) जानेपर भी विश्वरूप न होकर एक है यह सहजात्म-स्वरूप अज्ञानीको नही ज्ञात है अतः वह सतत व्यग्र रहता है। (१२) एकाग्रताके बिना श्रा-मण्यकी सिद्धि नही। (१३) जिसके एकाग्रता नहीं वह जीव अपनेको "यह अनेक ही है" ऐसा निरखता हुआ ऐसी ही आस्थासे घिरा रहता है। (१४) जिसके एकाग्रता नहीं वह जीव अपनेको "यह अनेक है" ऐसा जानता हुआ अनेकरूपकी अनुभूतिसे अपनेको हुवाता है। (१५) जिसके एकाग्रता नहीं वह जीव अपनेको "यह अनेक ही है" इस प्रकार छिन्न भिन्न चित्तविकल्पसे युक्त होकर वैसी ही वृत्तिसे परिणमता रहता है। (१६) जिसके एकाग्रता नही उस जीवके एक आत्माकी प्रतीति अनुभूति वृत्तिरूप एकाग्रताका अभाव होनेसे शुद्धात्मतत्त्व-मग्नतारूप श्रामण्य ही सिद्ध नही हो सकता। (१७) श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्गकी सिद्धिके लिये मुमुक्षुको भगवत्प्रज्ञप्त अनेकान्तमय शब्दब्रह्म अर्थात् आगममें अभ्यस्त होना ही चाहिये।

अथागमहीनस्य मोक्षाख्यं कर्मक्षपणं न संभवतीति प्रतिपादयति—

आगमहीणो समणो ग्रेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥२३३॥

आगमहीन श्रमण तो, यथार्थ निज अन्यको जाने ।
तत्त्व नहिं जानता मुनि, कैसे क्षत कर्म कर सकता ॥२३३॥

आगमहीनः श्रमणो नैवात्मान परं विजानाति । अविजानन्नर्थान् क्षपयति कर्माणि कथ भिक्षु. ।। २३३ ।।

न खल्वागममन्तरेण परात्मज्ञानं परमात्मज्ञानं वा स्यात्, न च परात्मज्ञानशून्यस्य परमात्मज्ञानशून्यस्य वा मोहादिद्रव्यभावकर्मणां ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां वा क्षपणं स्यात् । तथाहि—न तावन्निरागमस्य निरवधिभवापगाप्रवाहवाहिमहामोहमलमलीमसस्यास्य जगतः पीतोन्मत्त-

नामसंज्ञ—आगमहीण समण ण एव अप्प पर अविजाणत अट्ठ कम्म किध भिक्खु । धातुसंज्ञ—वि जाण अवबोधने, खव क्षयकरणे । प्रातिपदिक–आगमहीन श्रमण न एव आत्मन् पर अर्थ अविजानत् कम्म कथ भिक्षु । मूलधातु–ज्ञा अवबोधने, क्षपि क्षयकरणे चुरादि । उभयपदविवरण—आगमहीणो आगमहीनः समणो श्रमणः अविजानन्तो अविजानन् भिक्खू भिक्षु –प्रथमा एकवचन । अप्पाणं आत्मानं परं–द्वितीया

सिद्धान्त—(१) ज्ञानमय आत्मामें ज्ञानमय पुरुषार्थसे ज्ञानमय आत्माकी ज्ञानमय उपलब्धि होती है ।

दृष्टि—१– पुरुषकारनय, गुणिनय, ज्ञाननय (१८३, १८७, १९४) ।

प्रयोग—मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये तत्त्वज्ञानके परमसाधनीभूत आगमके ज्ञानमें प्रधानतया पौरुष करना ॥२३२॥

अब आगमहीन पुरुषके मोक्ष नामसे प्रसिद्ध कर्मक्षपण नहीं होता, यह प्रतिपादन करते हैं—[आगमहीनः] आगमहीन [श्रमणः] श्रमण [आत्मानं] आत्माको और [परं] परको [न एव विजानाति] नहीं जानता; सो [अर्थान् अविजानन्] पदार्थोंको नहीं जानता हुआ [भिक्षुः] भिक्षु [कर्माणि] कर्मोंको [कथं] किस प्रकार [क्षपयति] क्षय कर सकता है ?

तात्पर्य—आगमहीन पुरुष स्वपरको न जानता हुआ कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है ?

टीकार्थ—वास्तवमें आगमके बिना परात्मज्ञान या परमात्मज्ञान नहीं होता; और परात्मज्ञानशून्यके व परमात्मज्ञानशून्यके मोहादि द्रव्यभाव कर्मोंका या ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्मोंका क्षय नहीं होता । इसका स्पष्टीकरण—आगमहीन व अनादि भवसरिताके प्रवाहको बहाने वाले महामोहमलसे मलिन तथा धतूरा पिये हुये मनुष्यकी भाँति नष्ट हो गया है विवेक

कस्येवावकीर्णविवेकस्याविविक्तेन ज्ञानज्योतिषा निरूपयतोऽप्यात्मात्मप्रदेशनिश्चितशरीरादि-द्रव्येषूपयोगमिश्रितमोहरागद्वेषादिभावेषु च स्वपरनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावादयं परोऽयमात्मेति ज्ञानं सिद्धयेत्। तथा च त्रिसमयपरिपाटीप्रकटितविचित्रपर्यायप्राग्भारागाध-गम्भीरस्वभावं विश्वमेव ज्ञेयीकृत्य प्रतपतः परमात्मनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावात्

एक०। वियाणादि विजानाति खवेदि क्षपयति-वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। कम्माणि कर्माणि अट्ठ अर्थान्-द्वि० बहु०। किध कथ-अव्यय। निरुक्ति- भिक्षतीति भिक्षुः भिक्ष भिक्षायां (भिक्ष + उ)।

जिसके ऐसे इस जीवके प्रविविक्त ज्ञानज्योतिसे देखनेपर भी स्वपर निश्चायक आगमोपदेश पूर्वक स्वानुभवके अभावके कारण, आत्मामें और आत्मप्रदेशस्थित शरीरादि द्रव्योंमें तथा उपयोगमिश्रित मोहरागद्वेषादि भावोंमे 'यह पैर है और यह स्व है' ऐसा ज्ञान सिद्ध नही होता। तथा उसी प्रकार परमात्माका निश्चय कराने वाले आगमके उपदेशपूर्वक स्वानुभवका अभाव होनेसे त्रिकाल परिपाटीमे विचित्र पर्यायोंका समूह प्रगट हुआ है जिसके ऐसे अगाध-गम्भीरस्वभाव विश्वको ज्ञेयरूप करके प्रतपित ज्ञानस्वभावी एक परमात्माका ज्ञान भी सिद्ध नही होता। सो परात्मज्ञानसे तथा परमात्मज्ञानसे शून्य पुरुषके, व द्रव्यकर्मसे होने वाले शरीरादिके साथ तथा तत्प्रत्ययक मोहरागद्वेषादि भावोंके साथ एकताका अनुभव करने वाले पुरुषके वध्यघातकविभागका अभाव होनेसे मोहादि द्रव्य-भाव कर्मोंका क्षय सिद्ध नहीं होता, तथा ज्ञेयनिष्ठतासे प्रत्येक वस्तुके उत्पाद विनाशरूप परिणत होनेके कारण अनादि संसारसे परिवर्तनको पाने वाली ज्ञप्तिका परमात्मनिष्ठताके अतिरिक्त अनिवार्य परिवर्तन होनेसे, ज्ञप्ति परिवर्तनरूप कर्मोंका क्षय भी सिद्ध नहीं होता। इस कारण कर्मक्षयार्थियोंको सर्वप्रकारसे आगमकी पर्युपासना करना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें श्रामण्यकी सिद्धिके लिये उसके मूल साधनभूत आगमके ज्ञान करनेका उपदेश किया गया था। अब इस गाथामे बताया गया है कि आगम-ज्ञानरहित पुरुषके मोक्षनामक कर्मक्षपण संभव नहीं है।

तथ्यप्रकाश—(१) आगम ज्ञानके बिना स्व व पर आत्माका ज्ञान नही होता। (२) आगमज्ञानके बिना परमात्मत्वका ज्ञान नही होता। (३) स्वपरज्ञानशून्य जीवके व परमात्मत्वज्ञानशून्य जीवके मोहादि द्रव्यकर्मोंका, मोहादिभावकर्मोंका व ज्ञप्तिपरिवर्तरूप कर्मों का क्षय नहीं होता। (४) मोहनीयादि सब कर्मोंको द्रव्यकर्म कहते हैं। (५) मोहादिक जीव विकारोंको भावकर्म कहते हैं। (६) एक ज्ञेयसे दूसरे ज्ञेयमें ज्ञानके बदलनेको ज्ञप्तिपरिवर्तरूप कर्म कहते हैं। (७) आगमहीन जीव मोहमलीमस है सो वह मद्यपायी पुरुषकी तरह उन्मत्त

ज्ञानस्वभावस्यैकस्य परमात्मनो ज्ञानमपि न सिद्धयेत् । परात्मपरमात्मज्ञानशून्यस्य तु द्रव्यकर्मारब्धैः शरीरादिभिस्तत्प्रत्ययैर्मोहरागद्वेषादिभावैश्चसहैक्यमाकलयतो बध्यघातकविभागाभावान्मोहादिद्रव्यभावकर्मणां क्षपणं न सिद्धयेत् । तथा च ज्ञेयनिष्ठतया प्रतिवस्तु पातोत्पातपरिणतत्वेन ज्ञप्तेरासंसारात्परिवर्तमानायाः परमात्मनिष्ठत्वमन्तरेणानिवार्यपरिवर्ततया ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां क्षपणमपि न सिद्धयेत् । अतः कर्मक्षपणार्थिभिः सर्वथागमः पर्युपास्यः ॥२३३॥

समास– आगमेन हीनः आगमहीनः ॥२३३॥

हुआ विवेकहीन होकर अपनेमे व आत्मक्षेत्रावगाही शरीरमे यह मै हू यह पर है ऐसा ज्ञान नहीं कर पाता । ८– आगमहीन मोह मलीमस विवेकहीन जीव स्वभावमे व उपयोगमिश्रित मोह, राग, द्वेष, भावोंमे "यह मैं हूं यह पर है" ऐसा ज्ञान नही कर पाता । ९– सहजचैतन्य मात्र अन्तस्तत्वका अनुभव हुए बिना वास्तवमे स्व पर का भेदविज्ञान नही हो पाता । १०– स्वभावका अनुभव स्वपरनिश्चायक आगमोपदेशका अवधारण हुए बिना नही हो सकता । ११–स्वभावका अनुभव परमात्मस्वरूप निश्चायक आगमोपदेशका अवधारण हुए बिना भी नही हो पाता, आगमहीन मोही जीव ज्ञानस्वभावमय परमात्माका भी ज्ञान नही कर सकता । १२– परमात्मा ज्ञानमात्र है, उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप है जिसमे उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक समस्त पदार्थ ज्ञेय होते ही है ऐसे प्रतापवंत परमात्मस्वरूपका ज्ञान आत्मस्वभावके परिचय बिना नही हो पाता । १३– स्वपरज्ञानशून्य व परमात्मज्ञानशून्य जीवके यह विवेक नही रहता कि मोहादि द्रव्यकर्म व भावकर्म घातक है और यह मैं आत्मपदार्थ वध्य हूं । १४– अज्ञानीके वध्य घातकविभागका अभाव होनेका कारण यह है कि उसने द्रव्यकर्मारब्ध शरीरादिकोके साथ व द्रव्यकर्म विपाकनिमित्तक मोह रागद्वेषादिभावोके साथ अपनी सकता मान ली है । १५–बध्यघातकविभाग न होनेसे अज्ञानीके द्रव्यकर्मोंका व भावकर्मोंका क्षपण नही हो सकता । १६–आगमहीन स्वभावानुभवरहित जीवके ज्ञप्तिपरिवर्तरूप कर्मोंका भी अभाव नही हो सकता । १७–जानकारीके विषमरूपसे बदलते रहनेको ज्ञप्तिपरिवर्त कर्म कहते हैं । १८–ज्ञप्ति ज्ञेयनिष्ठ है सो प्रत्येक वस्तुके उत्पाद विनाशरूप परिणमते रहनेके कारण ज्ञप्ति अनादिसे ही परिवर्तमान होती चली आई है । १९– परमात्मत्वमे निष्ठ हुए बिना ज्ञप्तिका परिवर्तन दूर नही हो सकता । २०– आगमहीन जीवके स्वपरज्ञान नही, परमात्मस्वरूप ज्ञान नही, स्वानुभव नही, द्रव्यभावकर्मोंका क्षपण नही, ज्ञप्तिपरिवर्तकर्मका क्षपण नही होता अतः कर्मक्षपणके इच्छुक पुरुषोको सर्व प्रयत्नपूर्वक आगमको भली भांति उपासना करना चाहिये ।

अथागम एवैकश्चक्षुर्मोक्षमार्गमुपसर्पतामित्यनुशास्ति—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु ॥२३४॥

आगमचक्षू साधु, प्राणी तो सर्व अक्षचक्षू हैं ।
देवा अवधिचक्षु हैं, सिद्ध सकलरूपसे चक्षू ॥ २३४ ॥

आगमचक्षुः साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि । देवाश्चावधिचक्षुषः सिद्धाः पुनः सर्वतश्चक्षुषः ॥ २३४ ॥

इह तावद्भगवन्तः सिद्धा एव शुद्धज्ञानमयत्वात्सर्वतश्चक्षुषः शेषाणि तु सर्वाण्यपि भूतानि मूर्तद्रव्यावसक्तदृष्टित्वादिन्द्रियचक्षूंषि, देवास्तु सूक्ष्मत्वविशिष्टमूर्तद्रव्यग्राहित्वादवधिचक्षुषः । अथ च तेऽपि रूपिद्रव्यमात्रदृष्टत्वेनेन्द्रियचक्षुर्भ्योऽविशिष्यमाणा इन्द्रियचक्षुष एव । एव-

---

नामसंज्ञ—आगमचक्खु साहु इंदियचक्खु सव्वभूद देव य ओहिचक्खु सिद्ध पुण सव्वदोचक्खु । धातुसंज्ञ—साह साधने । प्रातिपदिक—आगमचक्षुष् साधु इन्द्रियचक्षुष् सर्वभूत देव च अवधिचक्षुष् सिद्ध

सिद्धान्त — १–स्वपरज्ञाता व परमात्मस्वरूपज्ञाताके ही कर्मका प्रक्षय होता है ।

दृष्टि—१–शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ ब)

प्रयोग—कर्मक्षयका कारणभूत स्वपरात्मस्वरूपप्रकाश व परमात्मस्वरूपप्रकाश आगमज्ञान बिना नही हो पाता, अतः आगमज्ञानका पौरुष करना ॥२३३॥

अब मोक्षमार्गपर चलने वालोंके आगम ही एक चक्षु है, ऐसा उपदेश करते हैं—[साधुः] साधु [आगमचक्षुः] आगमचक्षु हैं, [सर्वभूतानि] सर्वप्राणी [इन्द्रिय चक्षूंषि] इन्द्रिय चक्षु वाले हैं, [च देवाः] और देव [अवधिचक्षुषः] अवधि चक्षु वाले हैं [पुनः] किन्तु [सिद्धाः] सिद्ध [सर्वतः चक्षुषः] सर्वतः चक्षु हैं ।

तात्पर्य—साधु आगमचक्षुसे सब निरखकर अपनी चर्या करते है ।

टीकार्थ—प्रथम तो, इस लोकमें भगवन्त सिद्ध ही शुद्धज्ञानमयपना होनेसे सर्वतः चक्षु हैं, किन्तु शेष सभी जीव इन्द्रियचक्षु हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि मूर्त द्रव्योंमें ही लगी होती है । देव सूक्ष्मत्वविशिष्ट मूर्त द्रव्योंको ग्रहण करते हैं इस कारण वे अवधिचक्षु हैं; अथवा वे भी, मात्र रूपी द्रव्योंको देखते है इस कारण वे इन्द्रियचक्षुवालोंसे अलग न किये जा रहे इन्द्रियचक्षु ही हैं । इस प्रकार इन सभी संसारी जीवोंमें मोहसे उपहत होनेके कारण ज्ञेयनिष्ठ होनेसे, ज्ञाननिष्ठताके मूल शुद्धात्मतत्त्वके संवेदनसे साध्य सर्वतःचक्षुत्व सिद्ध नही होता । अब, उस सर्वतः चक्षुत्वकी सिद्धिके लिये भगवंत श्रमण आगमचक्षु होते है । सो ज्ञेय और ज्ञानका पारस्परिक मिलन हो जानेसे उन्हें भिन्न करना अशक्य होनेपर भी वे उस आगम-

ममीषु समस्तेष्वपि संसारिषु मोहोपहततया ज्ञेयनिष्ठेषु सत्सु ज्ञाननिष्ठत्वमूलशुद्धात्मतत्त्वसंवेदनसाध्यं सर्वतश्चक्षुस्त्वं न सिद्धयेत् । अथ तत्सिद्धये भगवन्तः श्रमणा आगमचक्षुषो भवन्ति । तेन ज्ञेयज्ञानयोरन्योन्यसंवलनेनाशक्यविवेचनत्वे सत्यपि स्वपरविभागमारचय्य निर्भिन्नमहामोहाः सन्तः परमात्मानमवाप्य सततं ज्ञाननिष्ठा एवावतिष्ठन्ते । अतः सर्वमप्यागमचक्षुषैव मुमुक्षूणां द्रष्टव्यम् ॥२३४॥

पुनर् सर्वतश्चक्षुष् । **मूलधातु**– सा धृ साधने, चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च । **उभयपदविवरण**—आगमचक्खू आगमचक्षु. साहू साधु –प्रथमा एक० । इंदियचक्खूणि इन्द्रियचक्षूंषि सव्वभूदाणि सर्वभूतानि–प्रथमा बहु० । देवा देवा ओहिचक्खू अवधिचक्षुष सिद्धा सिद्धा. सव्वदोचक्खू सर्वतश्चक्षुष –प्रथमा बहु० । य च पुण पुन –अव्यय । **निरुक्ति**–चक्षते इति चक्षु (चक्ष + उस्) । **समास**–आगम चक्षु येषा ते आगमचक्षुषः, इन्द्रियाणि चक्षूंषि येषा तानि इन्द्रियचक्षूंषि, अवधि चक्षु येषा ते अवधिचक्षुष ॥२३४॥

चक्षुसे स्वपरका विभाग करके, महामोहको भेद डाला है जिनने ऐसे वर्तते हुये, परमात्माको पाकर, सतत ज्ञान निष्ठ ही रहते है ।

इससे मुमुक्षुओंको सब कुछ आगमरूप चक्षु द्वारा ही देखना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि आगमहीनके मोक्ष नामक कर्मक्षपण सभव नही है । अब इस गाथामे बताया गया है कि मोक्षमार्गपर चलने वालोका आगम ही एक चक्षु है ।

तथ्यप्रकाश—(१) भगवान ही सर्वतश्चक्षु है, क्योकि भगवान शुद्ध ज्ञानमय है सो सब ओरसे समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानते है । (२) भगवानको छोड़कर शेष सभी जीव इन्द्रियचक्षु हैं, क्योकि उनकी दृष्टि मूर्त द्रव्योमे ही लगी रहती है और इन्द्रियोके निमित्त से जानते हैं । (३) देव अवधिचक्षु है, वे सूक्ष्म मूर्त द्रव्योंको भी जानते है, तो भी मात्र रूपी द्रव्यको ही देखते है अतः इन्द्रियचक्षु जीवोमे इनमे अन्तर नही है और ये देव भी इन्द्रियचक्षु ही हैं । (४) सर्वतश्चक्षुपना ज्ञाननिष्ठतासे अर्थात् ज्ञानमें विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हो रहे ऐसी अन्तर्वृत्तिसे होता है । (५) ज्ञाननिष्ठता शुद्धात्मतत्त्वके सवेदनसे होती है । (६) ससारी जीव ज्ञेयनिष्ठ होनेसे सर्वतश्चक्षु नही होते । (७) संसारी जीवोकी ज्ञेयनिष्ठताका कारण उनका मोह से आक्रान्त होना है । (८) सर्वतश्चक्षुपनेकी सिद्धिके लिये ज्ञाननिष्ठ होनेके लिये श्रमण आगमचक्षु बनते हैं अर्थात् आगमसे स्वपरका परमात्मस्वरूपका निर्णय करते है । (९) यद्यपि इस समय ज्ञेय और ज्ञानका अन्योन्यसंवलन होनेसे ज्ञेय ज्ञानका विभागका करना अशक्य है तो भी श्रमण स्वपर भेदविज्ञान पाकर मोहको नष्ट कर परमात्मस्वरूपको प्राप्त कर निरंतर ज्ञाननिष्ठ ही रहा करते हैं । (१०) आगमज्ञानकी महिमाको जानकर श्रमणको सब कुछ

अथागमचक्षुषा सर्वमेव दृश्यत एवेति समर्थयति—

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहि चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥२३५॥

नाना गुण पर्यायों, सहित अर्थ सब सिद्ध आगमसे ।
उन सबको आगमसे, प्रेक्षण कर वे श्रमण जानें ॥२३५॥

सर्वे आगमसिद्धा अर्था गुणपर्यायैश्चित्रैः । जानन्त्यागमेन हि दृष्ट्वा तानपि ते श्रमणाः ॥ २३५ ॥

आगमेन तावत्सर्वाण्यपि द्रव्याणि प्रमीयन्ते, विस्पष्टतर्कणस्य सर्वद्रव्याणामविरुद्धत्वात् । विचित्रगुणपर्यायविशिष्टानि च प्रतीयन्ते, सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकानेकान्तमयत्वेनै-

---

नामसंज्ञ—सव्व आगमसिद्ध अत्थ गुणपज्जय चित्त आगम त वि त समण । धातुसंज्ञ—जाण अवबोधने, दस दर्शने, प इक्ख दर्शने । प्रातिपदिक—सर्व आगमसिद्ध अर्थ गुणपर्यय चित्र आगम हि तत् अपि तत् श्रमण । मूलधातु— ज्ञा अवबोधने, दृशि प्रेक्षणे । उभयपदविवरण—सव्वे सर्वे आगमसिद्धा आगमसिद्धाः अत्था अर्थाः ते समणा श्रमणाः–प्रथमा बहुवचन । गुणपज्जयेहिं गुणपर्यायैः चित्तेहिं चित्रैः–तृतीया

आगमचक्षुसे ही देखना चाहिये ।

अब आगमरूपचक्षुसे सब कुछ दिखाई देता ही है यह समर्थित करते हैं— [सर्वे अर्थाः] समस्त पदार्थ [चित्रैः गुणपर्यायैः] विचित्र (अनेक प्रकारकी) गुणपर्यायो सहित [आगमसिद्धाः] आगमसिद्ध है । [तान् अपि] उनको भी [ते श्रमणाः] वे श्रमण [आगमेन हि दृष्ट्वा] आगम द्वारा ही वास्तवमें देखकर [जानन्ति] जानते हैं ।

तात्पर्य —श्रमण आगम द्वारा ही विविध गुणपर्यायमय वस्तुको जानते हैं ।

टीकार्थ—प्रथम तो, आगम द्वारा सभी द्रव्य दृढ़तया जाने जाते हैं, क्योंकि सर्वद्रव्य विस्पष्ट तर्कणाके अविरुद्ध हैं, और फिर, आगमसे वे द्रव्य विचित्र गुणपर्यायविशिष्ट प्रतीत होते हैं, क्योंकि सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मोंमे व्यापक अनेकान्तमयपना होनेसे आगमके प्रमाणपनाकी उपपत्ति है इससे सभी पदार्थ आगम सिद्ध ही हैं । और वे श्रमणोंके स्वयमेव ज्ञेयभूत होते हैं, क्योंकि श्रमणोंका विचित्रगुणपर्यायवाले सर्वद्रव्योंमे व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोगरूपके होकर विशिष्ट परिणमन होता है । अतः आगमचक्षुओंके कुछ भी अदृश्य नहीं है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि मोक्षमार्गमें चलने वालोंका आगम ही एक चक्षु है । अब इस गाथामे बताया गया है कि आगमचक्षुसे सब कुछ दिखाई देता ही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सभी द्रव्य आगमसे प्रमाण किये जाते हैं । तर्क युक्तिबलसे निर्णय

चागमस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः । अतः सर्वेऽर्था आगमसिद्धा एव भवन्ति । अथ ते श्रमणानां ज्ञेयत्वमापद्यन्ते स्वयमेव, विचित्रगुणपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्यव्यापकानेकान्तात्मकश्रुतज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमनात् । अतो न किंचिदप्यागमचक्षुषामदृश्य स्यात् ॥२३५॥

बहु० । जाणति जानन्ति–वर्तमान अन्य० बहु० क्रिया । आगमेण आगमेन–तृ० एक० । पेच्छित्ता दृष्ट्वा–सम्बन्धार्थप्रक्रिया । ते तान्–द्वितीया एक० । **निरुक्ति**—श्राम्यति इति श्रमणः (श्रम् + युच्) श्रमु क्लेशे तपसि च दिवादि । **समास**—आगमेन सिद्धा आगमसिद्धा, गुणाश्च पर्यायाश्चेति गुणपर्याया तै. गुणपर्यायै ॥२३५॥

किये जानेपर सभी द्रव्य वैसे ही ज्ञात होते है जैसे कि आगमसे प्रमाण किये गये है । (३) सभी द्रव्य नाना गुण पर्यायोसे विशिष्ट ज्ञात होते है । (४) सहजप्रवृत्त अनेक धर्मोंमे (गुणो में) व क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मोंमे (पर्यायोंमे) व्यापक अनेकान्तस्वरूप द्रव्य है इस प्रकार ही आगमसे प्रमाण किये जाते हैं । (५) सभी पदार्थ आगमसे ही प्रमाण किये जाते है । (६) पदार्थ जो जैसे है वैसे ही श्रमणोंके ज्ञेयपनेको प्राप्त होते हैं, क्योकि श्रमण नानागुणपर्यायविशिष्ट सर्व द्रव्योमे व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोगी होकर प्रवर्तते है । (७) जिनके आगमचक्षु है उनको कुछ भी अदृश्य नही अर्थात् आगमचक्षु पुरुषोको सब कुछ दिखता ही है ।

सिद्धान्त—(१) त्रैकालिक पर्यायोमे मात्र एक द्रव्य दीखता है । (२) सहजगुणपुञ्ज आत्मा एक अखण्ड सत् है । (३) आगमके अभ्याससे स्वपरनिश्चय होकर आत्मवस्तुकी प्रसिद्धि होती है ।

दृष्टि—१– ऊर्ध्वसामान्यनय (१६६) । २– गुणिनय (१८७) । ३– पुरुषकारनय (१८३) ।

प्रयोग—आत्मवस्तुकी सिद्धिके लिये स्वपरनिश्चायक आगमका अभ्यास करना ।२३५।

अब आगमज्ञान, आगमज्ञानपूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान और तदुभयपूर्वक संयतत्वके योगपद्य को मोक्षमार्गत्व होनेका नियम करते है—[**इह**] इस लोकमे [**यस्य**] जिसकी [**आगमपूर्वा दृष्टिः**] आगमपूर्वक दृष्टि [**न भवति**] नही है [**तस्य**] उसके [**संयमः**] संयम [**नास्ति**] नही है, [**इति**] इस प्रकार [**सूत्रं भणति**] सूत्र कहता है; सो [**असंयतः**] असंयत [**श्रमणः**] श्रमण [**कथं भवति**] कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य—आगमपूर्वक दृष्टि न होनेसे, संयम न होनेसे असयमी कैसे श्रमण हो सकता है ?

टीकार्थ—इस लोकमें वास्तवमें, स्यात्कार चिन्ह वाले आगमपूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान-

अथागमज्ञानतत्पूर्वतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वसंयतत्वानां यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥२३६॥

आगमपूर्वक दृष्टी, है नहि जिसके न संयम भि उसके।
ऐसा हि सूत्र भाषित, असंयमी हो श्रमण कैसे ॥२३६॥

आगमपूर्वा दृष्टिर्न भवति यस्येह संयमस्तस्य। नास्तीति भणति सूत्रमसंयतो भवति कथं श्रमणः ॥२३६॥

इह हि सर्वस्यापि स्यात्कारकेतनागमपूर्विकया तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्ट्या शून्यस्य स्वपरविभागाभावात् कायकषायैः सहैक्यमध्यवसतोऽनिरुद्धविषयाभिलाषतया षड्जीवनिकाय-घातिनो भूत्वा सर्वतोऽपि कृतप्रवृत्तेः सर्वतो निवृत्त्यभावात्तथा परमात्मज्ञानाभावाद् ज्ञेयचक्रक्रमाक्रमणनिरर्गलज्ञप्तितया ज्ञानरूपात्मतत्त्वैकाग्र्यप्रवृत्त्यभावाच्च संयम एव न तावत् सिद्ध्येत्।

नामसंज्ञ—आगमपुव्वा दिट्ठि ण ज संजमो त ण इति सुत्त असंजदो किध समणो। **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां, अस सत्तायां, भण कथने। **प्रातिपदिक**—आगमपूर्वा दृष्टि न यत् इह सयम तत् न इति सुत्त असंयत कथ श्रमण। **मूलधातु**—भू सत्तायां, अस् भुवि, भण शब्दार्थः। **उभयपदविवरण**—आगमपुव्वा आगमपूर्वा दिट्ठी दृष्टि सयमो संयमः सुत्तं सूत्रं असंजदो असंयतः समणो श्रमणः-प्रथमा एक०। ण न इदि

लक्षण वाली दृष्टिसे शून्य सभीको प्रथम तो संयम ही सिद्ध नही होता, क्योंकि (१) स्वपरके विभागके अभावके कारण काय और कषायोंके साथ एकताका अध्यवसाय करने वाले जीवकी विषयाभिलाषाका निरोध नहीं होनेसे छह जीवनिकायके घाती होकर सर्वतः प्रवृत्ति होनेसे सर्वतः निवृत्तिका अभाव है। तथा (२) परमात्मज्ञानके अभावके कारण ज्ञेयसमूहको क्रमशः जानने वाली निरर्गल ज्ञप्ति होनेसे ज्ञानरूप आत्मतत्त्वमें एकाग्रताकी प्रवृत्तिका अभाव है। और इस प्रकार जिनके संयम सिद्ध नही होता उन्हें सुनिश्चित ऐकाग्र्यपरिणतिरूप श्रामण्य ही—जिसका कि दूसरा नाम मोक्षमार्ग है, सिद्ध नहीं होता। अतः आगमज्ञान—तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वके यौगपद्य के ही मोक्षमार्गपना होनेका नियम किया जाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आगमसे ही सब कुछ यथार्थ दिखना बताया था। अब इस गाथामें आगमज्ञान, श्रद्धान व संयमका एक साथ होनेमें ही मोक्षमार्गपना बताया है।

तथ्यप्रकाश—१— जिसके आगमपूर्वक दृष्टि नही है उसके संयम सिद्ध नहीं होता। २— प्रथम तो आगमसे ही मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वकी श्रद्धाका साधक स्वपरपदार्थविज्ञान होता है। ३— आगमसे सुनिर्णीत पदार्थविज्ञान प्रमाणभूत है, क्योंकि आगम द्वारा स्याद्वाद-

प्रसिद्धसंयमस्य तु सुनिश्चितैकाग्र्यगतत्वरूपं मोक्षमार्गापरनामश्रामण्यमेव न सिद्धयेत् । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं नियम्येत ।।२३६।।

इति कथ कथ–अव्यय । भवदि होदि भवति अत्थि अस्ति भणदि भणति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति– दृश्यते अनया इति दृष्टि: (दृश + क्तिन्) । समास– आगम: पूर्वं यस्या: सा आगमपूर्वा, न संयत: असयत: ।।२३६।।

विधिसे अनेकान्तात्मक पदार्थका विज्ञान होता है । ४– जिसके आगमपूर्विका तत्त्वार्थश्रद्धानमयी दृष्टि नही है उसके स्वपरभेदविज्ञान न होनेसे शरीर और कषायभावके साथ अपने एकत्वका निश्चय रहता है । ५– जिसका शरीर और कषायभावके साथ अपनी एकताका निश्चय रहता है वह विषयोंकी अभिलाषाको नहीं रोक सकता । ६– जो विषयों की अभिलाषाको दूर नही कर सकता वह षट्कायके जीवोकी हिंसासे अलग नही रह सकता । ७– विषयाभिलाषी षट्काय जीवघातीकी विषयादिमे निरर्गल प्रवृत्ति होती, निवृत्ति किञ्चिन्मात्र भी नही हो पाती । ८– विषयाभिलाषी षट्कायघाती विषयप्रवृत्त अविरक्त पुरुष परमात्मज्ञानके अभावसे ज्ञेयोंको क्रमशः आंशिक काल्पनिक जानकारी बनाता रहता है । ९– आगमपूर्वक दृष्टि न होनेसे अश्रद्धालु अज्ञानी विषयप्रवृत्त जीवोके ज्ञानरूप आत्मतत्त्वमें ऐकाग्र्यवृत्ति न होनेसे संयम रंच सिद्ध नहीं हो सकता । १०– जिसके संयम सिद्ध न हो उसके सुनिश्चित ऐकाग्र्यगतरूप मोक्षमार्ग अर्थात् श्रामण्य ही सिद्ध नहीं होता । ११– आगमज्ञान, आगमज्ञानपूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान व आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानपूर्वक संयतपना इनका एक साथ होनेमें ही मोक्षमार्गपनेका नियम है । १२– जिसकी आगमज्ञानपूर्वक दृष्टि नही, उसके संयम संभव नही, सो संयमहीन पुरुष श्रमण कैसे हो सकता है ?

सिद्धान्त—(१) सम्यक्श्रद्धानज्ञानसंयमहीन जीव उपाधियोसे सयुक्त होकर अशुद्धता की ओर बढ़ जाता है ।

दृष्टि—१– अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४स) ।

प्रयोग—मोक्षमार्गमें गतिप्रगतिके लिये बोधिलाभके प्रथम उपायभूत आगमज्ञानका अभ्यास करना ।।२३६।।

अब आगमज्ञान—तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वके अयौगपद्यके मोक्षमार्गपनेका विघटन करते हैं—[यदि] यदि **[अर्थेषु श्रद्धानं नास्ति]** पदार्थोंमें श्रद्धान नही है तो, **[आगमेन हि]** आगमसे भी **[न हि सिद्धयति]** सिद्धि नही होती, **[वा अर्थान् श्रद्दधानः अपि]** तथा पदार्थोंका श्रद्धान करने वाला भी **[असंयतः]** यदि असंयत हो तो **[न निर्वाति]** निर्वाणको प्राप्त नहीं होता ।

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ २३७ ॥

आगमज्ञानमात्रसे, सिद्धि नहीं यदि न तत्त्व श्रद्धा हो ।
तत्त्वश्रद्धालु भी यदि, असंयमी हो न मोक्ष पाता है ॥२३७॥

न ह्यागमेन सिद्धयति श्रद्धानं यद्यपि नास्त्यर्थेषु । श्रद्दधान अर्थानसंयतो वा न निर्वाति ॥ २३७ ॥

श्रद्धानशून्येनागमजनितेन ज्ञानेन तदविनाभाविना श्रद्धानेन च संयमशून्येन न तावत्सिद्धयति । तथाहि—आगमबलेन सकलपदार्थान् विस्पष्टं तर्कयन्नपि यदि सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं न तथा प्रत्येति तदा यथोक्तात्मनः श्रद्धानशून्यतया यथो-

---

नामसंज्ञ—ण हि आगम सद्दहण जदि वि ण अत्थ सद्दहमाण अत्थ असंजद वा ण । **धातुसंज्ञ**—सिज्झ निष्पत्तौ, अस सत्तायां, निर वा वायु सचरणे निर्वाणे च, सद् दह धारणे । **प्रातिपदिक**—न हि आगम श्रद्धान यदि अपि न अत्थ श्रद्धान अर्थ असंयत वा न । **मूलधातु**— षिधु गतौ, अस् भुवि, श्रद् धा धारणे, निर् वा सचरणे निर्वाणे । **उभयपदविवरण**—ण न हि जदि यदि वि अपि-अव्यय । आगमेण आगमेन—

तात्पर्य—आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान व असंयतपना यदि ये एक साथ नहीं है तो भी मोक्ष नही होता ।

टीकार्थ—श्रद्धानशून्य आगमजनित ज्ञानसे, और संयमशून्य आगमज्ञानके बिना नहीं होने वाले श्रद्धानसे भी, सिद्धि नहीं होती । **स्पष्टीकरण**—आगमबलसे सकल पदार्थोंकी विस्पष्ट तर्कणा करता हुआ भी यदि जीव सकल पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके साथ मिलित होने वाला विशद एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्माको उस प्रकारसे प्रतीत नहीं करता तो यथोक्त आत्माके श्रद्धानसे शून्य होनेके कारण यथोक्त आत्माका अनुभव नहीं करने वाला ज्ञेयनिमग्न ज्ञानविमूढ़ जीव कैसे ज्ञानी होगा ? और ज्ञेयद्योतक होनेपर भी, आगम अज्ञानीका क्या करेगा ? इस कारण श्रद्धानशून्य आगमसे सिद्धि नहीं होती । और, सकल पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके साथ मिलित होता हुआ एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्माका श्रद्धान करता हुआ भी, अनुभव करता हुआ भी यदि जीव अपनेमें ही संयत होकर नहीं रहता, तो अनादि मोह राग द्वेषकी वासनासे उद्भूत परद्रव्यमें भ्रमणकी स्वेच्छाचारिणी चिद्वृत्ति स्वमें ही रहनेसे, वासनारहित निष्कंप एक तत्त्वमें लीन चिद्वृत्तिका अभाव होनेसे, वह कैसे संयत होगा ? और असंयतका, यथोक्त आत्मतत्त्वकी प्रतीतिरूप श्रद्धान या यथोक्त आत्मतत्त्वकी अनुभूतिरूप ज्ञान क्या करेगा ? इसलिये संयमशून्य श्रद्धानसे या ज्ञानसे सिद्धि नहीं होती । इस कारण आगम

दितमात्मानमननुभवन् कथं नाम ज्ञेयनिमग्नो ज्ञानविमूढो ज्ञानी स्यात् । अज्ञानिनश्च ज्ञेयद्योतको भवन्नप्यागमः किं कुर्यात् । ततः श्रद्धानशून्यादागमान्नास्ति सिद्धिः । किंच—सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि यदि स्वस्मिन्नेव संयम्य न वर्तयति तदानादिमोहरागद्वेषवासनोपजनितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्वैरिण्याश्चिद्वृत्तेः स्वस्मिन्नेव स्थानान्निर्वासननिःकम्पैकतत्त्वमूर्च्छितचिद्वृत्त्यभावात्कथं नाम संयतः स्यात् । असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् । ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव ॥२३७॥

तृतीया ए० । सिज्झदि सिद्धचति निव्वादि निर्वाति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । सद्दहण श्रद्धान सद्दहमाणो श्रद्दधानः असजदो असयतः–प्रथमा एकवचन । अत्थि अस्ति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । अत्थेसु अर्थेषु–सप्तमी बहु० । अत्थे अर्थान्–द्वितीया एक० । **निरुक्ति–** श्री इति श्रत् (श्री+इति) श्रद् दधाति इति श्रद्धानः श्रीञ् पाके क्र्यादि ॥२३७॥

ज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्वके अयौगपद्यके मोक्षमार्गत्व घटित नही होता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया था कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान व संयम इनका यौगपद्य मोक्षमार्ग है । अब इस गाथामे बताया गया है कि उन तीनका अयौगपद्य (एक साथ न होना) मोक्षमार्गका विघटन कर देता है ।

तथ्यप्रकाश—१– श्रद्धानशून्य आगमज्ञानसे सिद्धि नही होती । २– आगमज्ञानके अविनाभावी श्रद्धानसे भी यदि संयमशून्यता है तो सिद्धि नही होती । ३– कोई भले ही आगमबलसे समस्त पदार्थोंको युक्ति पुरःसर बोध कर ले, किन्तु समस्तपदार्थज्ञेयाकार जिसमें प्रतिबिम्बित होते है ऐसे विशद एक ज्ञानाकारस्वरूप आत्माका यथार्थ विश्वास नही करता तो वह ज्ञेयनिमग्न है । ४– जो पुरुष विशदैकज्ञानाकारस्वरूप स्वात्माके श्रद्धानसे शून्य होनेसे सहजात्मस्वरूप अन्तस्तत्त्वका अनुभव नहीं कर पाता वह ज्ञानविमूढ है । ५– ज्ञेयनिमग्न और ज्ञानविमूढ़ जीव कैसे सम्यग्ज्ञानी हो सकता है । ६– अज्ञानीका आगमज्ञान ज्ञेयपदार्थों का खूब निरूपण करता है तो भी उसको सिद्धि नही होती । ७– श्रद्धानशून्य आगमज्ञानसे सिद्धि नही हुआ करती । ८– किसीके ज्ञानाकारस्वरूप आत्माका श्रद्धान और अनुभव भी हो जाय तो भी यदि स्वात्मामें संयत होकर नही वर्तता है तो उस संयमशून्य श्रद्धान ज्ञानसे भी सिद्धि नही होती । ९– जब स्वयंमें मोहरागद्वेषवासनाजनित परद्रव्यचक्रमण (परद्रव्योंमें उछल कूद, परिभ्रमण, झटपट जानना) होनेसे स्वच्छन्द चिद्वृत्ति (चित्तपरिणति) बन रही है

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽप्यात्मज्ञानस्य मोक्षमार्गसाधकतमत्वं द्योतयति—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

अज्ञ जन कर्म जितने, करोड़ भवमें विनष्ट कर पाता।
विज्ञ जन कर्म उतने, त्रिगुप्त हो छिनकमें नशाता ॥२३८॥

यदज्ञानी कर्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभिः। तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ २३८ ॥

यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाट्या बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुखदुःखादिविकारभावपरिणतः पुनरारोपितसंतानं भवशतसहस्रकोटिभिः कथंचन निस्तरति,

---

नामसंज्ञ—ज अण्णाणि कम्म भवसयसहस्सकोडि त णाणि ति गुत्त उस्सासमेत्त। धातुसंज्ञ—खव क्षयकरणे। प्रातिपदिक—यत् अज्ञानिन् कर्मन् भवशतसहस्रकोटि तत् ज्ञानिन् त्रि गुप्त उच्छ्वासमात्र। मूलधातु—क्षपि क्षयकरणे चुरादि। उभयपदविवरण—ज यत् कम्म कर्म–द्वितीया एक०। खवेदि क्षपयति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। भवसयसहस्सकोडीहि भवशतसहस्रकोटिभिः–तृतीया बहु०। त तत्–

वहाँ संयम कैसे हो सकता है। १०– वासनारहित अविकार निष्कम्प एक ज्ञानाकारस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें चिद्वृत्तिका लीन विलीन होना संयम है। ११– जिस आत्मामें स्वैरिणी चिद्वृत्ति उछल कूद कर रही है उस आत्मामें असंयम ही नाच रहा है। १२– असंयमी जीवको मात्र श्रद्धान ज्ञान होनेसे भी सिद्धि नही है। १३– आगमज्ञान, आगमज्ञानपूर्वकतत्त्वार्थश्रद्धान व तदुभयपूर्वक संयम इन तीनोका एक साथ होना ही मोक्षमार्ग है।

सिद्धान्त—(१) अज्ञान अश्रद्धा व असंयमके परिणामोंका फल अशुद्धत्व व कर्मबद्धत्व है।

दृष्टि— अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४स)।

प्रयोग—संकटमोचन रत्नत्रयके लाभके लिये मूल उपायभूत आगमज्ञानका मननपूर्वक अभ्यास बनाना ॥२३७॥

अब आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वका यौगपद्य होनेपर भी, आत्मज्ञान मोक्षमार्ग का साधकतम है यह बतलाते हैं—[यत् कर्म] जो अर्थात् जितना कर्म [अज्ञानी] अज्ञानी [भवशतसहस्रकोटिभिः] लक्षकोटिभवोंमें [क्षपयति] खपाता है, [तत्] वह अर्थात् उतना कर्म तो [ज्ञानी] ज्ञानी [त्रिभिः गुप्तः] मन वचन कायकी गुप्तिसे युक्त हुआ [उच्छ्वासमात्रेण] उच्छ्वासमात्रमें [क्षपयति] खपा देता है।

तदेव ज्ञानी स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयोगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञान-मयात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्वसद्भावात्कायवाङ्मन:कर्मोपरमप्रवृत्तत्रिगुप्तत्वात् प्रचण्डोपक्रम-पच्यमानमपहस्तितरागद्वेषतया दूरनिरस्तसमस्तसुखदु:खादिविकार: पुनरनारोपितसंतानमुच्छ्-वासमात्रेणैव लीलयैव पातयति । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयोगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम् ।।२३८।।

द्वि० ए० । णाणी ज्ञानी अण्णाणी अज्ञानी–प्रथमा एक० । तिहि त्रिभि –तृ० बहु० । गुत्तो गुप्त:–प्रथमा एक० । उस्सासमेत्तेण उच्छ्वासमात्रेण–तृतीया एकवचन । निरुक्ति—उत् श्वसन उच्छ्वास: (उत् श्वस् + घञ्) श्वस् प्राणने । समास–शतानि च तानि सहस्राणि चेति शतसहस्त्राणि शतसहस्राणि च ता० कोटयश्चेति शतसहस्रकोटय: भवानां शतसहस्रकोटय: इति भवशतसहस्रकोटय: ताभि भ० ।।२३८।।

तात्पर्य—कर्मक्षयमें व आत्मविकासमे उत्कृष्ट साधक आत्मज्ञान है ।

टीकार्थ—क्रमपरिपाटीसे तथा अनेक प्रकारके बालतपादिरूप उद्यमसे पच्यमान तथा रागद्वेषको ग्रहण किया हुआ होनेसे सुखदु:खादिविकार भावरूप परिणत अज्ञानी पुन: संतानको आरोपित करता जाय इस प्रकार, लक्षकोटिभवोमें, ज्यो ज्यो करके (महा कष्टसे) जितना कर्म पार कर जाता है, उतने कर्मको तो स्यात्कारकेतन आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपत्ताके अतिशयप्रसादसे प्राप्त शुद्ध आत्मतत्वकी अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञानीपनके सद्भावके कारण काय-वचन-मनके कर्मोंके उपरमसे त्रिगुप्तिता प्रवर्तमान होनेसे प्रचण्ड उद्यमसे पच्यमानको रागद्वेषके छोड़नेसे समस्त सुखदु:खादिविकार अत्यन्त निरस्त हुआ होनेसे पुन: संतानको आरोपित न करता जाय इस प्रकार उच्छ्वासमात्रमें ही, लीला मात्रसे ही ज्ञानी नष्ट कर देता है । इस कारण आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपत्ता होनेपर भी आत्मज्ञानको ही मोक्षमार्गका साधकतम संयत करना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान व संयमका अयोगपद्य मोक्षमार्गपनेकों विघटित करता है । अब इस गाथामें बताया है कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान व संयमका योगपद्य होनेपर भी आत्मज्ञानमें ही मोक्षमार्गकी साधकतमता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) नाना प्रकारके बालतप आदिके हठयोगसे अज्ञानीके क्रमपरिपाटीसे लाख करोड़ भवोमें जितने कर्म पककर पार हो जाते हैं उतने कर्म तो ज्ञानीके उच्छ्वासमात्रमें ही कट जाते हैं । (२) पक कर कर्मके निकलते समय अज्ञानी राग और द्वेषको अपना लेता है, अत: सुखदु:खादिविकारभावसे परिणत होता हुआ और कर्म बांध लेता है, अत: वह कर्मका

अथात्मज्ञानशून्यस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्कर-मित्यनुशास्ति—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥२३९॥

परमाणुमात्र मूर्च्छा, देह तथा इन्द्रियादिमें जिसके ।
रहती हो वह सर्वागमधर भी सिद्धि नहीं पाता ॥२३९॥

परमाणुप्रमाण वा मूर्च्छा देहादिकेषु यस्य पुनः । विद्यते यदि स सिद्धिं न लभते सर्वागमधरोऽपि ॥२३९॥

यदि करतलामलकीकृतसकलागमसारतया भूतभवद्भावि च स्वोचितपर्यायविशिष्टम-शेषद्रव्यजात जानन्तमात्मानं जानन् श्रद्दधानः संयमयश्चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां

नामसंज्ञ— परमाणुपमाण वा मुच्छा देहादिअ ज पुणो जदि त सिद्धि ण सव्वागमधर वि । धातुसंज्ञ—विज्ज सत्तायां, लह लाभे । प्रातिपदिक— परमाणुप्रमाण वा मूर्च्छा देहादिक यत् पुनर् जदि तत् सिद्धि न सर्वागमधर अपि । मूलधातु—विद सत्तायां, डुलभष् प्राप्तौ । उभयपदविवरण—परमाणुपमाणं परमाणु-

---

झड़ना कर्मका कटना नही कहलाता । (३) ज्ञानीके शुद्धज्ञानमय आत्मतत्त्वकी अनुभूति प्रतीति होनेसे कर्म कटते हैं वहाँ अन्य कर्मोंका बन्धनभार न बननेसे उसके कर्मका झड़ना कर्मका कटना कहलाता है । (४) ज्ञानीके मन वचन काय तीनों योगोंका निरोध है, अतः वहाँसे रागद्वेष भाव हट जाते है । (५) राग द्वेषादि हट जानेसे सुख दुःखादि विकार भी दूर हो जाता है । (६) सुख दुःखादि विकार दूर हो जानेसे फिर विकार व बन्ध सन्तान आरोपित नही होता । (७) मोक्षमार्गोचित सब कार्य आत्मज्ञानके बलसे होते है, अतः आत्मज्ञान मोक्ष-मार्गका साधकतम अन्तः करण है ।

सिद्धान्त—आत्मा अनात्माका भेद करके सहजात्मस्वरूपका संचेतन करने वाले ज्ञान से आत्मोपलब्धि होती है ।

दृष्टि—१– ज्ञाननय, शून्यनय, अविकल्पनय (१९४, १७३, १६२) ।

प्रयोग—कर्मक्षयके अर्थ मन वचन कायकी क्रियाका निरोध कर चैतन्यमात्र सहजा-त्मस्वरूपमें आत्मत्व अनुभवना ॥२३८॥

अब आत्मज्ञानशून्यके सर्व आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्वकी युगपत्ताकी युगपत्ता भी अकिंचित्कर है, यह अनुशासित करते हैं— [पुनः] और [यदि] यदि [यस्य] जिसके [देहादिकेषु] शरीरादिकोंमें [परमाणुप्रमाणं वा] परमाणुमात्र भी [मूर्च्छा] मूर्च्छा [विद्यते] पाई जाती है तो [सः] वह [सर्वागमधरः अपि] सर्वागमका धारी होनेपर भी

यौगपद्येऽपि मनाङ्मोहमलोपलिप्तत्वात् यदा शरीरादिमूर्च्छोपरक्ततया निरुपरागोपयोगपरिणतं कृत्वा ज्ञानात्मानमात्मानं नानुभवति तदा तावन्मात्रमोहमलकलङ्ककीलिकाकीलितैः कर्मभिरविमुच्यमानो न सिद्धयति । अत आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव ।।२३९।।

प्रमाणं–क्रियाविशेषण । वा जदि यदि ण न वि अपि–अव्यय । मुच्छा मूर्च्छा सव्वागमधरो सर्वागमधरः–प्रथमा एकवचन । देहादिएसु देहादिकेषु–सप्तमी बहुवचन । जस्स यस्य–षष्ठी एक० । विज्जदि विद्यते लहदि लभते–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । सो सः–प्रथमा एक० । सिद्धि–द्वितीया एकवचन । **निरुक्ति**–प्रमीयते अनेन इति प्रमाण (प्र मा+ल्युट्) प्र मा माने अदादि । **समास**–सर्वश्चासौ आगमश्चेति सर्वागमः सर्वागम धरतीति सर्वागमधरः ।।२३९।।

[**सिद्धि न लभते**] सिद्धिको प्राप्त नहीं होता ।

तात्पर्य—देहादिकमे जिसके मूर्च्छा है वह कितना भी आगमका जानकार हो उसका मोक्ष नही होता ।

टीकार्थ—सकल आगमके सारको हस्तामलकवत् करनेसे भूत-वर्तमान-भावी स्वोचित पर्यायोंके साथ अशेष द्रव्यसमूहको जाननेवाले आत्माको जानता हुआ, श्रद्धान करता हुआ और संयमित करता हुआ पुरुष आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-सयतत्वकी युगपत्ता होनेपर भी, यदि वह किंचित्मात्र भी मोहमलसे लिप्त होनेसे शरीरादिके प्रति मूर्च्छासे उपरक्त रहनेसे, निरुपराग उपयोगमे परिणत करके ज्ञानात्मक आत्माका अनुभव नही करता, तो वह पुरुष मात्र उतने मोहमलकलंकरूप कीलेके साथ बंधे हुये कर्मोंसे न छूटता हुआ सिद्ध नही होता । अतः आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ता भी अकिंचित्कर ही है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे आत्मज्ञानको मोक्षमार्गमे साधकतम बताया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि यदि कोई आत्मज्ञानसे शून्य है तो उसके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान व संयम तीनो हो तो भी उन तीनोकी युगपत्ता अकिंचित्कर है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अविकाररूप उपयोग करता हुआ कोई भव्य ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करता है वही कर्मोंसे मुक्त होता हुआ सिद्ध होता है । (२) कोई पुरुष परमात्माके स्वरूपको जाने, माने व संयम भी पाले तो भी यदि वह ज्ञानस्वरूप अपने आपके अनुभवसे शून्य है, रंचमात्र भी मोह मूर्च्छासे उपयोग लिप्त है तो कर्मोंसे मुक्त हो नहीं हो सकता । सिद्धि पानेकी तो कथा ही दूर है । (३) आत्मज्ञानरहित आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान व संयम ये तीनो हों तो भी इनसे सिद्धि नही होगी । (४) ज्ञानस्वरूप अपने आपका ज्ञानमात्ररूपमें ज्ञानसे अनुभवना ज्ञानानुभव है । (५) ज्ञानानुभव बिना सिद्धि नही हो सकती ।

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं साधयति—

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥२४०॥

समिति गुप्तिसे संयुत, इन्द्रियविजयी कषायपरिहारी ।
दर्शनज्ञानसुसंयत, श्रमण कहा संयमी प्रभुने ॥२४०॥

पंचसमितस्त्रिगुप्तः पचेन्द्रियसंवृतो जितकषायः । दर्शनज्ञानसमग्रः श्रमणः स संयतो भणितः ॥ २४० ॥

यः खल्वनेकान्तकेतनागमज्ञानबलेन सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽनुभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चलां वृत्तिमिच्छन् समितिपञ्चकाङ्कुशितप्रवृत्तिप्रव-

---

नामसंज्ञ—पचसमिद तिगुत्त पचिदियसवुडो जिदकसाअ दसणणाणसमग्ग समण त सजद भणिद । धातुसंज्ञ- गोव गोपने । प्रातिपदिक—पचसमित त्रिगुप्त पंचेन्द्रियसवृत जितकषाय दर्शनज्ञानसमग्र श्रमण

सिद्धान्त—(१) रच भी विकारसे उपयुक्त पुरुष कर्मभारसे रहित नही हो पाता ।

दृष्टि—१- अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४स) ।

प्रयोग—शाश्वत सिद्धि लाभके लिये देहादिकमे रंचमात्र भी राग न कर अविकार ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वको आत्मरूपसे अनुभवना ॥२३९॥

अब आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-सयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ताको साधते है—[पंचसमितः] जो पांच समितियुक्त, [पंचेन्द्रियसंवृतः] पांच इन्द्रियोको रोकने वाला [त्रिगुप्तः] तीन गुप्ति सहित, [जितकषायः] कषायोको जीतने वाला, [दर्शनज्ञान-समग्रः] दर्शनज्ञानसे परिपूर्ण [श्रमणः] श्रमण है [सः] वह [संयतः] संयत [भणितः] कहा गया है ।

तात्पर्य—समितिवान् इन्द्रियनिरोधी गुप्तिपालक कषायविजयी दर्शनज्ञानपरिपूर्ण श्रमण ही संयमी है ।

टीकार्थ—जो पुरुष अनेकान्तकेतन आगमज्ञानके बलसे, सकल पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके साथ मिलित विशद एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्माका श्रद्धान और अनुभव करता हुआ आत्मामें ही नित्यनिश्चल वृत्तिको चाहता हुआ, संयमके साधनरूप बनाये हुये शरीरपात्र को पांचसमितियोसे अंकुशित प्रवृत्ति द्वारा प्रवर्तित करता हुआ, क्रमशः पंचेन्द्रियोंके निश्चल निरोध द्वारा जिसके काय-वचन-मनका व्यापार विरामको प्राप्त हुआ है, ऐसा होकर, चिद्वृत्ति के लिये परद्रव्यमें भ्रमणके निमित्तभूत कषायचक्रको आत्माके साथ अन्योन्य मिलनके कारण अत्यन्त एकरूप हो जानेपर भी स्वभावभेदके कारण पररूपसे निश्चित करके आत्माके द्वारा

तितसंयमसाधनीकृतशरीरपात्रः क्रमेण निश्चलनिरुद्धपंचेन्द्रियद्वारतया समुपरतकायवाङ्मनोव्यापारो भूत्वा चिद्वृत्तेः परद्रव्यचङ्क्रमणनिमित्तमत्यन्तमात्मना सममन्योन्यसंवलनादेकीभूतमपि स्वभावभेदात्परत्वेन निश्चित्यात्मनैव कुशलो मल्ल इव सुनिर्भरं निष्पीड्य निष्पीड्य कषायचक्रमक्रमेण जीवं त्याजयति, स खलु सकलपरद्रव्यशून्योऽपि विशुद्धदृशिज्ञप्तिमात्रस्वभावभूतावस्थापितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात्संयत एव स्यात् । तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं सिद्धयति ॥२४०॥

तत् सयत भणित । **मूलधातु**—गुपू सरक्षणे । **उभयपदविवरण**—पंचसमिदो पचसमितः तिगुत्तो त्रिगुप्त. पचेदियसंवुडो पचेन्द्रियसंवृतः जिदकसाओ जितकषाय. दसणणाणसमग्गो दर्शनज्ञानसमग्रः समणो श्रमणः सो सः सजदो सयतः–प्रथमा एकवचन । भणिदो भणित.–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**— सम सकल यथा स्यात्तथा गृह्यते इति समग्र (सम ग्रह + ड) ग्रह उपादाने क्र्यादि । **समास**—जिताः कषाया. येन सः जितकषायः, दर्शन च ज्ञान च दर्शनज्ञान ताभ्या समग्रः दर्शनज्ञानसमग्रः ॥ २४० ॥

ही कुशल मल्लकी भाँति अत्यन्त मर्दन कर-करके अक्रमसे उसे मार डालता है, वह पुरुष वास्तवमें, सकल परद्रव्यसे शून्य होनेपर भी विशुद्धदर्शन ज्ञानमात्र स्वभावरूपसे रहने वाले आत्मतत्त्वमें नित्यनिश्चल परिणति उत्पन्न होनेसे, साक्षात् संयत ही है । और उसके ही आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ता सिद्ध होती है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया था कि आगमज्ञानशून्य आगमज्ञानादि होनेपर भी सिद्धि नही होती । अब इस गाथामें वास्तविक सयमीका स्वरूप बताकर यह सिद्ध किया है कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतपना व आत्मज्ञान चारोके यौगपद्यसे सिद्धि होती है ।

तथ्यप्रकाश—(१) वास्तविक संयमी पुरुषके आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतपना व आत्मज्ञान इन चारोका यौगपद्य है । (२) जो श्रमण विशुद्ध दर्शनज्ञानमात्रस्वभावभूत आत्मतत्त्वमें अपने उपयोगको निश्चलवृत्तिसे अवस्थापित करता है वह वास्तवमें साक्षात् संयत ही है । (३) जो अपने उपयोगको समस्त परद्रव्योसे रहित रखता है वही अपने स्वभावमें उपयुक्त होता है । जो अपने अविकारस्वभाव आत्मतत्त्वमें उपयुक्त होता है वह समस्त परद्रव्योंसे शून्य ही है । (४) ज्ञानी श्रमण कषायचक्रका मर्दन कर कर कुशल मल्लकी तरह कषायचक्रको एकदम दूर कर देता है । (५) कषायसमूहको उखाड़ फेंकनेके लिये समर्थ यह दृढ़ निश्चय ज्ञानीके है कि ये कषायभाव परभाव हैं । (६) यद्यपि कषायप्रकृतिके उदयसे कर्मका कषायानुभाग खिलता है उसका चिद्वृत्तिमें अन्योन्यसंवलन होनेसे वह कषायानुभाग जीवविकार

अथास्य सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतस्य कीदृग्लक्षणमित्यनुशास्ति—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥२४१॥

शत्रु बन्धुवर्गमें सम, सुख दुखमें सम प्रशंस निन्दामें।
लोष्ठ व कांचनमें सम, जन्म मरण सम श्रमण होता ॥२४१॥

समशत्रुबन्धुवर्गः समसुखदुःखः प्रशंसानिन्दासमः। समलोष्टकाञ्चनः पुनर्जीवितमरणे समः श्रमणः ॥२४१॥

संयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसरं चारित्रं, चारित्रं धर्मः, धर्मः साम्यं, साम्यं मोहक्षोभवि-

---

नामसंज्ञ—समसत्तुबंधुवग्ग समसुहदुक्ख पसंसणिंदसम समलोट्ठुकंचण पुण जीविदमरण सम समण।

बन जाता है तथापि आत्मस्वभावसे भिन्न होनेसे विकार परभाव है। (७) कषायचक्रको दूर करनेके लिये श्रमणकी प्रारंभसे विधिवत् साधना होती है। (८) श्रमण स्याद्वादगर्भित आगमज्ञानका अभ्यास करता है। (९) श्रमण आगमज्ञानके बलसे सर्वजानन स्वभाव वाले विशद एक ज्ञानस्वरूप स्वात्माका श्रद्धान करता है, अनुभव करता है और इसी परमार्थतत्त्व में अपने उपयोगको रमाये रहना चाहता है। (१०) श्रमणने पाँचों समितियोंसे अंकुशित प्रवृत्तियोंसे शरीरपात्रको संयमसाधनीभूत किया है। (११) श्रमणने पंच इन्द्रियद्वारोंको रोक कर मन वचन कायकी चेष्टावोंको हटाकर त्रिगुप्ति प्राप्त की है। (१२) समितियुक्त गुप्तिसहित पचेन्द्रियविजयी श्रमण जितकषाय होता है और जितकषाय होनेसे श्रमण दर्शनज्ञानसमग्र होता है सो वह साक्षात् संयम ही तो है।

सिद्धान्त—(१) अविकार चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी भावनासे कषायप्रकृतियोंका क्षय होता है कषायभावोंका अभाव होता है।

दृष्टि—१- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—अपने आत्माके शाश्वत सहज पवित्र निश्चल परमाह्लादमय एकरूप आनंद को पानेके लिये निर्ग्रन्थ होकर इन्द्रियव्यापाररहित होकर स्व सहजात्मस्वरूपमें मग्न होनेका पौरुष होने देना ॥२४०॥

अब आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ता जिसे सिद्ध हुई है ऐसे इस संयतका क्या लक्षण है सो अनुशासित करते हैं—[समशत्रुबन्धुवर्गः] जिसके लिये शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, [समसुखदुःखः] जो सुख दुःखमें समान है, [प्रशंसानिन्दासमः] जिसके लिये प्रशंसा और निन्दा समान है, [समलोष्ठकाञ्चनः] जिसके लिये

हीनः आत्मपरिणामः । ततः संयतस्य साम्यं लक्षणम् । तत्र शत्रुबन्धुवर्गयोः सुखदुःखयोः प्रशंसानिन्दयोः लोष्टकाञ्चनयोर्जीवितमरणयोश्च समम् अयं मम परोऽयं स्वः, अयमाह्लादोऽयं परितापः, इदं ममोत्कर्षणमिदमपकर्षणमयं ममाकिञ्चित्कर इदमुपकारकमिदं ममात्मधारणमयमत्यन्तविनाश इति मोहाभावात् सर्वत्राप्यनुदितरागद्वेषद्वैतस्य सततमपि विशुद्धदृष्टिज्ञप्तिस्व-

धातुसंज्ञ—जीव प्राणधारणे, मर प्राणत्यागे । प्रातिपदिक– समशत्रुबन्धुवर्ग समसुखदु ख प्रशंसानिन्दासम समलोष्टकांचन पुनर् जीवितमरण सम श्रमण । मूलधातु–जीव प्राणधारणे, मृ मरणे । उभयपदविवरण– समसत्तुबंधुवग्गो समशत्रुबन्धुवर्ग. समसुहदुक्खो समसुखदु ख पसंसणिंदसमो प्रशंसानिन्दासम समलोट्ठुकंचणो समलोष्टकांचनः समो सम समणो श्रमण जीविदमरणे जीवितमरणे–सप्तमी एकवचन । निरु-

ढेला और सुवर्ण समान है, [पुनः] तथा [जीवितमरणेसमः] जो जीवन-मरणके प्रति समान है वह [श्रमणः] श्रमण है ।

तात्पर्य—समताका पुञ्ज आत्मा श्रमण है ।

टीकार्थ—संयम सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक चारित्र है; चारित्रधर्म है; धर्म साम्य है; साम्य मोहक्षोभरहित आत्मपरिणाम है । इस कारण संयतका लक्षण समता है । वहाँ शत्रु बंधुवर्गमें, सुख-दुखमे, प्रशंसा-निन्दामें, मिट्टीके ढेले और सोनेमे, जीवन–मरणमे एक ही साथ 'यह मेरा पर है, यह स्व है,' 'यह आह्लाद है, यह परिताप है,' 'यह मेरा उत्कर्षण है, यह अपकर्षण है,' 'यह मेरे अकिंचित्कर है, यह उपकारक है,' 'यह मेरा आत्मधारण है, यह अत्यन्त विनाश है' इस प्रकार मोहके अभावके कारण सभी स्थितियोंमे जिसके रागद्वेषका द्वैत प्रगट नही होता, जो सतत विशुद्ध दर्शन ज्ञानस्वभाव आत्माका अनुभव करता है, और यों शत्रु–बंधु, सुख-दुख, प्रशंसा-निन्दा, लोष्टकांचन और जीवन-मरणको अन्तरके बिना ही ज्ञेयरूप जानकर ज्ञानात्मक आत्मामें जिसकी परिणति अचलित हुई है; उस पुरुषको वास्तवमें जो सर्वतः साम्य है वह साम्य जिस संयतके आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ता सिद्ध हुई है ऐसे संयतका लक्षण है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि आत्मज्ञानसहित आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान व संयतपना इस सबका योगपद्य मोक्षमार्ग है । अब इस गाथामें बताया गया है कि जिस संयतके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान संयम व आत्मज्ञान चारों हैं उस संयतके क्या लक्षण होते हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक हुए चारित्रको संयम कहते हैं । (२) चारित्र धर्म है । (३) धर्म समताभाव है । (४) मोहक्षोभरहित आत्मपरिणामको समताभाव कहते हैं । (५) समता ही संयतका लक्षण निष्कर्षित है, सो श्रमणोंके साम्य भाव पाया ही जाता

भावमात्मानमनुभवतः शत्रुबन्धुसुखदुःखप्रशंसानिन्दालोष्टकाञ्चनजीवितमरणानि निर्विशेषमेव ज्ञेयत्वेनाक्रम्य ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किल सर्वतः साम्यं तत्सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यस्य संयतस्य लक्षणमालक्षणीयम् ॥२४१॥

क्ति—काचते स्म यत् तत्काचन (काचि+ल्युट् नुमागम) काचिदीप्तिबन्धनयोः भ्वादि । समास—शत्रु-बन्धुवर्गं सम. इति समशत्रुबन्धु वर्गः, सुखदु.खयो. समः इति समसुखदुःखः प्रशसानिन्दयोः समः इति प्रशंसनिन्द सम. ॥ २४१ ॥

है । (६) श्रमणके शत्रु और बन्धुवर्गमें यह मेरा है यह दूसरा है ऐसा मोह रंच नहीं है । (७) श्रमणके सुख और दुःखमें ऐसा पक्ष नही है कि सुख तो आह्लादरूप है और दुःख परि-तापरूप है । (८) श्रमणके प्रशंसा और निन्दामें यह पक्ष नही है कि प्रशंसा तो मेरा उत्कर्ष है और निन्दा मेरा पतन है । (६) श्रमणके लोष्ठ व काञ्चनमे यह विषमता नही है कि लोष्ठ आदि तो मेरे लिये अकिञ्चित्कर है और काञ्चन (सुवर्ण) मेरा उपकारक है । (१०) श्रमणके जीवन व मरणमें ऐसा विषमभाव नहीं होता कि जीवन तो मेरा आत्मधारण है और मरण मेरा अत्यन्त विनाश है । (११) उदाहरणोक्त पांच घटनावोमें व उपलक्षणतः सर्व घटनाओंमें श्रमणके रंच भी मोह नहीं है सो सभी घटनाओंमें श्रमणके रागद्वेष उदित नही होता है । (१२) अनुकूल प्रतिकूल घटनावोमें श्रमणके राग द्वेष नही है सो वह सतत भी ज्ञानदर्शनस्वभाव आत्माको अनुभव लेता है । (१२) अविकार चेतनामात्र अपनेको अनु-भवने वाले श्रमणके उपयोगमें शत्रु बन्धु सुख दुःख प्रशंसा निन्दा लोष्ठ काञ्चन जीवन मरण सभी बिना भेदभावके ज्ञेयरूपसे झलकते हैं । (१४) श्रमणके इस उत्कृष्ट साम्यभावका कारण ज्ञानस्वरूप अपने आत्मामे अपने उपयोगका अचलितरूपसे प्रवर्तना है । (१५) उक्त विवेचना से संयतका लक्षण यही लक्षित होता है कि आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान व संयतपनेके यौगपद्य के साथ आत्मज्ञानका भी साथ साथ नियमतः होना संयतका वास्तविक लक्षण है ।

सिद्धान्त—(१) श्रमणका साम्यभाव स्वभावका यथोचित विकास है ।

दृष्टि—१– शुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय नामक पर्यायार्थिक नय (३४) ।

प्रयोग—वर्तमानमें व भविष्यमें शाश्वत सहज पवित्र अचल आनन्दके लाभके लिये आत्माभिमुख ज्ञानके बलसे अनुकूल प्रतिकूल सब घटनाओमे समताभाव धारण करना ।२४१।

अब सिद्ध है आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वके यौगपद्यके साथ साथ आत्मज्ञानका यौगपद्य जिसके ऐसा संयतपना जिसका कि अपर नाम एकाग्रता लक्षण वाला श्रामण्य है इसको ही मोक्षमार्गसे समर्थित करते हैं— [यः तु] जो [दर्शनज्ञानचरित्रेषु] दर्शन, ज्ञान और

अथैवमेव सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतत्वमैकाग्र्य-लक्षणश्रामण्यापरनाम मोक्षमार्गत्वेन समर्थयति—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ।।२४२।।

चारित्र ज्ञान दर्शन, तीनोंमें एक साथ जो उत्थित ।
एकाग्रगत हुआ वह, उसके श्रामण्य है पूरा ।।२४२।।

दर्शनज्ञानचरित्रेषु त्रिषु युगपत्समुत्थितो यस्तु । एकाग्रगत इति मतः श्रामण्य तस्य परिपूर्णम् ।। २४२ ।।

ज्ञेयज्ञातृत्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण च त्रि-

नामसंज्ञ— दसणणाणचरित्त ति जुगव समुट्ठिद ज दु एयग्गगद त्ति मद सामण्ण त पडिपुण्ण । **धातुसंज्ञ—** मन्न अवबोधने । **प्रातिपदिक**—दर्शनज्ञानचरित्र त्रि युगपत् समुत्थित यत् तु एकाग्रगत इति मत श्रामण्य तत् परिपूर्ण । **मूलधातु—** मनु ज्ञाने । **उभयपदविवरण**—दंसणणाणचरित्तेसु दर्शनज्ञानचारित्रेषुतीसु

चारित्र [त्रिषु] इन तीनोमे [युगपत्] एक ही साथ [समुत्थितः] प्रवर्तित है, वह [एकाग्रगतः] एकाग्रताको प्राप्त है [इति] इस प्रकार [मतः] शास्त्रमे कहा गया है [तस्य] उसके [श्रामण्यं] श्रामण्य [परिपूर्णम्] परिपूर्ण है ।

तात्पर्य—दर्शनज्ञानचारित्रमें आरूढ़ मुनिके परिपूर्ण श्रामण्य है ।

टीकार्थ—ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्वकी यथार्थ प्रतीति जिसका लक्षण है ऐसा सम्यग्दर्शन पर्याय ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्वकी तथा प्रकार अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसा ज्ञानपर्याय ज्ञेय और ज्ञाताकी क्रियांतरसे निवृत्तिके द्वारा रचित दृष्टिज्ञातृतत्त्वमे परिणति जिसका लक्षण है ऐसा चारित्र पर्याय, इन पर्यायोके और आत्माके भाव्यभावकताके द्वारा उत्पन्न अति गाढ़ इतरेतर मिलनके बलके कारण इन तीनों पर्यायरूप युगपत् अंग-अंगी भावसे परिणत आत्माके आत्मनिष्ठता होनेपर जो संयतपना होता है वह संयतपना, एकाग्रतालक्षण वाला श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ऐसा मोक्षमार्ग ही समझना चाहिये, क्योंकि वहाँ संयतपने पेय की भांति अनेकात्मक एकका अनुभव होनेपर भी, समस्त परद्रव्यसे निवृत्ति होनेसे एकाग्रता प्रगट है । वह संयतत्व भेदात्मक है, इसलिये 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है' इस प्रकार पर्यायप्रधान व्यवहारनयसे उसका प्रज्ञापन है; वह (मोक्षमार्ग) अभेदात्मक है इसलिये 'एकाग्रता मोक्षमार्ग है' इस प्रकार द्रव्यप्रधान निश्चयनयसे उसका प्रज्ञापन है; समस्त ही पदार्थ भेदाभेदात्मक है, इसलिये 'वे दोनों अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तथा एकाग्रता

भिरपि यौगपद्येन भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलादङ्गाङ्गिभावेन परिणतस्यात्मनो यदात्मनिष्ठत्वे सति संयतत्वं तत्पानकवदनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्तपरद्रव्यपरावर्तत्वादभिव्यक्तैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्यः । तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेनैकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वाद्द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तदुभयमिति प्रमाणेन प्रज्ञप्तिः ।। इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकीभवं स्त्रैलक्षण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य यः । द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दतामास्कन्दत्यचिराद्विकाशमतुलं येनोल्लसन्त्याश्चितेः ।।१६।। ।।२४२।।

त्रिषु–सप्तमी एक० । जुगवं युगपत् दु तु त्ति इति–अव्यय । समुट्ठिदो समुत्थितः जो यः एयग्गगदो एकाग्रगत· मदो मत· सामण्ण श्रामण्य पडिपुण्ण परिपूर्ण–प्रथमा एकवचन । तस्स तस्य–षष्ठी एकवचन । निरुक्ति–युगमिव पद्यते इति युगपत् (युग पद+क्विप्) पद गतौ । समास–दर्शनं च ज्ञान च चरित्रं चेति दर्शनज्ञानचारित्राणि तेषु दर्शनज्ञानचरित्रेषु ।।२४२।।

मोक्षमार्ग है' इस प्रकार प्रमाणसे उसका प्रज्ञापन है । **इत्येवं** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार, प्रतिपादकके आशयके वश, एक होनेपर भी अनेक होता हुआ एकताको तथा त्रिलक्षणताको प्राप्त जो मोक्षका मार्ग उसे लोक दृष्टा-ज्ञातामें निबद्ध वृत्तिको अचलरूपसे अवलम्बन करे, जिससे वह लोक उल्लसित चेतनाके अतुल विकासको अल्पकालमें प्राप्त हो ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें श्रमणको अनुकूल प्रतिकूल सब घटनावोंमें साम्य भाव रखने वाला बतलाते हुए आगमज्ञान आदि चारोंके यौगपद्यको संयतका लक्षण बतलाया गया था । अब इस गाथामे बतलाया गया है कि आगमज्ञान आदि चारोंका यौगपद्य ऐकाग्र्यगतपना है जो कि श्रामण्यका दूसरा नाम है और मोक्षमार्गरूप है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सारा विश्व भेदाभेदात्मक है, सो प्रत्येक तथ्यको भेदरूपसे व अभेदरूपसे दोनों विधियोसे निरख सकते हैं । (२) मोक्षमार्ग भेदात्मकपनेसे तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है । (३) अभेदात्मकपनेसे ऐकाग्र्य मोक्षमार्ग है । (४) ऐकाग्र्यमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीनोंके होनेपर भी उनकी एकताका अनुभव होता है । (५) जैसे पानकमें (शरबतमें) अनेक चीजोंके होनेपर उनकी एकरसताका अनुभव होता है । (६) ज्ञेयतत्त्व व ज्ञाता तत्त्व जो जैसे है उनकी उसी रूपसे प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है । (७) ज्ञेयतत्त्व व ज्ञाता तत्त्वका उस ही रूपसे अनुभव होना सम्यग्ज्ञान है । (८) अन्य सर्व पदार्थोंकी क्रियाओंकी निवृत्तिके कारण स्पष्ट स्वरूपमात्र द्रष्टा ज्ञाता स्वभावमय अन्तस्तत्त्वमें उपयुक्त होना सम्यक्चारित्र है । (९) जब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्-

अथानैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥२४३॥

यदि अज्ञानी हो मुनि, आश्रय करि पर विभिन्न द्रव्योंका ।
मोहे रुषे तूषे, तो बांधे विविध कर्मोंको ॥ २४३ ॥

मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा द्रव्यमन्यदासाद्य । यदि श्रमणोऽज्ञानी बध्यते कर्मभिर्विविधैः ॥ २४३ ॥

यो हि न खलु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति सोऽवश्यं ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति । तदासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानाद्भ्रष्टः स्वयमज्ञानीभूतो मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा

नामसंज्ञ—वा दव्व अण्ण जदि समण अण्णाणि कम्म विविह । **धातुसंज्ञ**—मुज्झ मोहे, रज्ज रागे, दुस वैकृत्ये बध बन्धने । **प्रातिपदिक**—वा द्रव्य अन्यत् यदि श्रमण अज्ञानिन् कमन् विविध । **मूलधातु**—मुह वैचित्ये, रंज रागे, द्विष द्वेषे बन्ध बन्धने । **उभयपदविवरण**—मुज्झदि मुह्यति रज्जति रज्यति दुस्सदि

चारित्र तीनों एक साथ हो जाते है तब इतरेतर संवलन होनेके कारण अङ्गाङ्गिभावसे परिणत आत्मा आत्मनिष्ठ हो जाता है, यही वास्तविक संयतपना है । (१०) आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतपना व आत्मज्ञान इन चारोंका योगपद्य श्रामण्य है, मोक्षमार्ग है ।

सिद्धान्त—(१) अन्तः ज्ञानमय पौरुषसे शुद्ध विकसित परमात्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है ।

दृष्टि—१- पुरुषकारनय (१८३) ।

प्रयोग—श्रामण्य लाभ (आत्मशान्ति) के लिये आगमज्ञानका अभ्यास करना व अंतस्तत्त्वका मनन करना ॥२४२॥

अब अनेकाग्रताके मोक्षमार्गत्वका विघटन करते है—[**यदि**] यदि [**श्रमणः**] श्रमण [**अन्यत् द्रव्यम् आसाद्य**] अन्य द्रव्यका आश्रय करके [**अज्ञानी**] अज्ञानी होता हुआ, [**मुह्यति वा**] मोह करता है, अथवा [**रज्यति वा**] राग करता है, [**द्वेष्टि वा**] अथवा द्वेष करता है, तो वह [**विविधैः कर्मभिः**] विविध कर्मोंसे [**बध्यते**] बंधता है ।

तात्पर्य—यदि मुनि राग द्वेषादि करने लगे तो वह नाना कर्मोंसे बँध जाता है ।

टीकार्थ—जो वास्तवमें ज्ञानात्मक आत्माको एक अग्र रूपसे नहीं भाता, वह अवश्य ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय करता है, और उसका आश्रय करके, ज्ञानात्मक आत्मज्ञानसे भ्रष्ट वह स्वयं अज्ञानी होता हुआ मोह करता है, राग करता है, अथवा द्वेष करता है; और वैसा होता हुआ बँधता ही है, छूटता नहीं ।

तथाभूतश्च बध्यत एव न तु विमुच्यते । अत अनैकाग्र्यस्य न मोक्षमार्गत्वं सिद्धयेत् ।।२४३।।

दूंष्टि-वर्त० अन्य० एक० क्रिया । वा जदि यदि-अव्यय । दव्वं अण्ण द्रव्य अन्यत्-द्वितीया एक० । आसेज्ज आसाद्य-सम्बन्धार्थप्रक्रिया । समणो श्रमण: अण्णाणी अज्ञानी-प्रथमा एकवचन । बज्झादि बध्यते-वर्त० अन्य० एक० भावकर्मप्रक्रिया । कम्मेहि कर्मभि: विविहेहि विविधै:-तृतीया बहुवचन । निरुक्ति-श्राम्यतीति श्रमण: । समास- विविधा विधा येषां ते विविधा: तै: विविध: ।।२४३।।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतपना व आत्मज्ञान इन चारोंके यौगपद्य रूप ऐकाग्र्यपनेका मोक्षमार्गरूपसे समर्थन किया था । अब इस गाथामें ऐकाग्रतारहित भावके मोक्षमार्गपनेका निषेध किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो ज्ञानस्वरूप एकमात्र आत्माको नहीं भावता, अनुभवता, वह अवश्य ही अन्य ज्ञेयभूत द्रव्यका आश्रय करेगा । (२) जो पुरुष ज्ञानात्मक आत्माको नहीं भानेसे ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय करता है वह ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके ज्ञानसे भ्रष्ट हुआ स्वयं अज्ञानी होकर मोह राग द्वेष करता है । (३) अनात्मज्ञानी अन्य द्रव्यका आश्रयी मोही रागी द्वेषी प्राणी कर्मोंसे बँधता ही है, विमुक्त नहीं होता । (४) चूँकि ऐकाग्र्यके अभावमें ये सब विडम्बनायें होती सो प्रकट सिद्ध है कि अनैकाग्र्य परिणमनके मोक्षमार्गपना सिद्ध नहीं होता ।

सिद्धान्त—(१) रागी द्वेषी मोही श्रमण अज्ञानी है और वह नाना कर्मोंसे बँध जाता है ।

दृष्टि—१- अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४स) ।

प्रयोग—कर्मोंसे छुटकारा पानेके लिये ज्ञानात्मक आत्मतत्त्वकी भावना करना जिससे न तो अन्य द्रव्यका आश्रय हो सके और न राग द्वेष मोह उत्पन्न हो ।।२४३।।

अब एकाग्रताके मोक्षमार्गपना निश्चित करते हुये मोक्षमार्ग-प्रज्ञापनका उपसंहार करते हैं—**[यदि य: श्रमण:]** यदि श्रमण **[अर्थेषु]** पदार्थोंमें **[न मुह्यति]** मोह नहीं करता, **[न हि रज्यति]** राग नहीं करता, **[न एव द्वेषम् उपयाति]** और न द्वेषको प्राप्त होता है **[स:]** तो वह **[नियतं]** नियमसे **[विविधानि कर्माणि]** विविध कर्मोंको **[क्षपयति]** दूर कर देता है अर्थात् नष्ट कर देता है ।

तात्पर्य—मोह राग द्वेष न करने वाला श्रमण नाना कर्मोंको नष्ट कर देता है ।

टीकार्थ— जो ज्ञानात्मक आत्माको एक अग्ररूपसे भाता है वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय नहीं करता; और उसका आश्रय नहीं करके ज्ञानात्मक आत्मज्ञानसे अभ्रष्ट वह स्वयमेव ज्ञानीभूत रहता हुआ मोह नहीं करता, राग नहीं करता; द्वेष नहीं करता, और ऐसा

अथैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वमवधारयन्नुपसंहरति—

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥२४४॥

मोह न पदार्थोंमें, तुषे नहिं द्वेष नहिं करे जो यदि ।
वह श्रमण विविध कर्मों-का प्रक्षय किया करता है ॥२४४॥

अर्थेषु यो न मुह्यति न हि रज्यति नैव द्वेषमुपयाति । श्रमणो यदि स नियत क्षपयति कर्माणि विविधानि ॥

यस्तु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति स न ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति । तदनासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमेव ज्ञानीभूतस्तिष्ठन्न मुह्यति न रज्यति न द्वेष्टि तथाभूतः सन् मुच्यत एव न तु बध्यते । अत ऐकाग्र्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं सिद्धयेत् ॥२४४॥ **इति मोक्षमार्गप्रज्ञापनम् ।**

नामसंज्ञ—अट्ठ जण ण हि ण एव दोस समण जदि त णियद कम्म विविह । **धातुसंज्ञ**—मुज्झ मोहे, रज्ज रागे, खव क्षयकरणे, उव या प्रापणे । **प्रातिपदिक**—अर्थ यत् न हि न एव द्वेष श्रमण यदि तत् नियत कर्मन् विविध । **मूलधातु**—मुह वैचित्ये, रज रागे, उप या प्रापणे, क्षपि क्षयकरणे । **उभयपदविवरण**—अट्ठेसु अर्थेषु-सप्तमी बहु० । जो यः सो सः समणो श्रमणः-प्रथमा एक० । ण न हि एव जदि यदि-अव्यय । मुज्झदि मुह्यति रज्जदि रज्यति उवयादि उपयाति खवेदि क्षपयति-वर्त० अन्य० एक० क्रिया । दोस द्वेष-द्वितीया एक० । णियद नियतं-क्रियाविशेषण । कम्माणि कर्माणि विविहाणि विविधानि-द्वितीया बहुवचन । **निरुक्ति**- यदि-हेतुहेतुमद्भावप्रसगं यत्+इन् ॥२४४॥

वर्तता हुआ (वह) मुक्त ही होता है, परन्तु बंधता नही है । इस कारण एकाग्रपनेके ही मोक्षमार्गपना सिद्ध होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था अनैकाग्र्यके मोक्षमार्गपना विघट जाता है । अब इस गाथामें ऐकाग्र्यके मोक्षमार्गपनेका निश्चय कराते हुए मोक्षमार्गके इस स्थानका उपसहार किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो ज्ञानात्मक एक मात्र आत्माकी भावना करता है वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय नहीं करता है । (२) ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय न करके ज्ञानस्वरूप आत्माके ज्ञानसे भ्रष्ट न होता हुआ श्रमण स्वयं ही ज्ञानरूप रहता है । (३) ज्ञानात्मकस्वसंवेदी श्रमण ज्ञानरूप रहता हुआ न तो मोह करता है न राग करता है और न द्वेष करता है । (४) राग द्वेष मोह न करता हुआ ज्ञानी कर्मोंसे छूटता ही है, किन्तु बंधता नहीं है । (५) चूकि ज्ञानात्मक एक अग्र आत्माको भानेसे श्रमण निर्विकार होकर कर्मोंसे छूटता है, अतः इस ऐकाग्र्य भावमें ही मोक्षमार्गपना सिद्ध होता है । (६) आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान

अथ शुभोपयोगप्रज्ञापनम् । तत्र शुभोपयोगिनः श्रमणत्वेनान्वाचिनोति—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥२४५॥

श्रमण शुद्धोपयोगी, शुभोपयोगी कहे जिनागममें ।
किन्तु शुद्धोपयोगी, अनास्रवी शेष सास्रव हैं ॥ २४५ ॥

श्रमणा: शुद्धोपयुक्ता: शुभोपयुक्ताश्च भवन्ति समये । तेष्वपि शुद्धोपयुक्ता अनास्रवा: सास्रवा: शेषा: ।२४५।

ये खलु श्रामण्यपरिणतिं प्रतिज्ञायापि जीवितकषायकणतया समस्तपरद्रव्यनिवृत्तिप्रवृत्तसुविशुद्धदृशिज्ञप्तिस्वभावात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोगभूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते । ते तदुप-

नामसंज्ञ—समण सुद्धवजुत्त सुहोवजुत्त य समय त वि सुद्धवजुत्त अणासव सेस सासव । धातुसंज्ञ – हो सत्तायां । प्रातिपदिक– श्रमण शुद्धोपयुक्त शुभोपयुक्त च समय तत् अपि शुद्धोपयुक्त अनास्रव सास्रव शेष ।

संयतपना व आत्मज्ञान इन चारोंका यौगपद्य, सर्वत्रसाम्य, ज्ञानात्मकस्वसंवेदन, ऐकाग्र्य, श्रामण्य व शुद्धोपयोग यह एकार्थकभाव मोक्षमार्ग है ऐसा मोक्षमार्गका प्रज्ञापन किया गया है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनाके कारण स्वयं ही कर्मोंसे छुटकारा प्राप्त हो जाता है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—कर्मोंसे व संसारसंकटोंसे छुटकारा पानेके लिये पदार्थोंमें न मोह करना, न राग करना, न द्वेष करना ।।२४४।।

इस प्रकार मोक्षमार्ग–प्रज्ञापन समाप्त हुआ ।

अब शुभोपयोगका प्रज्ञापन करते हैं । उसमें प्रथम शुभोपयोगियोंको श्रमणरूपमें गौण तया बतलाते हैं—[समये] परमागममें [श्रमणाः] श्रमण [शुद्धोपयुक्ताः] शुद्धोपयोगी [च शुभोपयुक्ताः भवन्ति] और शुभोपयोगी होते हैं [तेषु अपि] उनमें भी [शुद्धोपयुक्ताः अनास्रवाः] शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं, [शेषाः सास्रवाः] शेष सास्रव है अर्थात् शुभोपयोगी आस्रव-सहित हैं ।

तात्पर्य—शास्त्रमें शुभोपयोगी व शुद्धोपयोगी दोनोंको श्रमण कहा गया है ।

टीकार्थ—जो वास्तवमें श्रामण्यपरिणतिकी प्रतिज्ञा करके भी, कषाय-कणके जीवित होनेसे, समस्त परद्रव्यसे निवृत्तिरूपसे प्रवर्तमान सुविशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्मतत्वमें परिणतिरूप शुद्धोपयोगभूमिकामें आरोहण करनेको [illegible] नहीं हैं; वे जीव शुद्धोपयोगभूमिकाके

कण्ठनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो नितान्तमुत्कण्ठुलमनसः श्रमणाः किं भवेयुर्न वेत्यत्राभिधीयते । 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो । पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं' इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः । ततः शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद्भवेयुः श्रमणाः किंतु तेषां शुद्धोपयोगिभिः समं समकाष्ठत्वं न भवेत्, यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव । इमे पुनरनवकीर्णकषायकणत्वात्सास्रवा एव । अत एव च शुद्धोपयोगिभिः सममभी न समुच्चीयन्ते केवलमन्वाचीयन्त एव ॥२४५॥

मूलधातु—भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**— समणा श्रमणाः सुद्धुवजुत्ता शुद्धोपयुक्ताः सुहोवजुत्ता शुभोपयुक्ता अणासवा अनास्रवाः सासवा सास्रवाः सेसा शेषाः–प्रथमा बहुवचन । य च वि अपि–अव्यय । समयम्हि समये–सप्तमी एक० । तेसु तेषु–सप्तमी बहुवचन । होंति भवन्ति–वर्त० अन्य० बहु० क्रिया । **निरुक्ति**— आ स्रवणं आस्रव (आ स्रु + अप्) । **समास**—शुद्धे उपयुक्ताः शुद्धोपयुक्ताः, शुभे उपयुक्ताः शुभोपयुक्ताः ॥२४५॥

निकट निविष्ट और कषायसे कुण्ठित शक्ति वाले तथा अत्यन्त उत्कण्ठित मन वाले श्रमण हैं या नहीं, यह यहाँ कहा जा रहा है—धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो । पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ इस प्रकार (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यने ११वीं गाथामें) स्वयं ही निरूपित होनेसे शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय है । इस कारण शुभोपयोगी भी, उनके धर्मका सद्भाव होनेसे श्रमण हैं । किन्तु वे शुद्धोपयोगियोंके साथ समान कोटिके नहीं हैं, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायोंको निरस्त किया होनेसे निरास्रव ही हैं और ये शुभोपयोगी तो कषायकणके विनष्ट न होनेसे सास्रव ही हैं । और ऐसा होनेसे ही शुद्धोपयोगियोंके साथ इन्हें शुभोपयोगियोंको एकत्रित नहीं लिया जाता, मात्र पीछेसे गौणरूपमें ही लिया जाता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें ऐकाग्र्यके ही मोक्षमार्गपना निश्चित करके मोक्षमार्ग प्रज्ञापन कर दिया गया था । अब इस गाथामें शुभोपयोगका प्रज्ञापन प्रारम्भ हुआ है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण शुद्धोपयोगी भी होते हैं, शुभोपयोगी भी होते हैं । (२) जो श्रमण शुभोपयोगी हैं वे सदा शुभोपयोगी रहें अल्पसमयको भी कभी शुद्धोपयोगी न हो ऐसा नहीं है, किन्तु प्रधानताकी दृष्टिसे शुभोपयोगी हैं । (३) जो पुरुष श्रामण्यपरिणतिकी प्रतिज्ञा करके भी कषायकण जीवित रहनेसे पूर्ण निवृत्ति नहीं पा सकते व दर्शनज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्वमें वृत्ति नहीं कर सकते, शुद्धोपयोगकी भूमिकापर नहीं चढ़ पा रहे वे भी श्रमण हैं । (४) शुभोपयोगी श्रमण शुद्धोपयोगकी [illegible]काके निकट बैठे हैं, अतः श्रमण ही हैं । (५)

अथ शुभोपयोगिश्रमणलक्षणमासूत्रयति—

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥२४६॥

सिद्ध जिनोंमें भक्ती, प्रवचन अभियुक्तमें सुवत्सलता।
श्रामण्यमें यदी हों, वह ही शुभयुक्त चर्या है ॥२४६॥

अर्हदादिषु भक्तिर्वत्सलता प्रवचनाभियुक्तेषु। विद्यते यदि श्रामण्ये सा शुभयुक्ता भवेच्चर्या ॥ २४६ ॥

सकलसंगसन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशवशात् स्वयं शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थातुमशक्तस्य परेषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थितेष्वर्हदादिषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रावस्थितिप्रति-

---

नामसंज्ञ—अरहंतादि भत्ति वच्छलदा पवयणाभिजुत्त जदि सामण्ण त सुहजुत्ता चरिया। **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां, विज्ज सत्तायां। **प्रातिपदिक**—अर्हदादि भक्ति वत्सलता प्रवचनाभियुक्त यदि श्रामण्य तत्

धर्मपरिणत आत्मा शुभोपयोगसे युक्त रहता है तो वह मरण कर स्वर्गादि सुखको प्राप्त होता है, इससे सिद्ध है कि शुभोपयोगी श्रमण भी धर्ममार्गमे है। (६) शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय है, इस कारण शुभोपयोगी भी श्रमण है। (७) शुभोपयोगी श्रमण शुद्धोपयोगी श्रमणसे नीचे है, क्योकि शुद्धोपयोगी श्रमण कषाय दूर कर देनेसे निरास्रव हैं, शुभोपयोगी श्रमण कषायकणसद्भावके कारण सास्रव है। (८) शुभोपयोगी श्रमण भी साधनामे है, अतः वह भी श्रमण ही है।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोगमे सहज शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति युक्त श्रमण अन्तः आत्मतत्त्वकी साधना कर रहा है।

दृष्टि—१- क्रियानय (१६३)।

प्रयोग—शुद्धोपयोगी होनेके प्रधान पौरुषकी विधेयता समझते हुए कषायकणप्रेरणा की स्थितिमे शुभोपयोगी होना ॥२४५॥

अब शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण आसूचित करते है—**[श्रामण्ये]** मुनि अवस्थामे **[यदि]** यदि **[अर्हदादिषु भक्तिः]** अर्हन्तादिके प्रति भक्ति तथा **[प्रवचनाभियुक्तेषु वत्सलता]** प्रवचनरत जीवोंके प्रति वात्सल्य **[विद्यते]** पाया जाता है तो **[सा]** वह **[शुभयुक्ता चर्या]** शुभयुक्त चर्या अर्थात् शुभोपयोगी चारित्र **[भवेत्]** है।

तात्पर्य—अर्हन्तादिमे भक्ति व सहधर्मियोंमे वात्सल्य करने वाला मुनि शुभोपयोगी है।

टीकार्थ—सकल संगके सन्यासस्वरूप श्रामण्यके होनेपर भी कषायांशके आवेशके

पादकेषु प्रवचनाभियुक्तेषु च भक्त्या वत्सलतया च प्रचलितस्य तावन्मात्ररागप्रवर्तितपरद्रव्यप्रवृत्तिसंवलितशुद्धात्मवृत्तेः शुभोपयोगि चारित्रं स्यात् । अतः शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगि चारित्रत्वलक्षणम् ॥२४६॥

शुभयुक्ता चर्या । मूलधातु—विद सत्तायां, भू सत्तायां । उभयपदविवरण—अरहंतादिसु अर्हदादिषु पवयणाभिजुत्तेसु प्रवचनाभियुक्तेषु–सप्तमी बहुवचन । भत्ती भक्तिः वच्छलदा वत्सलता सुहजुत्ता शुभयुक्ता चरिया चर्या सा–प्रथमा एकवचन । विज्जदि विद्यते–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । जदि यदि–अव्यय । सामण्णे श्रामण्ये–सप्तमी एकवचन । भवे भवेत्–विधौ अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति—वद व्यक्तायां वाचि रम्य वदति इति वत्सः (वद+स वत्से स्नेहालु इति वत्सलः तस्य भाव वत्सलता । समास– प्रवचने अभियुक्ता. प्रवचनाभियुक्ताः तेषु प्र०, शुभेन युक्ता शुभयुक्ता ॥२४६॥

वश केवल शुद्धात्मपरिणतिरूपसे रहनेमे स्वय अशक्त पररूप केवल शुद्धात्मपरिणतरूपसे रहने वाले अर्हन्तादिक तथा केवल शुद्धात्मपरिणतरूपसे रहनेका प्रतिपादन करने वाले प्रवचनरत जीवोंके प्रति भक्ति तथा वात्सल्यके द्वारा प्रचलित श्रमणके मात्र उतने रागसे प्रवर्तमान परद्रव्यप्रवृत्तिके साथ शुद्धात्मपरिणति मिलित होनेसे, शुभोपयोगी चारित्र है । इस कारण शुद्धात्माका अनुरागयुक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणोका लक्षण है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुद्धोपयोगी व शुभोपयोगी दो प्रकारके श्रमण कहे गये हैं । अब इस गाथामें शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण सूचित किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शुद्धात्मपरिणति परद्रव्यप्रवृत्तिके साथ मिलित हो तो वह शुभोपयोगी चारित्र कहलाता है । (२) श्रमणके समस्त परिग्रहके त्यागरूप श्रामण्य है तथापि कषायकणके आवेशवश शुद्धात्मवृत्तिमात्रसे नही रह पाता है । (३) जब श्रमण शुद्धात्मवृत्ति मात्र (मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेरूप) नही रह पाता तो वह शुद्धात्मवृत्तिमात्रसे रहने वाले अरहन्त आदिकोकी भक्तिरूप उपयोग करता है । (४) शुद्धात्मवृत्तिमात्रसे न रह पानेपर श्रमण शुद्धात्मवृत्तिमात्र अवस्थितिके प्रतिपादक प्रवचनरत गुरुवोकी भक्ति व वात्सल्य व सेवा भी करता है । (५) शुभोपयोगी श्रमणोका शुद्धात्मानुरागयोगि चारित्र होता है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धात्मपरिणतिमिलित परद्रव्यप्रवृत्त उपयोग शुभोपयोगी चारित्र कहलाता है ।

दृष्टि—१- क्रियानय (१९३) ।

प्रयोग—शुद्धोपयोगवृत्ति न रह पानेपर शुद्धात्मावोंके व शुद्धात्मत्वसाधकोंके प्रति अनुराग भक्ति वत्सलतारूप शुभोपयोग करना ॥२४६॥

अब शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्ति दिखलाते है—[श्रमणेषु] श्रमणोंके प्रति [वन्द-

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां प्रवृत्तिमुपदर्शयति—

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥२४७॥

श्रमणोंके प्रति सविनय, वंदन उत्थान अनुगमन प्रणयन।
प्रतिपत्ति श्रमापनयन, निन्दित नहिं रागचर्यामें ॥२४७॥

वन्दननमस्करणाभ्यामभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः। श्रमणेषु श्रमापनयो न निन्दिता रागचर्यायाम् ॥२४७॥

शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्येत् ॥२४७॥

नामसंज्ञ—वंदणणमसण अब्भुट्ठाणाणुगमणपडि वत्ति समण समावण्णअ ण णिंदिदो रायचरिय। **धातुसंज्ञ**—पडि पद गतौ। **प्रातिपदिक**—वन्दननमस्करण अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्ति श्रमण श्रमापनय न निन्दिता रागचर्या। **मूलधातु**—प्रति पद गतौ। **उभयपदविवरण**— वदणणमंसणेहिं—तृतीया बहु०। वन्नदमस्करणाभ्या—तृतीया द्वि०। अब्भुट्ठाणापुगमणपडिवत्ती अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः—प्रथमा एक०। समणेसु श्रमणेषु—स० बहु०। समावणओ श्रमापनयः—प्रथमा एक०। ण न—अव्यय। णिंदिदा—प्रथमा एक०। रायचरियम्हि रागचर्यायां—सप्तमी एकवचन। **निरुक्ति**—प्रतिपादन प्रतिपत्तिः (प्रति पद + क्तिन्)। **समास**—वदन च नमस्करण वदननमस्करणे ताभ्यां द्व० ॥२४७॥

ननमस्करणाभ्यां] वन्दन-नमस्कारके साथ [अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः] अभ्युत्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति करना तथा [श्रमापनयः] उनका श्र., दूर करना [रागचर्यायाम्] रागचर्यामें [न निन्दिता] निन्दित नही है।

तात्पर्य—शुभोपयोगचारित्रमे श्रमणोका वन्दन विनय आदि करना निन्दित नही।

टीकार्थ—शुभोपयोगियोंके शुद्धात्माके अनुरागयुक्त चारित्र होनेसे शुद्धात्मपरिणति प्राप्त की है जिनमे ऐसे श्रमणोंके प्रति वन्दन-नमस्कार-अभ्युत्थान-अनुगमनरूप विनीत वर्तन की प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षाकी निमित्तभूत जो श्रम दूर करनेकी वैयावृत्यरूप प्रवृत्ति है, वह शुभोपयोगियोंके लिये दूषित नहीं है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण कहा गया था। अब इस गाथामे शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्ति बताई गई है।

तथ्यप्रकाश—(१) शुभोपयोगी श्रमणोंका शुद्धात्मानुरागयोगी चारित्र होना है, इस कारण उनके रागचर्या होती है जो कि इस भूमिकामें निन्दित नही है। (२) शुभोपयोगी श्रमण रागचर्यामें अन्य श्रमणोंके प्रति वन्दना, नमस्कार, अभ्युत्थान, अनुगमनकी प्रतिपत्ति

अथ शुभोपयोगिनामेवैवंविधाः प्रवृत्तयो भवन्तीति प्रतिपादयति—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४८॥

दर्शनज्ञानसुदेशन, शिष्य ग्रहण शिष्य आत्मपोषण भी।
जिनपूजोपदेश सब, चर्या हि सराग श्रमणोंकी ॥२४८॥

दर्शनज्ञानोपदेशः शिष्यग्रहणं च पोषणं तेषाम्। चर्या हि सरागाणां जिनेन्द्रपूजोपदेशश्च ॥ २४८ ॥

अनुजिघृक्षापूर्वकदर्शनज्ञानोपदेशप्रवृत्तिः शिष्यसंग्रहणप्रवृत्तिस्तत्पोषणप्रवृत्तिर्जिनेन्द्रपूजो-

---

नामसंज्ञ—दसणणाणुवदेस सिस्सग्गहण च पोसण त चरिया हि सरागजिणिदपूजोवदेस य। **धातुसंज्ञ**—ग्गह ग्रहणे। **प्रातिपदिक**—दर्शनज्ञानोपदेश शिष्यग्रहण च पोषण तत् चर्या हि सराग जिनेन्द्रपूजोपदेश च। **मूलधातु**—ग्रह उपादाने। **उभयपदविवरण**—दसणणाणुवदेसो दर्शनज्ञानोपदेश सिस्सग्गहण शिष्यग्रहण पोसण पोषण चरिया चर्या जिणिदपूजोवदेसो जिनेन्द्रपूजोपदेश —प्रथमा एकवचन। तेसिं तेषां

व श्रमापनयनकी प्रवृत्ति करते है। (३) आचार्यादि कोई श्रमण आवे तो उनके सम्मानमे उठकर खडा होना अभ्युत्थान कहलाता है। (४) जब आचार्यादि श्रमण चलें तो उनके पीछे चलना अनुगमन कहलाता है। (५) विनयभावसहित सम्मानचेष्टावोको प्रतिपत्ति कहते है। (६) आचार्यादि श्रमण जब विहार, रोग आदिके कारण थक गये हो तो उनके शरीरको दाबना, सेवा करना श्रमापनयन है। (७) शुभोपयोगी श्रमणोकी ये सब सेवायें दूषक नही है।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोगी श्रमणोंके शुभ क्रियायें होती है।

दृष्टि—१- क्रियानय (१६३)।

प्रयोग—शुद्धात्मतत्वकी रुचिपूर्वक शुद्धात्मवृत्ति वाले श्रमणोकी वैयावृत्त्य कर शुभोपयोगमे शुद्धात्मतत्वकी झलक लेते रहना ॥२४७॥

अब शुभोपयोगियोके ही ऐसी प्रवृत्तियां होती हैं, यह प्रतिपादन करते है—[**दर्शनज्ञानोपदेशः**] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका उपदेश, [**शिष्यग्रहणं**] शिष्योंका ग्रहण, [**च**] तथा [**तेषाम् पोषणं**] उनका पोषण [**च**] और [**जिनेन्द्रपूजोपदेशः**] जिनेन्द्रको पूजाका उपदेश [**हि**] वास्तवमे [**सरागाणांचर्या**] सरागियोकी चर्या है।

तात्पर्य—तत्त्वउपदेश करना, दीक्षा देना, पूजोपदेश करना सराग मुनियोको शुभोपयोगरूप चर्या है।

टीकार्थ—अनुग्रह करनेको इच्छापूर्वक दर्शनज्ञानके उपदेशकी प्रवृत्ति, शिष्यग्रहणकी

पदेशप्रवृत्तिश्च शुभोपयोगिनामेव भवन्ति न शुद्धोपयोगिनाम् ॥२४८॥

सरागाण सरागाणां-षष्ठी बहुवचन । निरुक्ति--शिष्यते असौ शिष्य (शिस् + क्यप्) शासु अनुशिष्टौ अदादि । समास-दर्शन च ज्ञान च दर्शनज्ञाने तयोः उपदेशः दर्शनज्ञानोपदेशः शिष्यस्य ग्रहण शिष्यग्रहण, जिनेन्द्रस्य पूजा जिनेन्द्रपूजा तस्याः उपदेश. जिनेन्द्रपूजोपदेशः ॥ २४८ ॥

प्रवृत्ति, उनके पोषणकी प्रवृत्ति और जिनेन्द्रपूजाके उपदेशकी प्रवृत्ति ये सब शुभोपयोगियोंके ही होती है, शुद्धोपयोगियोके नहीं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे शुभोपयोगी श्रमणोको प्रवृत्ति दिखाई गई थी। अब इस गाथामे बताया गया है कि उक्त प्रवृत्तियां शुभोपयोगियोके ही होती हैं।

तथ्यप्रकाश—(१) अनुग्रहपूर्वक दर्शन ज्ञानके उपदेशकी प्रवृत्ति करना शुभोपयोगियों के ही होती है शुद्धोपयोगियोके नहीं, क्योकि उपदेशप्रवृत्ति सरागचर्या है। (२) शिष्योंके संग्रहणकी प्रवृत्ति व शिष्योका अन्तर्बाह्यपोषणप्रवृत्ति शुभोपयोगियोके ही होती है, शुद्धोपयोगियोंके नही, क्योकि ऐसी प्रवृत्ति शुभरागपूर्वक ही होती है। (३) जिनेन्द्रपूजनके उपदेशकी प्रवृत्ति भी शुभोपयोगियोकी होती है, शुद्धोपयोगियोके नही, क्योंकि शुभप्रवृत्तिका उपदेश भी सरागचर्या है। (४) ऐसी शुभ प्रवृत्तियां निन्दित नही है, क्योकि शुभोपयोगमे इन प्रवृत्तियो का आगममे वर्णन है।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोगियोके शुभ क्रियायें शुद्धात्मानुरागसे होती है।

दृष्टि—१- क्रियानय (१६३)।

प्रयोग--शुद्धोपयोग न आनेकी स्थितिमे शुद्धोपयोगका लक्ष्य न छोडकर शुभोपयोग की उक्त क्रियाये करना ॥२४८॥

अब सभी प्रवृत्तियां शुभोपयोगियोंके ही होती हैं यह अवधारित करते है—[यः अपि] जो कोई भी श्रमण [नित्यं] सदा [चातुर्वर्णस्य] चार प्रकारके [श्रमणसंघस्य] श्रमण सघ का [नित्यं] सदा [कायविराधनरहितं] छह कायकी विराधनासे रहित [उपकरोति] उपकार करता है, [सः अपि] वह भी [सरागप्रधानः स्यात्] सरागधर्म है प्रधान जिसके ऐसा शुभोपयोगी है।

तात्पर्य--श्रमणोका उपकार करने वाले श्रमण भी शुभोपयोगी हैं।

टीकार्थ—संयमकी प्रतिज्ञा की हुई होनेसे षट्कायके विराधनसे रहित जो कुछ भी, शुद्धात्मपरिणतिके रक्षणमें निमित्तभूत, चार प्रकारके श्रमणसंघका उपकार करनेकी प्रवृत्ति है वह सभी रागप्रधानताके कारण शुभोपयोगियोंके ही होती है, शुद्धोपयोगियोंके कदाचित् भी नहीं।

अथ सर्वा एव प्रवृत्तयः शुभोपयोगिनामेव भवन्तीत्यवधारयति—

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ २४६ ॥

चतुर्विध श्रमणसंघों का जो उपकार नित्य करता है ।
कायविराधनविरहित, वह साधु शुभोपयोगी है ॥२४६॥

उपकरोति योऽपि नित्य चातुर्वर्णस्य श्रमणसघस्य । कायविराधनरहित सोऽपि सरागप्रधानः स्यात् ।२४६।

प्रतिज्ञातसयमत्वात्षट्कायविराधनरहिता या काचनापि शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्योपकारकरणप्रवृत्तिः सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभोपयोगिनामेव भवति न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम् ॥२४६॥

नामसंज्ञ—ज वि णिच्च चादुव्वण्ण समणसघ कायविराधणरहिद त वि सरागप्पधाण । **धातुसंज्ञ**—उव कुण करणे, अस सत्तायां । **प्रातिपदिक**—यत् अपि नित्य चातुर्वर्ण श्रमणसघ कायविराधणरहित तत् अपि सरागप्रधान । **मूलधातु**—उप डुकृञ् करणे, अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—उवकुर्णादि उपकरोति—वर्तमान अन्य एक० क्रिया । जो यः सो स सरागप्पधाणो सरागप्रधान—प्रथमा एकवचन । वि अपि णिच्च नित्य—अव्यय । चादुव्वण्णस्य चातुर्वर्णस्य समणसघस्स श्रमणसघस्य—षष्ठी एकवचन । कायविराधणरहिद कायविराधनरहित—क्रियाविशेषण । से स्यात्—विधौ अन्य पुरुष एकवचन क्रिया **निरुक्ति**— सं हनन सघः (स हन् + अच्) उपसर्गादर्थपरिवर्तनम् । **समास**—श्रमणाना सघ. श्रमणसघः तस्य श्र०, कायस्य विराधन कायविराधनं तेन रहित का० ॥२४६॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे कहा गया था कि ऐसी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियो के ही होती है । अब इस गाथामें सारी ही ये प्रवृत्तियां शुभोपयोगियोके ही होती है ऐसा सुनिश्चित किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शुभोपयोगी श्रमणने सयमकी प्रतिज्ञा की थी सो उसकी जितनी प्रवृत्तियां होती है वे सब षट्कायके जीवोकी विराधनासे रहित होती है । (२) शुभोपयोगी श्रमणकी जो श्रमणसंघके उपकार वैयावृत्य करनेकी प्रवृत्ति है सो शुद्धात्मवृत्तिके रक्षाके निमित्त होती है । (३) श्रमणसंघका उपकार करने वाली सारी प्रवृत्ति शुभोपयोगियोंके ही होती है, क्योकि वे शुभरागप्रधान है । (४) ऋषि यति मुनि व अनगार इन श्रमणोके समूह को श्रमणसंघ कहते हैं । (५) किसी भी प्रकारकी ऋद्धिको प्राप्त श्रमण ऋषि कहलाते हैं । (६) विशेष ज्ञानी श्रमण मुनि कहलाते है । (७) शुद्धोपयोगकी विशेषताको प्राप्त अथवा उपशमक क्षपक श्रेणिमे आरूढ़ श्रमणको मुनि कहते है । (८) सामान्य साधु अनगार कहलाते है । (९) सरागचर्या शुद्धोपयोगियोंके कभी भी नही हो सकती, क्योंकि शुद्धोपयोगी श्रमण

अथ प्रवृत्तेः संयमविरोधित्वं प्रतिषेधयति—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥२५०॥

जो संयम नहिं रखता, वैयावृत्यार्थ उद्यमी साधू ।
वह न श्रमण किन्तु गृही, यह तो है धर्म श्रावकका ॥२५०॥

यदि करोति कायखेदं वैयावृत्त्यर्थमुद्यतः श्रमणः । न भवति भवत्यगारी धर्मः स श्रावकाणां स्यात् ॥२५०॥

यो हि परेषां शुद्धात्मवृत्तित्राणाभिप्रायेण वैयावृत्त्यप्रवृत्त्या स्वस्य संयमं विराधयति स

नामसंज्ञ—जदि कायखेद वेज्जावच्चत्थं उज्जद समण ण अणारि धम्म त सावय । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां, अस सत्तायां । **प्रातिपदिक**–यदि कायखेद वैयावृत्यार्थ उद्यत श्रमण न अगारिन् धर्म तत् श्रावक । **मूलधातु**–भू सत्तायां, अस सत्तायां । **उभयपदविवरण**–जदि यदि वेज्जावच्चत्थं वैयावृत्यार्थ ण न–अव्यय । कायखेद–द्वितीया एक० । उज्जदो उद्यतः समणो श्रमणः अगारी धम्मो धर्मः सो सः–प्रथमा एक० । हवदि

रागरहित है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धोपयोगी सहजशुद्ध अन्तस्तत्त्वमे उपयुक्त होनेसे सर्वप्रवृत्तियोंसे निवृत्त है ।

दृष्टि—१– ज्ञाननय (१९४) ।

प्रयोग—शुद्धात्मत्वकी रुचिपूर्वक शुद्धात्मत्वके साधक गुरु जनोंकी सेवा अहिंसापद्धतिसे करना ॥२४९॥

अब प्रवृत्तिके संयमविरोधित्वका निषेध करते है—[**वैयावृत्त्यर्थम् उद्यतः**] वैयावृत्तिके लिये उद्यमी श्रमण [**यदि**] यदि [**कायखेदं**] छह कायके खेदको, घातको [**करोति**] करता है तो वह [**श्रमणः न भवति**] श्रमण नही है, [**अगारी भवति**] गृहस्थ है; (क्योंकि) [**सः**] छहकायकी विराधना सहित वैयावृत्ति [**श्रावकाणां धर्मः स्यात्**] श्रावकोंका धर्म है ।

तात्पर्य—यदि कोई श्रमण छहकायकी विराधना न टालकर वैयावृत्य करता है तो वह श्रमण नही रहता ।

टीकार्थ—जो (श्रमण) दूसरेके शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षा हो, इस अभिप्रायसे वैयावृत्यकी प्रवृत्ति द्वारा अपने संयमकी विराधना करता है, वह गृहस्थधर्ममें प्रवेश कर रहा होनेसे श्रामण्यसे च्युत होता है । अतः जो भी प्रवृत्ति हो वह सर्वथा संयमके साथ विरोध न आये इस प्रकार ही करनी चाहिये, क्योंकि प्रवृत्तिमें भी संयम ही साध्य है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सारी ही ये प्रवृत्तियां शुभोपयोगियोंके ही

गृहस्थधर्मानुप्रवेशात् श्रामण्यात् प्रच्यवते । अतो या काचन प्रवृत्तिः सा सर्वथा संयमाविरोधेनैव विधातव्या । प्रवृत्तावपि संयमस्यैव साध्यत्वात् ॥२५०॥

भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । सावयाण श्रावकाणा–षष्ठी बहु० । से स्यात्–विधौ अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—धर्मं शृणोति असौ श्रावक. (श्रु + ण्वुन्) । **समास**–कायस्य खेद: कायखेद: तम् कायखेदम् ॥२५०॥

होती है" यह अवधारित किया गया था । अब इस गाथामे प्रवृत्तिके सयमविरोधित्वका निषेध किया गया है अर्थात् श्रमणकी प्रवृत्ति सयमविरोधी नही होना चाहिये यह विदित कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो साधु दूसरे श्रमणोकी शुद्धात्मवृत्तिरक्षाके भावसे वैयावृत्य करे, किन्तु उसमे अपने सयमकी विराधना कर डाले तो वह श्रामण्यसे च्युत हो जाता है, क्योकि उसका गृहस्थधर्ममे प्रवेश हो गया । (२) षट् कायके जीवको जिसमे खेद पहुचे वह प्रवृत्ति संयमविरोधी कहलाती है । (३) श्रमणको वैयावृत्यादि कार्यमे भी संयमकी रंच भी विराधना न करनी चाहिये । (४) वैयावृत्यादि प्रवृत्तिमे भी श्रमणोको सयम ही साध्य है ।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोगी चारित्रमे प्रवृत्ति सयमप्रधान ही होती है ।

दृष्टि—१– क्रियानय (१६३) ।

प्रयोग—वैयावृत्यादि कार्यमे भी प्रवृत्ति इस विधिसे करना जिसमे किसी जीवकी हिसा न हो ॥२५०॥

अब प्रवृत्तिके दो विषयविभाग दिखलाते है—[**यद्यपि अल्पः लेपः**] यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि [**साकारानाकारचर्यायुक्तानाम्**] साकार-अनाकार चर्यायुक्त [**जैनानां**] जिनमार्गानुसारी श्रावक व [**अनुकम्पया**] मुनियोका अनुकम्पासे [**निरपेक्षं**] निरपेक्ष [**उपकारं करोतु**] उपकार करे ।

तात्पर्य—भूमिकानुसार जिनमार्गानुसारियोका उपकार करना शुभोपयोग है ।

टीकार्थ—जो अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति है, वह अनेकान्तके साथ मैत्रीसे जिनका चित्त पवित्र हुआ है व शुद्धात्माके ज्ञान-दर्शनमे प्रवर्तमान वृत्तिके कारण साकार-अनाकार चर्यावाले है ऐसे शुद्ध जैनोके प्रति शुद्धात्माकी उपलब्धिके अतिरिक्त अन्य सबकी अपेक्षा किये बिना ही अल्प लेपवाली होनेपर भी उस प्रवृत्तिके करनेका निषेध नही है; किन्तु अल्पलेपवाली होनेसे सबके प्रति सभी प्रकारसे वह प्रवृत्ति अनिषिद्ध हो ऐसा नही है, क्योंकि वहां उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे परके और निजके शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षा नहीं हो सकती ।

अथ प्रवृत्तेर्विषयविभागं दर्शयति—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥२५१॥

अल्प लेप होते भी, श्रावक मुनिपद चरित्रयुक्तोंका ।
शुद्ध लक्ष्य नहिं तजकर, हो निरपेक्ष उपकार करो ॥२५१॥

जैनाना निरपेक्ष साकारानाकारचर्यायुक्तानाम् । अनुकम्पयोपकार करोतु लेपो यद्यप्यल्पः ॥ २५१ ॥

या किलानुकम्पापूर्विका परोपकारलक्षणा प्रवृत्तिः सा खल्वनेकान्तमैत्रीपवित्रितचित्तेषु शुद्धेषु जैनेषु शुद्धात्मज्ञानदर्शनप्रवृत्तवृत्तितया साकारानाकारचर्यायुक्तेषु शुद्धात्मोपलम्भेतरसकलनिरपेक्षतयैवाल्पलेपाप्यप्रतिषिद्धा न पुनरल्पलेपेति सर्वत्र सर्वथैवाप्रतिषिद्धा, तत्र तथाप्रवृत्त्या शुद्धात्मवृत्तित्राणस्य परात्मनोरनुपपत्तेरिति ॥२५१॥

नामसंज्ञ—जोण्ह णिरवेक्ख सागारणगारचरियजुत्त अणुकंपा उवयार लेव जदि वि अप्प । **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे । **प्रातिपदिक**—जैन निरपेक्ष साकारानाकारचर्यायुक्त अनुकम्पा उपकार लेप यदि अपि अल्प । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे । **उभयपदविवरण**—जोण्हाण जैनाना सागारणगारचरियजुत्ताण साकारानाकारचर्यायुक्ताना-षष्ठी बहु० । णिरवेक्ख निरपेक्ष उवगार उपकार-द्वितीया एक० । अणुकपया अनुकम्पया-तृतीया एक० । कुव्वदु करोतु-आज्ञार्थे अन्य० एक० क्रिया । लेपो लेव अप्पो अल्प -प्रथमा एक० । जदि यदि वि अपि-अव्यय । **निरुक्ति**—लिप्यते असौ लेप· लेपु गतौ भ्वादि । **समास**—साकारा च अनाकारा चेति साकारानाकारे साकारानाकारे चामी चर्ये इति साकारानाकारचर्ये ताभ्या युक्त· साकारानाकारचर्यायुक्त ॥२५१॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे सयमका घात न करने वाली हो प्रवृत्ति शुभोपयोगियोकी बताई गई थी । अब इस गाथामे प्रवृत्तिका विषय दिखाया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१— यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकाररूप प्रवृत्तिसे अल्प लेप होता है तथापि शुद्ध जिनमार्गानुयायियोके प्रति शुद्धात्मोपलब्धिकी अपेक्षासे की जाती है तो वह प्रवृत्ति निषिद्ध नही है । २— जिनका चित्त अनेकान्तके साथ मैत्री द्वारा पवित्र हुआ है व शुद्धात्माकी ज्ञानदर्शनरूप चर्या वाले हैं वे शुद्ध जिनमार्गानुयायी हैं । ३— "अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्तिमे अल्प ही तो लेप होता है" ऐसा सोचकर कोई सबके प्रति सब प्रकार ही प्रवृत्ति अप्रतिषिद्ध समझे सो ठीक नही है । ४— शुद्ध जिन विनिर्दिष्ट मार्गानुयायियोंके अतिरिक्त अन्यके प्रति· व शुद्धात्मोपलब्धिके अतिरिक्त अन्य अपेक्षासे प्रवृत्ति करना शुभोपयोगी श्रमणोंके लिये निषिद्ध है, क्योकि इस तरहकी प्रवृत्ति परको या निजको शुद्धात्मवृत्तिकी रक्षा नहीं बनती ।

अथ प्रवृत्तेः कालविभागं दर्शयति—

रोगेण वा क्षुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥२५२॥

रोग क्षुधा तृष्णासे, श्रमसे आक्रान्त श्रमणको लखकर ।
आत्मशक्ति अनुसार हि, मुनि उसका प्रतीकार करे ॥२५२॥

रोगेण वा क्षुधया तृष्णया वा रूढम् । दृष्ट्वा श्रमण साधु प्रतिपद्यतामात्मशक्त्या ॥ २५२ ॥

यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योपनिपातः

नामसंज्ञ—रोग वा छुधा तण्हा वा सम वा रूढ समण साहु आदसत्ति । **धातुसंज्ञ**—दिस प्रेक्षणे दाने च, पडि पज्ज गतौ । **प्रातिपदिक**—रोग वा क्षुधा तृष्णा वा सम वा रूढ श्रमण साधु आत्मशक्ति । **मूलधातु**—दृशि प्रेक्षणे, प्रति पद गतौ । **उभयपदविवरण**—रोगेण क्षुधाए क्षुधया तण्हाए तृष्णया समेण श्रमेण—तृतीया एक० । वा—अव्यय । रूढ समण श्रमण—द्वितीया एक० । दिट्ठा दृष्ट्वा—सम्बन्धार्थप्रक्रिया । साहू

सिद्धान्त—१— शुभोपयोगी श्रमण शुद्धात्मचर्यायुक्त अन्य श्रमणोंका उपकार वैयावृत्य करते हैं ।

दृष्टि—१— क्रियानय (१६३) ।

प्रयोग—शुद्धात्मोपलब्धिके निमित्त शुद्धात्मज्ञानदर्शनचर्यायुक्त शुद्ध जिनमार्गानुयायियोंका वैयावृत्य करना ॥२५१॥

अब प्रवृत्तिका कालविभाग बतलाते हैं—**[रोगेण]** रोगसे, **[वा क्षुधया]** अथवा क्षुधासे, **[वा तृष्णया]** अथवा तृषासे **[वा श्रमेण]** अथवा श्रमसे **[रूढम्]** आक्रांत **[श्रमणं]** श्रमणको **[दृष्ट्वा]** देखकर **[साधुः]** साधु **[आत्मशक्त्या]** अपनी शक्तिके अनुसार **[प्रतिपद्यताम्]** वैयावृत्यादि करे ।

तात्पर्य—पीडासे आक्रान्त श्रमणको देखकर साधु यथाशक्ति उसकी सेवा करे ।

टीकार्थ—जब शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त श्रमणको, शुद्धवृत्तिसे च्युत करे ऐसा कारणभूत कोई भी उपसर्ग आ जाय, तब वह काल, शुभोपयोगीको अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिकार करनेकी इच्छारूप प्रवृत्तिकाल है; और उसके अतिरिक्तका काल अपनी शुद्धात्मपरिणतिकी प्राप्तिके लिये केवल निवृत्तिका काल है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुभोपयोगियोंकी प्रवृत्तिका विषय दिखाया गया था । अब इस गाथामें प्रवृत्तिका कालविभाग बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जब शुद्धात्मवृत्तिको प्राप्त श्रमणके शुद्धात्मवृत्तिसे डिगाने वाले

स्यात् स शुभोपयोगिनः स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः । इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव ।।२५२।।

साधु:-प्रथमा एक० । पडिवज्जदु प्रतिपद्यताम्-आज्ञार्थे अन्य० एक० क्रिया । आदसत्तीए आत्मशक्त्या-तृतीया एकवचन । निरुक्ति-क्षुधनं क्षुधा (क्षुध् + क्विप् + टाप्), तर्षणं तृषा (तृष् + न + टाप्) जि-तृषा पिपासाया । आत्मन: आत्मशक्ति. तथा आत्मशक्त्या ।।२५२।।

रोगादिक कोई उपसर्ग आ पड़े तो वह काल शुभोपयोगीका स्वशक्त्यनुसार प्रतीकार करनेकी इच्छारूप प्रवृत्तिका काल है । (२) उस प्रवृत्ति कालमे निश्चयत: प्रतीकार करनेकी इच्छा व योग चल रहा है, व्यवहारत: रोगादिक उपसर्गको दूर करनेका प्रयत्न चल रहा है । (३) जब श्रमणपर कोई रोगादिक उपसर्ग नही है तो वह स्वयंकी शुद्धात्मवृत्ति पानेके लिये केवल निवृत्तिकाल है ही । (४) साधु जब श्रमणको रोग क्षुधा तृषा व श्रमसे आक्रान्त देखे तब वह आत्मशक्त्यनुसार विधिसहित मनसे वाचनिक व कायिक वैयावृत्य करे, इस परिस्थितिके अतिरिक्त अन्य काल निवृत्तिका है सो आत्मध्यानमें परमात्मध्यानमें रहे ।

सिद्धान्त — १– शुभोपयोगी श्रमण अनुकम्पापूर्वक परोपकाररूप प्रवृत्तिका भाव होने से वैयावृत्यादि कार्य करता ही है ।

दृष्टि— १– क्रियानय (१९३) ।

प्रयोग—शुद्धात्मवृत्तिकी ओर अभिमुख रहने वाले साधकोंपर रोगादिक आये तो शुद्धात्मवृत्तिकी रक्षाके लिये उनकी आत्मशक्त्यनुसार सेवा करना ।।२५२।।

अब लोगोके साथ बातचीत करनेकी प्रवृत्तिको उसके निमित्तके विभाग सहित बतलाते है—[वा] और [ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्] रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणोंकी [वैयावृत्यनिमित्तं] सेवाके निमित्त [शुभोपयुता] शुभोपयोगयुक्त [लौकिकजनसंभाषा] लौकिक जनोंके साथकी बातचीत [न निन्दिता] निन्दित नही है ।

तात्पर्य—रोगी आदि सेव्य श्रमणोंकी सेवाके निमित्त लौकिक जनोके साथ शुभोपयुक्त संभाषण निषिद्ध नही है ।

टीकार्थ—शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध श्रमणोंकी सेवाके निमित्त ही शुद्धात्मपरिणतिशून्य लोगोंके साथ बातचीत प्रसिद्ध है, किन्तु अन्य निमित्तसे भी प्रसिद्ध हो ऐसा नही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्तिका काल बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि शुभोपयोगी श्रमणकी लोगोसे संभाषण करने

अथ लोकसंभाषणप्रवृत्तिं सनिमित्तविभागं दर्शयति—

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥२५३॥

बाल वृद्ध गुरु रोगी, श्रमणोंकी खेदहरणसेवामें ।
लौकिकजनसंभाषण, निन्दित न शुभोपयोगीके ॥२५३॥

वैयावृत्यनिमित्तं ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् । लौकिकजनसभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता ॥२५३॥

समधिगतशुद्धात्मवृत्तीनां ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां वैयावृत्यनिमित्तमेव शुद्धात्मवृत्ति-शून्यजनसभाषणं प्रसिद्धं न पुनरन्यनिमित्तमपि ॥२५३॥

नामसंज्ञ—वेज्जावच्चणिमित्त गिलानगुरुवालवुड्ढसमण लोगिगजणसभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा । **धातुसंज्ञ**— निद निन्दायां । **प्रातिपदिक**— वैयावृत्यनिमित्त ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमण लौकिकजनसंभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता । **मूलधातु**— निन्द निन्दायां । **उभयपदविवरण** -वेज्जावच्चणिमित्त वैयावृत्यनिमित्त-अव्यय क्रियाविशेषणरूपे । गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाण ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां-षष्ठी बहुवचन । लोगिगजणसभासा लौकिकजनसंभाषा सुहोवजुदा शुभोपयुता-प्रथमा एक० । ण न-अव्यय । णिंदिदा निन्दिता-प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रियारूपा । **निरुक्ति**- गृणाति उपदि शति धर्मं इति गुरुः (गृ + कु) । **समास**- ग्लानश्च गुरुश्च बालश्च वृद्धश्चेति ग्लानगुरुबालवृद्ध ग्लानगु०बालवृद्धाश्च ते श्रमणाश्चेति ग्लान०, लौकिकजनै सहसभाषा इति लौकिकजनसभाषा ॥२५३॥

की प्रवृत्ति किस निमित्तसे होती है ।

तथ्यप्रकाश—१- रोगी गुरु बाल वृद्ध श्रमणोकी वैयावृत्तिके निमित्त शुभोपयोगी श्रमणका लौकिक जनोंसे संभाषण करना निन्दित नही है । २- शुद्धात्मवृत्तिसे शून्य जन लौकिक जन कहलाते, उनसे संभाषण करना अनावश्यक है, किन्तु शुद्धात्मवृत्तिमे लगे हुए श्रमणोकी सेवाके लिये आवश्यक होनेपर लौकिक जनोसे शुभोपयोगयुक्त सभाषण करना शास्त्रोंमे निषिद्ध नही । ३- उक्त प्रयोजनके अतिरिक्त अन्य कारणोमे लौकिकजनसंभाषण प्रसिद्ध हो ऐसा नहीं है, अर्थात् अन्य समय व अन्य प्रयोजनसे लौकिकजनसभाषण निषिद्ध है ।

सिद्धान्त—१- वास्तवमे रोग आदिसे आक्रान्त श्रमणको देखकर शुभोपयोगी श्रमण उनके प्रति प्रतीकार करनेकी इच्छारूप व योगरूप प्रवर्तते हैं । २-श्रमणोकी आवश्यक वैयावृत्तिके निमित्त शुभोपयोगी श्रमण लौकिकजनोंसे संभाषण करते है ।

दृष्टि—१- अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २- परसंप्रदानत्व असद्भूत व्यवहार, परकर्मत्व असद्भूत व्यवहार (१३२, १३०) ।

अथैवमुक्तस्य शुभोपयोगस्य गौणमुख्यविभागं दर्शयति--

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥२५४॥

यह शुभ चर्या श्रमणों, गृहियोंके गौण मुख्यरूप कही।
उससे हि परम्परया, पुरुष परम सौख्यको पाते ॥२५४॥

एषा प्रशस्तभूता श्रमणानां वा पुनर्गृहस्थानाम्। चर्या परेति भणिता तयैव परं लभते सौख्यम् ॥२५४॥

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्तिविरुद्धरागसंगतत्वाद्गौणः

नामसंज्ञ—एत पसत्थभूद समण वा पुणो घरत्थ चरिया परा त्ति भणिदा त एव पर सोक्ख। धातुसंज्ञ—भण कथने, लभ प्राप्तौ। प्रातिपदिक—एतत् प्रशस्तभूत श्रमण वा पुनर् गृहस्थ चर्या परा इति भणित तत् एव पर सौख्य। मूलधातु—भण शब्दार्थः, डुलभष् प्राप्तौ। उभयपदविवरण—एसा एषा पसत्थभूदा प्रशस्तभूता चरिया चर्या परा-प्रथमा एक०। समणाना श्रमणाना घरत्थाण गृहस्थाना—

प्रयोग—शुद्धात्मवृत्तिको पाने वाले रोगादिसे आक्रान्त श्रमणोंकी वैयावृत्तिके लिये आवश्यक होनेपर लौकिक जनोंसे भी सभाषण करना, किन्तु वह भी शुद्धलक्षी व शुभोपयुक्त होकर ही करना ॥२५३॥

अब इस प्रकारसे कहे गये शुभोपयोगका गौण-मुख्य विभाग दिखलाते हैं—**[एषा]** यह **[प्रशस्तभूता]** प्रशस्तभूत **[चर्या]** चर्या **[श्रमणानां]** श्रमणोंके होती है **[वा गृहस्थानां पुनः]** और गृहस्थोंके तो **[परा]** मुख्य होती है, **[इति भणिता]** ऐसा आगममे कहा है; **[तया एव]** उसीसे **[परं सौख्यं लभते]** साधक परम्परया परमसौख्यको प्राप्त होता है।

तात्पर्य—शुभोपयोगसम्बन्धित चर्यासे परम्परया परमसौख्य प्राप्त होता है।

टीकार्थ—इस प्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्त चर्यारूप यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है सो शुद्धात्माको प्रकाशक सर्वविरतिको प्राप्त श्रमणोके कषायकणके सद्भावके कारण प्रवर्तित होता हुआ यह शुभोपयोग शुद्धात्मपरिणतिसे विरुद्ध रागके साथ संगत होनेसे गौण होता है, किन्तु गृहस्थोके तो, सर्वविरतिके अभावसे शुद्धात्मप्रकाशनका अभाव होनेसे कषायके सद्भावके कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी, ईंधनको स्फटिकके संपर्कसे सूर्यके तेजके अनुभवकी तरह गृहस्थको रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होनेके कारण और क्रमशः परम निर्वाणसौख्यका कारण होनेसे यह शुभोपयोग मुख्य होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि शुभोपयोगी श्रमण शुद्धात्म-

श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ॥२५४॥

षष्ठी बहुवचन । भणिदा भणिता–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । ता तया–तृतीया एक० । पर सोक्ख सौख्यं–द्वितीया एक० । लहदि लभते–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । वा त्ति इति एव–अव्यय ॥२५४॥

वृत्ति वाले रोगादिसे आक्रान्त श्रमणोकी वैयावृत्तिके लिये आवश्यक हो तो लौकिक जनोसे भी संभाषण करते है । अब इस गाथामें उक्त शुभोपयोग गौण मुख्य विभाग बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शुद्धात्मानुरागसे सम्बन्धित प्रशस्त चर्याको शुभोपयोग कहते है । (२) यह शुभोपयोग सकलव्रतीके कषायकणके सद्भावसे हुआ है तो भी श्रमणोके गौणरूपसे होना चाहिये, क्योंकि प्रशस्त राग भी शुद्धात्मवृत्तिके विरुद्ध है । (३) गृहस्थ जनोंके शुभोपयोग मुख्य रूपसे है, क्योंकि गृहस्थके सकलव्रत तो है नही सो शुद्धात्मत्वका प्रकाशन नही पाता, तो भी शुद्धात्मानुरागयोगी प्रशस्त रागके संयोगसे गृहस्थको शुद्धात्माका अनुभव होता व परम्परया परमनिर्वाणके आनन्दका कारण बनता है । (४) सम्यक्त्वकी अपेक्षासे श्रमणको व गृहस्थको शुद्धात्माका ही आश्रय है । (५) चारित्रकी अपेक्षासे श्रमणके शुद्धात्मवृत्ति मुख्य होनेसे शुभोपयोग गौण है । (६) सम्यग्दृष्टि गृहस्थके शुद्धात्मवृत्तिका प्रकाशन न होनेसे अशुभ से हटनेके लिये शुभोपयोग मुख्य है । (७) सम्यग्दृष्टि गृहस्थके अशुभसे छूटनेके लिये जो शुभोपयोगका पौरुष चल रहा है वह भी शुद्धात्मवृत्तिका ही मन्द पुरुषार्थ है । (८) शुद्धात्मद्रव्यके मन्द आलम्बनसे अशुभ परिणति हटकर शुभ परिणति होती है । (९) शुद्धात्मद्रव्यके दृढ आलम्बनसे शुभ परिणति भी हट जाती है और शुद्ध परिणति हो जाती है ।

सिद्धान्त—१– सम्यग्दृष्टि गृहस्थके शुभोपयोग मुख्यतया है । २– श्रमणके शुद्धात्मवृत्ति मुख्य है ।

दृष्टि—१– पुरुषकारनय (१८३) । २– अनीश्वरनय (१८६) ।

प्रयोग—कषायकणसद्भावसे योगप्रवृत्ति आ पडनेपर शुद्धात्मवृत्तिके पौरुषकी विधेयता न भूलकर शुभोपयोगरूप प्रवर्तन करना ॥२५४॥

अब शुभोपयोगका कारणके वैपरीत्यसे फलका वैपरीत्य होता है यह सिद्ध करते हैं—**[इह सस्यकाले नानाभूमिगतानि बीजानि इव]** इस जगतमें धान्यकालमें अनेक प्रकार की भूमियोंमें पड़े हुये बीजकी तरह **[प्रशस्तभूतः रागः]** प्रशस्तभूत राग **[वस्तु विशेषेण]** पात्र भेदसे **[विपरीतं फलति]** विपरीत रूपसे फलता है ।

अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति—

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥२५५॥

शुभ राग पात्रकी कुछ, विरुद्धतासे विरुद्ध फल देता।
बीज कुभूगत फलता, उल्टा फलकालमें जैसे ॥२५५॥

रागः प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीतम्। नानाभूमिगतानीह बीजानिव सस्यकाले ॥ २५५ ॥

यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात् ॥२५५॥

नामसंज्ञ—राग पसत्थभूद वत्थुविसेस विवरीद णाणाभूमिगद इह बीज इव सस्सकाल। **धातुसंज्ञ**—फल फलने। **प्रातिपदिक**—राग प्रशस्तभूत वस्तुविशेष विपरीत नानाभूमिगत बीज सस्यकाल इह इव। **मूलधातु**—फल फलने। **उभयपदविवरण**—रागो रागः पसत्थभूदो प्रशस्तभूत –प्रथमा एक०। वत्थुविसेसेण वस्तुविशेषेण–तृतीया एक०। फलदि फलति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। विवरीदं विपरीतं–क्रियाविशेषण। णाणाभूमिगदाणि नानाभूमिगतानि बीजाणि बीजानि–प्रथमा बहु०। इह इव–अव्यय। सस्यकालम्हि सस्यकाले–सप्तमी एकवचन। **निरुक्ति**– प्र शस्यतेस्म इति प्रशस्तः (प्र शस्+क्त) शस स्तुतौ। **समास**—नानाभूमौ गतानि इति नानाभूमिगतानि, सस्यस्य कालः सस्यकालः तस्मिन् सस्यकाले ॥२५५॥

तात्पर्य—प्रशस्त राग भी कुपात्रगत होनेसे उल्टा फल देने वाला होता है।

टीकार्थ—जैसे एक ही बीजोंका भूमिकी विपरीततासे निष्पत्तिका वैपरीत्य होता है उसी प्रकार एक ही प्रशस्तरागस्वरूप शुभोपयोगका पात्रकी विपरीततासे फलका वैपरीत्य होता है, क्योंकि कारणके भेदसे कार्यका भेद अवश्यम्भावी है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुभोपयोगका गौण मुख्य विभाग दर्शाया गया था। अब इस गाथामे बताया गया है कि शुभोपयोगका आश्रयभूत विपरीत कारण होनेपर उसका विपरीत फल होता है।

तथ्यप्रकाश—(१) कारणके भेदसे कार्यका भेद अवश्यंभावी है। (२) अच्छी भूमिमें डाले गये बीजका अच्छा फल उत्पन्न होता है, किन्तु उसी बीजको रेतेली आदि खराब भूमिमें डाला जाय तो उसका फल खराब होता है या उत्पन्न ही नहीं होता। (३) प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग सर्वज्ञोपदिष्ट सुदेव सद्धर्म व सुगुरुके विषयमें हो तो पुण्यसंचयपूर्वक कुछ काल बाद मोक्षकी प्राप्ति होती है। (४) अज्ञानी जनो द्वारा व्यवस्थापित देव धर्म गुरुके विषयमें प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग हो तो उसका फल विपरीत होगा, मोक्षशून्य पुण्यापदाकी प्राप्ति है जिसे उसे अधिकसे अधिक यही हो सकता कि मरकर अच्छा मनुष्य बन जाय या देव बन जाय।

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये दर्शयति —

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥२५६॥

छद्मस्थविहित पदमें, व्रत नियम पठन ध्यान दानमें रत ।
अपुनर्भव नहिं पाता, सातात्मक भाव कुछ पाता ॥२५६॥

छद्मस्थविहितवस्तुषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः । न लभते अपुनर्भावं भावं सातात्मकं लभते ॥२५६॥

शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किल फलं तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव । तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं

नामसंज्ञ— छदुमत्थविहिवत्थु वदणियमज्झाणदाणरद ण अपुणब्भाव भाव सादप्पग । **धातुसंज्ञ**— लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—छद्मस्थविहितवस्तु व्रतनियमाध्ययनदानरत न अपुनर्भाव भाव सातात्मक ।

सिद्धान्त— (१) अशुद्धभावनाके परिणाममें अशुद्धता ही चलती है ।

दृष्टि— १– अशुद्ध भावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४स) ।

प्रयोग—शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति रखते हुए अतस्तत्त्वमे उपयुक्त न हो रहेकी स्थितिमे सुदेव सुशास्त्र सुगुरुको आश्रयभूत कर शुभोपयोगरूप प्रवर्तना ॥२५५॥

अब कारणकी विपरीतता और फलकी विपरीतता दिखलाते हैं—[**छद्मस्थविहितवस्तुषु**] छद्मस्थ-अज्ञानीके द्वारा कथित देव-गुरु-धर्मादिके विषयमे [**व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः**] व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान दानमे रत जीव [**अपुनर्भावं**] मोक्षको [**न लभते**] प्राप्त नही होता, किन्तु [**सातात्मकं भावं**] सातात्मक भावको [**लभते**] प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—कल्पित देव गुरु धर्मादिकके प्रति किया हुआ शुभ कार्य मोक्षको नही देता, किन्तु सांसारिक सुखको प्राप्त करा सकता है ।

टीकार्थ—सर्वज्ञ द्वारा व्यवस्थापित वस्तुओमे युक्त शुभोपयोगका फल पुण्यसंचयपूर्वक मोक्षका लाभ है । वह फल, कारणकी विपरीतता होनेसे विपरीत ही होता है । वहाँ, छद्मस्थ स्थापित वस्तुयें कारणवैपरीत्य है; उनमे व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यानदानरतरूपसे युक्त शुभोपयोग का फल मोक्षशून्य केवल पुण्यापसदकी प्राप्ति है फलवैपरीत्य है; वह फल सुदेवत्व व सुमनुष्यत्व है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामे बताया गया था कि कारण विपरीत होनेपर शुभोपयोगका फल विपरीत होता है । अब इस गाथामें, कारणकी विपरीतता व फलकी विपरीतता दोनों बताई गई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सर्वज्ञदेव द्वारा उपदिष्ट तत्त्व शुभोपयोगके अविपरीत आश्रयभूत

तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशून्यकेवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वम् ॥२५६॥

मूलधातु—डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपदविवरण**—छदुमत्थविहिदवत्थुसु छद्मस्थविहितवस्तुषु-सप्तमी बहु० । वदणियमज्झाणदाणरदो व्रतनियमाध्ययनदानरतः-प्रथमा एकवचन । ण न-अव्यय । लहदि लभते-वर्त० अन्य० एक० क्रिया । अपुणब्भाव अपुनर्भाव भाव सादप्पग सातात्मक-द्वितीया एक० । **निरुक्ति**—छन्दयन इति छद्म तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थ. छदि संवरणे चुरादि, वसति सत्त्वं यत्र तद् वस्तु (वस+तुन्) वस निवासे । **समास**- व्रतं च नियमश्च अध्ययन च ध्यान च दान चेति व्रतनियमाध्ययनध्यानदानानि तेषु रत. इति व्रत० ॥२५६॥

कारण है । (२) अविपरीत आश्रयसे हुए शुभोपयोगका फल पुण्योपचयपूर्वक मोक्षलाभ है । (३) छद्मस्थ अज्ञानी जनों द्वारा स्थापित कल्पित सराग देव आदि तत्त्व शुभोपयोगके विपरीत आश्रयभूत कारण है । (४) विपरीत कारणोमें किये गये दान ध्यान अध्ययनादिरूप शुभोपयोगका फल मात्र मोक्षलाभशून्य पुण्यापदकी प्राप्ति है ।

सिद्धान्त—(१) सराग जीवको वीतरागके लिये प्रयुक्त होने वाले देव शब्दसे कहना उपचार है ।

दृष्टि—१- एकजातिपर्याये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (१०७) ।

प्रयोग—सत्य असत्य तत्त्वका विवेक करके असत्यका आश्रय छोड़कर सत्यके आश्रय से उपयोगका प्रवर्तन करना ॥२५६॥

अब पुनः कारणविपरीतता और फलविपरीतता ही बतलाते है—[**अविदितपरमार्थेषु**] नही जाना है परमार्थको जिन्होने ऐसे [**च**] और [**विषयकषायाधिकेषु**] विषय-कषाय मे अधिक [**पुरुषेषु**] पुरुषोके प्रति [**जुष्टं कृतं या दत्तं**] सेवा, उपकार अथवा दान [**कुदेवेषु मनुजेषु**] कुदेवरूपमे और कुमनुष्यरूपमे [**फलति**] फलता है ।

तात्पर्य—विषयकषायवान पुरुषोंमे किया हुआ दान आदिका फल कुदेव व कुनर होना है ।

टीकार्थ—जो छद्मस्थस्थापित वस्तुयें कारणवैपरीत्य हैं; वे वास्तवमें शुद्धात्मज्ञानसे शून्यताके कारण नही जाना है और शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त न करनेसे 'विषयकषायमें अधिक' ऐसे पुरुष हैं । उनके प्रति सेवा, उपकार या दान करने वाले शुभोपयोगात्मक जीवों को जो केवल पुण्यापसदकी प्राप्ति है सो वह फलविपरीतता है; वह (फल) कुदेवत्व व कुमनुष्यत्व है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे शुभोपयोगके विपरीत कारण व विपरीत फलको

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये एव व्याख्याति—

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥२५७॥

अविदित परमार्थोमें, विषयकषायव्याकुलित पुरुषोमें ।
कृत दान प्रीति सेवा कुदेवमनुजोय फल देती ॥२५७॥

अविदितपरमार्थेषु च विषयकषायाधिकेषु पुरुषेषु । जुष्टं कृतं वा दत्तं फलति कुदेवेषु मनुजेषु ॥ २५७ ॥

यानि हि छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं ते खलु शुद्धात्मपरिज्ञानशून्यत-यानवाप्तशुद्धात्मवृत्तितया चाविदितपरमार्था विषयकषायाधिकाः पुरुषाः तेषु शुभोपयोगात्म-कानां जुष्टोपकृतदत्तानां या केवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्कुदेवमनुजत्वम् ॥२५७॥

नामसंज्ञ—अविदिदपरमत्थ य विसयकसायाधिग पुरिस जुट्ठ कद व दत्त कुदेव मणुव । **धातुसंज्ञ**—फल विपाके । **प्रातिपदिक**—अविदितपरमार्थ च विषयकषायाधिक पुरुष जुष्ट कृत वा दत्त कुदेव मणुव । **मूलधातु**—फल विपाके । **उभयपदविवरण**—अविदिदपरमत्थेसु अविदितपरमार्थेषु विसयकसायाधिगेसु विषयकषायाधिकेषु पुरिसेसु पुरुषेषु कुदेवेसु कुदेवेषु मणुवेसु मनुजेषु–सप्तमी बहु० । जुष्ट कृत दत्त–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । फलदि फलति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । **निरुक्ति**– पुरति अग्रे गच्छति इति पुरुषः पुर अग्रगमने (पुर् + कुषण्) । **समास**– विषयाश्च कषायाश्च विषयकषाय तेषु अधिकाः विषयकषायाधिका. तेषु विषयकषायाधिकेषु ॥२५७॥

दिखाया गया था । अब इस गाथामे विशेष विपरीत कारण व विपरीत फलका व्याख्यान किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो विषयकषायमे अधिक पुरुष है फिर भी विचित्रवेशादिके कारण उनमे देवत्व गुरुत्वकी कल्पना बने तो वे विपरीत पात्र है, विपरीत कारण है । (२) विपरीत कारणोमे परमार्थकी अनभिज्ञता होनेसे विषयकषायाधिकता हुई है । (३) विपरीत कारण शुद्धात्मपरिज्ञानशून्य होनेसे शुद्धात्मवृत्तिको प्राप्त न कर सके अतः अज्ञानी है । (४) उन विपरीत कारणोके प्रति सेवा उपकार व दान करनेके शुभोपयोग वालोंको मोक्षमार्गशून्य मात्र हीन पुण्यकी प्राप्ति हो जाती है जिससे खोटे देव मनुष्योमे जन्म हो जायगा । (५) विपरीत कारणोकी सेवामे विपरीत फल ही प्राप्त होता है । (६) कुदेव कुगुरुकी सेवा वास्तवमे शुभोपयोग नही है, किन्तु कल्पित धर्मभावनारूप मंद कषायसे वह शुभोपयोग कहा जाता है ।

सिद्धान्त—(१) विपरीत कारणोके लगावमे मोही विपरीत फल पाता है ।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४) ।

अथ कारणवैपरीत्यात् फलमविपरीतं न सिध्यतीति श्रद्धापयति—

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥२५८॥

जब वे विषयकषायें, पापमयी हो कही जिनागममें ।
फिर उनके अनुरागी, किमु हो संसारनिस्तारक ॥२५८॥

यदि ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु । कथं ते तत्प्रतिबद्धाः पुरुषा निस्तारका भवन्ति ॥

विषयकषायास्तावत्पापमेव तद्वन्तः पुरुषा अपि पापमेव तदनुरक्ता अपि पापानुरक्तत्वात् पापमेव भवन्ति । ततो विषयकषायवन्तः स्वानुरक्तानां पुण्यायापि न कल्प्यन्ते कथं पुनः संसारनिस्तारणाय । ततो न तेभ्यः फलमविपरीतं सिध्येत् ॥२५८॥

नामसंज्ञ—जदि त विसयकसाय पाव त्ति परूविद व सत्थ किह त तप्पडिबद्ध पुरिस णित्थारग । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**— यदि तत् विषयकषाय पाप इति प्ररूपित वा शास्त्र कथ तत् तत्प्रतिबद्ध पुरुष निस्तारक । **मूलधातु**— भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—जदि यदि त्ति इति व वा किह कथं—अव्यय । ते विसयकसाया विषयकषायाः—प्रथमा बहु० । पाव पाप—प्रथमा एक० । परूविदा प्ररूपिताः—प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । सत्थेसु शास्त्रेषु—सप्तमी बहु० । ते तप्पडिबद्धा तत्प्रतिबद्धाः पुरिसा पुरुषाः णित्थारया निस्तारकाः—प्रथमा बहु० । होंति भवन्ति—वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । **निरुक्ति**—शस्यते भव्या. अनेन इति शास्त्रम् (शास् + ष्ट्रन्) शास शिक्षणे अदादि । **समास**— विषयाश्च कषायाश्चेति विषयकषायाः, तत्र प्रतिबद्धाः इति तत्प्रतिबद्धाः ॥२५८॥

प्रयोग—आत्महितके लिये कुदेव कुगुरु कुधर्मकी सेवा छोड़कर सुदेव सुगुरु सुधर्मकी सेवा करते हुए परमार्थकी प्रतीति रखना ॥२५७॥

अब कारणकी विपरीततासे अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता यह श्रद्धा कराते हैं—[यदि वा] जब कि '[ते विषयकषायाः] वे विषयकषाय [पापम्] पाप है' [इति] इस प्रकार [शास्त्रेषु] शास्त्रोमे [प्ररूपिताः] प्ररूपित किया गया है, तो [तत्प्रतिबद्धाः] उन विषय-कषायोमे लीन [ते पुरुषाः] वे पुरुष [निस्तारकाः] पार लगाने वाले [कथं भवन्ति] कैसे हो सकते है ?

तात्पर्य—विषय कषाय पापमें लीन पुरुष निस्तारक नही हो सकते हैं ।

टीकार्थ—विषय कषाय पाप ही है; विषयकषायवान् पुरुष भी पाप ही हैं; विषयकषायवान् पुरुषोंके प्रति अनुरक्त जीव भी पापमे अनुरक्त होनेसे पाप ही हैं । इसलिये विषयकषायवान् पुरुष स्वानुरक्त पुरुषोंको पुण्यका कारण भी नही होते, तब फिर वे संसारसे निस्तारके कारण तो कैसे माने जा सकते है ? (नही हो सकते); इसलिये उनसे अविपरीत फल सिद्ध नही होता ।

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं दर्शयति—

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥२५६॥

पापविरत सब धार्मिक, में समभावी सुगुणगणाश्रित जो ।
वह ज्ञानी पात्र पुरुष, होता सन्मार्गका भागी ॥ २५६ ॥

उपरतपाप. पुरुष. समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु । गुणसमितितोपसेवी भवति स भागी सुमार्गस्य ॥ २५६ ॥

उपरतपापत्वेन सर्वधर्मिमध्यस्थत्वेन गुणग्रामोपसेवित्वेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयोग-

---

नामसंज्ञ– उवरदपाव पुरिस समभाव धम्मिग सव्व गुणसमिदिदोवसेवि त भागि सुमग्ग । धातुसंज्ञ– हव सत्तायां । प्रातिपदिक– उपरतपाप पुरुष समभाव गुणसमितितोपसेविन् भागिन् धम्मिक सर्व सुमार्ग ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे कारणवैपरीत्य और फलवैपरीत्यका व्याख्यान किया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि कारणवैपरीत्यसे फल अविपरोत सिद्ध नही होता ।

तथ्यप्रकाश—(१) विषयकषाय परिणाम तो पाप ही है । (२) विषयकषाय परिणाम वाले पुरुष भी पापरूप ही है । (३) पापरूप पुरुषोमे अनुरागी प्राणी भी पापानुरागी होनेसे पापरूप ही होते हैं । (४) विषयकषाय वाले पुरुष अपने भक्तोको पुण्यबन्धके लिये कारण कैसे हो सकते है ? नही हो सकते । (५) विषयकषाय वाले पुरुषोकी भक्ति जब पुण्यके लिये भी नही हो सकती, फिर संसारनिस्तरणके लिये तो बात बिल्कुल ही दूर है । (६) कारणकी विपरीततासे फल अविपरीत कभी सिद्ध नही हो सकता ।

सिद्धान्त—(१) अशुद्धताकी सेवासे अशुद्धता ही वर्तती है ।

दृष्टि—१– अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४स) ।

प्रयोग—मोह कषाय पापके आश्रयसे पापकी ही परिपाटी होना जानकर मोही कषायाधिक जीवोकी धर्मबुद्धिसे उपासना न करके स्वभावानुरूप परिणमने वाले व स्वभावानुरूप परिणमनके पौरुषी आत्मावोकी आराधना व सगति करना ॥२५८॥

अब अविपरीत फलका कारणभूत 'अविपरीत कारण' दिखलाते हैं—**[उपरतपापः]** पाप रुक गया है जिसके व **[सर्वेषु धार्मिकेषु समभावः]** जो सभी धार्मिकोंके प्रति समभाववान् है, और **[गुणसमितितोपसेवी]** जो गुणसमुदायका सेवन करने वाला है, **[सः पुरुषः]** वह पुरुष **[सुमार्गस्य]** सुमार्गका **[भागी भवति]** अधिकारी होता है ।

तात्पर्य—निष्पाप समभावी गुणी पुरुष सुमार्गगामी होता है ।

पद्यपरिणतिनिवृत्तैकाग्र्यात्मकसुमार्गभागी स श्रमणः स्वयं मोक्षपुण्यायतनत्वादविपरीतफलका-रणं कारणमविपरीतं प्रत्येयम् ॥२५६॥

मूलधातु—भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—उवरदपावो उपरतपाप. पुरिसो पुरुषः समभावो समभावः गुण-समिदिदोवसेवी गुणसमितितोपसेवी स स. भागी–प्रथमा एक० । धम्मिगेसु धार्मिकेषु सव्वेसु सर्वेषु–सप्त-मी बहु० । सुमग्गस्स सुमार्गस्य–षष्ठी एक० । हवदि भवति–वर्तमान अन्य एक० क्रिया । **निरुक्ति**–मार्ग्यते किंचित् यत्र सः मार्ग. (मार्ग+घञ्) मार्ग अन्वेषणे चुरादि । **समास**–उपरतं पापं यस्य स उपरतपापः ॥२५६॥

टीकार्थ—पापके रुक जानेसे, सर्वधर्मियोंके प्रति मध्यस्थ होनेसे और गुणसमूहका सेवन करनेसे जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी युगपत्तारूप परिणतिसे रचित एकाग्रतास्वरूप सुमार्गका भागी (सुमार्गशाली-सुमार्गका भोजन) है वह श्रमण निजको और परको मोक्षका और पुण्यका आयतन होनेसे अविपरीत फलका कारणभूत 'अविपरीत कारण' है, ऐसा सम-झना चाहिये ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि कारणकी विपरीततासे फल अविपरीत सिद्ध नहीं होता । अब इस गाथामें अविपरीत फलका कारणभूत अविपरीत कारण (आश्रयभूत कारण) दिखाया गया है ।

तथ्यप्रकाश--(१) एक अन्तस्तत्त्वकी धुन वाला श्रमण आराध्य अविपरीत कारण (आश्रयभूत कारण) है, क्योंकि वह मोक्ष और पुण्यका आयतन है । (२) श्रमणोंके एक पर-मार्थ सहजात्मस्वरूप ही अग्र रहता है इसका कारण है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का यौगपद्यपरिणमन । (३) रत्नत्रयभाव गुणपुञ्ज आत्मतत्त्वकी उपासनासे विकसित होता है । (४) साम्यभाव होनेपर गुणपुञ्ज आत्मतत्त्वकी आराधना बनती है । (५) निष्पाप होनेपर साम्यभाव प्रकट होता है । (६) श्रमण निष्पाप साम्यपुञ्ज अन्तस्तत्त्वोपासक होनेसे सुमार्ग-भागी हैं अतएव अविपरीत कारण है । (७) मोक्षके अविपरीत कारणकी उपासनासे मोक्ष-मार्गरूप अविपरीत फल प्राप्त होता है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धतत्त्वकी भावनासे शुद्धता प्रकट होती है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—मोक्षपात्र बननेके लिये निष्पाप निष्पक्ष अन्तस्तत्त्वोपासक होकर सुमार्गभागी होनेका पौरुष होने देना ॥२५६॥

अब अविपरीत फलके कारणभूत 'अविपरीत कारण' को विशेषतया प्रतिपादित करते हैं--[अशुभोपयोगरहिताः] अशुभोपयोगरहित [शुद्धोपयुक्ताः] शुद्धोपयुक्त [वा] अथवा

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं व्याख्याति—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥२६०॥

अशुभोपयोगविरहित, शुभोपयोगी व शुद्ध उपयोगी ।
तारें जगको उनके, भक्त परम पुण्यको पाते ॥२६०॥

अशुभोपयोगरहिता. शुद्धोपयुक्ता. शुभोपयुक्ता वा । निस्तारयन्ति लोक तेषु प्रशस्त लभते भक्तः ॥२६०॥

यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः सन्तः सकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्ताः प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छुभोपयुक्ताः स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति तद्भक्तिभावप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति परे च पुण्यभाजः ।२६०।

नामसंज्ञ—असुभोवयोयरहिद सुद्धवजुत्त सुहोवजुत्त वा लोग त पसत्थ भत्त । **धातुसंज्ञ**—निस् तर तरणे सामर्थ्ये च, लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—अशुभोपयोगरहित शुद्धोपयुक्त शुभोपयुक्त वा लोक तत् प्रशस्त भक्त । **मूलधातु**—निस् तर तरणे, डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपदविवरण**—असुभोवयोगरहिदा अशुभोपयोगरहिताः सुद्धुवजुत्ता शुद्धोपयुक्ता. सुहोवजुत्ता शुभोपयुक्ता—प्रथमा बहुवचन । वा—अव्यय । णित्थारयंति निस्तारयन्ति—वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । लोग लोकं पसत्थं प्रशस्तं—द्वितीया एक० । तेसु तेषु—सप्तमी बहु० । भत्तो भक्त.—प्रथमा एक० । लहदि लभते—वर्त० अन्य० एक० क्रिया । **निरुक्ति**—लोक्यन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स लोकः (लोक्+घञ्) लोकृ दर्शने प्रकृते लोकः सर्व रूढित्वात् लोक मनुष्यगण । **समास**—अशुभश्चासौ उपयोग. अशुभोपयोगः तेन रहित अशुभोपयोगरहितः ॥२६०॥

[**शुभोपयुक्ताः**] शुभोपयुक्त श्रमण [**लोकं निस्तारयन्ति**] लोगोको तार देते है, और [**तेषु भक्तः**] उनके प्रति भक्तिवान जीव [**प्रशस्त**] पुण्यको [**लभते**] प्राप्त करता है ।

तात्पर्य—अशुभोपयोगसे रहित श्रमण निस्तारक होते हैं और उनके भक्त पुण्यको प्राप्त होते है ।

टीकार्थ—यथोक्त लक्षण वाले ही श्रमण मोह, द्वेष और अप्रशस्त रागके उच्छेदसे अशुभोपयोगरहित वर्तते हुये, समस्त कषायोदयके विच्छेदसे कदाचित् शुद्धोपयोगमे युक्त और प्रशस्त रागके विपाकसे कदाचित् शुभोपयुक्त होते हैं वे स्वयं मोक्षायतन होनेसे लोकको तार देते हैं, और उनके प्रति भक्तिभावसे जिनके प्रशस्त भाव प्रवर्तता है ऐसे पर जीव पुण्यके भागी होते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे अविपरीत फलका कारणभूत अविपरीत कारण दिखाया गया था । अब इस गाथामे उसी अविपरीत फलके कारणभूत अविपरीत कारणका व्याख्यान किया गया है ।

अथाविपरीतफलकारणाविपरीतकारणसमुपासनप्रवृत्तिं सामान्यविशेषतो विधेयतया सूत्रद्वैतेनोपदर्शयति--

दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥२६१॥

सत्पात्रको निरखकर उत्थानादिक विनय सहित वर्तो ।
फिर गुणके अतिशयसे सुविशेषित कर जिनाज्ञा यह ॥२६१॥

दृष्ट्वा प्रकृत वस्त्वभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः । वर्तता ततो गुणाद्विशेषितव्य इति उपदेशः ॥ २६१ ॥

श्रमणानामात्मविशुद्धिहेतौ प्रकृते वस्तुनि तदनुकूलक्रियाप्रवृत्त्या गुणातिशयाधानमप्र-

---

नामसंज्ञ—पगद वत्थु अब्भुट्ठाणप्पधाण किरिया तदो गुण विसेसिदव्व त्ति उवदेस । **धातुसंज्ञ**—दंस दर्शने, वत्त वर्तने । **प्रातिपदिक**– प्रकृत वस्तु अभ्युत्थानप्रधानक्रिया ततः गुण विशेषितव्य इति उपदेश ।

तथ्यप्रकाश— (१) मोह द्वेष व अप्रशस्त रागका उच्छेद हो जानेसे अविपरीत कारण भूत श्रमण अशुभोपयोगसे रहित ही होते है । (२) श्रमण शुभोपयोगी भी होते, मुख्यतया शुद्धोपयोगी होते । (३) कषाय दूर होनेसे श्रमण शुद्धोपयोगी होते । (४) कदाचित् प्रशस्त रागका विपाक होनेसे श्रमण शुभोपयोगी होते है । (५) सुमार्गभागी श्रमण स्वयं मोक्षपात्र हैं अतः उनकी संगतिमे जीव ससारसे पार हो जाते है । (६) सुमार्गभागी श्रमणोंकी भक्तिमे प्रवृत्त शुभोपयोगी विशिष्ट पुण्यपात्र होते है । (७) आत्मस्वभावके अनुरूप विकसित होने वाले भव्यात्मा स्वयंके लिये अविपरीत फलके उपादान कारण होते है । (८) आत्मस्वभावके अनुरूप विकसित होने वाले भव्यात्मा अन्य साधर्मी भक्तोंके लिये अविपरीत आश्रयभूत कारण होते हैं ।

सिद्धान्त—(१) सुमार्गभागी श्रमण अविपरीत फलके अविपरीत कारण हैं ।

दृष्टि—१– उपादानदृष्टि (४६ब), आश्रयभूतकारणदृष्टि (६१अ) ।

प्रयोग—शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति रखते हुए अन्तस्तत्त्वमे रत न हो रहेकी स्थिति मे अशुभोपयोगरहित सुमार्गगामी श्रमणकी भक्ति सेवा करना ॥२६०॥

अब अविपरीत फलके कारणभूत 'अविपरीत कारण' की उपासनारूप प्रवृत्ति सामान्यतया और विशेषतया करने योग्य है,—यह दो सूत्रों द्वारा बतलाते हैं— [प्रकृतं वस्तु] प्रकृत वस्तुको [दृष्ट्वा] देखकर [अभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः] अभ्युत्थान आदि क्रियाओंसे [वर्तताम्] श्रमण प्रवर्ते [ततः] फिर [गुणात्] गुणानुसार [विशेषितव्यः] विशेषित करें— [इति उपदेशः] ऐसा उपदेश है ।

तिषिद्धम् ॥२६१॥

मूलधातु– दृशिर् प्रेक्षणे, वृतु वर्तने। **उभयपदविवरण**—दिट्ठा दृष्ट्वा–सम्बन्धार्थप्रक्रिया। पगद प्रकृतं वत्थुं वस्तु–द्वितीया एक०। अब्भुट्ठाणप्पधाण किरियाहिं अभ्युत्थानप्रधानक्रियाभि.–तृतीया बहु०। तदो ततः–पचम्यर्थे अव्यय। गुणादो गुणात्–पचमी एक०। विसेसिदव्वो विशेषितव्यः–प्रथमा एक० कृदंत क्रिया। त्ति इति–अव्यय। उवदेसो उपदेश.–प्रथमा एकवचन। **निरुक्ति**– गुण्यते अनेन इति गुणः (गुण +अच्) गुण आमन्त्रणे चुरादि। **समास**–अभ्युत्थान प्रधान यासु ता. अभ्युत्थानप्रधाना. अभ्युत्थानप्रधाना च ता. क्रिया. अभ्युत्थानप्रधानक्रिया ताभि. ॥२६१॥

तात्पर्य—निर्ग्रन्थ श्रमणको देखकर श्रमण पहिले तो अभ्युत्थान आदि करके सन्मान करे, पश्चात् गुण देखकर उनके प्रति विशेषता वर्ते।

टीकार्थ––श्रमणोंके आत्मविशुद्धिकी हेतुभूत प्रकृतवस्तु अर्थात् श्रमणके प्रति उनके योग्य क्रियारूप प्रवृत्तिसे गुणातिशयताका आरोपण करना अप्रतिषिद्ध है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे अविपरीत फलके कारणभूत अविपरीत कारण का व्याख्यान किया गया था। अब इस गाथामे सामान्यपनेसे अविपरीत फलके कारणभूत अविपरीत कारणकी उपासनाकी प्रवृत्ति बताई गई है।

तथ्यप्रकाश––(१) आत्मविशुद्धिके हेतुभूत आचार्य श्रमण आदिको देखकर विनय रूप प्रवृत्ति करना चाहिये। (२) गुणी जनोके विनयसे विनय करने वाले पात्रमे गुणातिशय का धारण होता है। (३) गुणी जनोको देखकर उठकर खड़े होना आदि क्रियावो द्वारा विनय किया जाता है।

सिद्धान्त—(१) विनयतप करने वालेको स्वयंमे लाभ सुनिश्चित है।

दृष्टि—१– क्रियानय (१६३)।

प्रयोग–गुणातिशयके धारणके लिये गुणीजनोंके प्रति विनयरूप प्रवर्तन करना।२६१।

अब इसी विषयका दूसरा सूत्र कहते हैं––**[गुणाधिकानां हि]** गुणोमे अधिक श्रमणों के प्रति **[अभ्युत्थानं]** अभ्युत्थान, **[ग्रहणं]** ग्रहण **[उपासनं]** उपासन **[पोषणं]** पोषण **[सत्कारः]** सत्कार **[अञ्जलिकरणं]** अंजलि करना **[च]** और **[प्रणामः]** प्रणाम करना **[इह]** यहाँ **[भणितम्]** कहा गया है।

तात्पर्य––श्रमण गुणाधिक श्रमणोका अभ्युत्थानादिसे विशेष भक्ति करे ऐसा आगम में कहा गया है।

टीकार्थ––श्रमणोंको अपनेसे अधिक गुणी श्रमणोके प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, पोषण, सत्कार, अंजलिकरण और प्रणाम करनेकी प्रवृत्तियाँ निषिद्ध नही हैं।

प्रसङ्गविवरण––अनन्तरपूर्व गाथामें अविपरीत फलके कारणभूत अविपरीत कारण

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं हि ॥२६२॥

श्रमण गुणाधिक श्रमणोंके प्रति उत्थान ग्रहण सत्सेवा ।
पोषण अञ्जलि प्रणमन, सत्कार व विनयवृत्ति करें ॥२६२॥

अभ्युत्थानं ग्रहणमुपासनं पोषणं च सत्कारः । अञ्जलिकरणं प्रणामो भणितमिह गुणाधिकानां हि ॥२६२॥

श्रमणानां स्वतोऽधिकगुणानामभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामप्रवृत्तयो न प्रतिषिद्धाः ॥२६२॥

नामसंज्ञ—अब्भुट्ठाण गहण उवासण पोसण च सक्कार अजलिकरण पणम भणिद इह गुणाधिग हि । **धातुसंज्ञ**—भण कथने । **प्रातिपदिक**—अभ्युत्थान ग्रहण उपासन पोषण च सत्कार अंजलिकरण प्रणाम भणित इह गुणाधिक हि । **मूलधातु**—भण शब्दार्थः । **उभयपदविवरण**—अब्भुट्ठाण अभ्युत्थानं गहण ग्रहण उवासण उपासन पोसण पोषण सक्कार सत्कारः अंजलिकरणं अजलिकरण पणम प्रणामः—प्रथमा एक० । भणिद भणित-प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । इह च हि—अव्यय । गुणाधिगाण गुणाधिकाना-षष्ठी बहु० । **निरुक्ति**—अज्यते इति अर्जुलि (अंज+अलिच्) अज् व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु रुधादि । **समास**—गुणेषु अधिकाः गुणाधिकाः तेषां गुणाधिकानाम् ॥२६२॥

की (श्रमणकी) उपासनाकी प्रवृत्ति सामान्यपने दिखाई गई थी । अब इस गाथामे उन्हीकी उपासनाकी प्रवृत्ति कुछ विशेषतया दिखाई गई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अपनेसे अधिक गुण वाले श्रमणको आता हुआ देखकर उठकर खड़े होना प्रथम विनय है । (२) स्वतोधिगुणीका अभ्युत्थान द्वारा विनयकर उनको आदरसे स्वीकारना द्वितीय विनय है । (३) उन श्रमणोंको विनयपूर्वक हाथ जोड़ना प्रणाम करना उतृतीय विनय है । (४) उन श्रमणोके गुणोंकी प्रशंसा करना चतुर्थ विनय है । (५) श्रमणोंकी सेवा वैयावृत्त्य करना पञ्चम विनय है । (६) उन श्रमणोंके अशन, शयन आदिन का ध्यान रखना छठा विनय है । (७) विनयभाव आनेपर उनके अनुकूल अन्य प्रवृत्तियाँ भी समुचित होती हैं । (८) श्रमणोको अपनेसे अधिक गुण वाले श्रमणोंकी उक्त विनयप्रवृत्तियाँ अप्रतिषिद्ध हैं, प्रभुने उपदिष्ट की हैं ।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध भावनासे विशुद्धि बढ़ती है और प्रतिबन्धक कर्म दूर होते हैं ।

दृष्टि—१- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—अपनेसे अधिक गुण वाले श्रमणके प्रति अपनेमें गुणातिशयाधानको साधनभूत विनयप्रवृत्तियाँ करना ॥२६२॥

अब श्रमणाभासोंके प्रति समस्त प्रवृत्तियोंका प्रतिषेध करते हैं—[**श्रमणैः हि**] श्रमणोंके द्वारा [**सूत्रार्थविशारदाः**] सूत्रार्थविशारद, [**संयमतपोज्ञानाढ्याः**] संयम, तप और ज्ञान

अथ श्रमणाभासेषु सर्वाः प्रवृत्ती प्रतिषेधयति—

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥२६३॥

विदितार्थसूत्रसंयत, ज्ञानी तपयुक्त श्रमण संतोंके।
अभ्युत्थान उपासन, प्रणमन कर श्रमण भक्त रहें ॥२६३॥

अभ्युत्थेया श्रमणाः सूत्रार्थविशारदा उपासेयाः। संयमतपोज्ञानाढ्या: प्रणिपतनीया हि श्रमणैः ॥२६३॥

सूत्रार्थवैशारद्यप्रवर्तितसंयमतपःस्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिकाः प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धा इतरेषां तु श्रमणाभासानां ताः प्रतिषिद्धा एव ॥२६३॥

नामसंज्ञ—अब्भुट्ठेय समण सुत्तत्थविसारद उवासेय संजमतवणाणड्ढ पणिवदणीय हि समण। **धातुसंज्ञ**— अभि उत् ट्ठा गतिनिवृत्तौ, प णि पड पतने। **प्रातिपदिक**—अभ्युत्थेय श्रमण सूत्रार्थविशारद उपासेय संयमतपोज्ञानाढ्य प्रतिपतनीय हि श्रमण। **मूलधातु**—अभि उत् ष्ठा गतिनिवृत्तौ, प्र नि पत पतने। **उभयपदविवरण**—अब्भुट्ठेया अभ्युत्थेयाः उवासेया उपासेया पणिवदणीया प्रनिपतनीया—प्र० ब० कृ० क्रिया। समणा. श्रमणाः सुत्तत्थविसारदा सूत्रार्थविशारदा. संजमतवणाणड्ढा संयमतपोज्ञानाढ्या—प्रथमा बहुवचन। हि—अव्यय। समणेहिं श्रमणैः—तृतीया बहुवचन। **निरुक्ति**—विशाल ज्ञानं ददाति इति विशारदः (विशाल दा+क लस्य र) डुदाञ् दाने। **समास**—संयम तप ज्ञान चेति संयमतपोज्ञानानि तैः आढ्याः संयमतपोज्ञानाढ्याः ॥२६३॥

में समृद्ध **[श्रमणाः]** श्रमण **[अभ्युत्थेयाः उपासेयाः प्रणिपतनीयाः]** अभ्युत्थान, उपासन और प्रणामसे सत्कृत किये जाने चाहिये।

तात्पर्य—श्रमण ज्ञानी संयमी तपस्वी श्रमणोंका सत्कार करे।

टीकार्थ— सूत्रोंके और पदार्थोंके विशारदत्वके साथ प्रवर्तित है संयम, तप और स्वतत्त्वका ज्ञान है जिनके ऐसे श्रमणोंके प्रति ही अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियां अनिषिद्ध हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासोंके प्रति वे प्रवृत्तियां निषिद्ध ही है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें श्रमण जनोंकी उपासनाकी प्रवृत्ति विशेषतया दिखाई गई थी। अब इस गाथामें श्रमणाभासोंके प्रति समस्त प्रवृत्तियोंका निषेध किया गया है।

तथ्यप्रकाश— १– सूत्रार्थविशारद संयमतपज्ञानसयुक्त श्रमणोंके ही प्रति अभ्युत्थान आदि प्रवृत्तियां विधेय है। २– श्रमणाभासोंके प्रति अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियां निषिद्ध हैं।

सिद्धान्त—१– संयमी तपस्वी तत्त्वज्ञानी श्रमण ही विनय भावके आश्रयभूत अविपरीत पात्र हैं।

अथ कीदृशः श्रमणाभासो भवतीत्याख्याति—

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥२६४॥

संयम तप श्रुत संयुत, होकर भी वह श्रमण नहीं होता।
आत्मप्रधान वस्तुमें, जो नहिं श्रद्धान करता है ॥२६४॥

न भवति श्रमण इति मतः संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तोऽपि। यदि श्रद्धत्ते नार्थानात्मप्रधानान् जिनाख्यातान् ॥२६४॥

आगमज्ञोऽपि संयतोऽपि तपःस्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्दधानः श्रमणाभासो भवति ॥२६४॥

नामसंज्ञ— ण समण त्ति मद संजमतवसुत्तसंपजुत्त वि जदि ण अत्थ आदपधान जिणक्खाद। **धातुसंज्ञ**— मन्न अवबोधने, सद् दह धारणे, क्खा प्रकथने। **प्रातिपदिक**—न श्रमण इति मत संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्त अपि यदि न अर्थ आत्मप्रधान जिनख्यात। **मूलधातु**— मनु अवबोधने, सद् डुधाञ् धारणपोषणयोः ख्या प्रकथने। **उभयपदविवरण**—ण न त्ति इति वि अपि जदि यदि ण न—अव्यय। हवदि भवति सद्दहदि श्रद्दधाति—वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। समणो श्रमणः संजमतवसुत्तसंपजुत्तो संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्त—प्रथमा एकवचन। मदो मत—प्रथमा एक० कृ० क्रिया। अत्थे अर्थान् आदपधाने आत्मप्रधानान् जिणक्खादे जिनाख्यातान्—सप्तमी एकवचन। **निरुक्ति**— प्रकृष्टेन दधाति इति प्रधान (प्र धा + युट्) **समास**—संयम तपः सूत्रं चेति संयमतप सूत्राणि तैः संप्रयुक्तः इति संयमतप सूत्रसंप्रयुक्तः ॥२६४॥

दृष्टि—१— आश्रयभूतकारण दृष्टि (६१ अ)।

प्रयोग—आत्मविशुद्धिके लिये सहजात्मस्वरूपकी प्रतीति रखते हुए संयमी तपस्वी तत्त्वज्ञानी श्रमणोंकी ही उपासना भक्ति करना ॥२६३॥

अब श्रमणाभास कैसा होता है यह कहते हैं—[**संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तः अपि**] सूत्र, संयम और तपसे संयुक्त भी साधक [**यदि**] यदि [**जिनाख्यातान्**] जिनोक्त [**आत्मप्रधानान्**] आत्मप्रधान [**अर्थान्**] पदार्थोंका [**न श्रद्धत्ते**] श्रद्धान नही करता तो वह [**श्रमणः न भवति**] श्रमण नही है [**इति मतः**] ऐसा आगममें कहा है।

तात्पर्य—सूत्रज्ञान संयम तपसे युक्त भी साधक यदि आत्मज्ञानी नही है तो वह श्रमण नही है।

टीकार्थ—आगमका ज्ञाता भी, संयत भी, तपमें स्थित भी साधक जिनोक्त अनन्त पदार्थोंसे भरे हुये विश्वका—जो कि अपने आत्माके द्वारा ज्ञेयरूपसे पिया गया होनेके कारण आत्मप्रधान है उसका जो जीव श्रद्धान नही करता वह श्रमणाभास है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि श्रमणोंके प्रति ही अभ्युत्था-

अथ श्रामण्येन सममननुमन्यमानस्य विनाशं दर्शयति—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥२६५॥

मार्गस्थ श्रमणको लखि, जो कुछ अपवाद द्वेषवश करता ।
अनुमोदे न विनयसे, वह मुनि है नष्टचारित्री ॥ २६५ ॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि । क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ॥२६५॥

श्रमणं शासनस्थमपि प्रद्वेषादपवदतः क्रियास्वननुमन्यमानस्य च प्रद्वेषकषायितत्वा-

---

नामसंज्ञ—सासणत्थ समण पदोसदो ज हि किरिया ण हि त णट्ठ चारित्त । **धातुसंज्ञ**—दंस दर्शने, अनु मन्न अवबोधने, हव सत्तायां । **प्रातिपदिक**—शासनस्थ श्रमण प्रद्वेषत यत् हि क्रिया न हि तत् नष्ट चारित्र । **मूलधातु**—दृशिर् प्रेक्षणे, अनु मनु अवबोधने, भू सत्तायां । **उभयपदविवरण**—सासणत्थं शासनस्थं

नादिक प्रवृत्तियाँ विधेय है, श्रमणाभासोंके प्रति नही । अब इस गाथामें श्रमणाभास कैसा पुरुष होता है यह बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आगमज्ञानी द्रव्यसंयमी तपस्वी होनेपर भी यदि कोई साधक अन्तस्तत्त्वकी श्रद्धा नही कर रहा तो वह श्रमणाभास होता है । (२) जो अन्तस्तत्त्वकी श्रद्धा करता है वह जिनोदित समस्त पदार्थोंकी यथार्थतया श्रद्धा करता है । (३) वस्तुतः श्रद्ध्येय आत्मा ही प्रधान होता है, क्योंकि उस श्रद्धानीने जिनोदित अनन्तार्थनिर्भर विश्वको स्व आत्माके द्वारा ज्ञेयरूपसे पी लिया है ऐसे आत्माका श्रद्धान किया है ।

सिद्धान्त— १- वास्तवमें ज्ञानीने अपने आपका ज्ञान श्रद्धान किया है । (२) ज्ञानीको उपचारसे परपदार्थका ज्ञाता श्रद्धाता कहा जाता है ।

दृष्टि—१- निश्चयनय (१६६), उपादान दृष्टि (४६ब) । २- स्वाभाविक उपचरित स्वभावव्यवहार (१०५), अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (१०५अ) ।

प्रयोग—चूंकि अन्तस्तत्त्वके श्रद्धान विना आत्मोद्धार नही है, अतः आगमज्ञान संयम तपश्चरणका पौरुष करते हुए आत्म प्रधान समस्त पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान बनाये रहना ॥२६४॥

अब जो श्रामण्यसे समान है उनका आदर न करने वालेका विनाश दिखलाते हैं—[यः हि] जो [शासनस्थं श्रमणं] जिनदेवके शासनमें स्थित श्रमणको [दृष्ट्वा] देखकर [प्रद्वेषतः] द्वेषसे [अपवदति] उसका अपवाद करता है, और [क्रियासु न अनुमन्यते] सत्कारादि क्रियाओंके करनेमें प्रसन्न नही है [सः नष्टचारित्रः हि भवति] वह नष्टचारित्र

च्चारित्रं नश्यति ॥२६५॥

समणं श्रमणं–द्वितीया एक० । दिट्ठा दृष्ट्वा–सम्बन्धार्थप्रक्रिया । पदोसदो प्रद्वेषतः–पंचम्यर्थे अव्यय । जो यः सो सः णट्ठ चारित्तो नष्ट चारित्रः–प्र० एक० । किरियासु क्रियासु–स० बहु० । अणुमण्णदि अनुमन्यते हवदि भवति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । हि ण न–अव्यय । निरुक्ति–चरणं चारित्रं (चर् + इ त्र) चर गतौ । समास– नष्टं चारित्रं यस्य सः न०, शासने तिष्ठतीति शासनस्थः, तं शासनस्थं ॥२६५॥

वाला ही हो जाता है ।

तात्पर्य—जो श्रमण शासनस्थ अन्य श्रमणको न माने बुरा कहे उसका चारित्र नष्ट समझना ।

टीकार्थ—द्वेषके कारण शासनस्थ श्रमणका भी अपवाद करने वालेका और उसके प्रति सत्कारादि क्रियायें करनेमें अननुमत श्रमणका द्वेषसे कषायित होनेसे चारित्र नष्ट हो जाता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि श्रमणाभास कैसा होता है । अब इस गाथामें यह बताया गया है कि जो श्रामण्यसे समान है उस श्रमणका आदर न करनेवालेके श्रामण्यका विनाश हो जाता है ।

तथ्यप्रकाश—१– जो श्रमण शासनमें स्थित है यथार्थ श्रमण है उसका यदि कोई द्वेषसे अपवाद करे आदर न करे तो उसका चारित्र (श्रामण्य) नष्ट हो जाता है । २– जब किसी श्रमणके अन्य श्रमणके प्रति द्वेष ईर्ष्या आदिक कषाय जग गये तो वहाँ चारित्र नहीं रहता ।

सिद्धान्त—(१) अशुद्ध भावनासे अशुद्धता व बद्धता चलती रहती है ।

दृष्टि—१–अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ स) ।

प्रयोग—आत्मविशुद्धिके हेतु व स्वचारित्ररक्षाहेतु शासनस्थ सुमार्गभागी श्रमणके प्रति द्वेष न करना, ईर्ष्या न करना, अपवाद न करना, किन्तु विनय करना सेवा करना ॥२६५॥

अब श्रामण्यसे अधिक श्रमणके प्रति हीनकी तरह आचरण करने वालेका विनाश बतलाते है—[यः] जो श्रमण [यदि गुणाधरः भवन्] यदि गुणोंमें हीन होता हुआ भी [अपि श्रमणः अस्मि] 'मैं भी श्रमण हूं' [इति] ऐसा गर्व करके [गुणतः अधिकस्य] गुणों मे अधिक वाले श्रमण पाससे [विनयं प्रत्येषकः] विनय करवाना चाहता है [सः] तो वह [अनन्तसंसारी भवति] अनन्तसंसारी होता है ।

तात्पर्य—गुणहीन श्रमण यदि गुणाधिक श्रमणसे अपना विनय करवाना चाहता है तो वह अनन्तसंसारी होता है ।

अथ श्रामण्येनाधिकं हीनमिवाचारतो विनाशं दर्शयति—

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति ।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ २६६ ॥

मैं भि श्रमण मदसे जो, गुणी श्रमणका विनय नहीं करता ।
वह गुणहीन मदवशी अनन्त संसारमें रुलता ॥ २६६ ॥

गुणतोऽधिकस्य विनय प्रत्येषको योऽपि भवामि श्रमण इति । भवन् गुणाधरो यदि स भवत्यनन्तससारी ॥

स्वयं जघन्यगुणः सन् श्रमणोऽहमपीत्यवलेपात्परेषां गुणाधिकानां विनयं प्रतीच्छन् श्रामण्यावलेपवशात् कदाचिदनन्तससार्यपि भवति ॥२६६॥

नामसंज्ञ—गुणदो अधिग विणय पडिच्छग ज वि समण त्ति होज्ज गुणाधर जदि त अणतससारि । **धातुसंज्ञ**—हो सत्ताया । **प्रातिपदिक**—गुणत अधिक विनय प्रत्येषक यत् अपि श्रमण इति भवत् गुणाधर यदि तत् अनन्तसंसारिन् । **मूलधातु**—भू सत्ताया । **उभयपदविवरण**—गुणदो गुणतः-पचम्यर्थे अव्यय । अधिगस्स अधिकस्य-षष्ठी ए० । विणय विनयं-द्वि० ए० । पडिच्छगो प्रत्येत्यषकः जो य समणो श्रमण· गुणाधरो गुणाधरः सो स· अणतससारी अनतससारी-प्रथमा एक० । होज्जं भवत्-प्र० एक० कृदन्त । होदि भवति-प्रथमा एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**—न ध्रियते इति अधर· (न + धृङ् + अच्) धृङ् अवस्थाने तुदादि । **समास**— गुणेषु अधरः गुणाधरः, अनन्त· ससार· यस्य स अनन्तससारी ॥२६६॥

टीकार्थ—स्वयं जघन्यगुणो वाला होता हुआ भी 'मैं भी श्रमण हूं' ऐसे गर्वके कारण दूसरे अधिक गुण वाले श्रमणोसे विनयकी इच्छा करता है, वह श्रामण्यके गर्वके वशसे कदाचित् अनन्त संसारी भी होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें जो श्रामण्यसे समान है उनका आदर न करने वालेका विनाश होना दिखाया गया है । अब इस गाथामे यह बताया गया है कि जो श्रामण्य में अधिक हैं उन श्रमणोके प्रति हीनकी तरह आचरणव्यवहार करने वालेका विनाश होता है अर्थात् उसके श्रामण्यका विनाश होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो गुणहीन है वह 'मैं भी श्रमण हूं' ऐसे अहंकारभावसे लिप्त होकर अधिक गुण वाले श्रमणोसे विनयको चाहता है । (२) जो गुणहीन होनेपर भी श्रमणपनेका अहंकारभाव बनाकर गुणाधिक श्रमणोसे विनय कराना चाहता है वह श्रामण्यके गर्वके वश होकर अनन्तसंसारी भी हो जाता है । (३) मैं भी श्रमण हूँ, मैं इनसे पुराना दीक्षित हूं आदि गर्वके कारण जो साधु गुणाधिक श्रमणोंसे अपनी विनय भक्ति करवाना चाहता है वह संसारमें जन्म मरण चिरकाल तक करता है, कदाचित् वह अनन्तसंसारी भी हो जाता है ।

सिद्धान्त—(१) गुणाधिक पुरुषोंमें द्वेषभाव हीनभाव रखनेरूप अशुद्ध भावनासे अशु-

अथ श्रामण्येनाधिकस्य हीनं सममिवाचरतो विनाशं दर्शयति—

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥२६७॥

श्रामण्यमें गुणाधिक, गुणहीनोंकी क्रियाविमें वर्तें।
तो मिथ्योपयुक्त हो, चारित्तसे भ्रष्ट हो जाते ॥२६७॥

अधिकगुणाः श्रामण्ये वर्तन्ते गुणाधरैः क्रियासु। यदि ते मिथ्योपयुक्ता भवन्ति प्रभ्रष्टचारित्राः ॥ २६७ ॥

स्वयमधिकगुणा गुणाधरैः परैः सह क्रियासु वर्तमाना मोहादसम्यगुपयुक्तत्वाच्चारित्रा-

नामसंज्ञ—अधिगगुण सामण्ण गुणाधर किरिया जदि त मिच्छुवजुत्त पब्भट्टचारित्त। **धातुसंज्ञ**—वत्त वर्तने, हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—अधिकगुण श्रामण्य गुणाधर क्रिया यदि तत् मिथ्योपयुक्त प्रभ्रष्टचारित्र। **मूलधातु**—वृतु वर्तने, भू सत्तायां। **उभयपदविवरण**—अधिगगुणा अधिकगुणाः ते मिच्छुवजुत्ता मिथ्योपयुक्ता पब्भट्टचारित्ता प्रभ्रष्टचारित्राः-प्रथमा बहुवचन। वट्टंति वर्तन्ते हवंति भवन्ति-वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया। सामण्णे श्रामण्ये-सप्तमी बहुवचन। गुणाधरेहिं गुणाधरैः-तृतीया बहु-

द्धता व बद्धता चलती रहती है।

दृष्टि—१- अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४स)।

प्रयोग—आत्मविशुद्धिहेतु गुणाधिक श्रमणोसे अपनी विनय भक्ति करानेकी चाह न करना और गुणाधिक पुरुषोंमें प्रमोदभाव रखकर उनका सन्मान करना ॥२६६॥

अब अपनेसे हीन श्रमणके प्रति समान जैसा आचरण करने वाले श्रामण्याधिकका विनाश बतलाते हैं—[**यदि श्रामण्ये अधिकगुणाः**] जो श्रामण्यमें अधिक गुण वाले श्रमण [**गुणाधरैः**] हीन गुण वालोंके प्रति [**क्रियासु**] वंदनादि क्रियाओंमें [**वर्तन्ते**] वर्तते हैं, [**ते**] तो वे [**मिथ्योपयुक्ताः**] मिथ्या उपयुक्त होते हुये [**प्रभ्रष्टचारित्राः भवन्ति**] भ्रष्टचारित्री हो जाते हैं।

तात्पर्य—निर्दोष गुणाधिक श्रमण यदि हीन श्रमणोंकी भक्ति वन्दना करें तो स्वयं का पतन कर लेते है।

टीकार्थ—स्वयं अधिक गुण वाले श्रमण अन्य हीन गुणवाले श्रमणोंके प्रति वंदनादि क्रियाओंमें वर्तते हुये मोहके कारण असम्यक् उपयुक्त होनेके कारण चारित्रसे भ्रष्ट हो जाते हैं।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जो श्रमण अपनेसे अधिक गुण वाले श्रमणसे अपनी विनयभक्ति कराना चाहता है वह अनन्तसंसारी तक हो जाता है। अब इस गाथामें बताया गया है कि जो श्रामण्यमें अधिक गुण वाला है वह यदि हीनाचरणी

द्भ्रश्यन्ति ॥२६७॥

वचन । किरियासु क्रियासु–सप्तमी बहुवचन । जदि यदि–अव्यय । निरुक्ति–मिथनं मिथ्या (मिथ् + क्यप् + टाप्) मिथ सगमने । समास– अधिका: गुणा: येषु ते अधिकगुणा, प्रभ्रष्ट चारित्रं येषा ते प्रभ्रष्ट-चारित्रा: ॥२६७॥

को अपने समान श्रमणकी तरह विनय व्यवहार आचरण करता है उसके चारित्रका भी विनाश हो जाता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो स्वयं अधिक गुण वाला श्रमण हो और वह गुणहीन अन्य श्रमणके प्रति विनय भक्तिमे मोहवश लगे तो वह अशुभोपयुक्त होनेसे चारित्रसे भ्रष्ट हो जाता है । (२) गुणहीन चारित्रहीन श्रमणके प्रति आदरका भाव अपने यश आदि मोहके वश होता है ऐसे भावमें चारित्र नही रहता ।

सिद्धान्त—(१) अशुद्ध भावनासे शुद्धताका विनाश होकर अशुद्धता व बद्धता चलती रहती है ।

दृष्टि—१– अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४स) ।

प्रयोग—आत्मविशुद्धिके हेतु श्रद्धानज्ञानचारित्रहीन साधुजनोकी सगति भक्ति नही करना ॥२६७॥

अब असत्संगको निषेध्य बतलाते है—[**निश्चितसूत्रार्थपदः**] सूत्रोके पदोंको और अर्थों को निश्चित किया है जिसने, [**च**] और [**समितकषायः**] कषायोको समित किया है जिसने ऐसा श्रमण [**तपोऽधिकः अपि**] तपश्चरणमें अधिक होता हुआ भी [**यदि**] यदि [**लौकिकजन-संसर्ग**] लौकिक जनोंके संसर्गको [**न त्यजति**] नही छोडता, [**संयतः न भवति**] तो वह संयत नही है ।

तात्पर्य— ज्ञानी शान्त तपस्वी भी श्रमण यदि लौकिक जनोका सम्बन्ध नही छोड़ता तो वह संयमी नही रहता ।

टीकार्थ – (१) विश्वके वाचक, 'सत्' लक्षण वाले सम्पूर्ण ही शब्दब्रह्म और उस शब्दब्रह्मके वाच्य 'सत्' लक्षण वाले सम्पूर्ण ही विश्व उन दोनोंके ज्ञेयाकार अपनेमे युगपत् गुंथित हो जानेसे उन दोनोका अधिष्ठानभूत 'सत्' लक्षण वाला ज्ञातृतत्व निश्चयनय द्वारा 'सूत्रके पदों और अर्थोंका निश्चय वाला' होनेके कारण (२) निरुपराग उपयोगके कारण समितकषाय होनेके कारण और (३) निष्कंप उपयोगका बहुश: अभ्यास करनेसे 'अधिक तप वाला' होनेके कारण भलीभाँति संयत हुआ भी श्रमण चूंकि अग्निकी संगतिमे रहे हुये पानी

अथासत्संगं प्रतिषेध्यत्वेन दर्शयति—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥२६८॥

विदितसूत्रार्थपद हो, उपशान्तकषाय तथा तपोधिक भी।
लौकिकसंग न तजता, यदि तो वह संयमी नहिं है ॥२६८॥

निश्चितसूत्रार्थपद: समितकषायस्तपोऽधिकश्चापि। लौकिकजनससर्ग न त्यजति यदि सयतो न भवति।

यत: सकलस्यापि विश्ववाचकस्य सल्लक्षमण: शब्दब्रह्मणस्तद्वाच्यस्य सकलस्यापि सल्लक्षमणोविश्वस्य च युगपदनुस्यूततदुभयज्ञेयाकारतयाधिष्ठानभूतस्य सल्लक्षमणो ज्ञातृतत्त्वस्य निश्चयनयान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन निरुपरागोपयोगत्वात् समितकषायत्वेन बहुशोऽभ्यस्तनिष्क-

---

नामसंज्ञ—णिच्छिदसुत्तत्थपद सयिदकसाअ तवोधिग च अवि लोगिगजणससग्ग ण जदि सांजद ण। **धातुसंज्ञ**—च्चय त्यागे, हव सत्ताया। **प्रातिपदिक**—निश्चितसूत्राथपद समितकषाय तपोधिक च अपि-लौकिकजनससर्ग न यदि संभृत न। **मूलधातु**—त्यज त्यागे, भू सत्तायां। **उभयपदविवरण**—णिच्छिदसुत्त।त्थपदो निश्चितसूत्रार्थपद. समिदकसाओ समितकषाय. तवोधिगो तपोधिक: सजदो सयत.—प्रथमा एकवचन। लोगिगजणसंसग्ग लौकिकजनससर्ग—द्वितीया एकवचन। च अवि अपि ण न जदि यदि—अव्यय।

की भाँति उसे विकार अवश्यंभावी होनेसे लौकिक संगसे असंयत ही होता है, इस कारण लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि श्रामण्यसे अधिक गुण वाल होकर यदि गुणहीन साधुका समानकी तरह विनयादि आचरण करे तो वह चारित्रभ्रष्ट हो जाता है। अब इस गाथामें असत्संग करनेका निषेध किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१— यदि कोई श्रमण लौकिक असंयमी जनोंका संसर्ग नहीं छोड़ता है तो वह भी असयत हो जाता है। २— जल शीतल होता है, किन्तु वह अग्निकी संगतिको प्राप्त है तो वह जल भी संतापकारी हो जाता है। ३— श्रमण चाहे सूत्रार्थपदोंका ज्ञानी होय कषायका शमन करने वाला हो, तपस्यामें भी अधिक हो तो भी लौकिकजनसंसर्गमे रहनेसे वह असंयत हो जाता है। ४— सूत्र समस्त विश्वका वाचक सत् शब्दब्रह्म है। ५— अर्थ शब्दब्रह्म द्वारा वाच्य समस्त सत् पदार्थ हैं। ६— वाचक वाच्य दोनोंके ज्ञेयाकार रूपसे अधिष्ठाता सत् ज्ञातृतत्त्व है। ७—शब्दब्रह्म, अर्थब्रह्म, ज्ञातृब्रह्म तीनोंका ज्ञानी श्रमण निश्चितसूत्रार्थपद कहलाता है। ८— कषायोंका शमन उपराग (रागद्वेषादिविकार) रहित उपयोग होनेसे होता है। ९—बहुत बार निष्कम्प उपयोग रखनेके अभ्यासके बलसे श्रमण तपोधिक (बड़ा तप-

म्पोपयोगत्वात्तपोऽधिकत्वेन च सुष्ठु संयतोऽपि सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वात् लौकिकसंगादसंयत एव स्यात्ततस्तत्संगः सर्वथा प्रतिषेध्य एव ॥२६८॥

चयदि त्यजति हवदि भवति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया। निरुक्ति—स सार्जन ससर्ग त (सम् सृज् + घञ्) सृज विसर्गे दिवादि तुदादि। समास—निश्चितानि सूत्रार्थपदानि येन सः निश्चितसूत्रार्थपदः, तपसा अधिकः तपोधिकः, लौकिकजनाना संसर्गः लौ० तं ॥२६८॥

स्वी) बनता है। १०– ज्ञान शमन तपश्चरणके प्रसादसे उत्तम संयत होनेपर भी श्रमण यदि लौकिकजनोंका संसर्ग रखता है, लौकिकजनोके संसर्गको नही छोड़ सकता है तो वह भी असंयत हो जाता है। ११– अपने संयमको स्थिर रखनेके लिये असत्संग बिलकुल ही नही करना चाहिये।

सिद्धान्त—(१) असयत अशुद्ध लौकिक जनोके संसर्ग भावसे अशुद्धता व बद्धता चलती रहती है।

दृष्टि—१– अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४स)।

प्रयोग—आत्मविशुद्धिके हेतु ज्ञानी, शान्त, तपस्वी होकर शुद्धात्मवृत्ति वालोकी संगति मे रहना, लौकिक असंयमी जनोंका संसर्ग नही करना ॥२६८॥

अब 'लौकिक' जनके लक्षणको उपलक्षित करते है—[**नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितः**] निर्ग्रंथरूप से दीक्षित व [**संयमतपःसंप्रयुक्तः अपि**] संयमतपसंयुक्त भी, [**यदि**] श्रमण यदि [**ऐहिकैः कर्मभिः वर्तते**] ऐहिक कार्योंके द्वारा वर्तता हो तो, [**सः लौकिकः इति भणितः**] वह 'लौकिक' है ऐसा शास्त्रसे कहा गया है।

तात्पर्य—सयमी तपस्वी भी निर्ग्रन्थ यदि लौकिक क्रियावोमे लगता है तो वह लौकिक ही है।

टीकार्थ—परमनिर्ग्रंथतारूप प्रव्रज्याकी प्रतिज्ञा की हुई होनेसे संयमतपके भारको वहन करता हुआ भी, मोहकी बहुलताके कारण हटा दिया है शुद्धचेतन व्यवहारको जिसने ऐसा होता हुआ साधक निरंतर मनुष्यव्यवहारके द्वारा चक्कर खानेसे ऐहिक कर्मोंसे ऐहिक कर्मोंसे निवृत्ति न होनेपर 'लौकिक' कहा जाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें असत्संगको लौकिकजनसंसर्गको प्रतिषेध्य बताया गया था। अब इस गाथामें लौकिक जनोका लक्षण उपलक्षित किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) जो नैर्ग्रन्थ्यदीक्षा लेकर भी लौकिक कार्योंमे लग रहा हो वह लौकिक मनुष्य कहलाता है। (२) चाहे निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर बहुत भारी संयम तपका भार भी ढो रहा हो तो भी यदि मोहकी बहुलतासे शुद्ध स्वसंचेतनव्यवहारसे भ्रष्ट हो गया हो और

अथ लौकिकलक्षणमुपलक्षयति—

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि ॥२६६॥

निर्ग्रन्थ प्रव्रज्यायुत, संयम तप संप्रयुक्त होकर भी।
यदि ऐहिक कर्ममिं, लगता तो वह रहा लौकिक ॥२६६॥

नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकै. कर्मभिः। स लौकिक इति भणितः सयमतपःसंप्रयुक्तोपि ॥ २६६ ॥

प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थ्यप्रव्रज्यत्वादुदूढसयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृतशुद्धचेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याघूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तो लौकिक इत्युच्यते ॥२६६॥

नामसंज्ञ—णिग्गथ पव्वइद जदि एहिग कम्म त लोगिग त्ति भणिद सजमतवसपजुत्त वि। **धातुसंज्ञ**—वत्त वर्तने, भण कथने। **प्रातिपदिक**—नर्ग्रन्थ्य प्रव्रजित यदि ऐहिक कर्मन् तत् लौकिक इति भणित सयम तप सप्रयुक्त अपि। **मूलधातु**—वृतु वर्तने, भण शब्दार्थः। **उभयपदविवरण**—णिग्गथ नैर्ग्रन्थ्यं-द्वितीया एक०। पव्वइदो प्रव्रजितः-प्रथमा एक० कृदन्त। वट्टदि वर्तते-वर्त० अन्य० एक० क्रिया। जदि यदि त्ति इति वि अपि-अव्यय। एहिगेहिं ऐहिकै. कम्मेहिं कर्मभि.-तृतीया बहुवचन। सो सः लोगिगो लौकिकः भणिदो भणित -प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। सजमतवसंपजुत्तो सयमतप संप्रयुक्तः-प्रथमा एकवचन। **निरुक्ति**- ग्रन्थते इति ग्रन्थ ग्रन्थि (ग्रन्थ + क्तिन्) ग्रन्थ बन्धने चुरादि। **समास**—सयमश्च तपश्चेयि संयमतपसी ताभ्या सप्रयुक्त. सयमतपसयुक्त ॥२६६॥

बार बार मैं मनुष्य हू इस वासनाके चक्रमे पड गया हो तो वह लौकिक कर्मको नही छोड़ सकता। (३) जब अहर्निश अपनेमे मनुष्यरूपकी आस्था है तब मनुष्य जैसा ही विषय कषायों के कर्ममे वह उपयोग लगावेगा। (४) ऐसे लौकिक जनोंका संसर्ग शासनस्थ सुमार्गभागी श्रमण नही करते। (५) लौकिकजनसंसर्गसे श्रमण भी सविकार हो जावेंगे।

सिद्धान्त—(१) ऐहिक कर्मभावोमे रत साधु लौकिक प्राणी है।

दृष्टि—१- अशुद्धनिश्चयनय (४७), अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४स), विभावगुणव्यञ्जनपर्यायदृष्टि (२१३)।

प्रयोग—आत्मकल्याणके लिये सहजात्मस्वरूपकी भावना करके ऐहिक कर्मोंसे निवृत्ति पाकर अलौकिक आनन्द अनुभवना ॥२६६॥

अब सत्संगको विधेयरूपसे दिखलाते है—**[तस्मात्]** लौकिकजनके संगसे संयत भी असंयत हो जानेके कारण **[यदि]** यदि **[श्रमणः]** श्रमण **[दुःखपरिमोक्षम् इच्छति]** दुःखसे छुटकारा चाहता है तो वह **[गुणात्समं]** गुणसे अपने समान **[वा]** अथवा **[गुणैः अधिकं श्रमणं तस्मिन्]** गुणोंसे अपनेसे अधिक वाले श्रमणके संगमें **[नित्यम्]** सदा **[अधिवसतु]** रहे।

अथ सत्संगं विधेयत्वेन दर्शयति—

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥२७०॥

सो गुणसम व गुणाधिक श्रमणोंके निकट बसो संग करो ।
यदि असार सांसारिक, दुःखोंसे मुक्ति चाहो तो ॥ २७० ॥

तस्मात्सम गुणात् श्रमण: श्रमण गुणैर्वाधिकम् । अधिवसतु तस्मिन् नित्य इच्छति यदि दु:खपरिमोक्षम् ॥

यत: परिणामस्वभावत्वेनात्मन: सप्तार्चि:संगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात् । ततो दु:खमोक्षार्थिना गुणै: समोऽधिको वा श्रमण: श्रमणेन

नामसंज्ञ—त सम गुण समण समण गुण वा अहिय त णिच्च जदि दुक्खपरिमोक्ख । धातुसंज्ञ—अधि वस निवासे, इच्छ इच्छायां । प्रातिपदिक—तत् सम गुण श्रमण श्रमण गुण वा अधिक तत् नित्य यदि दु:खपरिमोक्ष । मूलधातु—अधि वस निवासे, इषु इच्छायां । उभयपदविवरण—तम्हा तस्मात् गुणादो गुणात्—पंचमी एक० । समं अहियं अधिकं—द्वितीया एक० । समणं श्रमण दुक्खपरिमोक्ख दु:खपरिमोक्ष—द्वि० ए० ।

तात्पर्य—श्रमणको गुणोंमें अपने समान या अपनेसे अधिक वाले श्रमणके सत्संगमें रहना चाहिये ।

टीकार्थ—चूंकि आत्मा परिणामस्वभाव वाला होनेसे अग्निके संगमे रहे हुए पानीकी तरह लौकिक संगसे विकार अवश्यंभावी होनेसे संयत भी असंयत ही हो जाता है । इस कारण दु:खोंसे छुटकारा चाहने वाले श्रमणको समान गुण वाले श्रमणके साथ अथवा अधिक गुण वाले श्रमणके साथ सदा ही निवास करना चाहिये । उस प्रकार रहनेसे इस श्रमणके शीतल घरके कोनेमें रखे हुये शीतल पानीकी भांति समान गुणवालेकी संगतिसे गुणरक्षा होती है, और अधिक शीतल हिमके संपर्कमें रहने वाले शीतल पानीकी भांति अधिक गुण वालेके संगसे गुणवृद्धि होती है । इत्याद्यस्य इत्यादि । अर्थ—इस प्रकार शुभोपयोगजनित किसी प्रवृत्तिका सेवन करके यति सम्यक् प्रकारसे संयमकी श्रेष्ठतासे क्रमश: परम निवृत्तिको प्राप्त होता हुआ; जिसका रम्य उदय समस्त वस्तुसमूहके विस्तारकी लीलामात्रसे प्राप्त हो जाता है ऐसी शाश्वती ज्ञानानन्दमयी दशाका एकान्तत: अनुभव करो ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें प्रतिषेध्य असत्संगमें बताये गये असत्का अर्थात् लौकिकजनका लक्षण उपलक्षित किया गया था । अब इस गाथामें सत्संगकी विधेयता दिखाई गई है ।

तथ्यप्रकाश—१– जैसे अग्निकी संगतिसे जल संतप्त हो जाता है, इसी प्रकार लौ-

नित्यमेवाधिवसनीयः तथास्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत्समगुणसंगाद्गुणरक्षा शीततर-तुहिनशर्करासंपृक्तशीततोयवत् गुणाधिकसंगात् गुणवृद्धिः ।। इत्यथ्यास्य शुभोपयोगजनितां कांचित्प्रवृत्तिं यतिः सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात् । हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसरप्रस्ताररम्योदयां ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्ततः शाश्वतीम् ।।१७।। इति शुभोपयोग-प्रज्ञापनम् ।

अथ पञ्चरत्नम् । तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतोऽद्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः संक्षेपतः शासनम् । व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं जीयात्संप्रति पञ्चरत्नमनघं सूत्रैरिमैः पञ्चभिः ।।१८।।२७०।।

गुणेहिं गुणैः–तृतीया बहु० । अधिवसदु अधिवसतु–आज्ञार्थे अन्य० एक० क्रिया । तम्हि तस्मिन्–सप्तमी एक० । णिच्चं नित्यं जदि यदि–अव्यय । इच्छदि इच्छति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति– समयन्ते समयति वा इति सम. (सम+अच्) सम अविकले चुरादि । समास– दुःखस्य परिमोक्षः दुःखपरिमोक्षम् ।।२७०।।

किकसंगतिसे संयत भी असयत हो जाता है । २– दुःखसे छुटकारा पानेके अभिलाषी श्रमण को अपनेसे अधिक गुण वाले श्रमणकी संगति करना चाहिये अथवा समान गुण वाले श्रमण की संगति करना चाहिये । ३– अपनेसे गुणाधिक श्रमणकी संगति गुणवृद्धि होती है जैसे कि बर्फ शर्करासे संपृक्त जलमे शीतलताकी वृद्धि होती है । ४– अपने समान गुण वाले श्रमणकी संगतिसे गुणरक्षा होती है जैसे कि शीतल घरके कोनेमें रखा हुआ जल शीतल रहता है । ५– श्रमण शुभोपयोगजनित प्रवृत्तिका सेवन करके संयमकी श्रेष्ठताकी ओर ही बढ़ता है और परमनिवृत्तिको प्राप्त कर शाश्वती ज्ञानानन्दमयी अवस्थाका अनुभव करता है ।

सिद्धान्त—(१) श्रमण शुद्धभावनाके बलसे शुद्धताकी ओर बढ़ता है और कर्मभारसे मुक्त हो जाता है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—दुःखोसे छुटकारा पानेके लिये सहज अन्तस्तत्त्वमें लीन होनेका मुख्य ध्येय रखते हुए गुणाधिक श्रमणकी अथवा समान गुण वाले श्रमणकी संगतिमें रहना ।।२७०।।

इस प्रकार शुभोपयोग-प्रज्ञापन पूर्ण हुआ ।

अब पाँच रत्नों जैसी पाँच गाथायें कहते हैं, उसकी उत्थानिका तन्त्रस्यास्य इत्यादि । अर्थ—अब इस शास्त्रके चूड़ामणि समान व संक्षेपसे अर्हन्तभगवानके समग्र अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशित कर रहे व इन पाँच सूत्रोंके द्वारा विलक्षण पंथ वाली संसार-मोक्षकी स्थितिको जगतके समक्ष प्रगट कर रहे निर्मल पंच रत्न जयवन्त वर्तो ।

अथ संसारतत्त्वमुद्घाटयति--

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥२७१॥

जो अन्यथा हि जाने, जिनमतमें वस्तुतत्त्व यों निश्चित।
वे अनन्तविधि फलयुत, चिरकाल यहां भ्रमण करेंगे ॥२७१॥

ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये। अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालम् ।२७१।

ये स्वयमविवेकतोऽन्यथैव प्रतिपद्यार्थानित्थमेव तत्त्वमिति निश्चयमारचयन्तः सततं समुपचीयमानमहामोहमलमलीमसमानसतया नित्यमज्ञानिनो भवन्ति ते खलु समये स्थिता अप्यनासादितपरमार्थश्रामण्यतया श्रमणाभासाः सन्तोऽनन्तकर्मफलोपभोगप्राग्भारभयंकरमनन्तकालमनन्तभावान्तरपरावर्तैरनवस्थितवृत्तयः संसारतत्त्वमेवावबुध्यताम् ॥२७१॥

नामसंज्ञ—ज अजधागहिदत्थ एत तच्च त्ति णिच्छिद समय अच्चतफलसमिद्ध त तो पर काल। **धातुसंज्ञ**—भम भ्रमणे। **प्रातिपदिक**—यत् अयथागृहीतार्थ एतत् तत्त्व इति निश्चित समय अत्यन्तफलसमृद्ध तत् ततः पर काल। **मूलधातु**—भ्रमु भ्रमणे। **उभयपदविवरण**—जे ये अजधागहिदत्था अयथागृहीतार्थाः एदे एते णिच्छिदा निश्चिताः ते-प्रथमा बहुवचन। तच्च तत्त्व-प्रथमा एक०। त्ति इति तो ततः-अव्यय। समये-सप्तमी एक०। अच्चतफलसमिद्ध अत्यन्तफलसमृद्ध परं कालं-द्वि० एक०। भमंति भ्रमन्ति-वर्त० अन्य० बहु० क्रिया। **निरुक्ति**—सम् ऋध्यतिस्म ऋध्नोतिस्म वा इति समृद्धः त (सम् ऋधु + क्त) ऋधु वृद्धौ दिवादि रुधादि। **समास**—अयथा गृहीता अर्था यैस्ते अयथागृहीतार्थाः, अन्तमतिक्रान्तम् अत्यन्तम् अत्यन्त फलेन समृद्धः अत्यन्तफलसमृद्धः त अत्यन्तफलसमृद्ध ॥२७१॥

अब संसारतत्त्वको उघाडते हैं—[ये] जो [समये] भले ही द्रव्यलिंगीके रूपमें जिनमतमें हों तथापि [एते तत्त्वम्] ये तत्त्व हैं [इति निश्चिताः] इस प्रकार निश्चय कर चुके वे [अयथागृहीतार्थाः] पदार्थोंको अयथार्थतया ग्रहण करने वाले हैं [ततः ते] सो वे [अतः] इस वर्तमानकालसे आगे [अत्यन्तफलसमृद्धम्] अत्यन्तफलसमृद्ध [परं कालं] आगामी काल में [भ्रमन्ति] परिभ्रमण करेंगे।

तात्पर्य—विपरीत अर्थस्वरूपका निश्चय करने वाले अज्ञानी साधु दुःखफलसे भरे हुए आगामी कालमें भी भ्रमण करेंगे।

टीकार्थ—जो स्वयं अविवेकसे पदार्थोंको अन्य प्रकारसे ही समझकर 'ऐसा ही तत्त्व है' ऐसा निश्चय करते हुये, सतत एकत्रित किये जाने वाले महा मोहमलसे मलिन मन वाले होनेसे नित्य अज्ञानी है, वे भले ही बाह्यतः जिनमार्गमें स्थित है तथापि परमार्थ श्रामण्यको प्राप्त न होनेसे वास्तवमें श्रमणाभास वर्तते हुये, अनन्त कर्मफलके उपभोगभोगभारसे भयंकर

अथ मोक्षतत्त्वमुद्‌घाटयति—

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥२७२॥

निश्चितयथार्थपद अय-थाचारवियुत प्रशान्तात्मा ।
श्रामण्यपूर्ण आत्मा, निष्फल संसारमें न चिर रहता ॥२७२॥

अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितः प्रशान्तात्मा । अफले चिर न जीवति इह स सपूर्णश्रामण्य ।२७२।

यस्त्रिलोकचूलिकायमाननिर्मलविवेकदीपिकालोकशालितया यथावस्थितपदार्थनिश्चय-

नामसंज्ञ—अजधाचारविजुत्त जदत्थपदणिच्छिद पसंतप्प अफल चिर ण इह त संपुण्णसामण्ण । धातुसंज्ञ—जीव प्राणधारणे । प्रातिपदिक— अयथाचारवियुक्त यथार्थपदनिश्चित प्रशान्तात्मन् अफल

ऐसे अनन्त काल तक अनन्त भावान्तररूप परावर्तनोंसे अनवस्थित वृत्ति वाले रहनेसे, उनको संसारतत्व ही जानना ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सत्संगकी बिधेयताका विवरण करते हुए शुभोपयोगप्रज्ञापनका उपसंहार किया गया था । अब प्रकरणसम्मत मोक्षतत्त्व व उसके साधनतत्त्व को प्रकट करनेके स्थलमे सर्वप्रथम उसके प्रतिपक्षभूत ससारतत्त्वको एक इस गाथामें उघाड़ डाला है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमणाभासको संसार तत्त्व ही समझना । (२) संसारतत्त्व वे है जो अनन्तकर्मफल भोगते हुए अनन्तकाल अनन्त भावान्तरपरिवर्तनोसे अनवस्थित डांवाडोल अस्थिर परिणमन करते रहते है । (३) जिन्होने द्रव्यतः निर्ग्रन्थलिङ्ग धारण करके भी विचारव्यामोहसे मलीमस मानस होनेके कारण परमार्थ श्रामण्यको प्राप्त नहीं कर पाया वे श्रमणाभास है । (४) श्रमणाभास स्वयं अविवेकवश पदार्थोंको अन्यथा समझकर तत्त्व यही है ऐसा विपरीत निश्चय रचते हुए अपने ऐसे विचारोमे व्यामुग्ध रहते है । (५) संसारतत्त्व से हटकर मोक्षतत्त्व वाला भव्यात्मा आदर्श तत्त्व है ।

सिद्धान्त—(१) संसारतत्त्व सोपाधि अशुद्ध तत्त्व है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (४०) ।

प्रयोग—आत्मकल्याणके लिये आत्मकरुणा करके सहजात्मस्वरूपका प्रत्यय करते हुए संसारतत्त्वको मूलतः उखाड़कर हटा देना ॥२७१॥

अब मोक्षतत्वका उद्‌घाटन करते हैं— [अयथाचारवियुक्तः] अयथाचारसे रहित [यथार्थपदनिश्चितः] यथार्थतया पदोंका तथा पदार्थोंका निश्चय वाला [प्रशान्तात्मा] प्रशान्त

निर्वर्तितौत्सुक्यस्वरूपमन्थरसततोपशान्तात्मा सन् स्वरूपमेकमेवाभिमुख्येन चरन्नयथाचारवि-युक्तो नित्यं ज्ञानी स्यात् स खलु संपूर्णश्रामण्यः साक्षात् श्रमणो हेलावकीर्णसकलप्राक्तनकर्म-फलत्वादनिष्पादितनूतनकर्मफलत्वाच्च पुनः प्राणधारणदैन्यमनास्कन्दन् द्वितीयभावपरावर्ताभा-वात् शुद्धस्वभावावस्थितवृत्तिर्मोक्षतत्त्वमवबुध्यताम् ।।२७२।।

चिरं न इह तत् सपुण्णसामण्ण । **मूलधातु**– जीव प्राणधारणे । **उभयपदविवरण**—अजधाचारविजुत्तो अयथाचारवियुक्तः जधत्थपदणिच्छिदो यथार्थपदनिश्चितः पसंतप्पा प्रशान्तात्मा सो स. सपुण्णसामण्णो सपूर्णश्रामण्यः–प्रथमा एकवचन । अफले–सप्तमी एक० । चिरं ण न इह–अव्यय । जीवदि जीवति–वर्त-मान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । **निरुक्ति**– सम् पूरयतिस्म इति सपूर्णम् (सम् पूर + क्त) पूरी आ-प्यायने । **समास**–अयथाचारेण वियुक्तः अयथाचारवियुक्तः, प्रशान्त आत्मा यस्य सः प्रशान्तात्मा, सपूर्णं श्रामण्य यस्य सः सपूर्णश्रामण्यः ।।२७२।।

है आत्मा जिसका **[सः संपूर्णश्रामण्यः]** ऐसा वह सम्पूर्ण श्रामण्य वाला जीव **[अफले]** कर्म-फलरहित हुए **[इह]** इस संसारमे **[चिरं न जीवति]** चिरकाल तक नही रहता ।

तात्पर्य—निर्दोष आचरण वाला यथार्थनिश्चयी शान्त श्रमण अल्पकालमे ही मुक्त हो जाता है ।

टीकार्थ—जो (श्रमण) त्रिलोककी चूलिकाके समान निर्मल विवेकरूपी दीपकके प्रकाश वाला होनेसे यथावस्थित पदार्थनिश्चयसे उत्सुकताको दूर करके स्वरूपमथर रहनेसे सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ, एक स्वरूपको ही अभिमुखतया आचरता हुआ 'अयथाचार रहित' हुआ नित्यज्ञानी है, वास्तवमे उस सम्पूर्ण श्रामण्य वाले साक्षात् श्रमणको मोक्षतत्व जानना, क्योकि वह पहलेके सकल कर्मोंके फलको लीलामात्रमें नष्ट कर देनेसे और नूतन कर्मफलोंको उत्पन्न नहीं करनेसे पुनः प्राण धारणरूप दीनताको प्राप्त न होता हुआ द्वितीय भावरूप परा-वर्तनके अभावके कारण शुद्धस्वभावमें अवस्थित वृत्ति वाला रहता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे संसारतत्त्वको उखाड़ डाला था । अब इस गाथा में मोक्षतत्त्वका उद्घाटन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– जिनकी शुद्धात्मस्वभावमें वृत्ति स्थिर होती है और द्वितीय (अन्य) भावमे कभी नही आते वे श्रमण मोक्षतत्त्व हैं । २– श्रमण स्वरूपदृष्टिकी लीलामात्रमें समस्त कर्मफलोंको बिखेर डालते हैं नवीन कर्मफलोंको उत्पन्न नहीं करते, अतएव पुनः प्राण धारणकी दीनताको प्राप्त नही होते । ३–मोक्षतत्त्वस्वरूप श्रमण निर्मलविवेक प्रकाशयुक्त होनेसे यथार्थ पदार्थका निश्चय कर लेनेसे उत्सुकताओंके क्षोभसे रहित हैं, अत एव स्वरूपमें तृप्त होनेसे अब स्वरूपसे बाहर निकलनेमें अलसाता है । ४–यथार्थज्ञानी प्रशान्तात्मा श्रमण एक

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमुद्घाटयति—

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥२७३॥

सम्यक् पदार्थवेत्ता, बहिस्थ मध्यस्थ सब परिग्रह तजि।
अनासक्त विषयोंमें, जो हैं वे शुद्ध कहलाते ॥ २७३ ॥

सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहिस्थमध्यस्थम्। विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टा ॥२७३॥

अनेकान्तकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्त्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्तबहिरङ्गान्तरङ्गसङ्गतिपरित्यागविविक्तान्तश्चकचकायमानानन्तशक्तिचैतन्यभास्वरात्मतत्त्वस्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्तकल्पान्तस्तत्त्ववृत्तितया विषयेषु मनागप्यासक्तिमनासादयन्तः समस्तानुभाववन्तो

नामसंज्ञ—सम्म णिदिदपदत्थ उवहि बहित्थमज्झत्थ विसय ण अवसत्त ज त सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठ। **धातुसंज्ञ**—णि दिस प्रेक्षणे दाने च। **प्रातिपदिक**—सम्यक् विदितपदार्थ उपधि बहिस्थमध्यस्थ विषय न अवसक्त यत् तत् शुद्ध इति निर्दिष्ट। **मूलधातु**—निर् दिश अतिसर्जने। **उभयपदविवरण**—सम्म सम्यक् ण न त्ति इति–अव्यय। विदिदपदत्था विदितपदार्थाः–प्रथमा बहुवचन। चत्त त्यक्त्वा–सम्बन्धार्थप्रक्रिया अव्यय। उवहिं उपधिं बहित्थमज्झत्थं बहिस्थमध्यस्थं–द्वि० एक०। विसयेसु विषयेषु–सप्तमी बहु०।

सहजात्मस्वरूपकी अभिमुखतासे वृत्ति करते हैं, अतएव स्वच्छन्दाचारसे रहित नित्य ज्ञानी होता हुआ अब इस संसारमें चिर काल नहीं रह सकता, अल्पकालमें ही मुक्त हो जाता है।

सिद्धान्त–(१) मोक्षतत्त्वरूपश्रमण अखण्ड अन्तस्तत्त्वका अभेद दर्शन करते हैं।

दृष्टि—१–शुद्धनय (४६)।

प्रयोग—संसारसंकटोसे छुटकारा पानेके लिये यथार्थज्ञानी निःशल्य निर्ग्रन्थ प्रशान्तात्मा होकर स्वरूपमे उपयुक्त होनेका सहज पौरुष होने देना ॥२७२॥

अब मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व उद्घाटित करते है।—[**सम्यग्विदितपदार्थाः**] यथार्थतया जाना है पदार्थोंको जिनने [**ये**] ऐसे जो श्रमण [**बहिस्थमध्यस्थम्**] बहिरंग तथा अन्तरंग [**उपधिं**] परिग्रहको [**त्यक्त्वा**] छोड़कर [**विषयेषु न अवसक्ताः**] विषयोमे आसक्त नही हैं, [**ते**] वे [**शुद्धाः इति निर्दिष्टाः**] 'शुद्ध' कहे गये है।

तात्पर्य—यथार्थज्ञानी निःसंग विषयानासक्त श्रमण शुद्ध कहे गये हैं।

टीकार्थ—अनेकान्तके द्वारा कलित सकल ज्ञातृतत्त्व और ज्ञेयतत्त्वके यथास्थित स्वरूपमें प्रवीण होते हुए समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग संगतिके परित्यागसे विविक्त अन्तरंगमे चकचकायमान है अनन्तशक्तिवाले चैतन्यसे तेजस्वी आत्मतत्त्वका स्वरूप जिनका, स्वरूप गुप्त तथा सुषुप्त समान प्रशांत आत्माकी परिणति रहनेसे विषयोंमें किंचित् भी आसक्तिको

भगवन्तः शुद्धा एवासंसारघटितविकटकर्मकवाटविघटनपटीयसाध्यवसायेन प्रकटीक्रियमाणावदाना मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमवबुध्यताम् ॥२७३॥

अवसत्ता अवसक्ताः सुद्धा शुद्धाः-प्रथमा बहुवचन । णिद्दिट्ठा निर्दिष्टाः-प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । निरुक्ति- सम् अंचति अचन वा सम्यक् (सम् अंचि+क्विन् सामि आदेश नलोप.) अचु गति पूजनयोः भ्वादि । समास- विदिताः पदार्था यैस्ते इति विदितपदार्थाः ॥२७३॥

प्राप्त नही होते हुए सकल-महिमावान भगवन्त 'शुद्धोको ही मोक्षतत्त्वका साधन तत्त्व जानना । क्योंकि वे अनादि संसारसे रचित विकट कर्मकपाटको तोड़नेके अति उग्र प्रयत्नसे पराक्रम प्रगट कर रहे है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें मोक्षतत्त्वका उद्घाटन किया गया था । अब इस गाथामे मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वका उद्घाटन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– शुद्धोपयोगी महाश्रमण मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्व है । २–महाश्रमण अनेकान्तकलित समस्त ज्ञातृतत्त्व व ज्ञेयतत्त्वके यथार्थ ज्ञाता हैं । ३– महाश्रमण समस्त बहिरंग अन्तरंग परिग्रहके संगका परित्याग कर देनेसे अन्तरङ्गमें अनन्तशक्तिमय चैतन्यसे तेजस्वी विकाममान आत्मतत्त्वस्वरूप है । ४—महाश्रमण स्वरूपगुप्त होनेसे प्रशान्त अन्तस्तत्त्ववृत्ति वाले होनेसे विषयोमें रच भी आसक्त नही हैं । ५–चैतन्यचमत्कारकी समस्त महिमा वाले शुद्धोपयोगी महाश्रमण मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्व हैं ।

सिद्धान्त—१– मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमय महाश्रमण स्वरूपसे प्रकट स्वतंत्रचिद्विलास को अनुभवते हैं ।

दृष्टि—१–अनीश्वरनय (१८६), शुद्धनय (१९८, ४९), ज्ञाननय (१९४), अविकल्पनय (१९२) ।

प्रयोग—शाश्वत शुद्ध वर्तनेके लिये सम्यक् तत्त्वज्ञान पाकर अन्तर्बाह्यपरिग्रहको त्यागकर विषयोसे विरक्त हो शुद्ध अन्तस्तत्त्वका ध्यान धरना ॥२७३॥

अब मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वको (शुद्धोपयोगीको) सर्व मनोरथोके स्थानपनेसे अभिनन्दन करते है—[**शुद्धस्य**] शुद्धोपयोगीके [**श्रामण्यं भणितं**] श्रामण्य कहा है, [**च शुद्धस्य**] और शुद्धोपयोगीके [**दर्शनं ज्ञानं**] दर्शन तथा ज्ञान कहा है, और [**च शुद्धस्य**] शुद्धोपयोगी के [**निर्वाणं**] निर्वाण होता है, [**च सः एव**] और वही शुद्ध मोक्षसाधन तत्त्व [**सिद्धः**] सिद्ध होता है; [**तस्मै नमः**] उन्हे नमस्कार हो ।

तात्पर्य—शुद्धोपयोगीके श्रामण्य दर्शन ज्ञान है व उसका ही निर्वाण होता है और

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वं सर्वमनोरथस्थानत्वेनाभिनन्दयति--

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥२७४॥

श्रामण्य शुद्धके ही, दर्शन ज्ञान भी शुद्धके होते ।
निर्वाण शुद्धका है, सो मैं उस सिद्धको प्रणमूं ॥२७४॥

शुद्धस्य च श्रामण्य भणित शुद्धस्य दर्शन ज्ञानम् । शुद्धस्य च निर्वाणं स च एव सिद्धो नमस्तस्मै ॥२७४॥

यत्तावत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यप्रवृत्तैकाग्र्यलक्षणं साक्षान्मोक्षमार्गभूतं श्रामण्यं तच्च शुद्धस्यैव । यच्च समस्तभूतभवद्भाविव्यतिरेककरम्बितानन्तवस्त्वन्वयात्मकविश्वसामान्यविशेषप्रत्यक्षप्रतिभासात्मकं दर्शनं ज्ञानं च तत् शुद्धस्यैव । यच्च निःप्रतिघविजृम्भितसहजज्ञानानन्दमुद्रितदिव्यस्वभाव निर्वाणं तत् शुद्धस्यैव । यश्च टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दावस्थासु स्थितात्म-

नामसंज्ञ—सुद्ध य सामण्ण भणिय सुद्ध दसण णाण सुद्ध य णिव्वाण त च इय सिद्ध णमो त । **धातुसंज्ञ**—भण कथने । **प्रातिपदिक**—शुद्ध च श्रामण्य भणित शुद्ध दर्शन ज्ञान शुद्ध च निर्वाण स च एव सिद्ध नम. तत् । **मूलधातु**—भण शब्दार्थ. । **उभयपदविवरण**—सुद्धस्स शुद्धस्य-षष्ठी एक० । य च इय एव णमो नम.-अव्यय । सामण्ण सामान्यं दसणं दर्शनं णाण ज्ञान णिव्वाण निर्वाणं सो सः सिद्धो सिद्धः-

वही सिद्ध होता है ।

टीकार्थ—वास्तवमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके यौगपद्यमें प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है ऐसा साक्षात् जो मोक्षमार्गभूत जो श्रामण्य है वह 'शुद्ध' के ही होता है । और जो समस्त भूत-वर्तमान-भावी व्यतिरेकोंके साथ मिलित, अनन्त वस्तुओंका अन्वयात्मक विश्वके सामान्य और विशेषके प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप दर्शन और ज्ञान है वह 'शुद्ध' के ही होता है । और जो निर्विघ्न खिले हुये सहज ज्ञानानन्दकी मुद्रावाला दिव्य जिसका स्वभाव है ऐसा निर्वाण है वह 'शुद्ध' के ही होता है । और जो टंकोत्कीर्ण परमानन्दरूप अवस्थाओंमे स्थित आत्मस्वभावकी उपलब्धिसे गंभीर भगवान सिद्ध है वह 'शुद्ध' ही होता है । वचन विस्तारसे बस हो ? सर्व मनोरथोके स्थानभूत, मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वरूप, 'शुद्ध' को, जिसमेंसे परस्पर अंग-अंगीरूपसे परिणमित भावकः भाव्यताके कारण स्व-परका विभाग अस्त हुआ है ऐसा भावनमस्कार होओ ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वकी महिमा कही गई थी । अब इस गाथामें उसी तत्त्वका अभिनन्दन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश— १—मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वमय शुद्धोपयोगको भावनमस्कार होओ ।

स्वभावोपलम्भगम्भीरो भगवान् सिद्धः स शुद्ध एव । अलं वाग्विस्तरेण, सर्वमनोरथस्थानस्य मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वस्य शुद्धस्य परस्परमङ्गाङ्गिभावपरिणतभाव्यभावकत्वात्प्रत्यस्तमितस्वपर-विभागो भावनमस्कारोऽस्तु ॥२७४॥

प्रथमा एकवचन । भणियं भणित–प्र० ए० कृ० क्रिया । तस्स–षष्ठी एकवचन । तस्यै–चतुर्थी एकवचन । **निरुक्ति**—शुद्धयतिस्म इति शुद्ध. (शुध्+क्त) शुध शौचे दिवादि ॥२७४॥

२–जहाँ सहजशुद्धात्मस्वरूपका ऐसा एकाग्र ध्यान होता है कि ज्ञाता ज्ञेय स्वतत्त्व एक हो जाते है और स्वपरका विभाग अस्त हो जाता है ऐसे ज्ञानानुभवको भावनमस्कार कहते हैं । ३–शुद्धोपयोग सर्वस्वसिद्धिका स्थान है । ४– टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल सहजपरमानन्दवृत्तिमें स्थित आत्मस्वभावकी उपलब्धिसे यह शुद्ध चेतन तत्त्व गम्भीर है । ५– सहजानन्तज्ञानानन्द मुद्रित परमचमत्कारमय निर्वाण इस शुद्ध उपयोगका ही होता है । ६– इस मोक्षतत्त्वसाधन तत्त्वमय शुद्ध उपयोगके हो दर्शन ज्ञान स्पष्ट होता है । ७–साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य शुद्ध उपयोगके ही होता है । ८– सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका एकत्वमे वर्तनारूप परम ऐकाग्रय साक्षात् मोक्षमार्ग है । ९—निर्विकार शुद्ध चिद्वृत्तिस्वरूप श्रामण्य जयवन्त होओ ।

सिद्धान्त— १–मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्व विकसित सहजात्मस्वरूप है ।

दृष्टि– १– शुद्धनिश्चयनय (४६) ।

प्रयोग—परभावसे विविक्त स्वयंपरिपूर्ण चित्स्वरूपके अवलम्बनसे चिच्चमात्कारमय शाश्वत स्वकीय अभिनन्दनसे अभिनन्दित रहना ॥२७४॥

अब ग्रन्थकर्ता पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव शिष्यजनको शास्त्रके फलके साथ जोड़ते हुये शास्त्र समाप्त करते हैं—[**यः**] जो [**साकारानाकारचर्यया युक्तः**] साकार-अनाकार चर्या युक्त हुआ [**एतत्**] **शासनं**] इस शास्त्रको [**बुध्यते**] जानता है, [**सः**] वह [**लघुना कालेन**] अल्पकालमे ही [**प्रवचनसारं**] प्रवचनके सारभूत परमात्मभावको [**प्राप्नोति**] प्राप्त करता है ।

तात्पर्य—जो अणुव्रती या महाव्रती इस उपदेशको यथार्थरूपसे जानता है वह अल्प-कालमे सहजात्मस्वरूपको प्राप्त करता है ।

टीकार्थ—सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र स्वरूपमे अवस्थित परिणतिमे लगा होनेसे साकार अनाकार चर्यासे युक्त वर्तता हुआ जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रोंके अर्थोंके विस्तारसंक्षेपा-त्मक श्रुतज्ञानोपयोग पूर्वक प्रभाव द्वारा केवल आत्माको अनुभवता हुआ, इस उपदेशको जा-नता है वह वास्तवमे, स्वसंवेद्य-दिव्य ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है ऐसे, पहले कभी अनुभव

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलेन योजयन् शास्त्रं समापयति—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥२७५॥

जाने इस शासनको, साकार अनाकार चरित युत जो।
वह स्वल्पकालमें ही, प्रवचनके सारको पाता ॥२७५॥

बुध्यते शासनमेतत् साकारानाकारचर्यया युक्तः। यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति ॥ २७५ ॥

यो हि नाम सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्रस्वरूपव्यवस्थितवृत्तिसमाहितत्वात् साकारानाकारचर्यया युक्तः सन् शिष्यवर्गः स्वयं समस्तशास्त्रार्थविस्तरसंक्षेपात्मकश्रुतज्ञानोपयोगपूर्वकानुभावेन केवलमात्मानमनुभवन् शासनमेतद्बुध्यते स खलु निरवधित्रिसमयप्रवाहावस्थायित्वेन सकलार्थ-

नामसंज्ञ—सासण एत सागारणगारचरिया जुत्त ज त पवयणसार लहु काल। **धातुसंज्ञ**—बुज्झ अव गमने, प अप्प अर्पणे। **प्रातिपदिक**—शासन एतत् साकारानाकारचर्या युक्त यत् तत् प्रवचनसार लघु काल। **मूलधातु**—बुध अवगमने, प्र आप्लृ व्याप्तौ। **उभयपदविवरण**—बुज्झदि बुध्यते पप्पोदि प्राप्नोति—वर्त० अन्य० एक० क्रिया सासण शासन एयं एतत् पवयणसारं प्रवचनसारं—द्वितीया एकवचन। सागारणगारचरियया साकारानाकारचर्यया—तृतीया एकवचन। जुत्तो युक्तः जो यः सो सः—प्रथमा एक०।

नहीं किये गये, भगवान आत्माको पाता है—जो कि (जो आत्मा) तीनों कालके निरवधि प्रवाहमें अब स्थायी होनेसे सकल पदार्थोंके समूहात्मक प्रवचनका सारभूत शाश्वत सत्यार्थ स्वसंवेद्य दिव्य ज्ञानानन्द है स्वभाव जिसका ऐसे अननुभूतपूर्व भगवान स्वात्माको प्राप्त करता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वका अभिनन्दन किया था। अब इस गाथामें शिष्यजनको शास्त्रफलसे योजित करते हुए शास्त्रका समापन किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१—जो शिष्य श्रमण साकार अनाकारचर्यासे युक्त होता हुआ केवल आत्मतत्त्वको अनुभवता हुआ इस शासन (उपदेश) को जानता है मानता है वह अल्पकालमें ही प्रवचनके सारभूत भगवान आत्माको प्राप्त होता है। २—सुविशुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूपमें व्यवस्थित वृत्तिसे युक्त होना साकारचर्या है। ३—सुविशुद्ध दर्शनमात्रस्वरूपमें व्यवस्थित वृत्तिसे युक्त होना अनाकारचर्या है। ४—व्यवहारचारित्र साकार चर्या है। ५—निश्चयचारित्र अनाकारचर्या है। ६—गृहस्थाचार साकारचर्या है। ७—श्रमणाचार अनाकारचर्या है। ८—समस्त शास्त्रोंके अर्थके संक्षेपविस्तारात्मक श्रुतज्ञानके उपयोगपूर्वक ज्ञानानुभावसे केवल आत्माका अनुभवन होना ही वास्तवमें शासनका बोध कहलाता है। ९—सहजात्मस्वरूपसंवेदनसे

सार्थात्मकस्य प्रवचनस्य सारभूत भूतार्थस्वसवेद्यदिव्यज्ञानानन्दस्वभावमननुभूतपूर्वं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति ।।२७५।।

इति तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां प्रवचनसारवृत्तौ चरणानुयोग सूचिका चूलिका नाम तृतीयः श्रुतस्कन्धः समाप्त. ।।

लहुणा लघुना कालेण कालेन–तृतीया एकवचन। निरुक्ति—शुभे मरण सार. (सृ + घञ् सृ गतौ)। समास—साकारो अनाकारा च सा चर्या चेति साकारानाकारचर्या तया साकारानाकारचर्यया, प्रवचनस्य सार: प्रवचनसार त प्रवचनसारं ।।२७५।।

स्वसवेद्य ज्ञानानन्दस्वभाव अन्तस्तत्त्वका प्रतिभात हो जाना भगवान आत्माकी उपलब्धि है।

सिद्धान्त—(१) सहजात्मस्वरूपके सचेतनमे भगवान आत्माकी उपलब्धि है।

दृष्टि—१– शुद्धनय (१६८), ज्ञाननय (१६४), अगुणिनय (१८८), अनीश्वरनय (१८६), स्वभावनय (१७६), नियतिनय (१७७), शून्यनय (१७३), अविकल्पनय (१६२)।

प्रयोग—प्रवचनसार स्थिति (शुद्ध सहजज्ञानानन्द स्थिति) पानेके लिये प्रवचनसार (परमागम) का अध्ययन मनन बोध प्राप्त करके प्रवचनसार (भगवान आत्मा) की उपलब्धि करना ।।२७५।।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत प्रवचनसार ग्रन्थ व श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचित तत्त्वदीपिका सस्कृत टीकाके साथ श्रीमत्सहजानन्दकृत सहजानन्दसप्तदशाङ्गी टीका समाप्त।

परमात्म-आरती

(पू० श्री मनोहर जी वर्णी द्वारा रचित)

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, स्वामी जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॐ··· ।। टेक ।।

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ।। १ ।। ॐ····

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ।। २ ।। ॐ····

परसम्बध बध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्म का दर्शन, चहु गति दुखहारी ।। ३ ।। ॐ···

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन सचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ।। ४ ।। ॐ····

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ।। ५ ।। ॐ···

नोट—यह आरती निम्नाकित अवसरोपर पढी जाती है—

१– मन्दिर आदिमे आरती करनेके समय ।
२– पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मंगल कार्योंमे ।
३– किसी भी समय भक्ति-उमगमे टेकका व किसी छदका पाठ ।
४– सभाओमे बोलकर या बुलवाकर मगलाचरण करना ।
५– यात्रा वदनामे प्रभुस्मरणसहित पाठ करते जाना ।

卐卐卐 卐

सहजानन्द-साहित्य-सेट

१—अध्यात्मग्रंथ सेट—इसमे आत्मसबोधन सहजानन्दगीता अध्यात्मसहस्री आदि आध्यात्मिक ग्रन्थो की रचनायें हैं ।

२—प्रवचन शीर्ष सेट—जिन ग्रन्थोपर महाराजश्रीने प्रवचन किये हैं उन प्रवचनो के अन्त शीर्षो के ग्रन्थ हैं ।

३—अध्यात्मप्रवचन सेट—समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, ज्ञानार्णव आदि आर्ष ग्रन्थोपर व स्व० रचित अध्यात्मसहस्री अध्यात्मसूत्र आदि ग्रन्थोपर प्रवचन किये है उन प्रवचनोके ग्रथ इस सेटमे है ।

४—दार्शनिक सेट—इसमे प्रमेयकमलमातण्ड अष्टसहस्री पचाध्यायी आप्तपरीक्षा आदि दार्शनिक ग्रन्थो पर किये हुए प्रवचनोके ग्रथ हैं ।

५—विद्यासेट—धर्मबोधपूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध, छहढाला टीका आदि प्रारभसे लेकर समयसार तथ्यप्रकाश आदि विशिष्ट अध्ययनके लिये आत्मविद्यार्थियोके लिये उपयोगी ग्रंथ हैं ।

६—विज्ञानसेट—इसमे धार्मिक सैद्धान्तिक व लोकोपयोगी ग्रथ हैं ।

७—वर्णीप्रवचन सेट— प्रति माह सहजानन्द जी महाराज के प्रवचन इस पत्रिका मे प्रकाशित होत रहते है ।

८—अग्रजी अनुवादित सेट—आत्मसबोधन आदि ग्रन्थाका अग्रजी भाषामे अनुवाद कराकर प्रकाशित किये जाने वाले ग्रथ इस सेटमे है ।

९—गुजराती अनुवादित सेट—अध्यात्मसिद्धान्त द्रव्यसग्रह प्रश्नोत्तरी टीका आदि ग्रन्थोको गुजराती भाषामे अनुवाद कराकर प्रकाशित किये जाने वाले ग्रथ इस सेटमे है ।

१०—मराठी अनुवादित सेट—द्रव्यसग्रह प्रश्नोत्तरी टीका आदि ग्रन्थोका मराठीमे अनुवाद कराकर प्रकाशित होने वाले ग्रथ इसमे है ।

११—ज्ञानामृत रिकार्ड सेट—आत्मकीर्तन, परमात्मआरती, आत्मभक्ति आदि आध्यात्मिक सहजानन्द भजनोके ससगीत ग्रामोफोन रिकार्ड इस सेटमे है ।

प्रकाशक : खेमचन्द जैन, मत्री सहजानन्द शास्त्रमाला, १८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

सहजानन्द शास्त्रमाला प्रेस, १८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ ।